भारत में नागरिक समाज आन्दोलन: अन्ना हजारे के सन्दर्भ में एक अध्ययन

Bhaarat Mein Naagrik Samaaj Aandolan:
Anna Hazare Ke Sandarbh Mein Ek Adhyayan

2020

शोध–प्रबंध

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा से यू.जी.सी.
रेगुलेशन एक्ट 2009 के प्रावधानों के अनुसार राजनीति विज्ञान में डॉक्टर
ऑफ़ फिलॉसफ़ी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध पर्यवेक्षक
प्रोफेसर लीला राम गुर्जर

प्रस्तुतकर्ता
दिनेश कुमार (शोधार्थी)
पंजीयन संख्या : VMOU/Research/Ph.D/PS/2013/06

राजनीति विज्ञान विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा (राज.)

प्रोफेसर लीला राम गुर्जर
राजनीति विज्ञान
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा

प्रमाण- पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि दिनेश कुमार ने 'भारत में नागरिक समाज आन्दोलन: अन्ना हजारे के सन्दर्भ में एक अध्ययन' **'Bhaarat Mein Naagrik Samaj Aandolan: Anna Hazare Ke Sandarbh Mein Ek Adhyayan'** विषय पर मेरे निर्देशन एवं मार्गदर्शन में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम. फिल./पी-एच.डी. हेतु न्यूनतम मानक प्रक्रिया) विनिमय-2009 में वर्णित दिशा-निर्देशों की अनुपालना करते हुए शोध कार्य पूर्ण किया है। यह इनका मौलिक कार्य है। यह शोध प्रबंध राजनीति विज्ञान में विद्या-वाचस्पति (डॉक्टर ऑफ़ फिलॉसफी) उपाधि हेतु वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा को प्रेषित किया जा रहा है।

दिनांक :

प्रोफेसर (डॉ.) लीला राम गुर्जर

दिनेश कुमार
शोध छात्र (राजनीति विज्ञान)
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा(राजस्थान)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि मेरे द्वारा राजनीति विज्ञान में विद्या- वाचस्पति (डॉक्टर ऑफ़ फिलॉसफी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध जिसका विषय 'भारत में नागरिक समाज आन्दोलन: अन्ना हजारे के सन्दर्भ में एक अध्ययन' **'Bhaarat Mein Naagrik Samaj Aandolan: Anna Hazare Ke Sandarbh Mein Ek Adhyayan'** है। यह मेरे व्यक्तिगत अनुसंधान पर आधारित मौलिक कार्य है तथा उक्त शोध कार्य प्रोफेसर लीला राम गुर्जर के निर्देशन में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम. फिल./पी-एच.डी. हेतु न्यूनतम मानक प्रक्रिया) विनिमय-2009 में वर्णित दिशा-निर्देशों की अनुपालना करते हुए शोध कार्य पूर्ण किया गया है।

मेरी व्यक्तिगत जानकारी में इस विषय पर कोई शोध कार्य नहीं किया गया है।

दिनांक: **दिनेश कुमार**

कोर्स वर्क पूर्ण प्रमाण पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि दिनेश कुमार, मानविकी और सामाजिक विज्ञान स्कूल, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा के शोध अध्येता, ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम.फिल./पी.एच.डी. हेतु न्यूनतम मानक प्रक्रिया) नियामक - 2009 के अनुसार डॉक्टर ऑफ फ़िलॉसफी कोर्स वर्क को पूर्ण कर लिया है।

दिनांक: निदेशक

शोध

स्थान:

पूर्व – प्रस्तुत पूर्णता प्रमाण पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि दिनेश कुमार, मानविकी और सामाजिक विज्ञान, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा के शोधार्थी ने पूर्व-प्रस्तुत सेमिनार की आवश्यकता को संतोषजनक रूप से पूरा कर लिया है, जो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (एम.फिल./पी.एच.डी. हेतु न्यूनतम मानक प्रक्रिया) नियामक - 2009 के अनुसार उनके डॉक्टर ऑफ फ़िलॉसफी कार्यक्रम का एक हिस्सा है।

दिनांक: **निदेशक**

शोध

स्थान :

कृतज्ञता ज्ञापन

चिंतन और सृजन की सार्थक प्रक्रिया ही मानव जीवन को शांत, स्वस्थ और प्रगतिशील बनाती है। यही आयोजन वैज्ञानिक दृष्टि से शोध की जिज्ञासा उत्पन्न करता है। उस शोध समस्या के इर्द-गिर्द भी कुछ ऐसी ही भावना का प्रवाह हुआ था और शोधकर्ता उसी के साथ बहता चला गया। इस भाव में अनेक प्रकार की तैराकी तकनीकियों एवं कुशल गोताखोरों की सम्मतियाँ ली गईं तथा दूसरे किनारे पर पहुँचने का प्रयास किया गया है। शोध कार्य पूरा करने पर शांत तैराक की भांति किनारा प्राप्त कर असीम आनंद की अनुभूति हुई।

सर्वप्रथम **मैं (दिनेश कुमार),** परम आदरणीय **प्रोफेसर लीला राम गुर्जर जी** के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनके निर्देशन में मुझे यह शोध कार्य पूर्ण करने का अवसर प्राप्त हुआ। आपका मधुर व्यवहार, अनुपम सहयोग, कुशल व विद्वतापूर्ण मार्गदर्शन एवं अपनत्व भाव के फलस्वरूप ही यह शोध कार्य संपन्न हो पाया है। अत: मैं पूज्य गुरु के प्रति नतमस्तक होकर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। शोध कार्य को नित नई ऊर्जा एवं दिशा देने में वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा के वर्तमान कुलपति **प्रो. रतन लाल गोदारा** एवं पूर्व कुलपति **प्रो. विनय कुमार पाठक** द्वारा विश्वविद्यालय में हमें उपलब्ध करवाए गए बेहतर शोध वातावरण एवं मार्गदर्शन के लिए उनका कोटिश: आभार।

शोध कार्य की रूपरेखा तैयार करने और सम्बंधित पहलुओं पर उचित मार्ग दर्शन प्रदान करने के लिए **प्रो. अशोक शर्मा, प्रो. दिनेश कुमार गुप्ता, प्रो. बी. अरुण कुमार, प्रो. रजनी रंजन सिंह**, निदेशक शोध **डॉ. सुबोध कुमार,** उपनिदेशक शोध **डॉ क्षमता चौधरी, डॉ अकबर अली, डॉ पतंजलि मिश्र** और समस्त विद्वतजनों का मैं आभार प्रकट करता हूँ।

इसी कड़ी में विश्वविद्यालय में कार्यरत कार्यक्रम अधिकारी **सौरभ पांडे,** शोध विभाग से **सुरेश सैनी** एवं **बालकृष्ण शर्मा** का भी उनके बहुपयोगी सहयोग के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

डॉ. खेमचंद महावर (राजकीय महाविद्यालय, बहरोड़) एवं साथी शोधार्थी **अनिल कुमार जैन, सुभाष चंद्र, हेमराज चंदेल, सुधांशु गौतम** के असीम सहयोग का सहृदयपूर्वक आभार प्रकट करता हूँ।

इस शोध कार्य को पूरा करने में परिवार के सदस्यों की भूमिका उल्लेखनीय रही। विशेषरूप से मेरी पुत्री **जिया यादव**, पुत्र **देवांश** एवं धर्मपत्नी **रजनी यादव** का अमूल्य योगदान रहा।

इसके अतिरिक्त मैं उन सभी का कृतज्ञ हूँ जिनका इस शोध कार्य के पूर्ण होने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से योगदान रहा है।

दिनांक: **दिनेश कुमार**

पुस्तकों एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध पत्र

1) "अहिंसा विकासशील प्रक्रिया" नामक मेरा शोध पत्र "गांधी- वीथिका : समसामयिक संदर्भ" नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक का सम्पादन डॉ शीला राय (प्राचार्या, सैंट ज़ेवियर्स कॉलेज, जयपुर) द्वारा किया गया है। यह पुस्तक कीर्ति पब्लिकेशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित की गयी है। आई. एस. बी. एन. : 978-81-933555-0-3

2) "गांधी चिंतन में धर्म की अवधारणा" नामक मेरा शोध पत्र "राज-यष्टि : जर्नल ऑफ सोशल साइन्स" नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। वॉल्यूम X; नंबर 1 ; जनवरी- जून 2017; आई. एस. एस. एन. : 0974-8687

3) "ग्रामीण समाज में परिवर्तन" नामक मेरा शोध पत्र "रिसर्च रिइंफोर्समेंट" नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। वॉल्यूम 7 ; इश्यू 1 ; मई – अक्तूबर 2019 ; आई. एस. एस. एन. : 2348-3857

शोध प्रकाशन एवं पत्र वाचन की सूची

पत्र वाचन:

1) मैंने "बदलते संदर्भ में अहिंसा की परंपरा" नामक अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार में भाग लिया जो कि 14 एवं 15 फरवरी, 2015 को गांधी भवन, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में आयोजित हुई। इस सेमिनार में मैंने "अहिंसा की परंपरा: समकालीन संदर्भ" नामक एक पत्र प्रस्तुत किया।

2) मैंने भारतीय गांधी अध्ययन समिति द्वारा प्रायोजित 38वीं वार्षिक सेमिनार "गांधी वाद-विवाद" में भाग लिया जो कि लाइफ लॉन्ग लर्निंग विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय एवं बगरु महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जयपुर द्वारा 21 एवं 23 नवम्बर, 2015 को आयोजित किया गया। इस सेमिनार में मैंने "अहिंसा: विकासशील प्रक्रिया" नामक पत्र प्रस्तुत किया।

3) मैंने "भारतीय लोकतन्त्र : संस्थाएं और प्रक्रियाएं" नामक यू. एल. पी. राष्ट्रीय सेमिनार में भाग लिया जो कि 19 एवं 20 जनवरी को राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित की गयी। इस सेमिनार में मैंने "राज्य, नागरिक समाज और लोकतन्त्र" नामक एक पत्र प्रस्तुत किया।

4) मैंने भारतीय गांधी अध्ययन समिति द्वारा प्रायोजित 40 वीं वार्षिक सेमिनार "गांधी और भारतीय संस्कृति" में भाग लिया जिसका आयोजन गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति ने 31 अक्तूबर से 2 नवंबर तक तीस जनवरी मार्ग, राजघाट, नयी दिल्ली पर किया गया। इस सेमिनार में मैंने "गांधी चिंतन में धर्म की अवधारणा" नामक पत्र प्रस्तुत किया।

5) मैंने "समकालीन वैश्विक मुद्दे: गांधीय विकल्प" नामक यू. एल. पी. राष्ट्रीय सेमिनार में भाग लिया जो 26 - 27 मार्च को राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित की गयी। इस सेमिनार में मैंने "महात्मा गांधी का पर्यायवर्णीय दृष्टिकोण" नामक पत्र प्रस्तुत किया।

अनुक्रमणिका

1- 37

प्रथम अध्याय- परिचयात्मक : विषय की व्याख्या, उद्देश्य, उपलब्ध साहित्य की समीक्षा

1.1 प्रस्तावना
1.2 नागरिक समाज
1.3 नागरिक समाज के मापदंड
1.3.1 शास्त्रीय साहित्य
1.3.2 वर्तमान साहित्य
1.4 मार्क्स तुलियस सिसरो (106–43 ई.पू.) के अनुसार
1.5 जॉन लॉक (1632-1704 ई.) के अनुसार
1.6 जे. जे. रूसो (1712 – 1778) के अनुसार
1.7 जी. डब्ल्यू. एफ. हीगल (1770 – 1831 ई.) के अनुसार :-
1.7.1 परिवार
1.7.2 नागरिक समाज
1.7.3 राज्य
1.8 कार्ल मार्क्स (1818 – 83) के अनुसार
1.9 एडम फर्गुसन (1723 -1816)के अनुसार
1.10 अलेक्सी द ताकवील (1805 – 59) के अनुसार
1.11 एंटोनियो ग्राम्शी (1891-1937) के अनुसार
1.12 समकालीन परिदृश्य
1.13 अध्ययन की आवश्यकता
1.14 शोध के उद्देश्य
1.15 शोध पद्धति
1.16 साहित्य समीक्षा

द्वितीय अध्याय- नागरिक समाज की अवधारणा **38-74**

2.1 प्रस्तावना
2.2 नागरिक समाज की आवश्यकता
2.3 नागरिक समाज का ऐतिहासिक विकास
2.3.1 आरम्भिक उदारवादी राजनीति सिद्धांत में नागरिक समाज
2.3.2 जॉन लॉक की नागरिक समाज की संकल्पना
2.3.3 राजनीतिक – अर्थव्यवस्था का आरंभ और नागरिक समाज की प्रबोधनकालीन संकल्पना
2.3.4 नागरिक समाज की प्रबोधनकालीन संकल्पना की सीमाएँ
2.4 हीगल की नागरिक समाज की संकल्पना

2.5 नागरिक समाज की समीक्षा और राज्य की भूमिका
2.6 मार्क्सवादी परंपरा में नागरिक समाज: कार्ल मार्क्स एवं एंटोनियो ग्राम्शी
2.7 नागरिक समाज की संकल्पना का समकालीन पुनरुत्थान
2.8 उत्तर- औपनिवेशिक संदर्भ में नागरिक समाज
2.9 उत्तर-औपनिवेशिक समाज में नागरिक समाज और आधुनिकता: आलोचनात्मक मुद्दे
2.10 अवधारणा एवं सैद्धान्तिक विवेचना
2.10.1 पूर्व आधुनिक काल में नागरिक समाज की अवधारणा
2.10.2 मध्य युग
2.10.3 आधुनिक काल
2.10.4 उत्तर आधुनिक काल
2.11 नागरिक समाज की परिभाषा एवं सम्बंधित शब्द
2.12 नागरिक समाज की पश्चिमी अवधारणा
2.13 नागरिक समाज की विशेषताएँ
2.14 नागरिक समाज की भूमिका
2.15 वैश्विक नागरिक समाज
2.16 वैश्विक नागरिक समाज के क्षेत्र
2.17 वैश्विक संस्कृति और नागरिक समाज
2.18 वैश्विक नागरिक समाज की चुनौतियाँ
2.18.1 प्रजातंत्रीय समाज का निर्माण
2.18.2 आर्थिक विकास
2.18.3 उपभोक्ता समाज
2.18.4 बहुलवादी समाज
2.19 निष्कर्ष

तृतीय अध्याय- भारत में नागरिक समाज : उद्भव, विकास एवम् वर्तमान स्थिति **75-104**

3.1 प्रस्तावना
3.2 नागरिक समाज की खोज
3.3 भारत में नागरिक समाज का उद्भव
3.4 भारत में नागरिक समाज का विकास
3.5 नागरिक समाज: वर्तमान स्थिति
3.6 नागरिक समाज सरकार के परामर्शदाता
3.7 नागरिक समाज और गैर- दलीय राजनीति
3.8 नागरिक समाज और भ्रष्टाचार विरोधी मुहीम
3.9 भारत में नागरिक समाज का व्यावसायीकरण
3.10 अस्वैच्छिक संगठन
3.11 अनागरिक संगठन

3.12 नागरिक समाज का परिप्रेक्ष्य
3.13 भारत में विकास का स्वरूप एवम नागरिक समाज
3.14 नागरिक समाज की प्रासंगिकता
3.15 निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय- भारत में नागरिक समाज आंदोलन-: लोहिया आंदोलन 105- 203
जे.पी. आंदोलन
अरुणा रॉय आंदोलन

4.1 प्रस्तावना
4.2 राममनोहर लोहिया का व्यक्तित्व और नेतृत्व
4.3 लोहिया के समाजवाद के मूल सिद्धांत
4.4 लोहिया के विचारों पर गांधी की प्रतिबद्धता
4.5 लोहिया के समाजवाद की अवधारणा
4.5.1 अधिकतम समानता की प्राप्ति
4.5.2 सामाजिक स्वामित्व
4.5.3 लघु इकाई तकनीक
4.5.4 चार स्तम्भीय राज्य
4.5.5 अच्छा जीवन स्तर
4.5.6 विश्व संसद व सरकार
4.6 भारत के पुनर्निर्माण के लिए लोहिया का समाजवादी कार्यक्रम
4.7 लोहिया और भारत में समाजवादी आन्दोलन
4.8 समाजवादी एकता
4.9 कानपुर कॉन्फ्रेंस
4.10 काँग्रेस से दरार
4.11 पहली एशियाई समाजवादी कांफ्रेंस
4.12 लोहिया और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी
4.13 समान-असम्बद्धता का लोहिया का सिद्धांत
4.14 भारत में समाजवादी दल
4.15 जे.पी.आन्दोलन
4.16 कांग्रेस समाजवादी पार्टी का गठन एवं इसमें जे. पी. की भूमिका
4.17 कांग्रेस समाजवादी दल का कार्यक्रम
4.18 भारत छोड़ो आन्दोलन में जयप्रकाश नारायण की क्रान्तिकारी भूमिका
4.19 सर्वोदय और जयप्रकाश नारायण
4.20 लोकनायक जे.पी. और बिहार आंदोलन
4.20.1 18 मार्च 1974 से 4 मार्च 1975
4.20.1.1 जे.पी. की सम्पूर्ण क्रांति- परिकल्पना
4.20.2 5 जून, 1975 से 25 जून, 1975
4.20.3 26 जून 1975 से मार्च 1977

4.21 अरुणा रॉय आन्दोलन
4.22 सूचना के अधिकार हेतु वैधानिक प्रयास
4.23 राजस्थान में सूचना के अधिकार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
4.24 एम.के.एस.एस. का जन्म और उसकी समझ
4.25 न्यूनतम मजदूरी को लेकर भीम में सम्मेलन
4.26 खुले और मुक्त बाजार के मिथक की सच्चाई
4.27 पारदर्शिता का सूत्रीकरण
4.28 एम.के.एस.एस. और जनसुनवाइयां
4.29 जन सुनवाइयां- एक आलोचनात्मक समीक्षा
4.30 ब्यावर धरना: अप्रैल, 1996
4.31 एन सी पी आर आइ: कानून के लिए एक राष्ट्रीय अभियान
4.32 जयपुर धरना: मई – अगस्त, 1997
4.33 घोटाला रथ : राजनीतक दोहरेपन और पाखण्ड का सच
4.34 राज्य के कानून और एन सी पी आर आइ
4.35 राजस्थान का कानून अंतरिम सफलता
4.36 जनावद जन सुनवाई
4.37 आर टी आई कानून, 2005
4.38 निष्कर्ष

पंचम अध्याय- अन्ना आन्दोलन : - अन्ना हजारे **204-256**

- अरविन्द केजरीवाल

5.1 प्रस्तावना
5.2 अन्ना हजारे का व्यक्तित्व एवं नेतृत्व
5.3 भ्रष्टाचार विरोधी जन आन्दोलन
5.4 अन्ना और लोकपाल
5.5 लोकपाल की अवधारणा
5.6 अरविंद केजरीवाल
5.7 जन लोकपाल बिल
5.8 जनलोकपाल के लिए आन्दोलन की कार्यवाही
5.9 सरकारी लोकपाल विधेयक और जन लोकपाल विधेयक की गठन प्रक्रिया में अंतर
5.10 16 अगस्त: उपवास का प्रथम दिन
5.11 17 अगस्त: उपवास का दूसरा दिन
5.12 18 अगस्त : उपवास का तीसरा दिन
5.13 19 अगस्त : उपवास का चौथा दिन
5.14 20 अगस्त : उपवास का पाँचवा दिन
5.15 21 अगस्त : उपवास का छठा दिन

5.16 22 अगस्त : उपवास का सातवाँ दिन
5.17 23 अगस्त: उपवास का आठवां दिन
5.18 24 अगस्त : उपवास का नवां दिन
5.19 25 अगस्त : उपवास का दसवां दिन
5.20 26 अगस्त : उपवास का ग्यारवाँ दिन
5.21 27 अगस्त : उपवास का बारहवां दिन
5.22 28 अगस्त : उपवास का तेरहवां दिन
5.23 आंदोलन का विश्लेष्णात्मक अध्ययन
5.24 अनशन समाप्ति के पश्चात
5.25 निष्कर्ष
षष्ठम अध्याय: शोध मूल्यांकन **257-272**
6.1 आन्दोलन के निहितार्थ
6.2 आगामी शोध अध्ययन हेतु सुझाव
उपसंहार **273**
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची **274-288**
परिशिष्ट **i-xxxv**
प्रकाशित शोध पत्र एवं सेमीनार/ कांफ्रेंस प्रमाण पत्र
Plagiarism Report **xxxvi**

❑❑❑❑❑

प्रथम अध्याय
परिचयात्मक – विषय की व्याख्या, उद्देश्य, उपलब्ध साहित्य की समीक्षा

1.1 प्रस्तावना

नागरिक समाज शब्द एवं इसकी आधुनिक अवधारणा विगत दशकों से राजनीतिक, सामाजिक, प्रशासनिक और आर्थिक सन्दर्भों में काफी लोकप्रिय हुई है। परंपरागत रूप से राज्य तथा नागरिक समाज को समानार्थक माना जाता रहा है किन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि राज्य तथा नागरिक समाज के मध्य व्यापक भेद हैं। स्थूल रूप से नागरिक समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो एक-दूसरे के कल्याण हेतु समग्र दृष्टिकोण से कार्य करते हैं। नागरिक समाज को तृतीय क्षेत्र के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि प्रथम क्षेत्र सरकार तथा द्वितीय क्षेत्र अर्थात बाजार के प्रभावी संचालन हेतु व्यक्तियों के ऐसे संगठित समूहों की आवश्यकता है जो लोकतान्त्रिक ढंग से स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करते हुए इन दोनों क्षेत्रों पर नियंत्रण एवं संतुलन का कार्य करते हैं। (कटारिया, 2003, पृ.110)

दुनिया में जितने भी लोग हैं, समाज में रहते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। लोगों का शांतिपूर्ण और संगठित जीवन ही समाज है, जिसमें लोग एक दूसरे से अंत:क्रियाएँ करते हैं। हम सब लोग यहाँ शान्ति से बैठे हैं,यह समाज है। जहाँ सम्बन्ध नहीं हों, न जीवन संगठित हो, न शांति हो, वहां समाज नहीं होता है। इसे ही हॉब्स ने प्राकृतिक युग कहा है। स्वतंत्रता प्राकृतिक युग में होती है जिसका मतलब है चाहे सो करो। इसे ही प्राकृतिक स्वतंत्रता कहते हैं। यह जंगल में चलती है इसलिए इसे जंगल की स्वतंत्रता भी कहते हैं। समाज में सब शांति से रहते हैं। समाज में जो स्वतंत्रता होती है, उसे नागरिक स्वतंत्रता कहते हैं। यही वास्तविक स्वतंत्रता है। (रामास्वामी, 2011, पृ. 7)

सबको एक ही हित में बांध दिया जाता है, इसे बंद समाज कहते हैं। लोग शांति से तो रहते हैं लेकिन उनकी स्वतंत्रताएँ कुचल दी जाती हैं। उनमें विरोध का कोई अधिकार नहीं रहता। राज्य, सरकार, नेता विचारधारा का विरोध नहीं कर सकते। अगर ऐसा करते हैं तो कुचल दिए जाते हैं। ऐसा फासीवाद या साम्यवाद में होता है। जून 1989 में बीजिंग (चीन) में छात्रों ने स्वतंत्रता बहाली को लेकर सचिवालय को घेर लिया। चीन की आर्मी ने त्यांनमाना चौक पर 5000 छात्रों को गोलियों से भून डाला। आज तक चीन में कोई आन्दोलन नहीं हुआ है। हमें पता ही नहीं चलता कि अंदर ही अंदर समाज में क्या चल रहा है, क्योंकि बंद समाज है।

पूरे समाज को श्रमिक बना दिया जाए तो श्रमिकों का राज्य होगा। इसे एकलवादी समाज कहते हैं अर्थात ऐसा समाज जहाँ या तो मजदूर हैं, किसान हैं, मेहनतकश हैं, इन सबका एक हित है। लेकिन जहाँ स्वतंत्रता है और तरह – तरह के काम धंधे हैं, उनके विविध हित हैं और सभी हित सुरक्षित हैं, ऐसे समाज को बहुलवादी या खुला समाज कहते हैं। साम्यवादी देशों में जो समाज बनाये गए थे वे बंद समाज थे, उनके एक हित थे। उनमें लोकतंत्र नहीं था। अत: 1990 से साम्यवाद का पतन शुरू हो गया। सर्वप्रथम

पोलैंड में ऐसी स्थिति आई जहाँ साम्यवादी व्यवस्था का अंत हुआ (ए.डी.ताकविल – पोलैंड में सिविल सोसाइटी का पुनर्जन्म) लोगों की स्वतंत्रताएँ बहाल हुई। लोगों ने खुली हवा में सांस ली। इसी को नागरिक समाज कहा गया। धीरे-धीरे सभी साम्यवादी देश उदारवादी होते चले गए। चीन, उत्तर कोरिया और क्यूबा में नागरिक समाज नहीं है। ये साम्यवादी देश हैं। साम्यवादी देशों में नागरिक समाज का प्रवेश हो गया है लेकिन अभी अच्छी तरह से स्थापित नहीं हुआ है।

16वीं सदी में इंग्लैंड के अर्थशास्त्री एडम स्मिथ की पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन' के अनुसार जहाँ लोगों को पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता मिली हो वही नागरिक समाज है। जहाँ आयात- निर्यात मुक्त है, बाजार खुला है, प्रतियोगिता खुली, उत्पादन और वितरण सब खुला है तो वहाँ नागरिक समाज है। यह अवधारणा आर्थिक है।

डेमोक्रेसी इन अमेरिका- ए.डी. ताकविल के अनुसार अमेरिका में इतनी ज्यादा स्वायत्तशासी संस्थाएँ हैं, राज्य जिनका दमन नहीं कर सकता। 'मैंने अमेरिका में एक बात देखी जो अमेरिका से भी बड़ी है। वह है लोकतंत्र का नमूना।' ये स्वायत्तशासी संस्थाएँ समाज और राज्य के बीच बफर स्टेट का कार्य करती हैं। इनके चलते राज्य निरंकुश नहीं हो सकता और समाज अव्यवस्थित नहीं हो सकता। तीसरी दुनिया के देशों में इस दृष्टि से नागरिक समाज नहीं है। तीसरी दुनिया के देशों में नागरिक समाज धीरे- धीरे उभर रहा है। (ए.डी.ताकविल, 1835, पृ. 97)

जुर्गेन हैबरमास की पुस्तक 'कम्युनिकेटिव एक्शन' के अनुसार राज्य में एक बड़ा स्वायत्तशासी क्षेत्र हो जिसमें स्वायत्तशासी संस्थाएँ एक- दूसरे के साथ अंत:क्रिया करें। यह नागरिक समाज की पहचान है। यह आपसी सम्प्रेषण की व्यवस्था कम्यूनिस्ट देशों में नहीं है अत: यहाँ नागरिक समाज नहीं है।

आधुनिक काल में सामाजिक विज्ञानों में नागरिक समाज की अवधारणा समसामयिक विषय बनता जा रहा है क्योंकि विश्व के विभिन्न देशों में प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था की स्थापना हो रही है। इससे एक नई राजनीतिक संस्कृति का पोषण हो रहा है जो निश्चित रूप से सरकारी तंत्र को प्रभावित करती है। प्रजातान्त्रिक मूल्यों को मजबूत बनाने, संघर्ष और तनाव को कम करने के लिए इस प्रकार के समाज की अहम् भूमिका है। (गुप्ता, 2004, पृ. 213)

नागरिक समाज की संकल्पना प्राचीन काल में रोमन विचारक सिसरो से चली आ रही है किन्तु भारत में इस शब्द को पुन: जीवन्तता मिली है। श्री अन्ना हजारे व उनके सहयोगियों द्वारा लम्बे अरसे बाद 'नागरिक समाज' जैसी संकल्पना को नए रूप में प्रस्तुत किया है। नागरिक चिंतन के इतिहास में 'नागरिक समाज' की संकल्पना बहुत पुरानी है। समय के साथ इस संकल्पना में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए हैं। लम्बे समय तक राजनीतिक समाज व नागरिक समाज को समवर्ती माना जाता है। परन्तु आज के समाज की जटिल परिस्थितियों में नागरिक समाज के पृथक अस्तित्व को मान्यता देना ज़रूरी समझा जाता है। आज के युग में नागरिकों के उन स्वैच्छिक और व्यावसायिक संगठनों को नागरिक समाज के रूप में

पहचाना जाता है, जो सार्वजनिक नीति और सरकारी कामकाज की त्रुटियों के बारे में जनमत तैयार करते हैं और क़ानून के दायरे में रहकर इन त्रुटियों को दूर करने का बीड़ा उठाते हैं। (गाबा, 2012, पृ. 56)

आज के युग में लोग न तो राजनीतिक चर्चा में खुलकर भाग लेते हैं, न वे सरकार की आलोचना में कोई खुलकर अभिरुचि दिखाते हैं। ऐसी हालत में नागरिक समाज उन्हें स्वतंत्र चर्चा और विचार विमर्श की ओर प्रेरित करते हैं जिससे लोकतंत्र की नींव सुदृढ़ होती है। नीरा चंधोक ने अपनी पुस्तक 'स्टेट एंड सिविल सोसायटी–एक्सप्लोरेशन इन पोलिटिकल थ्योरी' में राज्य और नागरिक समाज का ग्रीक चिंतन से वर्तमान के संदर्भ में सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि नागरिक समाज लोकतंत्र के लिए अति आवश्यक न सही पर राजनीतिक जीवन के लिए आवश्यक जरूर है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देखें तो रोमन विचारक सिसरो से लेकर संविदावादी हॉब्स, लॉक, रूसो, हीगल, मार्क्स, ग्राम्शी, फर्ग्युसन, ताकविल, डेविड हेल्ड, पॉल हर्स्ट, मार्क्यूज़ तथा वान रूय तक ने अपने अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन सभी विचारकों के मत में कुछ विभिन्नताएं भी हैं। इन विचारकों द्वारा प्रकट किये गये मत को 'नागरिक समाज' के मापदंड माना जा सकता है। इस प्रकार देखा जाये तो प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक नागरिक समाज की अवधारणा बदली है। अब यह केवल बाजारोन्मुखी अर्थतंत्र का हिस्सा मात्र नहीं है, वरन नागरिक समाज राज्य में ही निहित है। वक्त आने पर सामाजिक परिवर्तन या न्याय की स्थापनार्थ स्वयं अस्तित्व में आते हैं और लोगों को जागरूक करके उन्हें भी नागरिक समाज का अंग बना देते हैं। (चंधोक, 1995, पृ. 75)

भारत में नागरिक समाज की अवधारणा नई नहीं है। हमारे वेदों, पुराणों, उपनिषदों में वसुधैव कुटुम्बकम की धारणा बलवती रही है। हमारे धर्म ग्रन्थ मानव मात्र का कल्याण चाहते हैं। भारत में नागरिक समाज आन्दोलन कई रूपों में प्रकट होता रहा है। नागरिक समाज लाने में मुगलों का तो नहीं लेकिन अंग्रेजों का हाथ रहा। अंग्रेजों ने यातायात के साधन, अंग्रेजी शिक्षा, यूनिवर्सिटी,कॉलेज खोले इससे यूरोपीय इतिहास का ज्ञान हुआ। इन सभी कार्यों से समाजीकरण हुआ और इसी सुधार में से नागरिक समाज निकला। उसके बाद हमारे नेता आ गए। राष्ट्रीय आन्दोलन में नागरिक समाज उभर कर आया जिसमें गांधीजी की अहम भूमिका रही। तिलक, गोखले के आगमन ने नागरिक समाज को आगे बढ़ाने का कार्य किया। स्वतंत्रता के बाद जवाहरलाल नेहरु, जयप्रकाश नारायण और लोहिया ने नागरिक समाज आंदोलन चलाकर सामाजिक समस्याओं को दूर करने का बीड़ा उठाया। यहाँ हम भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन से लेकर लोहिया व जे.पी. के आन्दोलन के साथ मुख्य रूप से अन्ना के आन्दोलन का अध्ययन करेंगे। स्वतंत्रता के पहले कई समाज सुधारकों ने अंग्रेजी शासन में व्याप्त उन समस्याओं पर आवाज उठाई जो मानवीयता के विरुद्ध थी। बीसवीं शताब्दी के महापुरुष गाँधी जी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा स्वतंत्रता आन्दोलन को आज़ादी के मुकाम तक पहुँचाया। अरुणोदय प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक "अन्नान्दोलन संभावनाएं और सवाल" के अनुसार गाँधी नागरिक समाज के बहुत बड़े समर्थक थे और सरकार के ऊपर उसका नैतिक नियंत्रण बनाये रखने के पक्षधर थे। उन्हें जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त था और उसकी मदद से वे सभी आन्दोलन चलाते रहे । बाद में गाँधी जी की राह पर चलकर उनके शिष्यों ने

अपनी स्वयंसेवी संस्थाओं के माध्यम से लोकहित में कई कार्य किए। देश को नागरिक समाज की ज़रुरत है। उसका कमज़ोर पड़ना राष्ट्र के लिए अशुभ है। (प्रकाश, 2012, पृ. 217)

डॉ राममनोहर लोहिया का नागरिक समाज आन्दोलन 'सप्त क्रांति' के नाम से जाना जाता है। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के लिए एक साथ सात क्रांतियों का आह्वान किया। (अरोड़ा, 1984, पृ. 65) यह सप्त क्रांति गाँधी जी की विचारधारा से प्रेरित थी। यह उन्हीं बातों को लेकर चली जो गाँधी जी का सपना था। जयप्रकाश नारायण ने संपूर्ण व्यवस्था बदलने के लिए नागरिक समाज आन्दोलन चलाया जिसे 'संपूर्ण क्रांति' के नाम से जाना जाता है। उनकी यह संपूर्ण क्रांति गाँधी जी की समग्र क्रांति थी। (सिंह एवं सिंह, 2016, पृ. 240)

सामाजिक कार्यकर्ता अरुणा रॉय को राजस्थान के गरीब लोगों के जीवन को सुधारने और इस दिशा में किये गए उनके प्रयासों के लिए विशेषतौर पर जाना जाता है। भारत में सूचना का अधिकार लागू करने के लिए उनके द्वारा किये गए प्रयत्न और योगदान प्रशंसनीय हैं। 'मजदूर किसान शक्ति संगठन' द्वारा स्त्रियों और मजदूरों को संगठित करके उनके लोकतान्त्रिक अधिकारों के पक्ष में नागरिक समाज आन्दोलन चलाया। (प्रतिमान, जनवरी- जून, 2013) इसी कड़ी में सामाजिक कार्यकर्ता अन्ना हजारे ने प्रबुद्ध समाज को जगाने का कार्य किया है। उनके नेतृत्व में जन लोकपाल बिल के बारे में सरकार के ढुलमुल रवैये व अनिर्णय की स्थिति के खिलाफ गाँधीवादी तरीके से नागरिक समाज द्वारा आन्दोलन व अनशन किया गया। (त्रिपाठी, 2012, पृ. 11) लेकिन राजनीतिक दलों द्वारा उपेक्षा पूर्ण रवैया अपनाया गया। इस उपेक्षित रवैये के कारण राजनीतिक विकल्प की तलाश की जाने लगी। अन्ना आन्दोलन को राजनीति से दूर रखना चाहते थे जबकि अरविन्द केजरीवाल आन्दोलन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए एक अलग पार्टी बनाकर चुनाव में शामिल होने के पक्षधर थे। इसी के परिणामस्वरुप नागरिक समाज के आन्दोलन के सैद्धांतिक पक्ष से व्यावहारिक पक्ष के रूप में आम आदमी पार्टी अस्तित्व में आई। (मील, 2013, पृ. 29)

1.2 नागरिक समाज

नागरिक समाज का विचार आधुनिक युग में आया, लेकिन इसके बारे में विचारकों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। एडम स्मिथ स्कॉट्लैंड का बड़ा अर्थशास्त्री था, जिसने खुले बाजार और खुली प्रतियोगिता के सूत्र का समर्थन किया। इस बिंदु पर बल दिया कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। प्रतियोगिता से वस्तुओं की कीमतें अपने आप निश्चित हो जाएँगी और इसी को उसने एक अदृश्य हाथ कहा। जॉन लॉक ने नागरिक समाज का भिन्न अर्थ लगाया। लॉक के अनुसार कल्पित नागरिक समाज में नागरिक समाज नहीं है, क्योंकि लोगों के तीन प्राकृतिक अधिकार स्वतंत्रता, जीवन और संपत्ति की सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। इसलिए लोग एक समझौता करते हैं, जिससे समुदाय(राज्य) बन जाता है, जिसमें सम्प्रभुता सभी के पास है तभी समाज, नागरिक समाज बन जाता है। फिर भी एक कमी रह जाती है और वह यह है कि प्रभुसत्ता का प्रयोग कैसे किया जाए। इसलिए समुदाय और राजा के बीच दूसरा

समझौता होता है, राजा वचनबद्ध हो जाता है कि वह लोगों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करेगा। तभी नागरिक समाज पूरी तरह से सुरक्षित हो जाता है अर्थात नागरिक समाज में संवैधानिक शासन होना भी जरूरी है। (गाबा, 2012, पृ. 56)

जर्मनी का हीगल एक बड़ा आदर्शवादी विचारक है, जिसने द्वंदात्मक सूत्र का अविष्कार किया। उसने यह बताया कि परिवार एक वाद है, उसके भीतर से नागरिक समाज निकलता है जो उसका प्रतिवाद है। फिर दोनों में टकराव होता है और उसमें से राष्ट्र- राज्य निकलता है। हीगल ऐसे नागरिक समाज की कल्पना करता है जिसमे प्रतियोगिता है, क्योंकि परिवार की विशेषता है- एकता, नागरिक समाज की विशेषता है- प्रतियोगिता। राष्ट्र- राज्य की विशेषता है- सार्वभौमिकता। हीगल वर्तमान समाज को आदर्श समाज कहता है और अपने नागरिक समाज को पूंजीवादी समाज का रूप देता है। इसलिए मार्क्स उसे पूंजीवादी विचारक कहता है। मार्क्स पूंजीवादी समाज को नागरिक समाज नहीं मानता क्योंकि वह मेहनतकशों के शोषण और उत्पीड़न पर आधारित है। क्रांति के बाद समाजवादी समाज आता है और उसी को नागरिक समाज कहा जा सकता है, क्योंकि अब शोषण, उत्पीड़न और अन्याय की कोई जगह नहीं है। सर्वहारा के अधिनायकवाद के अधीन वर्गहीन समाज स्थापित किया जाता है, जो किसी दिन राज्यविहीन समाज में बदल जाएगा, तभी मानव को पूर्ण मुक्ति मिलेगी। (गाबा, 2012, पृ. 57)

नागरिक समाज के बारे में हीगल और मार्क्स की धारणाएं मूलतःभिन्न हैं। मार्क्स के सभी विरोधी इस बिंदु पर बल देते हैं कि नागरिक समाज एक स्वतंत्र और बहुलवादी समाज होता है, जिसमें लोगों को अनिवार्य स्वतंत्रतायें प्राप्त होती हैं। असंख्य हित मुखरित होते हैं और राज्य की भूमिका बहुत सीमित होती है। इसी को नागरिक समाज के बारे में उदारवादी अवधारणा कहते हैं।

एक फ्रेंच इतिहासकार ए.डी.ताकविल कहते हैं कि अमेरिका में एक वस्तु अमेरिका से भी बड़ी है और वह है लोकतंत्र की प्रतिमा या नागरिक समाज का अस्तित्व। उदारवादी विचार के अनुसार स्वतंत्र देश में लोगों की असंख्य संस्थाओं को सक्रिय होना चाहिए जो समाज और राज्य के बीच संतुलन को बनाए रख सकें। लेकिन समाजवादी देशों में लोगों की स्वतंत्रतायें कुचल दी जाती हैं। एक विशेष प्रकार की राजनीतिक संस्कृति थोपी जाती है। राज्य की भूमिका इतनी बढ़ा दी जाती है कि लोग अपने उपक्रम का प्रयोग नहीं कर पाते इसलिए सामाजिक पूँजी का हनन हो जाता है। (क्लाफाम, 1985, पृ. 205)

जब लेच वलेशा ने पोलैंड में 1980 में संगठित आन्दोलन चलाया, सारा श्रमिक वर्ग उनके साथ हो गया तो वहाँ नागरिक समाज का आगमन शुरू हो गया। चुनाव कराए गए तथा वलेशा ने सरकार बनाई और उसने अपने देश को सोवियत गुट से अलग कर लिया। इसलिए इसे पोलैंड में नागरिक समाज का पुनर्जन्म कहा गया।

ग्राम्शी इटली का एक बड़ा मार्क्सवादी विचारक था, जिसने मार्क्सवाद की पुनर्व्याख्या की है। वह कहता है कि अब समाजवादी क्रांति असंभव है क्योंकि पूंजीवर्ग ने समाज के सभी तत्वों पर अपना वर्चस्व

स्थापित कर लिया है। इसलिए एक अवैध व्यवस्था, वैध व्यवस्था बन गई है और इसी को उसने उलटी क्रांति कहा है। फिर भी उसने यह विचार दिया है कि कट्टर बुद्धिजीवी क्रांति कर सकते हैं। (भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ. 197)

नागरिक समाज का विषय उत्तर उदारवादी चिंतन में अपनी जगह बना चुका है। ऐसा लगता है कि कुछ मार्क्सवादी भी उदारवाद की ओर खिंच आये हैं। उदाहरण के लिए हेबरमास एक खुले क्षेत्र की बात करता है। समाजवादी व्यवस्थाओं की निंदा करते हुए वह कहता है कि वहाँ खुली परिचर्चा या लोगों के बीच अंत:क्रिया को कोई जगह नहीं है। इसलिए लोगों के बीच जब परिचर्चाएँ और अंत:क्रिया चलती रहती है तो वहां खुला बना रहता है। नीरा चंडोक भी यही कहती हैं कि समाज और राज्य के बीच जो संघर्ष है, नागरिक समाज ही ऐसा क्षेत्र बनाता है जो दोनों को अपनी- अपनी सीमाओं के भीतर रखता है। अत: नागरिक समाज एक बिचौलिया है। (चंधोक, 1995, पृ. 168-169)

हाईक कहता है कि नागरिक समाज जितना बड़ा होगा उतना ही अधिक लोकतंत्र सफल होगा। हाईक विकास की बात करता है लेकिन यह विकास दो तरह से हो सकता (हाईक, 1979, पृ. 4) है:-

1. विकासवादी विवेकवाद- यह प्राकृतिक नियम है कि लोग अपना विकास स्वयं करें। बच्चा अपने हाथ- पांव खुद चलाता है और धीरे- धीरे उसका विकास होता है। यही विकास टिकाऊ होता है।

2. रचनात्मक विवेकवाद- इसका अर्थ है कि सामाजिक संस्थाएँ या राज्य व्यक्ति के विकास में सहायक हो जैसा कल्याणकारी राज्य में किया जाता है। यही कारण है कि कल्याणकारी राज्य नागरिक समाज को क्षति पहुँचाता है।

21वीं शताब्दी में समाजवादी व्यवस्थाओं का बहुत तेजी से पतन हुआ है। भूमंडलीकरण की लहर ने उदारीकरण की लहर को तेज कर दिया है। इसलिए अब वैश्विक समाज का विचार उभरा है, जिस पर जे.कीन ने महत्त्वपूर्ण रचना प्रस्तुत की है। 20वीं शताब्दी में यह एक धुंधला विचार था कि विश्व राज्य बनाया जावे। यह भी आकलन किया गया था कि संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था ही बढ़कर विश्व राज्य का रूप धारण कर लेगी लेकिन ऐसा नहीं हो सका। अब कुछ नए लेखक आगे आए हैं जैसे बोब्बिओ, जे.कोहन, डेविड हेल्ड और के.कीन, जो यह आकलन करते हैं कि नागरिक समाजों का दायरा बढ़ता जाएगा, जो वैश्विक प्रशासन व्यवस्था की ओर ले जाएगा। तभी विश्व नागरिकता संभव हो सकेगी। कीन ने इसके लिए एक नया शब्द 'विश्व शासन तन्त्र' बनाया है। (कीन, 1998, पृ. 12)

नागरिक समाज की संकल्पना 1990 के दशक में राजनीतिक चिंतन में बहुत महत्त्वपूर्ण बनी। जब साम्यवादी व्यवस्थाओं का पतन हुआ और भूमंडलीकरण के प्रभाव से राष्ट्रीय राज्यों की सीमाएँ कमज़ोर पड़ने लगीं और नव सामाजिक आन्दोलन आरम्भ हुए। नागरिक समाज की कोई एक परिभाषा देना एक कठिन कार्य है और इसलिए इसको समझने के लिए हमें इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को जानना होगा। इस

संकल्पना के विकास में ऐतिहासिक रूप से तीन लोगों के महत्त्वपूर्ण योगदान का उल्लेख करना आवश्यक है। ये कुछ इस प्रकार हैं – जॉन लॉक, वाणिज्यिक समाज के स्कॉटिश सिद्धान्तकर्ता तथा हीगल।

जॉन लॉक के अनुसार सामाजिक समझौते से पहले समाज है क्योंकि सभी लोग शांतिपूर्ण व सामूहिक तरीके से रहते हैं। सभी तीन प्राकृतिक अधिकारों जीवन, स्वतंत्रता, संपत्ति का प्रयोग करते हैं, इसलिए समाज है। यह समाज है, नागरिक समाज नहीं है क्योंकि सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। जब सामाजिक समझौता होता है, तब नागरिक समाज हो जाता है। लॉक इसी नागरिक समाज को कम्युनिटी कहते हैं। जॉन लॉक के लिए नागरिक समाज, प्राकृतिक दशा के विरोध में संगठित एक समाज है। वह नागरिक समाज एवं राजनीतिक समाज में किसी प्रकार का अंतर नहीं करता और इसलिए वह राज्य से भी इसमें भेद नहीं करता। हम यह कह सकते हैं कि जॉन लॉक के अनुसार नागरिक समाज एक विधिक राजनीतिक व्यवस्था है या दयालु राज्य है। नागरिक समाज के निर्माण से पहले की स्थिति को जॉन लॉक प्राकृतिक दशा मानता है और उसकी तुलना में नागरिक समाज को सभ्य समाज की संज्ञा देता है। नागरिक समाज वह स्थिति है जहाँ पर न्यायाधीश, कानून और कानून के क्रियान्वयन की स्वस्थ व्यवस्था हो। वह यह मानता है कि नागरिक समाज की मुख्य इकाई एक सभ्य नागरिक है और नागरिक समाज सभ्य नागरिकों का एक जुड़ाव है। सभ्य नागरिकों का जुड़ाव ही एक सभ्य समाज को जन्म देता है और इसके लिए न्यूनतम आवश्यकता यह है कि उसमें निजी संपत्ति के अधिकारों की व्यवस्था हो, एक प्रतिनिध्यात्मक राजनीतिक व्यवस्था हो, तथा धार्मिक स्वतंत्रता हो।

वाणिज्यिक समाज के स्कॉटिश सिद्धान्तकर्ताओं ने नागरिक समाज को एक नैतिक समुदाय के रूप में परिभाषित किया है। एक वाणिज्यिक समाज केवल उपयोगितावाद एवं विवेकी स्वहित के आधार पर संगठित नहीं किया जा सकता और इसके लिए अन्य प्रकार के व्यक्तिगत संबंधों की आवश्यकता है जो समाज को संगठित रख सके और इसके लिए नैतिक आचरण को आवश्यक माना गया है।

अरस्तु के अनुसार मनुष्य अपनी प्रकृति से एवं आवश्यकता से सामाजिक प्राणी है। मनुष्य अकेला रहना नहीं चाहता है। मनुष्य के भीतर सामाजिकता की भावना भरी हुई है, इसलिए मनुष्य समाज में रहता है। मनुष्य की आवश्यकताओं को परिवार ही पूरा कर पाता है। समाज से दूर वही रह सकता है जिसकी आवश्यकतायें नहीं है। इसी से परिवार और समाज बनता है, जहाँ लोगों का जीवन सामूहिक और शांतिपूर्ण हो। (दाधीच, 2015, पृ. 256)

हीगल इसी बात को उलझाकर कहते हैं। वस्तु के भीतर उसका विरोधी तत्व है । जो विरोधी तत्व बाहर निकलता है, वह परिवारवाद है । उसी में से परिवार निकलते हैं। परिवार की विशेषता है- एकता या यूनिटी। समाज की विशेषता है- प्रतियोगिता। हीगल समाज को नागरिक समाज कहते हैं । राज्य को राष्ट्रराज्य और समाज को नागरिक समाज कहते हैं। नागरिक समाज प्रतियोगिताओं का क्षेत्र है। जो समाज खुला है, प्रतियोगितायें हो रही हैं, वह पूंजीवादी समाज है जिसे हम बुर्जुआ समाज कहते हैं । हीगल उसे ही नागरिक समाज कहते हैं।

हीगल ने सबसे पहले नागरिक समाज की अन्य विशेषता को इंगित किया है। उसने इसे राजनीतिक समाज के समकक्ष नहीं माना अपितु वह इसको परिवार व राज्य के मध्य की एक इकाई मानता है। हीगल के द्वारा परिभाषित नागरिक समाज ने समसामयिक नागरिक समाज के लिए बहस का एक आधार प्रस्तुत किया है। नागरिक समाज की संकल्पना का पश्चिम में एक लम्बा इतिहास है। शास्त्रीय और मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन में भी इसके बारे में उल्लेख मिलता है लेकिन इसके अर्थ और सन्दर्भ भिन्न प्रकार के हैं। नागरिक समाज का परिभाषीकरण समाज में बुजुर्वाओं के उदय के पश्चात् ही संभव हो पाया है और पूंजीवाद के संगठित स्वरुप ने इसको निर्मित करने में सहायता की है। नागरिक समाज का उद्भव गैरवैयक्तिक राजनीतिक शक्ति के उदय से सम्बंधित है तथा व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकार पर आधारित है। इसके विकास में आपसी व्यक्तिगत संबंधों, जो कि राज्य पर निर्भर नहीं हों, से सहायता मिली है जैसे कि पूँजीवाद में आर्थिक सम्बन्ध। व्यक्तियों के निजी संपत्ति के अधिकार तथा स्वतंत्रता ने भी इस संकल्पना को विकसित करने में सहायता की है। इसी के साथ - साथ निजी और सार्वजनिक क्षेत्र में स्पष्ट होती विभाजन रेखा ने भी नागरिक समाज के सुदृढीकरण में सहायता की है। यह इस विचार से भी प्रभावित है कि राज्य की शक्ति को नियंत्रित करना चाहिये, इसलिए यह प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था की संस्थाओं जैसे संसद, राजनीतिक दल इत्यादि से भी सम्बंधित संकल्पना है। एक स्तर पर नागरिक समाज की संकल्पना अरस्तु की राजनीतिक संकल्पना के बिलकुल विपरीत है। (नीरा चंधोक, 1995, पृ. 78)

यूनानी विचार के अनुसार राजनीति प्राणी के लिए स्वाभाविक है क्योंकि वह स्वभाव से एक राजनीतिक व्यक्ति है और वह अपनी अस्मिता और सम्मान को राजनीति के क्षेत्र में ही प्राप्त कर सकता है इसलिए अन्य सभी गतिविधियाँ राजनीति से निम्नतर हैं। इसलिए उस समय ऐसे किसी भी क्षेत्र को महत्त्व नहीं दिया जाता जिसे हम आज की भाषा में निजी क्षेत्र कहते हैं और जिसमें वह अपने सार्वजनिक दायित्व से हटकर अपने परिवार या स्वयं के लिये कार्य कर सके। इसी प्रकार इस धारणा का अभाव था कि व्यक्ति के पास निजी अधिकार होते हैं जो राज्य या राजनीतिक क्षेत्र से अलग होते हैं। चूँकि व्यक्ति को समाज का अभिन्न अंग माना जाता था इसलिए व्यक्ति के अधिकार समुदाय के कार्यों में सक्रिय हिस्सेदारी तक सीमित थे। अरस्तु की राजनीतिक अवधारणा अभिजनवर्गीय थी क्योंकि उसके लिए राज्य के कार्यों में निरंतर सक्रियता एक आवश्यक शर्त थी जो स्त्रियाँ, दास इत्यादि पूरा नहीं कर सकते थे। (दाधीच, 2015, पृ. 257)

रोमन साम्राज्य में राजनीति को व्यक्ति की प्राथमिक गतिविधि माना जाता था, जिसके माध्यम से वह आत्म-साक्षात्कार कर सकता है, इसलिए राज्य नागरिकों के समुदाय के समकक्ष था। कालांतर में रोमन कानून के उदय होने के साथ गैर राजनीतिक क्षेत्र को भी महत्त्व दिया जाने लगा, जिससे व्यक्ति के निजी संपत्ति के अधिकार को स्वीकार किया गया। इस प्रकार सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के मध्य एक विभाजन रेखा का निर्माण हुआ जो कालांतर में जाकर नागरिक समाज का आधार बनी। नागरिक समाज की आधुनिक अवधारणा सत्रहवीं व उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में निर्मित हुई। यह एक आधुनिक संकल्पना है क्योंकि यह राजनीतिक और नागरिक जीवन के मध्य में एक स्पष्ट विभाजन रेखा बनाती है जो कि प्राचीन

समय में नहीं थी इसलिए इस संकल्पना को हम थॉमस हॉब्स और जॉन लॉक के राजनीतिक चिंतन से जोड़ते हैं। (दाधीच, 2015, पृ. 257)

नीरा चंधोक के अनुसार इन शताब्दियो में राजनीतिक चिंतन में नागरिक समाज का उपयोग होना आरम्भ हुआ और विचारकों की दृष्टि ने पहला-नागरिक समाज प्राकृतिक दशा के विकल्प की एक अवधारणा, दूसरा-सामाजिक समझौतों के सिद्धांत को स्वीकार करने से नागरिक समाज एक कृत्रिम संस्था के रूप में स्थापित हुआ। इस प्रकार प्राकृतिक दशा व्यक्ति की स्वाभाविक अवस्था है जबकि नागरिक समाज को निर्मित करना पड़ता है। चूँकि नागरिक समाज एक सामाजिक समझौते का परिणाम है इसलिए इसमें सभ्यता और नागरिकता को बनाये रखने के प्रावधान होते हैं जिससे कि एक व्यक्ति अपना जीवन विवेकीकृत तरीके से व्यतीत कर सके। इसके दौरान राजनीतिक चिंतन में व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया गया। सी बी मेफरसन के अनुसार, थॉमस हॉब्स आधुनिक व्यक्तिवाद का जन्मदाता है और व्यक्तिवाद ही नागरिक समाज का आधार है। राज्य से स्वायत्ता प्राप्त करने की पहली मांग व्यक्ति के द्वारा की जाती है जिससे कि वह अपना जीवन विवेकीकृत तरीके से व्यतीत कर सके और उसके लिए व्यक्तियों को अपने अधिकार शून्य रखने की आवश्यकता होती है जिन्हें वह राज्य से स्वतंत्र रखता है। इसी प्रकार इन सामाजिक समझौतावादियों ने व्यक्ति और राज्य के मध्य के सम्बन्ध को भी समझौते पर आधारित माना और इसलिए राज्य व्यक्ति के समझौते की शर्त से सीमित होता है। अट्ठारवीं शताब्दी में शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र का जन्म हुआ और इसके विचारकों ने भी नागरिक समाज की अवधारणा को आगे बढ़ाया। उनके लिए नागरिक समाज समझौते का परिणाम नहीं था और इस कारण एक कृत्रिम संस्था नहीं थी। वे यह मानते थे कि यह इतिहास के प्रति विकास का परिणाम है। उनके अनुसार एक अराजकतावादी समाज से विवेकीकृत तरीके से समाज को नियोजित किया गया और वह कालांतर में एक नागरिक समाज में परिणित हुआ। फर्ग्युसन, स्टुअर्ट एवं एडम स्मिथ ने इस प्रकार नागरिक समाज की अवधारणा में एक नए दृष्टिकोण को जन्म दिया। इस बात पर बल दिया कि अगर समाज का विकास और प्रतिविकास समाज की भौतिकीय गतिविधियों से नियंत्रित होता है तब यह माना जाएगा कि सामाजिक जीवन का आधार आर्थिक है न कि राजनीतिक। इसलिए नागरिक समाज वह व्यवस्था है जिसमें इस आर्थिक विकास को सही वातावरण मिलता है। ये शास्त्रीय अर्थशास्त्री मानते थे कि व्यक्तिगत स्वार्थ और सामाजिक सहयोग में किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं है क्योंकि व्यक्ति मूलत: विवेक द्वारा नियंत्रित होता है इसलिए वह यह जानता है कि स्वयं के स्वार्थ को पूरा करने के लिये सामाजिक सहयोग की आवश्यकता होती है और इसलिए वह सामाजिक समरसता को बनाये रखना चाहता है जिससे वह अपने निजी स्वार्थ को पूरा कर सके। इस प्रकार के व्यक्तिगत स्वार्थ और सामाजिक सहयोग के मध्य का अद्भुत सामंजस्य केवल पूंजीवादी समाज में ही संभव है, सामंतवादी समाज में नहीं। (चंधोक, 1995, पृ. 80)

एडम स्मिथ यह अतिवादी विचार भी रखते हैं कि मनुष्य के विकास में राज्य राजनीतिज्ञ बाधा पहुंचाते हैं। उसके अनुसार राज्य सामूहिक इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता अपितु एक विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और समाज को अगर अपने सदस्यों का पूर्णतया विकास करना है तो उसके लिए

राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए। इस प्रकार एक स्वस्थ नागरिक समाज के लिये व्यक्तिवाद, संपत्ति एवं बाज़ार की आवश्यकता होती है और इन्हीं पर आधारित होकर उदारवादी चिंतन में स्वयं को विकसित किया है। इसी परंपरा में प्रारंभिक अतिवादियों ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बनाये रखने पर बल दिया और इसलिए जे एस मिल एवं डी ताकविल ने यह मत व्यक्त किया कि राज्य अनावश्यक रूप से शक्तिशाली बनता जा रहा है और इसलिए मनुष्य की स्वतंत्रता को एक खतरा उत्पन्न हो गया है। नागरिक समाज के द्वारा राज्य को इस आशा के साथ प्रजातंत्र में शक्ति दी जाती है कि वह नागरिकों के हितों की रक्षा करेगा लेकिन कालांतर में राज्य उन शक्तियों का दुरूपयोग करता है, अधिक शक्तिशाली बन जाता है और उसकी शक्ति को नियंत्रित करना दुष्कर हो जाता है। ए.डी.ताकविल इसलिए यह तर्क देता है कि नागरिक समाज को राज्य की शक्ति को सीमित करने के उपाय खोजने चाहिए और इसके लिए उसमें राज्य की शक्तियों में विभाजन करने, समयबद्ध चुनाव करवाने तथा सामाजिक संस्थाओं के द्वारा राज्य की शक्ति को नियंत्रित करने पर बल दिया है। ताकविल के अनुसार ये सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाएं राज्य के दिन-प्रतिदिन के कार्यों का मूल्यांकन करती हैं और एक स्वतंत्र आँख की तरह राज्य को देखती हैं। इसलिए इस दिन-प्रतिदिन की निगरानी से राज्य की शक्तियों पर अंकुश लगाया जा सकता है। नागरिक समाज की संकल्पना की आधुनिक परिभाषा देने का श्रेय जर्मन विचारक हीगल को जाता है क्योंकि उसने सबसे पहले सैद्धांतिक स्तर पर राज्य और नागरिक समाज में अन्तर स्पष्ट किया। उसने यूरोप की उस समय की स्थितियों का अध्ययन कर राज्य और समाज में एक सैद्धांतिक अंतर स्थापित किया। वह जानता है कि नागरिक समाज आधुनिक समय की देन है और इसके क्षेत्र में वह व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा की कल्पना करता है। (दाधिच, 2015, पृ. 258)

नीरा चंधोक के अनुसार हीगल का नागरिक समाज की अवधारणा विकसित करने में तीन तरह से महत्त्वपूर्ण योगदान (चंधोक, 1995, पृ. 117- 118) रहा –

1) उसने नागरिक समाज की संकल्पना को विस्तृत किया और उसे केवल अर्थव्यवस्था तक सीमित नहीं रखा। वह मानता है कि हालाँकि नागरिक समाज पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के तर्क पर आधारित सामाजिक गतिविधियों का समूह है, इसलिए बाज़ार के मूल्यों को परिलक्षित करता है लेकिन यह वहीं तक सीमित नहीं है। इसका स्वयं का अस्तित्व आर्थिक व्यवस्था से अलग है और वह सामाजिक आचरण जो परिवार एवं राज्य के पक्ष में स्थित है और जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है, वे मूलत: नागरिक समाज को निर्मित करते हैं। वह यह भी मानता है कि नागरिक समाज नैतिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है जो व्यक्ति के जीवन को निर्देशित करता है और इस कार्य में वह परिवार तथा राज्य से अलग भूमिका निभाता है, जहाँ पर परिवार में सदस्यों का सम्बन्ध आपसी प्रेम और त्याग पर आधारित होता है। नागरिक समाज दोनों के मध्य में एक आदान-प्रदान का क्षेत्र है जहाँ पर प्रेम और त्याग समाप्त होते हैं और सार्वभौमिकता आरम्भ होती है। इस क्षेत्र में किसी न किसी रूप में ये दोनों विशेषताएँ मौजूद रहती हैं – एक समाप्त होने वाली और एक आरम्भ होने वाली। यह क्षेत्र व्यक्तियों को इस परिवर्तन के लिए तैयार करता है।

2) नागरिक समाज की अपनी संकल्पना में हीगल व्यक्तिगत मूल्यों एवं सामूहिक मूल्यों के मध्य के तनाव को सम्मिलित करता है। जब व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों से प्रेरित होता है तब नागरिक समाज उसके व्यवहार को नियंत्रित करता है। हीगल एडम स्मिथ के इस तर्क को स्वीकार नहीं करता कि व्यक्तिगत स्वार्थ तथा सामाजिक सद्भाव में किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं है। वह मानता है कि सामाजिक स्वहित से प्रेरित कार्य सामुदायिक नैतिक जीवन को नष्ट करते हैं। इसलिए नागरिक समाज का यह दायित्व है कि व्यक्तियों के ऐसे कार्यों को नियंत्रित करे जिनसे सामुदायिक नैतिक जीवन के समाप्त होने का खतरा हो।

3) हीगल के अनुसार नागरिक समाज को स्वयं पर छोड़ने पर वह असंगठित हो जाता है और पतन की ओर बढ़ता है। इसलिए नागरिक समाज को संस्थागत रूप से निरंतर मजबूत करने की आवश्यकता है। व्यक्तियों को आपस में सामाजिक संबंधों को इस तरह से निरुपित करना चाहिए जिससे कि वह नागरिक समाज को अधिक सुदृढ़ बना सके। वह मानता है कि नैतिक समुदाय ही वह तरीका है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता को कार्यान्वित किया जा सके। हीगल की स्वतंत्रता की अवधारणा बहुत दुष्कर है। वह इसे एक अमूर्त, नकारात्मक स्वतंत्रता से परिभाषित नहीं करता अपितु वह इसे एक विवेकी सुसंगत सामाजिक व्यवस्था में स्वयं के अंतिम साक्षात्कार से परिभाषित करता है। कार्ल मार्क्स हीगल के नागरिक समाज सम्बन्धी विचारों को आगे बढ़ाता है जहाँ मार्क्स, हीगल के स्तर को स्वीकार करता है कि नागरिक समाज राज्य और परिवार के मध्य का क्षेत्र है। इसलिए व्यक्ति की बुराइयाँ जैसे स्वहित को बढ़ाना और इस कारण आपसी संघर्ष का होना इसकी विशेषता है, वहीं मार्क्स यह स्वीकार नहीं करता कि इन समस्याओं की समाप्ति राज्य में निहित है। वह मानता है कि नागरिक समाज बहुत से विरोधाभासों का क्षेत्र है और इन विरोधाभासों की समाप्ति नागरिक समाज के स्तर पर ही होनी चाहिए। वह राज्य को इतना महत्त्व नहीं देता क्योंकि उसके आदर्श समाज की कल्पना में राज्य का कोई स्थान नहीं है। इसलिए मार्क्स नागरिक समाज को अत्यधिक महत्त्व देता है और मानता है कि आदर्श समाज एक नागरिक समाज ही होगा।

कार्ल मार्क्स के पश्चात् एंटोनियो ग्राम्शी नागरिक समाज का सबसे बड़ा विचारक माना जाता है। ग्राम्शी ने इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास किया कि उच्च पूंजीवादी राज्यों में क्रांति क्यों नहीं हो रही है? इसके लिए ग्राम्शी ने मार्क्स के राज्य के सिद्धांत को और विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया। उनका मुख्य तर्क यह था कि बिना नागरिक समाज को समझे हुए राज्य को सही प्रकार से नहीं समझा जा सकता। उसके अनुसार राज्य केवल सरकार का उपकरण नहीं है अपितु वह नागरिक समाज में प्राधान्य स्थापित करने वाला एक निजी उपकरण है। नागरिक समाज के माध्यम से ही राज्य अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को जनता के द्वारा स्वीकृत करवाता है इसलिए उस प्राधान्य के माध्यम से राज्य नागरिक समाज पर नियंत्रण करता है। ग्राम्शी के अनुसार राज्य के द्वारा नियंत्रित नागरिक समाज उच्च उद्योगी पूंजीवादी राज्य में मजबूत होते हैं और वे क्रांति को रोकते हैं। रूस में क्रांति इसलिए हुई क्योंकि वहां पर एक सर्वसत्तावादी राज्य था। उसके और रूस की जनता के मध्य में नागरिक समाज का अभाव था जो राज्य की सुरक्षा कर सके। इस कारण जनता के विद्रोह को राज्य नहीं झेल पाया और वहां पर क्रांति हो गयी। ग्राम्शी मार्क्सवादी राज्य की अवधारणा को विस्तृत करते हुए राज्य को समाज के राजनीतिक संगठन तथा राज्य की सरकार दोनों के

मध्य में अंतर करता है। एक राजनीतिक संगठन के रूप में राज्य एकात्मक राज्य है और यह नागरिक समाज के राजनीतिक समाधान प्रस्तुत करता है। यह उन सभी राजनीतिक गतिविधियों को सम्मिलित करता है जो सामान्य निजी क्षेत्र में मानी जाती हैं क्योंकि वे सभी गतिविधियाँ जो नागरिक समाज में प्राधान्य को स्थापित करती हैं, राजनीतिक हैं, राज्य से सम्बंधित हैं और राज्य द्वारा नियंत्रित हैं। (दाधीच, 2015, पृ. 260)

20वीं शताब्दी में राज्य की प्रकृति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि वह स्वतन्त्र, शक्तिशाली और निरंकुश बनता जा रहा है। राज्य का प्रजातान्त्रिक स्वरुप भी उसे जनता के प्रति अधिक उत्तरदायी नहीं बना पाया है इसलिए राज्य से परे और राज्य को नियंत्रित करने वाले वैधानिक तथा औपचारिक साधनों के अलावा एक राजनीतिक क्षेत्र की आवश्यकता है जिसमें व्यक्ति सम्मिलित होकर राज्य की निरंकुशता पर अंकुश लगा सके। हैबरमास ने इस क्षेत्र को 'राजनीतिक', 'सार्वजनिक' क्षेत्र कहा है और यह राजनीतिक समाज और राज्य समाज के संबंधों पर तीन तरह से प्रभाव डालता (हैबरमास, 1989, पृ. 162) है-

- नागरिक समाज के सार्वजनिक क्षेत्र के रूप में परिभाषित होने का अर्थ है कि यह वह स्थान है जहाँ पर जनता अपनी सामान्य समस्याओं के लिए एकत्रित होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ये समस्याएँ आवश्यक रूप से सार्वभौमिक हों। इसका अर्थ यह है कि अपने निजी क्षेत्र की समस्याओं और डिसकोर्सेस की गहनता और महत्त्व बढ़ने पर इसके निजी क्षेत्र के व्यक्तिओं और गतिविधिओं से अंत: क्रिया करने का स्थान है। निजी से सार्वजनिक क्षेत्र में किसी विषयवस्तु को पहुँचने में जनमत का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है और जनमत विवेक आधारित बहस से निर्मित होता है। इसके लिए एक ऐसे स्थान की आवश्यकता है जो राज्य द्वारा नियोजित न हो और जिसमें स्वतंत्र प्रेस, समुदाय, प्रतिनिधि और कानून के शासन जैसी संस्थाएँ स्थित हों।
- यहाँ पर वाद-विवाद सार्वजनिक होता है क्योंकि वह सभी के लिए उपलब्ध है। किसी को भी इस सार्वजनिक विवाद में हिस्सा लेने से इस आधार पर इनकार नहीं किया जा सकता कि वह एक विशेष वर्ग, समुदाय, धर्म, जाति या स्थान का प्रतिनिधित्व करता है।
- यह स्थान राज्य द्वारा प्रदत्त औपचारिक सम्प्रेषण से बाहर स्थित है, जहाँ पर स्वतंत्र सार्वजनिक बहस होना संभव है।

नारीवादी नागरिक समाज पर बहस में अपना योगदान देते हैं और मुख्य रूप से निजी और सार्वजनिक क्षेत्र में किये जाने वाले स्पष्ट अंतर को स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं कि इस प्रकार का अंतर स्थापित करके स्त्रियों के दमन को गैर राजनीतिक बनाया जा सकता है। उनके तर्क (हैबरमास, 1989, पृ. 171-172) हैं –

1) परिवार समाज से अलग प्रकार की इकाई नहीं है। वह वास्तव में समाज का ही एक लघुकृत स्वरुप है जिसमें वे सभी मूल्य समाहित हैं जिनका समाज प्रतिनिधित्व करता है। यह कहना उचित नहीं है कि परिवार में सम्बन्ध प्रेम और त्याग पर आधारित होते हैं और समाज में सम्बन्ध विवेकी और सार्वभौमिक होते हैं।

इनके अनुसार परिवार में भी श्रम सेवाओं का आदान-प्रदान, हिंसा, बाध्यता इत्यादि सम्बन्धों को निरूपित करते हैं तथा ये सम्बन्ध भी शक्ति सम्बन्धों पर आधारित होते हैं।

2) निजता के अधिकार की वकालत परिवार के मुखिया के रूप में पुरुष करते हैं। चूंकि अधिकारों की बात ऐतिहासिक रूप से समाज में पुरुष करता आया है इसलिए वह परिवार पर नियंत्रण रखने के लिए भी निजता के अधिकार की बात करता है जो उचित प्रतीत नहीं होती और स्त्रियों के अहित में है।

3) हालाँकि स्त्रियों को औपचारिक रूप से मतदान करने की स्वतंत्रता मिल चुकी है लेकिन निजी क्षेत्र की बाध्यताओं को देखते हुए स्त्रियाँ वास्तव में इस अधिकार का उपयोग सार्वजनिक क्षेत्र में नहीं कर पाती हैं क्योंकि उन्हें पुरुषों द्वारा अविवेकी, भावनाओं से नियंत्रित और आवेगशील माना जाता है। इसलिए राजनीतिक क्षेत्र में उनकी सहभागिता को सहर्ष स्वीकार नहीं किया जाता।

नारीवादी इसी कारण नागरिक समाज की अवधारणा में निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के विभाजन को समाप्त कर जेंडर समानता की वकालत करते हैं और यह मानते हैं कि एक स्वस्थ नागरिक समाज की स्थापना जेंडर समाज के समानता के सिद्धांत पर ही की जा सकती है। नागरिक समाज को पुनर्परिभाषित करते हुए उसे निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के मध्य निरंतर समानता का स्थान मानना चाहिए। जहाँ पर व्यक्तियों और समूह के मध्य में निरंतर समझौते होते हों। हैबरमास के अनुसार इस अर्थ में नागरिक समाज के कई नये पक्ष सामने आते हैं (हैबरमास, 1989, पृ. 174-175) जैसे –

- निजी और सार्वजनिक में अंतर तुलनात्मक और सापेक्ष है न कि निरपेक्ष।
- सार्वजनिक क्षेत्र से बाहर निजता का प्रश्न सामाजिक स्वीकार्यता तथा आपसी समझौते पर आधारित होता है जो आध्यात्मिक है और समय और स्थान से परिवर्तनीय है। यह एक स्थिर मूल्य व्यवस्था का हिस्सा नहीं है।
- निजी क्षेत्र को पुनर्निर्मित करने के लिए सार्वजनिक बहस, लोकमत कानूनों के निर्माण का महत्त्व होता है और इसलिए नागरिक समाज निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के मध्य में एक सामंजस्य स्थापित करता है।

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि नागरिक समाज की संकल्पना ने राजनीतिक चिंतन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। 21वीं शताब्दी में विश्वभर में होने वाले सामाजिक राजनीतिक आन्दोलनों में नागरिक समाज की महत्त्वपूर्ण देन है।

संक्षेप में नागरिक समाज ऐसा समाज है जिसमें लोकतान्त्रिक व्यवस्था, संवैधानिक शासन, बहुलवादी समाज है। समाज का एक प्रबुद्ध और आलोचक वर्ग जो राज्य और समाज को अपने- अपने दायरे में रख सकता है।

1.3 नागरिक समाज के मापदंड

राजनीति चिंतन के इतिहास में नागरिक समाज की संकल्पना बहुत पुरानी है। लम्बे समय तक नागरिक समाज और राजनीतिक समाज को समवर्ती माना जाता था। अत: यह सब राज्य के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। परन्तु आज के समाज की जटिल परिस्थितियों में नागरिक समाज के पृथक अस्तित्व को मान्यता देना ज़रूरी समझा जाता है। आज के युग में नागरिकों के उन स्वैच्छिक और व्यावसायिक संगठनों को नागरिक समाज के रूप में पहचाना जाता है जो सार्वजनिक नीति और सरकारी कामकाज की त्रुटियों के बारे में जनमत तैयार करते हैं और कानून के दायरों में रहकर इन त्रुटियों को दूर करने का बीड़ा उठाते हैं। (गाबा, 2012, पृ. 56)

नीरा चंधोक ने "एक्सप्लोरेशन इन पोलिटिकल थ्योरी" में राज्य और नागरिक समाज का ग्रीक चिंतन से वर्तमान के सन्दर्भ में सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि नागरिक समाज लोकतंत्र के लिए अति अवश्यक ना सही पर राजनीतिक जीवन के लिए आवश्यक ज़रूर है। सिविल सोसायटी या नागरिक समाज पर अनेक अध्ययन हुए हैं। इन्हें साहित्यिक दृष्टि से दो भागों में बाँट कर समझा जा सकता (चंधोक, 1995, पृ. 204) है-

1.3.1 शास्त्रीय साहित्य

- एडम फर्ग्युसन – एन एस्से ऑन दा हिस्ट्री ऑफ़ सिविल सोसायटी 1767
- एंटोनियो ग्राम्शी – दा प्रिजन नोटबुक 6 वोल्युम 1948
- जी. डब्ल्यु. एफ. हीगल – फिलोसोफी ऑफ़ राइट, 1821
- जॉन लॉक – ए लैटर कनसर्निंग ह्यूमाना अंडरस्टैंडिंग, 1690
- थॉमस पैन – दा राइट ऑफ़ मैन, 1791
- दा एलेक्सिस डे ताकविल – डेमोक्रेसी इन अमेरिका, 1835–40

1.3.2 वर्तमान साहित्य

- ए. अरेटो एंड जीन कोहेन – दा पोलिटिकल थ्योरी ऑफ़ सिविल सोसायटी, 1992
- अर्नेस्ट गेलनर – कंडीशन ऑफ़ लिबर्टी सिविल सोसायटी एंड इट्स राइवल्स, 1994
- जॉन ए हॉल – सिविल सोसायटी थ्योरी, हिस्ट्री, काम्पेरिज़न, 1995
- एडम सेलिगमैन – सिविल सोसायटी, 1992
- एडवर्ड शिल्ज – दा वर्चुअल ऑफ़ सिविल सोसायटी, 1991
- जॉन कीन – डेमोक्रेसी एंड सिविल सोसायटी, 1998
- नीरा चंधोक – दा कंसीट्स ऑफ़ सिविल सोसायटी, 2003

इसके अतिरिक्त नागरिक समाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देखें तो रोमन विचारक सिसरो से लेकर संविदावादी हॉब्स, लॉक, रूसो, हीगल, मार्क्स, ग्राम्सी, फर्ग्युसन, टोकविल, डेविड हैल्ड, पॉल हर्स्ट, मार्क्यूज तथा वॉन रुय तक ने अपने - अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन सभी विचारकों के मत में कुछ - कुछ विभिन्नताएं भी हैं।

इन विचारकों द्वारा प्रकट किये गए मत को 'नागरिक समाज' के मानक या मापदंड माना जा सकता है और इन मानकों के सापेक्षतर अन्ना हजारे की 'सिविल सोसायटी' और उसके लक्ष्य को समझने का प्रयास किया जा सकता है।

1.4 मार्क्स तुलियस सिसरो (106–43 ई.पू.) के अनुसार

सर्वप्रथम नागरिक समाज का प्रयोग राज्य के रूप में करते हुए कहा कि राज्य में रहते हुए नागरिक समाज के लोग कानून का पालन करने पर सभ्य, सुसंस्कृत और शालीन जीवन व्यतीत करते थे किन्तु इसमें बर्बर जातियों के लोग नागरिक समाज की श्रेणी में नहीं आते थे अर्थात बर्बर जातियां या समाज सिविल वॉर या नागरिक समाज की उत्पत्ति का कारण तो हो सकती है किन्तु स्वयं नागरिक समाज नहीं हो सकता। (गाबा, 2012, पृ. 56)

1.5 जॉन लॉक (1632-1704 ई.) के अनुसार

लॉक ने सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत के अंतर्गत 'नागरिक समाज' को राजनीतिक समाज का समवर्ती मानते हुए यह मान्यता रखी कि जब मनुष्य प्राकृतिक दशा का त्याग करते हैं, तब वे नागरिक समाज में प्रवेश करते हैं। प्राकृतिक दशा में भी केवल अंतरात्मा की प्रेरणा से नैतिक नियमों का पालन करते हैं किन्तु जब समाज विरोधी तत्व उनका जीना दूभर करते हैं तब वे अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए सरकार स्थापित करते हैं। वे सरकार के बनाये कानून को मान्यता देते हैं और न्याय का कार्य भी सरकार को सौंप देते हैं। इस तरह नागरिक समाज मानव समुदाय में अनुशासन, व्यवस्था और सुरक्षा स्थापित करने का साधन है। (गाबा, 2012, पृ. 56)

1.6 जे. जे. रूसो (1712 - 1778) के अनुसार

रूसो ने भी नागरिक समाज को राजनीतिक समाज का समवर्ती माना है तथा इसकी संकल्पना ऐसे समाज के रूप में की है जो सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। जो मनुष्य को सुरक्षा प्रदान करता है। रूसो समाज में दो तरह की विषमता की चर्चा करते हैं - प्राकृतिक विषमता तथा परंपरागत विषमता। नागरिक समाज प्राकृतिक विषमता के साथ तो छेड़खानी नहीं करता किन्तु वह परंपरागत विषमता को दूर कर व्यक्तियों के हित में कार्य अवश्य करता है। (गाबा, 2012, पृ. 56)

1.7 जी. डब्ल्यू. एफ. हीगल (1770 - 1831 ई.) के अनुसार

हीगल ने नागरिक समाज को अपने ही ढंग से परिभाषित किया है। उन्होंने द्वंदात्मक पद्धति के आधार पर नागरिक समाज को समझाने का प्रयास किया है (गाबा, 2012, पृ. 57) यथा –

जहाँ एक ओर जॉन लॉक और रूसो जैसे उदारवादी विचारकों ने प्राकृतिक दशा के अंत का संकेत देने के लिए 'नागरिक समाज' और 'राज्य' शब्दावली का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। वहीँ हीगल नागरिक समाज और राज्य में स्पष्ट अंतर करते हुए उन्हें नैतिक और आध्यात्मिक विकास की भिन्न – भिन्न अवस्थाओं के रूप में पहचानते हैं।

हीगल के अनुसार सामाजिक जीवन की नैतिक प्रकृति में तीन गतियाँ पायी जाती हैं जो सब मिलकर मानव जीवन के बहुपक्षीय स्वरुप को उजागर करती हैं। ये तीन गतियाँ हैं : परिवार, नागरिक समाज और राज्य। इनमें प्रत्येक संस्था मानवीय संबंधों का ऐसा संगठन प्रस्तुत करती है जो भिन्न – भिन्न सिद्धान्तों पर आधारित है। इन तीनों में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध पाया जाता है, जैसे –

1.7.1 परिवार – ऐसा मानवीय सम्बन्ध है जो विषयोन्मुखी परार्थवाद पर आधारित है अर्थात इसमें मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थों से उठकर दूसरों के लिए त्याग करने को तत्पर रहता है परन्तु इसकी यह परार्थ भावना किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों तक सीमित रहती है अर्थात अपने परिवारजनों तक।

1.7.2 नागरिक समाज – अंतर्व्यक्तिक संबंधों की दूसरी महत्त्वपूर्ण गति को हीगल ने नागरिक समाज की संज्ञा दी है। वह विश्वजनीन स्वार्थवाद या अहंवाद का क्षेत्र है। यहाँ व्यक्ति अपने परिजनों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के साथ स्वार्थ के आधार पर सम्बन्ध रखता है। यहाँ व्यक्ति अपने हितों की अधिकतम सिद्धि का प्रयत्न करता है और अन्य सभी व्यक्तियों को केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन समझता है। अत: नागरिक समाज विशेष रूप से आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र है। इस प्रकार नापतोल, मापतोल, बाज़ार आधारित नागरिक समाज को हीगल बाह्य राज्य मानता है, राज्य नहीं। जबकि हॉब्स, लॉक और रूसो इसे ही राज्य मान बैठते हैं, जिसका अर्थ तर्कसंगत स्वार्थ को राजनीतिक दायित्व का आधार मानना होगा। इसलिए हीगल का मानना है कि सामाजिक जीवन की तीसरी गति राज्य को केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की नींव पर खड़ा नहीं कर सकती। अत: नागरिक समाज और राज्य में अंतर करना ज़रूरी है।

1.7.3 राज्य – राज्य की अवधारणा व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं बल्कि विश्वजनीन परार्थवाद है। दूसरे शब्दों में राज्य ऐसा क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर सम्पूर्ण समुदाय के हित में त्याग करने को तत्पर होता है। अत: यह परिवार और नागरिक समाज दोनों से भिन्न है। हीगल के चिंतन की द्वंद्वात्मक संरचना के अंतर्गत इसका अर्थ यह भी है कि राज्य ऐसी संस्था है जिसमें परिवार और नागरिक समाज दोनों के उत्तम गुणों का संयोग पाया जाता है। यदि राज्य का प्रत्येक नागरिक हीगल के कहे अनुसार राज्य हित में त्याग करता है तो यह स्वाभाविक है कि राज्य विकास करेगा और प्रत्येक व्यक्ति सुखपूर्वक रह सकेगा।

यही कारण है कि हीगल राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण या खूबसूरत रचना मानता है। हीगल ने ऐतिहासिक विकास का जो प्रतिरूप प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार परिवार को हम वाद, नागरिक समाज को प्रतिवाद तथा राज्य को संवाद कह सकते है। अर्थात

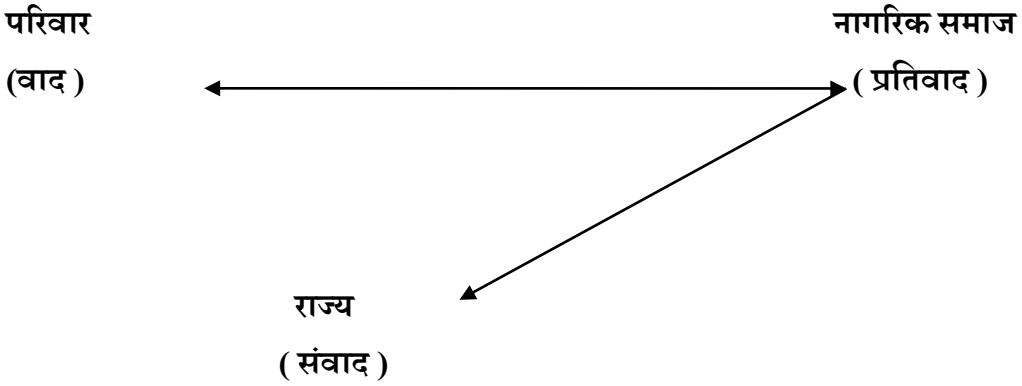

किन्तु ज्ञात रहे कि हीगल एक आदर्शवादी तथा राज्य उत्पत्ति के दैवीय सिद्धांत के समर्थक हैं तथा वे राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण मानते हैं। उनका राज्य कोई गलती नहीं करेगा। अत: प्रत्येक व्यक्ति में राज्य की आज्ञा पालना या कानून की पालना में उसकी स्वतंत्रता निहित है। इस प्रकार हीगल व्यक्ति को राज्य पर न्योछावर कर देता है। ऐसे में हीगल के चिंतन को समकालीन परिदृश्य के अनुरूप समझने के लिए राज्य के वर्तमान स्वरूप और वर्तमान सामाजिक परिस्थतियों को मद्देनजर रखना होगा। (हीगल, 1821, पृ. 177)

1.8 कार्ल मार्क्स (1818 - 83) के अनुसार

कार्ल मार्क्स ने नागरिक समाज के उन लक्षणों की पुष्टि की जिन्हें हीगल ने पहचाना था। परन्तु मार्क्स के अनुसार भी राज्य और नागरिक समाज में कोई अंतर नहीं है। मार्क्स का तर्क है कि हीगल जिस नागरिक समाज का विवरण देता है वह मध्ययुगीन समाज के विलय के बाद अस्तित्व में आया है। वही नागरिक समाज आधुनिक युग में राज्य के रूप में सक्रिय है। यह विश्वजनीन स्वार्थवाद पर आधारित है। इसमें व्यक्ति को नागरिक के रूप में मान्यता दी जाती है और कानून की दृष्टि से सब व्यक्तियों की समानता भी स्वीकार की जाती है। फिर भी इसमें सारी आर्थिक शक्ति बुर्जुआ वर्ग के हाथ में केन्द्रित रहती है । (पीअरसन, 2011, पृ. 55)

1.9 एडम फर्ग्युसन (1723 -1816) के अनुसार

इस स्कॉटिश समाज- दार्शनिक ने 'नागरिक समाज के इतिहास पर एक निबंध -1767' के अंतर्गत बताया कि 'नागरिक समाज' आधुनिक पश्चिम सभ्यता की देन है। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसमें भिन्न-भिन्न व्यक्ति उत्पादन और व्यापार के प्रति समर्पित होते हैं। प्राच्य निरंकुश तंत्र अर्थात प्राचीन यूरोप के असभ्य समाजों में या प्राचीन एशियाई समाजों में प्रचलित प्रणाली या बर्बर समाजों में इसकी कोई गुंजाइश नहीं थी। फर्गुसन के अनुसार , नागरिक समाज की परिभाषा व्यक्तिवाद पर आधारित बाजार समाज के रूप में दी है। (फर्ग्युसन, 1767, पृ. 187)

1.10 अलेक्सी द ताकविल (1805 - 59) के अनुसार

ताकविल ने अपनी कृति 'डेमोक्रेसी इन अमेरिका' में नागरिक समाज के विचार क्षेत्र का विस्तार करते हुए उसे एक नया आयाम दिया। ताकविल ने व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए व्यक्ति और राज्य के बीच 'मध्यवर्ती स्वैच्छिक साहचर्यों' की आवश्यकता पर बल दिया जिन्हें आज के युग में नागरिक समाज के अंग के रूप में माना जाता है। ताकविल का तर्क है कि अभिजात्य तंत्र के अंतर्गत शक्ति के फैलाव की जो व्यवस्था थी, वह लोकतंत्र के आगमन से छिन्न भिन्न हो गयी थी। अभिजात्य तंत्र के अंतर्गत शक्ति के तीन केंद्र थे - (1) पुरोहित वर्ग (2) कुलीन वर्ग (3) जन साधारण, जो अपनी विशाल संख्या के बल पर प्रभावकारी होते थे। परन्तु लोकतंत्र के अंतर्गत सारी शक्ति बहुमत के हाथों में केन्द्रित होती जा रही थी। इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता को खतरा पैदा हो गया था। ऐसी स्थिति में ये मध्यवर्ती स्वैच्छिक साहचर्य लोकतंत्र में शक्ति के फैलाव को फिर से स्थापित करने के सर्वोत्तम माध्यम सिद्ध होते। ताकविल ने इन माध्यमों में राजनीतिक दल और बाद में हित समूह या अन्य स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका को महत्त्वपूर्ण माना। इससे प्रेस की स्वतंत्रता का होना व्यक्तियों के साहचर्यों की पहली शर्त रखी। इस प्रकार ताकविल ने आधुनिक राष्ट्र राज्यों में स्थापित लोकतान्त्रिक देशों की समकालीन परिस्थतियों के इर्द - गिर्द अपने विचार प्रकट किये। (ताकविल, 1835, पृ. 199)

1.11 एंटोनियो ग्राम्शी (1891-1937) के अनुसार

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इतालवी मार्क्सवादी ग्राम्शी ने मार्क्सवादी विश्लेषण में एक नया आयाम जोड़ दिया। परम्परागत मार्क्सवाद के अंतर्गत समाज की आर्थिक संरचना या उत्पादन प्रणाली को इसकी 'नींव' या 'आधार' माना जाता था, इसके राजनीतिक और वैचारिक ढांचे को 'ऊपरी ढांचा' या 'अधिरचना' कहा जाता था। ग्राम्शी ने इस मान्यता में संशोधन करते हुए पूंजीवादी समाज की अधिरचना के दो स्तरों में अंतर किया है: (क) इनमें एक स्तर नागरिक समाज है जो पूंजीवादी समाज की वैधता स्थापक संरचनाएं हैं। (ख) दूसरा स्तर राजनीतिक समाज है जिसमें राज्य की बल प्रयोगमूलक संरचनाएं आती है। ये दोनों तरह की संरचनाएं मिलकर पूंजीवादी संस्कृति में प्रभुत्व की संरचनाओं का निर्माण करती हैं। ग्राम्शी ने नागरिक समाज की भूमिका को विशेष महत्त्व दिया है क्योंकि इसकी संस्थाएं नागरिकों को समाज में व्यवहार के नियमों से परिचित कराती हैं और उन्हें यह शिक्षा देती हैं कि शासक वर्गों के प्रति स्वाभाविक सम्मान का भाव रखना चाहिए। बुर्जुआ समाज अपनी स्थिरता के लिए नागरिक समाज की संरचनाओं की कार्य कुशलता पर आश्रित है। यदि कहीं नागरिक समाज असहमति की रोकथाम में विफल हो जाता है तो वहाँ इसके दमन के लिए बल प्रयोग की जरूरत पैदा हो जाती है। ग्राम्शी के अनुसार अब क्रांति होगी ही नहीं क्योंकि अब वर्चस्वधारी राज्य का जमाना आ गया अर्थात राज्य पूंजीवर्ग के हाथ में है और इसने सब पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है यानि पूंजीपतियों के हाथ में मजदूर नेता, बुद्धिजीवी आदि बिक गये। सब पर पूंजीवाद का वर्चस्व हो गया। इसलिए ग्राम्शी पूंजीवादी राज्य को

समेकित राज्य कहते हैं। इसमें द्वंद्वात्मक प्रक्रिया बाधित है, अत: क्रांति होगी ही नहीं और यही नागरिक समाज है। (ग्राम्शी, 1937, पृ. 12)

आधुनिक युग में 'नागरिक समाज' की परिभाषा और भी विस्तृत हो गयी है क्योंकि अब स्वैच्छिक साहचर्यों का कार्य क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। अब केवल हित समूह और राजनीतिक दल ही नागरिक समाज के विचार क्षेत्र में नहीं आते बल्कि नागरिकों के नाना प्रकार के साहचर्य इसका निर्माण करते हैं। अब व्यक्ति और राज्य के बीच जिस भी तरह के संगठन पाए जाते हैं , वे सब नागरिक समाज के अंग माने जाते हैं। डेविड हैल्ड (मोडल्स ऑफ़ डेमोक्रेसी) लोकतंत्र के प्रतिरूप 1987 के अनुसार, व्यक्तियों के जो भी साहचर्य आर्थिक लेन देन, सांस्कृतिक गतिविधियों या राजनीतिक विचार विमर्श से सरोकार रखते हैं या उनके जो भी समूह राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण से बाहर रह कर तरह-तरह के कार्य करते हैं, वे सब नागरिक समाज की परिधि में आ जाते हैं। (हेल्ड, 1987, पृ. 283)

जीन एल. कोहेन और एन्ड्रू एरेटो ने अपनी चर्चित कृति 'सिविल सोसायटी एंड पोलिटिकल थ्योरी' (नागरिक समाज और राजनीतिक सिद्धांत, 1992, पृ. 122) के अंतर्गत नागरिक समाज की पहचान सार्वजनिक गतिविधि के ऐसे क्षेत्र के रूप में की है जो राज्य और बाज़ार समाज दोनों से भिन्न है। इस क्षेत्र में तरह-तरह के समूह और साहचर्य भी आ जाते हैं। इसमें व्यक्तियों की सहभागिता और उनके संवाद से जुड़ी परस्पर क्रिया की यथेष्ट गुंजाइश रहती है। नागरिक समाज का कार्य क्षेत्र स्वस्थ लोकतंत्रीय समाज का आवश्यक अंग है। कोहेन और एरेटो ने तर्क दिया है कि नागरिक समाज प्रतिनिधि लोकतंत्र से जुड़ी राजनीतिक संस्थाओं की आवश्यकता को समाप्त नहीं कर देता बल्कि उनके पूरक संगठन की भूमिका निभाता है। (कोहेन एवं अरेटो, 1992, पृ. 122) अमरीकी समाज वैज्ञानिक रॉबर्ट पुतनाम ने लैरी डायमंड और मार्क एफ प्लेटर की सम्पादित कृति 'द ग्लोबल रेसर्सेस ऑफ़ डेमोक्रेसी' के अंतर्गत अपने लेख में यह तर्क दिया है कि नागरिक समाज से जुड़े साहचर्य सामाजिक पूंजी का सृजन करते हैं। यह ऐसी सामाजिक प्रथाओं का समुच्चय है जो व्यक्तियों को नागरिक जीवन से जुड़े कर्तव्यों का बोध कराती है और परस्पर आदान – प्रदान की शिक्षा देती है।

ब्रिटिश लेखक पॉल हर्स्ट ने अपनी चर्चित कृति 'एसोशिएतिव डेमोक्रेसी ; न्यू फॉर्म्स ऑफ़ इकनोमिक एंड सोशल गवर्नेंस, 1994' में यह तर्क दिया है कि स्वैच्छिक साहचर्य लोकतंत्र के आधार स्तम्भों की भूमिका निभा सकते हैं। उसने लोकतंत्र का ऐसा प्रतिरूप प्रस्तुत किया है जिसमें स्वशासी साहचर्य सारे सार्वजनिक कृत्य संपन्न करेंगे। इससे राज्य का कार्य भार कम हो जाएगा। वैसे ये साहचर्य सरकार की आवश्यकता को समाप्त नहीं कर देंगे बल्कि उसकी पूरक भूमिका निभाएँगे। जब नागरिक समाज के ये अंग सारे सार्वजनिक कृत्य संभाल लेंगे तब सरकार का मुख्य कार्य इन साहचर्यों की देखरेख करना और उनमें तालमेल स्थापित करना रह जायगा।

इस तरह समकालीन लोकतंत्रीय चिंतन में नागरिक समाज को ऐसा साधन माना जाता है जो सार्वजनिक जीवन में नागरिकों की सहभागिता को बढ़ावा देगा। उन्हें नागरिक सद्गुण और जनसेवा का पाठ

पढ़ाएगा। यह व्यवस्था सार्वजनिक शक्ति पर एक ही दल का एकाधिकार स्थापित नहीं होने देगी जैसा कि साम्यवादी प्रणालियों में देखा गया है।

इस दृष्टिकोण के आलोचक यह तर्क देते हैं कि यदि सारी शक्ति स्वैच्छिक साहचर्यों के हाथों में आ जाएगी तो इनके भीतर गुटतंत्रीय प्रवृत्तियाँ पैदा हो सकती हैं। दूसरे शब्दों में, अधिक संगठित, मुखर और शक्तिशाली साहचर्य के हितों को पीछे धकेल सकते हैं। इससे लोकतंत्र की जड़ें कमजोर हो जाएंगी। इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए यह जरूरी है कि राज्य तटस्थ दर्शक की भूमिका न निभाए बल्कि जन हित या लोकहित के व्याख्याकार और संरक्षक के नाते विभिन्न स्वैच्छिक साहचर्यों की शक्ति में संतुलन स्थापित करने के लिए निरंतर सजग रहे। (गाबा, 2012, पृ. 59-60)

हाल ही में वान रूय नामक विद्वान ने नागरिक समाज को एक नये कलेवर में प्रस्तुत किया है। वान रूय ने नागरिक समाज या सिविल सोसायटी पर किये गये ताज़ा तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर नागरिक समाज से अपेक्षा की है तथा उसके अधुनातन कार्यों को निम्न रूप में रेखांकित किया (कांफ्रेंस प्रोसीडिंग्स, नवम्बर, 2011, पृ. 61) है-

(क) नागरिक समाज को, विकास को बढ़ावा देने के साथ साथ अन्य कार्य भी करना चाहिए –

(1) निर्धनों और जरुरतमंदों को बिना किसी माध्यम के सीधे सहायता पहुंचाना
(2) सामाजिक पूँजी का निर्माण राष्ट्रीय सम्पदा और विकास के लाभांश का सभी लोगों में समान वितरण करना
(3) राज्य द्वारा प्रदत्त सहायता को स्थापन्न करना

(ख) प्रजातंत्र को बढ़ावा देने के लिए नागरिक समाज को निम्न कार्य करने चाहिए-

सर्वप्रथम नागरिक समाज ऐसा 'नागरिक कार्य पत्र' स्थापित करे जिससे राज्य के व्यवहार को संतुलित और नियोजित किया जा सके। स्वार्थ आधारित हित समूहों की हडपाऊ नीति अवरूद्ध हो सके। समाज में सामाजिक मापदंड स्थापित हो सके, राजनीतिक सहभागिता बढ़ सके। राजनीतिक नेतृत्व प्रदाता के रूप में कार्य कर सके और अधिनायकवाद का विरोध किया जा सके तथा सामाजिक और राजनीतिक प्रतिरोधक क्षमता विकसित हो सके।

(1) ऐसी संरचनाओं का विकास हो जो प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के पल्लवन के लिए आवश्यक हो
(2) एक प्रजातान्त्रिक संस्कृति और नागरिकतावाद का विकास किया जा सके

(ग) अन्य कार्य –

(1) शीत युद्ध के बाद के मित्रों का सहयोग किया जाये

(2) मुक्त बाज़ार व्यवस्था को विकसित करना और निजी सार्वजनिक सेक्टर को बढ़ावा दिया जाये।

राबर्ट ई. गुडिन की पुस्तक –द ऑक्सफ़ोर्ड हैण्डबुक ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी के एक लेख 'सिविल सोसायटी और स्टेट' में टोरंटो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर साइमन चेंबरर्स और जेफ्री कोप्सटीन ने नागरिक समाज का राज्य के सन्दर्भ में अध्ययन किया और उसे छह भागों में विभाजित कर नागरिक समाज में राज्य की भूमिका को (ड्राईजेक, होनिंग एंड फिलिप्स, 2006, पृ. 364) समझाया-

- नागरिक समाज राज्य से अलग।
- नागरिक समाज राज्य के विरूद्ध।
- नागरिक समाज राज्य का सहयोगी।
- नागरिक समाज राज्य का संवाद सेतु।
- नागरिक समाज और राज्य में सहभागिता।
- नागरिक समाज राज्य से परे।

1.12 समकालीन परिदृश्य

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नवमार्क्सवादी दार्शनिक हर्बर्ट मार्क्युजे ने यह तर्क दिया है कि समकालीन समाज की समस्यायों के विश्लेषण के लिए राज्य और नागरिक समाज में उस भेद को समझना जरूरी है जिसकी ओर हीगल ने हमारा ध्यान खींचा था। मार्क्युजे के विश्लेषण के अनुसार, आधुनिक पूंजीवाद के अंतर्गत राज्य पर नागरिक समाज का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। दूसरी ओर, आधुनिक साम्यवाद के अंतर्गत नागरिक समाज पर राज्य का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। मार्क्युजे के अनुसार, ये दोनों स्थितियां नागरिक स्वतंत्रता के मार्ग में बाधा डालती हैं। नागरिक स्वतंत्रता यह मांग करती है कि समाज को इन दोनों तरह के प्रभुत्व से मुक्त करा दिया जाये।

1960 और 1970 के दशकों में 'नागरिक समाज' की संकल्पना को विशेष लोकप्रियता मिली। तब यह अनुभव किया गया कि नागरिक समाज की संस्थाओं से केवल शासक वर्ग की सत्ता को सुदृढ़ नहीं किया जा सकता बल्कि विरोधी वर्ग भी अपनी मान्यताओं को बढ़ावा देने के लिए इस उपकरण का यथेष्ट प्रयोग कर सकता है। अत: जहाँ राजनीतिक स्तर पर शासक वर्ग की सत्ता को चुनौती देना कठिन हो, वहां शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से सत्ताधारियों के प्राधान्य में सेंध लगाई जा सकती है। 1970 के दशक के अंतिम वर्षों और 1980 के दशक में पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में सर्वाधिकारवाद के विरूद्ध 'नागरिक समाज' के उपकरण का विस्तृत प्रयोग किया गया। पोलैंड में नागरिक समाज के प्रमुख उपकरण सोलिडरिटी के माध्यम से कामगार समुदाय के हित में सरकार की सत्ता को अपने ढंग की चुनौती दी गयी। इस दौर में 'नागरिक समाज' आन्दोलन एक तरह से 'नव सामाजिक आंदोलनों' के सहयोगी के रूप में उभर कर सामने आया। इस आन्दोलन ने सामाजिक मुद्दे उठाकर सरकार विरोधी वातावरण तैयार करने में

योग दिया। उधर बल्गेरिया में नागरिक समाज के एक उपकरण 'इकोग्लास्नास्त' ने यह मुद्दा उठाया कि वहाँ के बड़े बड़े उद्योग (जो सरकार के नियंत्रण में चल रहे थे) प्राकृतिक संसाधनों को बुरी तरह निचोड़ रहे थे और भारी प्रदूषण फैलाकर पर्यावरण को विषाक्त कर रहे थे, इस तरह वहाँ पर्यावरणवादी आन्दोलन की आड़ में सरकार विरोधी आन्दोलन चलाने का प्रयास किया गया। देखा जाये तो 1989 तक आते-आते पूर्वी यूरोप में समाजवादी प्रणालियों का जो पतन हुआ, उसमें वहाँ के नागरिक समाज आन्दोलनों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। यही कारण है कि उत्तर साम्यवादी प्रणालियों में भी 'नागरिक समाज' की संकल्पना को पर्याप्त लोकप्रियता मिली। उधर दक्षिणी अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में भी 'नागरिक समाज' की अवधारणा को सत्ताधारियों के खिलाफ एक प्रभावशाली साधन माना जाता है।

नागरिक समाज का विश्लेषण

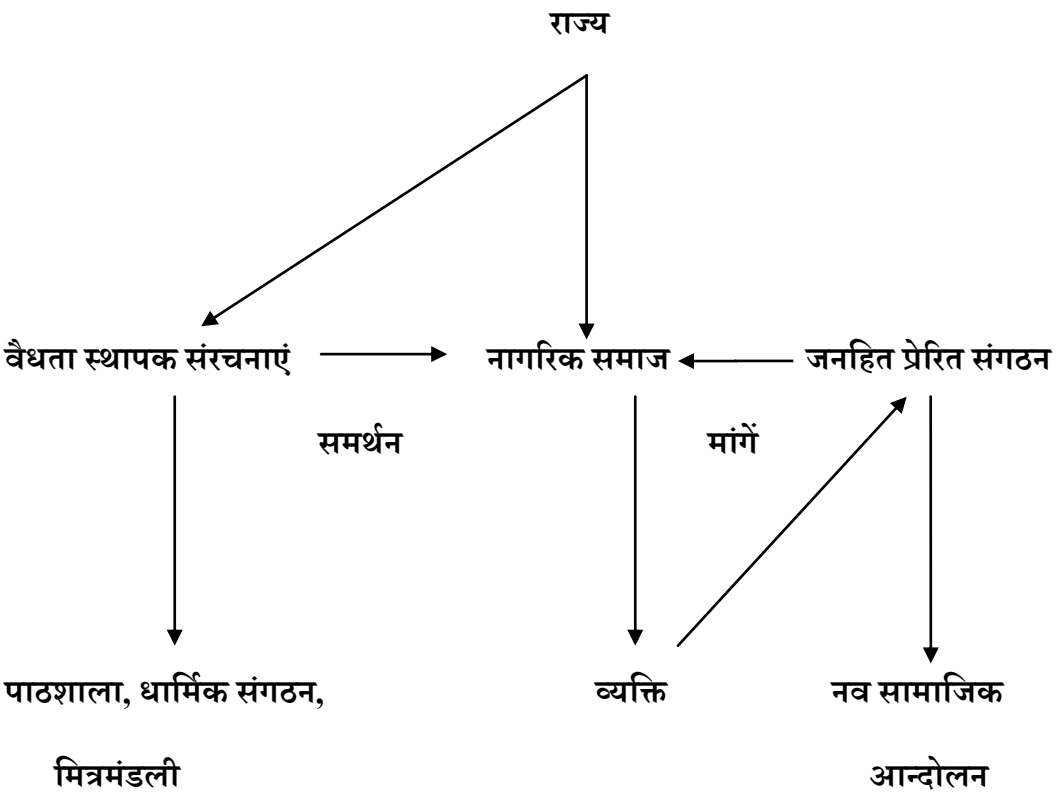

फिर पश्चिमी बुद्धिजीवियों को भी यह लगने लगा कि वहाँ लोगों में भी अपने नागरिक कर्तव्यों के प्रति जो उदासीनता बढ़ती जा रही है, उसे दूर करने के लिए नागरिक समाज एक प्रभावशाली साधन सिद्ध हो सकता है। आज के युग में लोग न तो राजनीतिक चर्चा में खुलकर भाग लेते है न वे सरकार की आलोचना में कोई अभिरुचि दिखाते हैं। ऐसी स्थिति में 'नागरिक समाज आन्दोलन' उन्हें स्वतंत्र चर्चा और विचार-विमर्श की ओर प्रेरित कर सकता है जिससे लोकतंत्र की नींव मजबूत होगी। अत: ये बुद्धिजीवी ऐसे स्वैच्छिक साहचर्यों का जाल बिछाना चाहते हैं जो राज्य तथा व्यापार-जगत दोनों से स्वतंत्र हो। यह बात

महत्त्वपूर्ण है कि ऐसे साहचर्य लोकतंत्रीय व्यवस्था में ही पनप सकते हैं जहाँ लोगों को बोलने, संगठन बनाने और सभा करने की आजादी हो।

'नागरिक समाज आन्दोलन' यह मांग करता है कि सार्वजनिक कृत्य अधिकारीतन्त्र के हाथों में केन्द्रित न होने दिए जाएँ, बल्कि इनमें जनसाधारण की सहभागिता को बढ़ावा दिया जाए। फिर नागरिक समाज ऐसा मंच भी प्रदान कर सकता है जहाँ लोगों को राज्य की नीति और कार्यवाही की आलोचना का अवसर मिले। इस तरह नागरिक समाज आर्थिक विषमता के निराकरण और सामाजिक न्याय की स्थापना का उपयुक्त उपकरण बन सकता है। (गाबा, 2008, पृ. 60-62)

सारांश में, नागरिक समाज आधुनिक परिप्रेक्ष्य में ऐसे स्वैच्छिक और व्यावसायिक संगठन तथा गैर-सरकारी संगठनों के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, जो जन समस्याओं और सार्वजनिक नीतियों की कमियों के बारे में जनमत तैयार करते हैं और आंदोलनरत रहते हैं। दरअसल नागरिक समाज आम जनता के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले संस्था, संगठन और समूह का समग्र नामकरण है।

सर्वप्रथम रोमन विचारक **मार्क्स तुलियस सिसरो**(106-43) ने राज्य का संकेत देने के लिए नागरिक समाज शब्दावली का उपयोग किया था। **जॉन लॉक** (1632-1704) ने प्राकृतिक अवस्था को त्याग करके अगली अवस्था में प्रवेश को नागरिक समाज नाम दिया और इसे राजनीतिक समाज का समवर्ती माना। **जे.जे.रूसो** (1712-78) ने नागरिक समाज को **सामान्य इच्छा** की अभिव्यक्ति माना है। इसी प्रकार **जी.डब्ल्यू.एफ. हीगल** (1770-1831) ने नागरिक समाज एवं राज्य में अंतर करते हुए लिखा है कि नागरिक समाज **वैश्विक स्वार्थवाद** का क्षेत्र है, जबकि राज्य **वैश्विक परार्थवाद** का क्षेत्र है।

कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने राज्य और नागरिक समाज में कोई अंतर नहीं किया है। इतावली मार्क्सवादी **एंटोनियो ग्राम्शी** (1891-1937) ने नागरिक समाज को नकारात्मक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। ग्राम्शी ने **हेजिमनी** की अवधारणा दी है। **जुर्गेन हेबरमास** ने भी नागरिक समाज के कई पक्षों की चर्चा की है। उनके अनुसार निजी और सार्वजनिक में अंतर तुलनात्मक एवं सापेक्ष है न कि निरपेक्ष।

स्कॉटिश समाज दार्शनिक **एडम फर्ग्युसन** (1720-1816) ने 'एस्से ऑन हिस्ट्री ऑफ सिविल सोसायटी' (1767) में नागरिक समाज को आधुनिक पश्चिमी समाज की देन माना है। फर्ग्यूसन ने नागरिक समाज को व्यक्तिवाद पर आधारित **बाजार समाज** की संज्ञा दी है। फर्ग्यूसन की पुस्तक का रिप्रिंट 1995 में **लुइस स्नाइडर** ने प्रकाशित किया, इसलिए इस दशक में नागरिक समाज की अवधारणा लोकप्रिय हुई।

आधुनिक युग में नागरिक समाज का नाम नव-सामाजिक आंदोलनों के सहयोगी के रूप में उभरकर सामने आया। इन नव-सामाजिक आंदोलनों में नारी-अधिकार, उपभोक्ता आन्दोलन, शांति आन्दोलन, पर्यावरण आन्दोलन और दलितवादी आन्दोलन प्रमुख हैं।

नागरिक समाज का यह आग्रह है कि सार्वजनिक कृत्य प्रशासन तन्त्र के हाथों में केन्द्रित नहीं होना चाहिए बल्कि जन साधारण की सहभागिता को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। नागरिक समाज आर्थिक विषमता के निराकरण और सामाजिक न्याय की स्थापना का साधन बन सकता है

1.13 अध्ययन की आवश्यकता

आज भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की सबसे गंभीर, महत्त्वपूर्ण एवं ज्वलंत समस्याओं के समाधान की आवश्यकता है। इन समस्याओं को लेकर जनमानस उद्वेलित हुआ है तथा उनमें गाँधी चिंतन मुखर हो उठा है। बड़े से बड़ा आलोचक भी गाँधी नाम को इससे पृथक नहीं कर सकता। अत: प्रस्तावित अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत होती है।

प्रस्तावित शोध का भी मुख्य लक्ष्य भारतीय राजनीति की दशा एवं दिशा की समीक्षा करना है ताकि विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र उचित मार्ग पर अग्रसर रहे। इससे प्रस्तावित शोध कार्य की महत्ता एवं प्रासंगिकता सिद्ध होती है।

1.14 शोध के उद्देश्य

प्रस्तुत शोधकार्य के निम्नलिखित उद्देश्य हैं –

- नागरिक समाज की अवधारणा पर प्रकाश डालना।
- नागरिक समाज की विभिन्न एजेंसियों द्वारा उनकी अभिव्यक्ति के स्वरुप की व्याख्या करना।
- नागरिक समाज के माध्यम द्वारा राजनीति की दिशा के निर्धारण संबंधित आन्दोलनों की समीक्षा करना।
- जनआन्दोलनों की प्रकृति एवं समाज उपयोगिता की समीक्षा करना।
- अन्ना आन्दोलन का उद्भव, कार्य प्रणाली एवं उपादेयता की समीक्षा करना।
- भारतीय राजनीति पर आम आदमी पार्टी के प्रभाव की समीक्षा करना।

1.15 शोध पद्धति

प्रस्तुत कार्य में मिश्रित शोध पद्धति का प्रयोग किया जाएगा। परंपरागत शोध पद्धति के अंतर्गत ऐतिहासिक, संस्थात्मक एवं आदर्शात्मक शोध पद्धति के साथ ही आनुभाविक शोध पद्धति का प्रयोग किया जायेगा। जिसके अन्तर्गत अवलोकन पद्धति का भी सहारा लिया जायेगा। ऐतिहासिक पद्धति के अन्तर्गत ऐतिहासिक तथ्यों का विवेचन करने के लिये इतिहास का सहारा लिया जायेगा। जिसके अन्तर्गत भूतकालीन आन्दोलन की समीक्षा की जायेगी। संस्थागत पद्धति के अन्तर्गत नागरिक समाज एवं उससे जुड़े हुए अभिकरणों को एक संस्था के रूप में मूल्यांकन करने का प्रयास किया जायेगा। आदर्शात्मक पद्धति के

अन्तर्गत आकांक्षित मूल्यों एवं आदर्शवादी परिप्रेक्ष्य को जाँचने का प्रयास किया जायेगा। समसामयिक परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन अवलोकन विधि के साथ ही समकालीन साहित्य की समीक्षा से किया जायेगा।

प्रस्तुत शोध कार्य राजनीतिक विचार के मूल्यांकन से संबंधित है। राजनीतिक विचार का मूल्यांकन दो तरीके से होता है। प्रथम, काल क्रमानुसार अध्ययन एवं द्वितीय, राजनीतिक विचार को एक अवधारणा मानकर अध्ययन किया जाना। प्रथम प्रकार के अध्ययन में ऐतिहासिक काल क्रमानुसार घटनाओं का विश्लेषण किया जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में इस तरह के विश्लेषण का समावेश नहीं किया गया वरन द्वितीय प्रकार के अध्ययन अर्थात राजनीतिक विचार को एक अवधारणा के रूप में अध्ययन किया है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में नागरिक समाज की अवधारणा को केंद्र में रखकर के घटनाओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। अत: प्रस्तुत शोध प्रबंध के अंतर्गत राजनीतिक चिंतन अभिविन्यास(political thought orientation) के आधार पर नागरिक समाज को एक अवधारणा मानते हुए अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में आंकड़े एकत्र करने के लिए प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों ही तरह की स्रोत सामग्री का प्रयोग किया जायेगा। प्राथमिक सामग्री के अन्तर्गत विचारकों के मूल लेख की समीक्षा की जायेगी एवं द्वितीयक श्रेणी में नागरिक समाज से जुड़े हुये मुद्दों पर विभिन्न शोध सामग्री के माध्यम द्वारा आंकड़े एकत्रित किये जाएंगे। साथ ही इस शोध कार्य में प्रकाशित एवं अप्रकाशित दोनों ही तरह की स्रोत सामग्री का प्रयोग किया जायेगा।

1.16 साहित्य समीक्षा

प्रस्तुत शोध में नागरिक समाज, नागरिक समाज आन्दोलन से जुड़ी सामग्री का अध्ययन किया जाएगा। इस अध्ययन में उपलब्ध मूल साहित्य, उनके लेख एवं भाषणों को प्रमुख स्रोत के रूप में लिया जाएगा एवं द्वितीय स्रोत में उनसे सम्बंधित अन्य पुस्तकों का अध्ययन किया जाना प्रसंगानुकूल है।

1) मुखर्जी, सुब्रता और रामास्वामी, सुशीला (2011) ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ़ पोलिटिकल थोट : प्लेटो टू मार्क्स' में सभी तेरह शास्त्रीय राजनीतिक विचारकों के नागरिक समाज से सम्बंधित दृष्टिकोणों का विश्लेषण किया गया है। नागरिक समाज के विकास का विस्तृत ब्यौरा दिया गया है। साम्यवादी देशों में नागरिक समाज का आगमन किस प्रकार हो रहा है इसको उजागर किया गया है। एडम स्मिथ द्वारा नागरिक समाज की आर्थिक अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है। ताकविल द्वारा अमेरिका में स्वायत्तशासी संस्थाओं के रूप में नागरिक समाज को स्पष्ट किया गया है। पुस्तक में जुर्गेन हैबरमस द्वारा सम्प्रेष्णात्मक क्रिया के रूप में सिविल सोसायटी की चर्चा की गयी है। हीगल ने वाद-प्रतिवाद, मार्क्स ने वर्गहीन समाज के रूप में, ग्राम्शी ने पूंजीवादी समाज को नागरिक समाज के रूप में परिभाषित किया है। अंत में पुस्तक में लेखक ने आज के नागरिक समाज को बहुलवादी समाज, लोकतान्त्रिक समाज के रूप में स्पष्ट कर कहा है कि बहुत बड़ी संख्या में गैर सरकारी संस्थाएं, स्वायत्तशासी संस्थाएं काम कर रही हैं जो राज्य को निरंकुश होने और समाज को अराजक होने से रोक लेती हैं। जनता का जागरूक और आलोचक भाग ही सिविल सोसायटी है। (मुखर्जी, रामास्वामी, 2011)

2) चंधोक, नीरा (1995) ने अपनी पुस्तक 'स्टेट एंड सिविल सोसायटी : एक्सप्लोरेशन इन पोलिटिकल थ्योरी' में बताया है कि राजनीति का आवश्यक तत्व- बातचीत तथा राज्य के साथ संघर्ष है। नागरिक समाज तार्किक विचारों की उत्पादन स्थली है। नागरिक समाज का लोकतान्त्रिक सिद्धांत में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कोई राज्य लोकतान्त्रिक है या सर्वहारा, उसकी प्रकृति के बारे में नागरिक समाज से सम्बन्ध जोड़कर ही समझा जा सकता है। लोकतान्त्रिक सिद्धांत ने नागरिक समाज के महत्त्व को लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए एक पूर्व शर्त के रूप में माना है। साथ ही कहा है कि नागरिक समाज लोकतंत्र के लिए अति आवश्यक ना सही पर राजनीतिक जीवन के लिए आवश्यक ज़रूर है।

चंधोक के सुन्दर स्पष्टीकरण का अनुसरण करते हुए अब यह कहा जा सकता है कि राज्य की प्रकृति को नागरिक समाज की राजनीति से जोड़कर समझा जा सकता है। दोनों ही परस्पर एक बंधन में बंधे हुए हैं। 'नागरिक समाज के सिद्धांत के बगैर राज्य का कोई सिद्धांत नहीं हो सकता और इसी के अनुसार राज्य के सिद्धांत के बिना नागरिक समाज का कोई सिद्धांत नहीं हो सकता।'

3) चंधोक, नीरा (2003) ने अपनी पुस्तक 'दा कंसीट ऑफ़ सिविल सोसायटी' में बताया है कि 1970 के पश्चात् स्पष्ट हो गया कि चाहे मार्क्सवादी विचारधारा हो अथवा उदारवादी विचारधारा हो, राज्य इसके आदर्शों पर खरा नहीं उतर सकता। अपितु राज्य को अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु कहीं न कहीं अपनी विचारधारा को समायोजित करना होगा। सन 1980 के दशक में पश्चिम यूरोप में व्यापक नौकरशाही राजनीतिक व्यवस्था को कमज़ोर करने हेतु नागरिक समाज के साहचर्य संघों को अपनाया। नीरा चंधोक इसका विरोध करते हुए तर्क देती हैं कि संस्थागत नागरिक समाज को यदि हम निरंकुश स्वतंत्रता के रूप में अपनाते हैं तो समस्याएं उत्पन्न होंगी। नि:संदेह यह साहचर्य संघ एडम स्मिथ से लेकर मार्क्स, हीगल व ग्राम्शी तक के विपरीत विचारों को समायोजित करने का अर्थ हीन प्रयास है।

चंधोक नागरिक समाज को न तो एक नागरिक साहचर्य के पटल के रूप में देखती हैं और न ही इसे स्वतंत्र लोकतंत्र के सिद्धांत अथवा व्यापक स्वायत्त इकाई के रूप में देखती हैं। अपितु वह इसे कुछ स्वीकार्य विशेषाधिकारों के रूप में अपनाने को कहती हैं ताकि समाज के सभी वर्गों को विकास में भागीदार बनाया जा सके। (चंधोक, 2003)

4) दाधीच, नरेश (2015) ने अपनी पुस्तक 'समसामयिक राजनीतिक सिद्धांत' का लेखन मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी पर लिखी गई पुस्तकों के अभाव को दृष्टिगत रखते हुए लिखी है। इस पुस्तक में 1971 से आज तक के समसामयिक राजनीतिक सिद्धांत को सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है। उन्होंने पुस्तक के पन्द्रहवें अध्याय में समसामयिक अवधारणाएं विषय पर लेखन कर 'नागरिक समाज' को समझाने का सुंदर प्रयास किया है। उन्होंने बताया है कि नागरिक समाज की अवधारणा 1990 के दशक में राजनीतिक चिंतन में बहुत महत्तवपूर्ण बनी है। इस अवधारणा के विकास में उन्होंने प्रमुख रूप से जॉन लॉक, वाणिज्यिक समाज के स्कॉटिश सिद्धांतकर्ता तथा हीगल का उल्लेख किया है। उन्होंने बताया है कि जॉन लॉक के लिए नागरिक समाज प्राकृतिक दशा के विरोध में एक संगठित समाज है। स्कॉटिश सिद्धान्तकर्ताओं ने नागरिक समाज को नैतिक समुदाय के रूप में परिभाषित किया है। हीगल ने नागरिक समाज को परिवार व राज्य के मध्य की एक इकाई माना है।

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि नागरिक समाज की अवधारणा ने राजनीतिक चिंतन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इक्कीसवीं सदी में विश्व भर में होने वाले सामाजिक राजनीतिक आन्दोलनों में नागरिक समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। (दाधीच,2015)

5) महावर,खेमचंद (2014) ने अपनी पुस्तक 'सिविल सोसायटी और जनलोकपाल' में अन्ना हजारे जो विगत वर्षों से दूरसंचार माध्यमों पर छाये हुए थे, एक विशेष प्रकार के जन लोकपाल विधेयक के समर्थन में आन्दोलन का वर्णन किया है। सिविल सोसायटी,लोकपाल बिल, विधायी प्रक्रिया, अनशन या उपवास आदि शब्द आन्दोलन से चर्चा में आये। इन संकल्पनाओं की परिवर्तित राष्ट्रीय परिदृश्य में व्याख्या करना इस पुस्तक का मूल विषय है। इसमें अन्ना बनाम सरकार के संघर्ष का संविधान पर पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन का अच्छा प्रयास है। अन्ना हजारे के आन्दोलन में व्यवस्था परिवर्तन का माध्यम सिविल सोसायटी को दृष्टिगत रखते हुए पुस्तक का शीर्षक 'सिविल सोसायटी व जन लोकपाल' रखना अच्छा कदम है।

पुस्तक में सामाजिक कार्यकर्ताओं व प्रबुद्धजनों का परिचय दिया गया है ताकि उनके परिचय की भ्रांतियां दूर हो सके। पुस्तक में पृथक से सन्दर्भ ग्रंथ सूची देकर शोधार्थियों का रास्ता आसान किया है। (महावर, 2014)

6) गाबा, ओम प्रकाश (2012) ने अपने 'राजनीति विज्ञान विश्वकोश' में राजनीति विज्ञान के मुख्य- मुख्य शाखाओं से जुड़े विषयों पर स्वतंत्र एवं विस्तृत निबंधों का संग्रह किया है। लेखक ने इस विश्वकोष को समष्टि विश्वकोश का रूप देने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत संस्करण का विचार क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। इसमें राजनीति सिद्धांत, राजनीति दर्शन, राजनीति विचारधाराओं, तुलनात्मक राजनीति, भारतीय राजनीति, लोक प्रशासन, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, राजनीति समाज विज्ञान और राजनीति अर्थशास्त्र से जुड़ी समस्याओं का आलोचनात्मक और तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विश्वकोश में नागरिक समाज का सैद्धान्तिक विश्लेषण देने के बाद उसके ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही नागरिक समाज की भूमिका तथा समकालीन विश्व में नागरिक समाज के बदलते हुए रूप का वर्णन किया है। (गाबा, 2012)

7) कविराज, सुदीप्ता और खिलनानी, सुनिल (2002) द्वारा संपादित पुस्तक 'सिविल सोसायटी: हिस्ट्री एंड पोसिबिलीटीज़' में राजनीति विज्ञान के ऐतिहासिक व तुलनात्मक अध्ययन को दो भागों में प्रस्तुत करती है। प्रथम भाग परंपरागत पश्चिमी दर्शन में नागरिक समाज के विभिन्न सैद्धान्तिक मतों का विश्लेषण करता है। द्वितीय भाग एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमेरिका में नागरिक समाजों में हुए सैद्धान्तिक व व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में उनके योगदान को निरुपित करता है। इस पुस्तक में यह दर्शाया गया है कि यद्यपि नागरिक समाज एक पश्चिमी विचार है तथापि इसे विश्व के विकासशील देशों में भी अधिक प्रभावी व परिष्कृत नवाचार के रूप में विशिष्ट व्यावहारिक तरीकों से समाजों में अपनाया गया है। (कविराज एवं खिलनानी, 2002)

8) साक्थिवेल, पी और मुनावर्जन, एच. (2012) ने अपने शोध पत्र "सिविल सोसायटी रोल इन कोम्बेटिंग करप्शन : ए स्मॉल बट रेडिकल आईडिया" में भ्रष्टाचार के मुद्दे का उल्लेख किया है कि भारत में भ्रष्टाचार अहम् मुद्दा है। उन्होंने अनेक देशों में भ्रष्टाचार की तुलना कर बताया है कि भारत में भ्रष्टाचार उच्च स्तर पर है। भारत में पक्ष और विपक्ष के राजनीतिक दलों पर भ्रष्टाचार के आरोप लगे

हुए हैं। भारत में लोग व्यापक भ्रष्टाचार के कारण अशांत और परेशान हैं। भारत के लोगों का दृढ़ विचार है कि भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज़ उठाई जाये।

उन्होंने बताया है कि भारत से भ्रष्टाचार को दूर करने का एक ही रास्ता है, वह है नागरिक समाज आन्दोलन। नागरिक समाज आन्दोलन द्वारा एक मज़बूत लोकपाल विधेयक लाया जाये। (साक्थिवेल एवं मुनावर्जन,2012)

9) मिश्र, कृष्णकान्त (2012) ने ग्राम्शी की प्रसिद्ध रचना "सेलेक्शन फ्रॉम दा प्रिजन" नोटबुक्स का हिंदी में अनुवाद "सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार" शीर्षक से किया है। इसमें ग्राम्शी के चिंतन की सारी बुनियादी बातों का समावेश किया है। इसमें इतिहास, दर्शन शास्त्र शिक्षा, संस्कृति और समाज शास्त्र जैसे विषयों पर ग्राम्शी के विचारों का संकलन है। इतिहास और संस्कृति की समस्या के सन्दर्भ में शहरी एवं ग्रामीण बुद्धिजीवियों की स्थिति पर विचार किया है। यह पुस्तक इतिहास, संस्कृति, दर्शन, शिक्षा और सामाजिक समस्याओं के मार्क्सवादी विवेचन में दिलचस्पी रखने वाले शिक्षा, संस्कृति और राजनीतिकर्मियों के लिए इस पुस्तक की काफी अहमियत है। (मिश्र, 2012)

10) ग्राम्शी, एंटोनियो (2010). मार्क्सवाद की समस्याएँ (दूसरा संस्करण संपादित) में मार्क्सवाद की कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया गया है। पुस्तक के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि वह दौर मार्क्सवादी चिन्तन पर नवचिंतन और प्रत्यक्षवादी दर्शन का असर था। ग्राम्शी ने इस दुष्प्रभाव से प्राप्त परिणामों की इस पुस्तक में आलोचना की है।

इस पुस्तक में पारलौकिकवाद और आदर्शवाद से मार्क्सवाद को अलग करने की समस्या के बारे में बताया है। इसके बाद ही प्लेखानों और भुखारिन के यांत्रिक भौतिकवाद से मार्क्सवाद को अलग समझने का आग्रह किया है क्योंकि दोनों विचारकों के भौतिकवाद का स्वरुप इकहरा और यांत्रिक होने से गैर मार्क्सवादी है। कुल मिलाकर ग्राम्शी का मार्क्सवाद बुनियादी तौर पर आलोचनात्मक है। इसमें जिन समस्याओं पर विचार किया गया है, वे किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान हैं, इसलिए आज भी यह पुस्तक सार्थक है। (ग्राम्शी,2010)

11) जेनिंग्स, एम. (2014) का आलेख 'अन्ना हजारे, लिब्रेलाइज़ेशन एंड दा कैरिअर्स ऑफ़ करप्शन इन मॉडर्न इंडिया : 1974-2011' आधुनिक भारत में भ्रष्टाचार के विविध आयामों का अध्ययन करता है। अप्रेल 2011 में भ्रष्टाचार के खिलाफ प्रारंभ किया अन्ना हजारे का अनशन एक आन्दोलन के रूप में परिणत हो गया। इस आन्दोलन को नवउदारवादी सुधार के रूप में देखा गया है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन एक सहज रूप में न होकर विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ जिसका मुख्य कारण 'आर्थिक' रहा है। इस आन्दोलन के बीज हम जे. पी. आन्दोलन की सम्पूर्ण क्रांति में पाते हैं जिसमें उन्होंने आर्थिक, सामयिक व राजनीतिक क्षेत्रों में क्रांति की बात कही थी।

भारत में उदारवाद के साथ ही भ्रष्टाचार का स्वरुप बदल गया। जे. पी. के अनुसार भ्रष्टाचार निजी लालच की उपज है। वर्तमान स्वरुप में उभरते हुए नव शहरी मध्यम वर्ग ने भ्रष्टाचार का स्वरुप बदल दिया। वर्तमान स्वरुप में उभरते हुए नव शहरी मध्यम वर्ग ने भ्रष्टाचार को वैयक्तिकता से निकालकर आर्थिक विकास के माइंडसेट के रूप में परिभाषित किया। उदारवाद एवं आर्थिक विकास ने ही इस वर्ग

को भ्रष्ट बनाया है अत: राजनीतिक रूप से इस नव वर्ग की अनदेखी करना संभव नहीं है। फलत: भ्रष्टाचार पर नियंत्रण का प्रयास संस्थागत हिंसा के रूप में कहा जाने लगा है। (जेनिंग्स, 2011)

12) सिंह,एम.के.(2012) ने अपनी पुस्तक 'सिविल सोसायटी, करप्शन एंड दा एन.जी.ओ.' में भारतीय समाज को बहुमुखी बताया है, ऐसा विश्व सभ्यता में कहीं नहीं है। भारत क्षेत्रीय, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक आधार पर विभिन्नताओं का देश है। यहाँ अमीर गरीब की खाई देखी जा सकती है, वहीं दूसरी ओर भाषाई एवं धार्मिक विश्वासों में अत्यन्त असमानताएं हैं। निश्चित रूप से विविधता में एकता का ऐसा उदाहरण विश्व के किसी अन्य देश में नहीं पाया जाता। यही विविधता भारत की पहचान है।
जहाँ तक राजनीतिक भ्रष्टाचार की बात है, इस क्षेत्र में भी हम अव्वल हैं। घूसखोरी व रिश्वत के मामलों में यह विश्व के प्रमुख देशों में से एक है। इतना ही नहीं, हमारे माननीय सांसदों पर आपराधिक मामले, मानव तस्करी, बलात्कार और हत्या जैसे मामले दर्ज हैं। इस परिप्रेक्ष में एन.जी.ओ. की प्रमुख भूमिका है। चाहे वे सरकार से धन प्राप्त करते हों या नहीं, उन्होंने अपने आपको सरकारी प्रभाव से मुक्त रखने का प्रयास किया है। इन्हीं एन.जी.ओ. में हम नागरिक समाज संगठनों का स्वरुप पाते हैं। यह पुस्तक इस सन्दर्भ में अत्यंत उपयोगी है। (सिंह, 2012)

13) श्री,वी.(2011) ने अपने लेख शीर्षक 'भारत में सिविल सोसायटी की अवधारणा एवम् भूमिका' में लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था की सफलता एवम् असफलता नागरिक समाज पर निर्भर करती है। आर्थिक और सामाजिक उद्देश्य हासिल करने के लिये संवैधानिक तरीकों को अपनाना होगा। आधुनिक काल में नागरिक समाज के तत्त्व हीगल की रचना 'फिलोसफी ऑफ़ राइट्स' में दिखाई देते हैं। आजादी के बाद जैसे-जैसे देश 'पुलिस राज्य से कल्याणकारी राज्य' की ओर बढ़ा वैसे ही नागरिक समाज की प्रासंगिकता भी बढ़ी है। आज भ्रष्टाचार को रोकने या जनलोकपाल बिल के सम्बन्ध में सिविल समाज की अहम भूमिका है। संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों में अनुच्छेद 19 में संघ बनाने व विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान की गयी है, जो कि नागरिक समाज का ही प्रतिरूप है। (श्री, 2011)

14) शोर, लोकनाथ (2011) ने अपने लेख शीर्षक 'सिविल सोसायटी एज एन इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ सोशल चेंज' में सामयिक रूप से नागरिक समाज एक ध्येय साधन है तथा एक ऐसा प्रारूप है जो साध्य और साधनों से जुड़ा है। जब ये दोनों चीज़ें परिपक्व समर्थन में आ जाती हैं तो सिविल सोसायटी का विचार राजनीति और सामाजिक बदलाव को प्रस्तुत करता है और अन्ततः सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के व्यावहारिक समाधान हेतु कार्य करता है। आज के सन्दर्भ में नागरिक समाज के विविध रूप एक सत्य और स्वतंत्र समाजों के उत्थान हेतु सामूहिक रचनात्मक और मूल्य आधारित विविध रूपों में प्रयासरत हैं। अतः इसकी भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि जब हम राजनीति या लोकनीति या किसी अन्य सामाजिक बदलाव की बात करते हैं तो नागरिक समाज का उल्लेख अत्यंत आवश्यक है। (शोर, 2011)

15) कीन, जे.(2009) ने अपने लेख 'सिविल सोसायटी डेफिनेशन एन्ड अप्रोचेज़' में बताया है कि 1850 के बाद नागरिक समाज पद बुद्धिजीवियों एवं राजनीतिज्ञों के जीवन से गायब हो गया। दो दशक पूर्व तक यह अप्रासंगिक हो गया था। कुछ समूहों में वैमनस्यता के रूप में प्रयोग होता था। उसके बाद से यह मानवीय विज्ञानों और राजनीतिज्ञों, कंपनी पदाधिकारियों, पत्रकारों, चैरिटेबल संस्थाओं, मानव अधिकार संगठनों में मुख्य रूप से प्रयोग होने लगा। (कीने,जे. 2009)

16) सिंह, डी. (2011) ने अपने लेख 'रोल ऑफ़ सिविल सोसायटी इन इंडियन डेमोक्रेसी' में नागरिक समाज की भूमिका उजागर की है। नागरिक समाज परिपक्व लोकतंत्र एवं परिपक्व राजनीति के लिए आवश्यक है। भारत में नागरिक समाज गांधीजी के दर्शन से निकला है। स्वयंसेवक राजनीति और विकास के बीच अंतर को भरने का कार्य करते थे। नागरिक समाज 1980 से एन.जी.ओ. के रूप में प्रसिद्ध हुआ। एन.जी.ओ. का कार्य अलग अलग क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण रहा। बैंकिंग क्षेत्र में सहकारी बैंक के रूप में, प्रौढ़ शिक्षा के रूप में, पर्यावरण के रूप में तथा बाद में डेयरी उत्पाद के क्षेत्र में कार्य करता रहा। स्वयंसेवक हैंडलूम बुनकर अपना सामान सीधे शहर में भेजते और अच्छा पैसा प्राप्त करते। केरल में एन.जी.ओ. ने शत प्रतिशत साक्षरता प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। हाल ही में अन्ना, प्रशासन और राजनीति में भ्रष्टाचार साफ़ करने के लिए जनलोकपाल के लिए कार्य कर रहे हैं। (सिंह, डी. 2011)

17) मिश्र, ए. डी. (2012) ने अपनी पुस्तक 'गांधी एक अध्ययन' में समूची दुनिया को गुंजायमान कर रहे गांधीजी की मूल धारणाओं का विश्लेषण किया है। यह पुस्तक सामाजिक विज्ञान, मानविकी और गांधी अध्ययन के क्षेत्र में काम कर रहे शोधार्थियों को ध्यान में रखते हुए तैयार की गई है। इसलिए यह पुस्तक देश भर में गाँधी को जानने समझने में मददगार साबित होगी। (मिश्र, ए. डी. 2012)

18) सिंह, आर. (1995)ने अपनी पुस्तक 'गाँधी विचार (दर्शन,धर्म,राजनीति और अर्थनीति) में गाँधी दर्शन पर प्रकाश डाला है। गांधी का दर्शन वस्तुतः उनका जीवन दर्शन था। उन्होंने कहा भी था "मेरा जीवन ही मेरा सन्देश है।" वे राम की तरह मर्यादित, कृष्ण की तरह उन्मुक्त एवं शिव के समान असीम थे। सत्ता निष्ठा और ग्रन्थ निष्ठा उनके स्वभाव में नहीं था। उन्होंने दरिद्र नारायण,सत्याग्रह एवं अहिंसा का अनुसन्धान किया। पुस्तक में प्रस्तुत लेखों द्वारा जीवन एवं समाज की विभिन्न समस्याओं को समझाने का प्रयास किया गया है। गाँधी की अहिंसा एवं सत्य व्यक्तिगत आचार के नियम नहीं हैं, वे जाति, समुदाय एवं राष्ट्र की व्यावहारिक नीति की आधारशिला है। किसी भी लेख में गाँधी विचार को उपेक्षित नहीं किया है, इसलिए यह शोध के लिए उपयोगी है।

19) दीपक, ओ. एवं मोहन, ए. (2006) ने अपनी पुस्तक 'लोहिया एक जीवन' में लेखक ने लोहिया के व्यक्तित्व और चिंतन को प्रस्तुत किया है। यह लोहिया के व्यक्तित्व एवं कार्य शैली को समझने का आवश्यक साधन है। दीपक जी के असामयिक निधन के बाद श्रीमती कमला दीपक एवं अरविन्द मोहन द्वारा लोहिया के अनेक लेख दिए गए हैं, जो शोध में उपयोगी हैं। (दीपक एवं मोहन, 2006)

20) केलकर, आई. (1996) की पुस्तक 'राम मनोहर लोहिया' लोहिया पर लिखी गई पहली और अधिकृत जीवनी है जो भारतीय भाषा हिंदी में लिखी गई है। इस पुस्तक में जो घटनाएँ, वक्तव्य और विचार दिए गए हैं वे लेखिका द्वारा लोहिया के साथ चर्चा और परामर्श पर आधारित हैं। यह पुस्तक जीवनी के संशोधित और संवर्धित संस्करण (ई.स.1983) का संक्षिप्त रूप है। जीवन ग्रन्थ की जानकारियों, प्रसंगों, विवेचनों को हानि पहुंचाए बिना पाठकों को ध्यान में रखकर संक्षिप्तीकरण किया गया है। (केलकर, 1996)

21) त्रिपाठी, ए. के. (2015) ने पुस्तक 'समाजवाद, लोहिया और धर्म -निरपेक्षता' में कहा गया है कि राजनीति और समाज के तमाम आन्दोलन और ऐतिहासिक प्रतीकों की नई व्याख्या पूंजीवादी शक्तियां कर सकती हैं तो उदार, धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी ताकतों को भी करने का हक़ है। पटेल और नेहरू के विवाद और मतभेद, दलित और पिछड़ी जातियों के उत्थान व धर्मनिरपेक्षता, स्त्रियों की आजादी, जाति और वर्ग के रिश्ते, उदारीकरण के दौर में वर्गों की संरचना या जातियों की प्रबलता तमाम प्रश्नों पर इस पुस्तक में संकलित लेखों में खुले तरीके से विचार किया गया है। (त्रिपाठी, 2015)

22) मुकुल, के. (2013) की 'डॉ राम मनोहर लोहिया' को पढ़ने पर ऐसा नहीं लगता कि यह कायदे से लिखी गई है, पर यह इसकी ख़ूबसूरती भी है। लोहिया को समझने के लिए नई नज़र और नई व्याख्या की जरूरत है, जो इस पुस्तक में खुद-ब-खुद आ गई है। अध्यायों का संकलन भी अनगढ़ है, जैसे संसद में लोहिया का जिक्र पहले, मार्क्स के अर्थशास्त्र का बाद में है। पुस्तक में लोहिया के संघर्षों का ब्यौरा नहीं होना, उनके नेपाल,गोवा, तिब्बत और विदेशी संघर्षों का जिक्र नहीं होने से इसका पूरा संतुलन नहीं बन पाया है। पुस्तक में काफी कुछ ऐसा भी है जो पहले की पुस्तकों में नहीं था। इसलिए पुस्तक शोध के लिए उपयोगी है। (मुकुल, 2013)

23) मिश्र, जी. एवं पांडे, वी. (2009) ने अपनी पुस्तक 'डॉ राम मनोहर लोहिया: व्यक्ति और विचार' में बताया है कि महात्मा गाँधी को छोड़ दें तो लोहिया ही एकमात्र भारतीय राजनीतिज्ञ हैं जिन्होंने मार्क्सीय समाजवाद का विकल्प प्रस्तुत करने का प्रयास किया। दूसरा, जब भी तीसरे मोर्चे के रूप में गैर कांग्रेसवाद की बात आती है, लोहिया के विचार ही आधार बनते हैं। इसमें लोहिया के विचारों का विश्लेष्णात्मक अध्ययन किया गया है। (मिश्र, पांडे, 2009)

24) जोहरी, जे. सी. (2006) ने अपनी पुस्तक 'न्यू कम्पेरेटिव गवर्नमेंट' में कहा है कि सरकार का तुलनात्मक अध्ययन राजनीति के पिता अरस्तु जितना पुराना है। आज राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विकास के कारण इसने अपना महत्त्व प्राप्त कर लिया है। सर्वसत्ताधिकार व्यवस्था के हास ने विश्व में लोकतंत्र के तीव्र विकास को हवा दी तथा स्वतंत्रता तथा समानता के बीच युद्ध ने शक्ति की अवधारणा में नए अर्थ और आयाम जोड़े हैं। आज नागरिक समाज के उदभव में राष्ट्र राज्य की अवधारणा को देखा जा सकता है।

अतः वर्तमान समय में नागरिक समाज पुरानी तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली से परे राजनीतिक वास्तविकताओं को आधुनिक समय की आवश्यकताओं एवं मानवीय क्रियाकलापों के रूप में देखती है। (जोहरी, 2006)

25) शास्त्री, पी. (1989) ने अपने शोध पत्र 'भारत में समाजवादी आन्दोलन-नेतृत्व एवं चिंतन के प्रतिमान(डॉ राम मनोहर लोहिया के विशेष सन्दर्भ में)' के सारांश में भारत में समाजवादी आन्दोलन के नेतृत्व तथा चिंतन के विद्यमान प्रतिमानों को एक साथ रख कर अध्ययन करने का प्रयास किया है। 1934 में जन्मे, 1942 में पुष्पित- पल्लवित हुए समाजवादी आन्दोलन 1956 तक आते- आते खंडित-विखंडित हो गये। भारत का समाजवादी आन्दोलन एक ओर तो सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ राज्यों से प्रेरित तथा अनुप्राणित होता रहा तथा दूसरी ओर वह महात्मा गाँधी के सत्य, अहिंसा, नागरिक अवज्ञा आन्दोलन तथा विकेंद्रीकरण के विचारों से मार्ग दर्शन लेता रहा। सारांश के आधार पर वह अध्ययन-कर्ता के लिए उपयोगी है। (शास्त्री, 1989)

26) सिंह, के. के. (2010) ने अपने शोध पत्र 'वर्तमान सन्दर्भ में डॉ राम मनोहर लोहिया के विचारों की प्रासंगिकता: एक समीक्षा' में लोहिया की वैश्वीकरण सोच को दर्शाया गया है। लोहिया भविष्य में विश्व सरकार, विश्व संसद, विश्व मत एवं विश्व विकास संस्था के सिद्ध होने की कामना करते थे। संयुक्त राष्ट्र संघ की विश्व सरकार द्वारा लोहिया की वैश्वीकरण सोच से समानता रखने वाली अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। शोध पत्र में विश्व विकास संस्था द्वारा जीवन स्तर को बदलने की बात कही गई है।

आज विश्व का बंटवारा आर्थिक आधार पर किया गया है। विकसित देश सुख-सुविधाओं से भरपूर हैं, वहीं विकासशील और अविकसित देश गरीबी,अशिक्षा और भुखमरी से ग्रस्त हैं। इन सभी समस्याओं का समाधान लोहिया की 'विश्व विकास संस्था' में निहित है। (सिंह, 2010)

27) इन्दुमति, के. (2010) ने अपनी पुस्तक 'डॉ राम मनोहर लोहिया जीवन और दर्शन' में लोहिया के जीवन तथा कार्यों को निष्ठापूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। श्रीमती केलकर समाजवादी आन्दोलन की सक्रिय कार्यकर्त्ता रही हैं। पुस्तक को पढ़ने पर लोहिया के दर्शन की अनुभूति हो जाती है। उन्होंने भारत की राजनीति को अपने आदर्शों के अनुसार ढालने का प्रयास किया है।

इस पुस्तक द्वारा लोहिया के उथल-पुथल भरे जीवन तथा उनके अत्यंत मौलिक चिंतन की झलक मिलती है। (केलकर, 2010)

28) श्रीवास्तव, एस. (2002) ने अपनी पुस्तक 'लोकनायक जय प्रकाश नारायण' में लोक नायक के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की प्रामाणिक जानकारी दी गई है। जिसने इसके पूर्व लोक नायक के बारे में कुछ भी नहीं पढ़ा है, वह भी इस पुस्तक के माध्यम से संतोषजनक जानकारी प्राप्त कर सकता है। बिना तिथिवार इतिवृत्त तथा सन्दर्भ बहुलता से बचते हुए लेखक ने क्रमबद्धता का ध्यान रखा है। मूल के

साथ ही उद्धहरणों को यथा स्थान पर संयोजित किया गया है। यह जानकारी शोध के लिए उपयोगी है। (श्रीवास्तव, 2002)

29) रघुवंश (1975) ने अपनी पुस्तक 'जयप्रकाश नारायण के विचार' में जयप्रकाश के विचार और कर्म दोनों का विकास देखा जा सकता है। इसमें उनके गतिशील व्यक्तित्व की झलक मिलती है। पुस्तक में प्रतिपादित दृष्टि और कार्यक्रम देश के भावी समाज की नई समाजवादी रचना के लिए प्रेरणादायी हैं। (रघुवंश, 1975)

30) शाह, के. (2012) ने अपनी पुस्तक 'सम्पूर्ण क्रांति की खोज में मेरी विचार यात्रा भाग -2(सं.)' में लोकमान्य तिलक से लोक नायक जय प्रकाश तक की विकास यात्रा का सिलसिला है। संवैधानिक लोकतंत्र को बचाए रखने में अनेक उलझनें आतीं हैं। सच्चे लोकतंत्र की स्थापना का चिंतन और चिंता इस पुस्तक में जयप्रकाश जी का मुख्य विषय है। (शाह, 2012)

31) राधाकृष्ण (1994) ने अपने लेख 'महात्मा गाँधी एवं जयप्रकाश नारायण के चिंतन में समाजवाद' में महात्मा गाँधी और जय प्रकाश नारायण के समाजवाद संबंधी विचारों का अध्ययन किया है। गाँधी का समाजवाद सर्वोदय का सिद्धांत है। महात्मा गाँधी का समाजवाद पूरी तरह से सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर आधारित है। जबकि जय प्रकाश नारायण का समाजवाद शांतिपूर्ण और क्रमिक संवैधानिक साधनों पर आधारित है। दोनों का उद्धेश्य मानव का कल्याण करना है। (राधाकृष्ण, 1994)

32) शाह, के. (2010) 'जय प्रकाश की जीवन यात्रा (सं.)' में लोकनायक जय प्रकाश नारायण का जीवन क्रांति की सम्पूर्ण अवधारणा में भी क्रांति लाने का सन्देश है, सत्ता को नहीं, समाज को प्राथमिकता देने का सन्देश है, क्रांति की सम्पूर्णता में और सतत मानव मुक्ति की आरोहण प्रक्रिया के रूप में देखने समझने का सन्देश है। कान्तिशाह ने लोकनायक जय प्रकाश नारायण की इस रोमांचकारी बहुआयामी, निरंतर गतिशील जीवन यात्रा को प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ शोधार्थियों को जे.पी. के विचारों से अवगत करने का कार्य करेगा। (शाह, 2010)

33) राजगढ़िया, वी. एवं केजरीवाल, ए. (2007) ने अपनी पुस्तक 'सूचना का अधिकार' में बताया कि देश के अनेक लोगों और संस्थाओं द्वारा इस अधिकार का प्रयोग कर नौकरशाही और राजनेताओं को बता दिया है कि अब वे गोपनीयता के परदे में सार्वजनिक हितों से खिलवाड़ नहीं कर सकते। सूचना के अधिकार के रूप में 'प्रत्यक्ष लोकतंत्र' पर आधारित शासन प्रणाली के नए प्रयोग की शुरुआत हो चुकी है। अब भारत का नागरिक शासन प्रणाली में सीधे हिस्सा ले सकता है। सूचना का अधिकार क्या है, यह कैसे वजूद में आया, इसका इस्तेमाल कैसे किया जाए- इस पुस्तक में यह सारी जानकारी उपलब्ध है। (राजगढ़िया एवं केजरीवाल, 2007)

34) रॉय, ए. (2018) ने अपनी पुस्तक 'आर.टी.आई कैसे आई' में लोकतान्त्रिक न्याय को मजबूत करने तथा आम लोगों के अहम् योगदान को प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक दर्शाती है कि व्यवहार और विचार

जिन्दगी की वास्तविकता की उपज हैं। यह सामान्य लोगों की ऐसी कहानी है जिन्होंने जीने के अधिकार तक सामान्य जन की पहुँच में रोड़ा बन रहे भ्रष्टाचार और सत्ता के मनमानेपन से लड़ने के कानूनी विचारों को शक्ल दी है। इसमें लोगों के अनुभवों और समझदारी को साथ लेकर चलने का प्रयास है। सहभागितापूर्ण लोकतंत्र को सृजनात्मक, समावेशी और न्यायपूर्ण बनने का उदाहरण है।

यह पुस्तक कुछ ऐसे उपाय सुझाती है जिनसे हम लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं में चलने वाले टकरावों से संघर्ष कर सकते हैं। यह हमें राष्ट्रीय आन्दोलन और संविधान की ताकत का अहसास कराती है। यह बात हमारे शोध के लिए महत्त्वपूर्ण है। (रॉय, 2018)

35) मेहता, सी. एस. (2011) की पुस्तक 'सूचना का अधिकार' में अधिनियम 2005 की विभिन्न धाराओं को केन्द्रीय सूचना आयोग एवं विभिन्न राज्यों के सूचना आयोगों द्वारा दिए गए निर्णयों के परिप्रेक्ष्य में कानूनी व्यवस्थाओं, प्रक्रियाओं को स्पष्ट किया गया है। इसमें केन्द्रीय सूचना अधिकारी, राज्य लोक सूचना अधिकारी एवं प्रथम अपीलीय अधिकारी, अधिनियम की विभिन्न धाराओं के अन्तर्निहित अर्थों को विभिन्न पक्षों से समझ कर सूचना के अधिकार को आम लोगों तक पहुँचाने का प्रयास है। साथ ही आम आदमी आयोगों के निर्णयों, कानूनी प्रावधानों व प्रक्रियाओं से वाकिफ होकर सशक्त हो सकेगा। सम्मिलित विद्वानों के लेख विषय की जानकारी को मजबूती दे सकेंगे। यह पुस्तक सर्च इंजन का कार्य करेगी। अतः शोधोपयोगी है। (मेहता, 2011)

36) कलाम, ए.पी.जे. अब्दुल (2006) ने अपने भाषण 'सूचना के अधिकार में राष्ट्रीय ई-शासन ग्रिड' को बेहतर प्रशासन के लिए सशक्त औजार बताया है। दुनिया इन्टरनेट शासन की ओर बढ़ रही है। इन्टरनेट के प्रयोग कहीं भी और किसी भी समय किये जा सकते हैं। इस व्यवस्था में नागरिकों को सेवा उपलब्ध कराना सरकार का प्राथमिक कर्तव्य है। सभी सूचनाएं ई-शासन के सॉफ्टवेयर एजेंट के द्वारा पलक झपकते ही राज्य और केंद्र सरकार वेब सेवा पुस्तिकाओं और सूचना के नेटवर्क ग्रिड से इकट्ठा कर चुनाव अधिकारी के कंप्यूटर पर बिना किसी दुराग्रह के उपलब्ध कराई जा सकती है। यह प्रभावी व्यवस्था नागरिकों के लिए बेहतर शासन उपलब्ध करा सकती है। (कलाम, 2006)

37) सिंह, एम. (2006) ने अपने भाषण 'सूचना का अधिकार सही स्वराज्य का बापू का सपना साकार' द्वारा इस विधेयक के पारित होने के साथ- साथ हमारी शासन प्रणाली में एक नये युग का आरम्भ होगा, ऐसी उम्मीद जाहिर की थी। इस विधेयक द्वारा कार्य निष्पादन में अधिक कुशलता आयेगी। विकास के लाभ जन साधारण आवश्यक रूप से प्राप्त होंगे। भ्रष्टाचार के दानव को ख़त्म करने में मदद मिलेगी। आम आदमी की दिलचस्पी को हमारी सम्पूर्ण प्रशासनिक व्ययस्था के मध्य में स्थापित करेगा।

मूल्यांकन के तौर पर कहा जा सकता है कि देश की जनता ने इस कानून को दिल खोलकर अपना लिया है। यह जनता का कानून बन गया है। कहा जा सकता है कि सूचना का अधिकार उन सब

अधिकारों के मुकाबले बुनियादी है जो मानव की मान मर्यादा के लिए परम आवश्यक है। वस्तुतः यह कानून हमारे राष्ट्र निर्माताओं के संकल्पों की परिणति है। (सिंह, 2006)

38) रॉय, ए., सिंह, एस. एवं डे, एन. (2006) ने अपने लेख 'सूचना के अधिकार की लड़ाई' लिखा जो योजना, जनवरी 2006 के अंक में छपा है। भारत में सूचना के अधिकार आन्दोलन का मार्ग अरुणा रॉय ने प्रशस्त किया। उन्होंने इस आन्दोलन का इतिहास तथा आने वाली कठिनाइयों का बखान किया है। यह सत्ता में भागीदारी का आन्दोलन था, साथ ही बताया है कि यह सत्ता के दुरूपयोग को रोकने के लिए था।

सूचना के अधिकार आन्दोलन से लोगों में सहभागी जनतंत्र के लिए जरूरी संस्कृति, संस्था और सिद्धांत निर्मित करने के लिए प्रयास करने की उम्मीद जगी है। महाराष्ट्र में अन्ना हजारे के नेतृत्व में चले आन्दोलन के फलस्वरूप वहां देश का सर्वोत्तम राज्य स्तरीय अधिनियम पारित हुआ। राष्ट्रीय अधिनियम के अनेक मुद्दों पर इसे ही मॉडल बनाया गया। (रॉय, सिंह एवं डे, 2006)

39) ठाकुर, पी. एवं राणा, पी. (2012) ने अपनी पुस्तक 'जन नायक अन्ना हजारे' में भ्रष्टाचार के अनेक चेहरे तथा उसको दूर करने में अन्ना हजारे की भूमिका का अध्ययन किया गया है। यह भ्रष्टाचार विरोधी विधेयक तैयार करने की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। अन्ना नागरिक समाज के आक्रोश को शक्तिशाली आन्दोलन में बदलने के काम में लगे हैं। कानून निर्माताओं को यह समझाने में लगे हैं कि इस तरह का एक बिल संसद में तुरंत पेश करना कितना जरूरी है।

यह पुस्तक भारत में उच्च पदों पर आसीन शख्सियतों पर कानूनी कार्यवाही करने के लिए वर्तमान कानूनों की अपर्याप्तता को भी उजागर करती है। आज भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष का नाम अन्ना हजारे पड़ गया है। (ठाकुर एवं राणा, 2012)

40) भाटिया, एस. (2012) ने अपनी पुस्तक 'क्रांतिदूत अन्ना हजारे' में देशभक्त अन्ना हजारे का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। देश आजाद होने पर इस धरती पर कई बार अनशन हुए किन्तु अन्ना हजारे जैसा आमरण अनशन कभी नहीं हुआ। अन्ना के आमरण अनशन के पांच दिनों के अन्दर लोकपाल विधेयक के लिए संयुक्त कमेटी का गठन हो गया। इस अनशन में राज्य, धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र कोई भी आड़े नहीं आया।

जन समूह के अपार समर्थन को देख कर कोई महात्मा गाँधी को याद करता, किसी को लोहिया की याद आई, किसी ने जे. पी. की क्रांति को स्मरण किया। (भाटिया, 2012)

41) भारद्वाज,आर.(2012) द्वारा सम्पादित पुस्तक 'गाँधी और अन्ना के बीच का फासला' में निरंजन कुमार द्वारा लिखित लेख 'जनता का अभूतपूर्व आन्दोलन' आजादी के बाद का अभूतपूर्व आन्दोलन है। यह देशव्यापी आन्दोलन है, जिसका नेतृत्व आम नागरिक के पास है। इसमें कुछ आन्दोलन

जिन्होंने देश को अपने आगोश में ले लिया था, उनमें जे.पी. (1974) का आन्दोलन, वी.पी. सिंह का 1989 का आन्दोलन, मंदिर आन्दोलन और फिर मंडल आन्दोलन को लिया जा सकता है। मंदिर आन्दोलन में जहाँ मुसलमान, सिख, ईसाई, बौद्ध आदि धर्मावलम्बी और हिन्दुओं का सेक्युलर तबका अलग थे, मंडल आन्दोलन में सवर्ण बाहर थे। इसमें जे.पी. आन्दोलन अखिल भारतीय आन्दोलन था लेकिन इसका नेतृत्व राजनेताओं के पास था, जिनका उद्देश्य सम्पूर्ण क्रांति के साथ-साथ सत्ता परिवर्तन भी था। अन्ना का आन्दोलन नेतृत्व, भागीदारी से लेकर उद्देश्य तक आम जनता का आन्दोलन था। इसका तात्कालिक लक्ष्य भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए सशक्त लोकपाल कानून को लाना था।

इस आन्दोलन की सबसे बड़ी खासियत यह थी कि इतना बड़ा और स्वत: स्फूर्त होने के बावजूद अहिंसक रहा और यही इस आन्दोलन की शक्ति भी है। (भारद्वाज, 2012)

42) त्रिपाठी, वी. (2012) ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक गाँधी अन्ना हजारे' द्वारा अन्ना हजारे के त्याग, बलिदान और समर्पण की ही चर्चा प्रस्तुत की है। यह पुस्तक नौजवान पीढ़ी को भ्रष्टाचार के खिलाफ उद्वेलित करने का पवित्र कार्य करेगी। (त्रिपाठी, 2012)

43) प्रकाश, ए. (2012) द्वारा सम्पादित पुस्तक में प्रवीण झा, राम गति सिंह का लेख 'जनलोकपाल आन्दोलन: सन्दर्भ एवं संभावनाए' में लिखा है कि भ्रष्टाचार के खिलाफ इस आन्दोलन ने लोगों को सरकार के उदासीन एवं उपेक्षापूर्ण रवैये से उपजे असंतोष को व्यक्त करने का मंच प्रदान किया है। अन्ना के आन्दोलन ने सरकार को भली-भांति समझा दिया है कि अब यह लड़ाई लगातार जारी रहेगी।

अन्ना आन्दोलन की विसंगतियों पर भी लेखकों ने प्रकाश डाला है। इसमें हठनीति को अपने अपने उद्देश्य को पूरा करने का औजार बनाया जा रहा है। आन्दोलन में अन्ना हजारे के लोकपाल मॉडल के सामने मूल मुद्दा भ्रष्टाचार गौण साबित हो रहा है। निजी क्षेत्र की गतिविधियों को प्रस्तावित लोकपाल कानून से बाहर रखना आत्मघाती साबित होगा। (प्रकाश, 2012)

44) द्विवेदी, ए. एम. (2015) द्वारा लिखित एवं राहुल वर्मा द्वारा सम्पादित पुस्तक 'अद्भुत व्यक्तित्व अरविन्द केजरीवाल' में अरविन्द की अब तक की कहानी को समावेशित करने का प्रयास किया है। अरविन्द एक ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व का नाम है, जिसने सैद्धांतिक राजनीति को व्यावहारिकता प्रदान की है। उन्होंने इस परिभाषा को चरितार्थ किया है कि लोकतंत्र आम जनता का आम जनता के द्वारा आम जनता के लिए शासन है। इस पुस्तक द्वारा केजरीवाल के जीवन के हर पहलू पर प्रकाश डाला है। (वर्मा, 2015)

45) शर्मा, एम. (2012) ने अपनी पुस्तक 'जानिए जनलोकपाल बिल को' में जन लोकपाल बिल के सभी पक्षों को विस्तारपूर्वक सरल भाषा में बताया गया है। इस पुस्तक के अध्ययन से एक प्रभावशाली व शक्तिशाली जन लोकपाल बिल पर समझ विकसित होगी। पाठक इस बिल को पास करवाने में अपनी सक्रिय भूमिका अदा करेगा। इसलिए यह शोध के लिए उपयोगी है। (शर्मा, 2012)

46) अरोरा, वी.के. (1984) ने अपनी पुस्तक 'राम मनोहर लोहिया एन्ड सोशलिज्म इन इंडिया' में भारत के विवादग्रस्त समाजवादी डॉ लोहिया पर लिख कर एक अच्छा कार्य किया है। यह सुस्पष्ट शैली में लिखी गई है। शुरुआत में लोहिया के जीवन संबंधी संक्षिप्त विवरण दिया है। यह पुस्तक लोहिया की विचार प्रक्रिया को आकार रूप देने वाले अनेक प्रभावों का खुलासा करती है। यह लोहिया का भारत में समाजवादी आन्दोलन में योगदान तथा समाजवाद पर उनकी समझ एवं कार्यक्रम को दर्शाती है। लेखक ने लोहिया के विचार और उद्देश्यों को समग्रता से प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक विशेष रूप से लोहिया के समाजवाद तथा समाजवादी विचारों पर विद्यार्थी तथा शोधार्थियों के लिए अमूल्य कृति है। यह अंक संसार में किसी भी आन्दोलन और समाजवादी सोच के लिए महत्त्वपूर्ण है। (अरोरा, 1984)

47) आशुतोष (2012) ने अपनी पुस्तक 'अन्ना क्रांति' में भारत को बदल देने वाले 13 दिनों की कहानी लिखी है। अगस्त 2011 में मजबूत लोकपाल को लेकर अन्ना हजारे का आमरण अनशन भारत के इतिहास की ऐतिहासिक घटना थी। यह आन्दोलन घोटालों के उजागर होने के बाद मध्यम वर्ग के बीच तेजी से फैला। उसने भारतीय जन मानस को आंदोलित कर दिया। इससे आशा का संचार हुआ कि भ्रष्टाचार ख़त्म हो सकता है।

मशहूर पत्रकार आशुतोष ने स्वयं दिल्ली के मैदान में उपस्थित होकर सारी घटनाओं की जानकारी पुस्तक में दी है। लेखक ने अन्ना के आन्दोलन की मानसिकता को समझाने के लिए जे.पी. के आन्दोलन और गाँधी के सत्याग्रह को याद करते हुए स्वतंत्रता पूर्व के भारत की राजनीति की भी पड़ताल की है। (आशुतोष, 2012)

48) केजरीवाल, ए. (2012) ने अपनी पुस्तक 'स्वराज' को व्यवस्था परिवर्तन और भ्रष्टाचार के खिलाफ घोषणा पत्र के रूप में प्रस्तुत किया है। 2011 को अन्ना के भ्रष्टाचार विरोधी जन आन्दोलन के रूप में जाना जाता है। इस आन्दोलन में अरविन्द केजरीवाल की महत्तवपूर्ण भूमिका रही। अन्ना की मुख्य मांग लोकपाल कानून का क्रियान्वयन था,जो अभी तक संसद में पास नहीं हुआ था। यह पुस्तक इस कानून को हासिल करने का रास्ता बताती है।

लोक पाल पर चर्चा के अलावा यह महत्त्वपूर्ण सुझाव देती है कि सच्चे और सम्पूर्ण स्वराज के लिए देश की जनता और राजनीतिक दलों को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। सरकारी नीतिओं तथा ग्राम पंचायत स्तर पर व्याप्त कमियों का उल्लेख करती है। कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य पर लेखक की टिप्पणियां दी गई हैं। देश की बागडोर को नेताओं के कदमों तले देने की बजाय लोगों के हाथ में दी जावे। इन सभी लक्ष्यों की ओर अग्रसर करने का यह अथक प्रयास है। (केजरीवाल, 2012)

❑❑❑❑❑

द्वितीय अध्याय
नागरिक समाज की अवधारणा

2.1 प्रस्तावना

आजकल अख़बारों, टेलीविजन कार्यक्रमों या सार्वजनिक सभाओं में कई बार 'नागरिक समाज' शब्द पढ़ने, सुनने को मिलता है। अन्य अवसरों पर भी नागरिक समाज शब्द से हमारा सामना होता है। भारत के बारे में यह अनुमान है कि यहाँ लगभग 20 लाख से ज्यादा नागरिक समाज संगठन हैं। (मित्रा, 2001) राजनीति सिद्धांत की अन्य अवधारणाओं की तरह इतिहास के विभिन्न कालों में नागरिक समाज शब्द के अर्थ में कई परिवर्तन होते रहे हैं। साथ ही, समकालीन दौर में इस अवधारणा का प्रयोग करने वाले और इसे आगे बढ़ाने वाले विद्वानों में इसके अर्थ को लेकर कोई आम सहमति नहीं है। हालाँकि सामान्य रूप से इसके विविध अर्थों से यह विचार सामने आता है कि सामाजिक जीवन विभिन्न दायरों में बंटा हुआ है और नागरिक समाज भी इन्हीं में से एक है। इस तरह नागरिक समाज सम्पूर्ण जीवन की बजाय जीवन के एक पहलू का वर्णन करता है। इसलिय आरम्भ से ही यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि नागरिक समाज शब्द का अर्थ समाज से अलग है। सामान्य रूप से यह बात सामने आती है कि परिवार,अर्थव्यवस्था,राजनीति आदि जैसे आयामों की तरह ही नागरिक समाज व्यापक समाज का एक दायरा है। लुई ड्यूमो के अनुसार,समाज को एक ऐसे संगठन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें हमारा जन्म होता है,जिससे हम अनैच्छिक रूप से जुड़े होते हैं और जिसमें हम अपने सभी विचार और शिक्षा हासिल करते हैं। इस तरह,समाज सभी उद्देश्यों को पूरा करने वाला संगठन है। (ड्यूमों, 1986, पृ. 92)

दूसरी ओर,नागरिक समाज एक सामूहिक निकाय के रूप में है,जो समाज से उत्पन्न होता है और यह सीमित तथा विशिष्ट उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कायम रहता है। नागरिक समाज की विभिन्न अवधारणाओं में इसके उद्देश्य, सीमा और प्रभाव-क्षेत्र के बारे में अलग-अलग विचार हैं। ऐसा लगता है कि समकालीन दौर में नागरिक समाज की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं,जिनके बारे में नागरिक समाज की विभिन्न संकल्पनाएँ सहमत हैं। पहला,नागरिक समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक यह है कि इसका प्रभाव- क्षेत्र से अलग और स्वतन्त्र है। दूसरा, नागरिक समाज के प्रभाव क्षेत्र का निर्माण स्वैच्छिक साहचर्यों से होता है। इसलिए,जाति और परिवार जैसे समाज के अनैच्छिक साहचर्य और समूह इसके भाग नहीं हैं। (भार्गव 2005, पृ. 14) जैसा पहले बताया जा चुका है, नागरिक समाज के समकालीन अर्थ का एक लंबा इतिहास है।

माना जाता है कि 17वीं और 18वीं सदी के यूरोप में इस अवधारणा का पहली बार प्रयोग किया गया। उस समय यह अवधारणा उस राजनीतिक और आर्थिक उदारवाद का भाग थी, जो लॉक के विचारों से उभर कर सामने आई। लॉक के विचारों से उभरे इस उदारवाद को स्कॉटिश प्रबोधन के विचारकों द्वारा

ज़्यादा व्यापक बनाया गया । लेकिन इन विचारकों ने इसे एक अलग अर्थ भी दिया। स्कॉटिश प्रबोधन के चिंतकों की श्रेणी में इन विचारकों को शामिल किया जाता है: डेविड ह्यूम, एडम स्मिथ और एडम फर्ग्युसन । 19वीं सदी में जॉर्ज हीगल और कार्ल मार्क्स की रचनाओं में इस अवधारणा को मुख्य स्थान दिया। इसके बाद, एक लम्बे समय तक इस अवधारणा का कोई उपयोग नहीं हुआ। शीत युद्ध समाप्त होने के समय इसका सैद्धांतिक और व्यवहारिक उपयोग शुरू हुआ। युद्ध ख़त्म होने के बाद इसे अकादमिक और राजनीतिक दोनों दुनियाओं में बहुत सफलता मिली। नागरिक समाज की अवधारणा को सबसे पहले पूर्वी यूरोप में मुख्य स्थान मिला। इसके बाद पश्चिम और तीसरी दुनिया के राजनीतिक विमर्शों में भी इसकी प्रसिद्धि धीरे-धीरे बढ़ती गयी। पूर्वी यूरोप में नागरिक समाज का पुनरुत्थान इस मान्यता के आधार पर हुआ कि यह पश्चिमी लोकतांत्रिक सिद्धांत की विरासत का एक मुख्य हिस्सा है। हालांकि पश्चिमी राजनीतिक सिद्धांत में नागरिक समाज की अवधारणा का अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि इसके अर्थ में कई तरह के परिवर्तन हुए हैं। (भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ. 189)

2.2 नागरिक समाज की आवश्यकता

अभी तक सामाज वैज्ञानिक समाज को दो भागों में बाँट रहे थे। एक वह समाज जो अर्थव्यवस्था या बाज़ार व्यवस्था के साथ जुड़ा है, दूसरा वह समाज जो राज्य या सरकार के साथ जुड़ा है। सामाजिक वैज्ञानिकों की सोच बाज़ार और राज्य जैसी जटिल संस्थाओं के संबंधों को समझने में ही सीमित हो गयी और वास्तविक समाज की अवहेलना की गयी। यह तीसरा समाज केवल दार्शनिकों और समाज शास्त्रियों की सोच का विषय रह गया है। अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों का ध्यान इस तीसरे क्षेत्र की ओर नहीं था। इसमें कोई संदेह नहीं है की स्वयंसेवी एवं ऐच्छिक सामाजिक संस्थाएं, गैर सरकारी संगठन, धार्मिक संस्थाओं जैसी संस्थाओं का इन दो क्षेत्रों (राज्य एवं बाज़ार व्यवस्था) में कहीं उपयुक्त स्थान नहीं है । सामाजिक वैज्ञानिकों ने इनकी भूमिका को चाहे पूर्ण से न नकारा हो पर इनकी अवहेलना की है अर्थात इन संस्थाओं ने समाज को बनाये रखने में जो भूमिका निभाई है उसको विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। समाज निर्माण में केवल राज्य एवं बाज़ार व्यवस्था की भूमिका को महत्त्व देना एक संकीर्ण विचारधारा है। इसी सोच के कारण सोवियत संघ टूटा। इसी तरह की टूटन के कारण सामाजिक वैज्ञानिक इस तीसरे क्षेत्र की ओर आकर्षित हुए और नागरिक समाज के लिए नागरिक समूहों और गैर सरकारी ऐच्छिक संस्थाओं की भूमिका को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। इसी कारण इनकी आवशयकता हुई। (गुप्ता, 2004, पृ. 213)

2.3 नागरिक समाज का ऐतिहासिक विकास

पश्चिमी यूरोप में आधुनिक काल की शुरूआत के साथ नागरिक समाज के विचार का विकास हुआ। नागरिक समाज की अवधारणा में सामाजिक जीवन में भिन्नता अथवा विभेदीकरण का विचार शामिल होता है। कार्यात्मक विशिष्टता के नियम के अनुसार, समाज में विभिन्न संस्थाएँ भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं। आधुनिक समाज में पहले के समाज की तुलना में बहुत ज्यादा भिन्नता है। इसका परिणाम

परिवार, अर्थव्यवस्था, नागरिक समाज और राज्य जैसे विभिन्न क्षेत्रों के बीच स्पष्ट विच्छेद के रूप में सामने आता है। आधुनिक समाज की तुलना में पूर्व-आधुनिक समाज में इस अर्थ में कम भिन्नता थी कि वहाँ सामाजिक अस्तित्व के लिए बहुत जरूरी काम एक या बहुत कम संस्थाओं द्वारा किये जाते थे। जनजातीय समाज में सगोत्र व्यवस्था बहुत से सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक कार्यों को पूरा करती थी। मध्य काल में सामंती व्यवस्था बहुत से कामों को पूरा करती थी। भारत में जाति बहुत से सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कामों को पूरा करती थी। भारत में आज भी जाति यह भूमिका निभाती है। दूसरे कई समाज में राजाओं द्वारा अपनी प्रजा के सामाजिक,सांस्कृतिक और आर्थिक जिंदगी से जुड़े अधिकांश कार्य किए गए। ऐसे समाज भी थे जिनके सदस्य यह मानते थे कि वे समाज की सत्ता से पूरी तरह बंधे हुए हैं। इन समाज के लोग यह सोच भी नहीं सकते थे कि वे मातृसत्ता, पितृसत्ता या उस समाज के मुखिया के विरुद्ध कभी खड़े हो सकते हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्नता और एक अलग क्षेत्र के रूप में नागरिक समाज का विचार आधुनिक पश्चिमी राजनीति सिद्धांत से जुड़ा हुआ है।(भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ.190)

2.3.1 आरम्भिक उदारवादी राजनीति सिद्धांत में नागरिक समाज

17वीं शताब्दी में सर्वप्रथम उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत में नागरिक समाज की अवधारणा का प्रयोग किया गया। ग्रीक और रोमन प्राचीन यूरोपीय राजनीतिक सिद्धान्तों में राजनीतिक जीवन को अपने-आप में पूर्ण माना गया। माना जाता था कि केवल राज्य ही राजनीतिक भूमिका अदा करेगा और इसमें समाज के किसी भी दूसरे क्षेत्र की कोई भूमिका नहीं होगी। मध्यकालीन यूरोप में राजनीतिक क्षेत्र को समाज के कई क्षेत्रों में से एक माना जाता था। इस काल में चर्च की राज्य से सबसे अधिक होड़ थी। मध्य काल में प्राधिकार के दो स्रोत थे- चर्च और राजनीतिक प्राधिकार। वास्तव में, इन दोनों प्राधिकारों के मध्य संबंध अस्थाई था और इस बात की पूरी संभावना थी कि इन दोनों क्षेत्रों में अपनी क्षमता और प्रभाव के मुद्दे पर टकराव हो। (टेलर, 2003, पृ. 95-118) मध्य कालीन क्रिश्चियन साम्राज्य के द्वैध स्रोतों की पृष्ठभूमि में आधुनिक राज्य और नागरिक समाज का विचार उत्पन्न हुआ। राज्य और नागरिक समाज के विचार के उत्पन्न होने को दो चरणों में बाँटा जा सकता है। पहले चरण के दौरान राज्य की संस्था की ओर से चर्च के दावों के विरूद्ध लंबा वैचारिक- राजनीतिक संघर्ष हुआ। दूसरे चरण में व्यक्तियों के अधिकार और स्वतंत्रता के लिए राज्य के प्राधिकार के विरूद्ध संघर्ष हुआ। हम इस दूसरे चरण में नागरिक समाज के आधुनिक विचार के ऐतिहासिक मूल को देख सकते हैं। नागरिक समाज के विचार का उभार ऐसे 'स्पेस' या स्थान के रूप में हुआ जहाँ व्यक्ति राज्य के प्राधिकार के विरूद्ध अपने हितों को अभिव्यक्त कर सकते थे। नागरिक समाज की अवधारणा के आरम्भ से लेकर इसकी हाल की व्याख्याओं तक में इस विचार को महत्त्वपूर्ण स्थान हासिल है।

पहले चरण का आरम्भ पुनर्जागरण और धर्म सुधार की ऐतिहासिक घटनाओं से हुआ। इन ऐतिहासिक आंदोलनों के दूरगामी प्रभाव पड़े। इन आंदोलनों ने 16वीं और 17वीं शताब्दियों में उत्पन्न नए

राजनीतिक सिद्धांतों के साथ मिलकर कैथोलिक चर्च के अंतर्राष्ट्रीयवाद के विरूद्ध राज्य के दावों को मजबूत बनाया, जिसके फलस्वरूप प्रभुसत्ता के नए विचार के साथ शक्तिशाली आधुनिक राज्य उभरे। 17वीं सदी में थॉमस हॉब्स और ज्यां बोदां के लेखन में विशिष्ट आधुनिक व्यवस्था स्थापित करने के विचार का विस्तार हुआ। इसमें शक्तिशाली राज्य के विचार की बात की गई, जिसके केंद्र में असीम प्रभुसत्ता हो। हॉब्स के राजनीतिक सिद्धांत में ऐसे सार्वजनिक स्थान की कल्पना की गई, जो स्पष्ट रूप से दो प्रथक प्रभाव क्षेत्रों में बंटा हुआ हो। पहला, राज्य का प्रभाव क्षेत्र; दूसरा, इसके अधीन व्यक्तिगत प्रजा का प्रभाव क्षेत्र। 18वीं और 19वीं सदियों के काल को दूसरे चरण के रूप में देखा जा सकता है। इस काल में राजनीतिक सिद्धांत ने व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता की अवधारणा के माध्यम से सत्ता पर राज्य के एकाधिकार पर प्रश्न उठाना शुरू कर दिया।

पहले चरण में धर्म सुधार आन्दोलन ने यूरोपीय क्रिश्चियन साम्राज्य को कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट चर्च में विभाजन कर आधुनिक राज्य की उत्पत्ति में मुख्य भूमिका निभाई। प्रोटेस्टेंट चर्च ने इस बात पर सहमति जताई कि राज्य को रोमन कैथोलिक चर्च के प्रभुत्व से मुक्ति मिलनी चाहिए। लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धर्म- सुधार आन्दोलन ने पंथनिरपेक्ष के सिद्धांत की उत्पत्ति का रास्ता साफ किया। इसमें इस बात पर जोर दिया गया कि चर्च और राज्य का क्षेत्र अलग- अलग होना चाहिए। इन दोनों को ही अपने सुनिश्चित प्रभाव क्षेत्र तक सीमित रहना चाहिए। राज्य और चर्च के इस विभाजन के कारण धर्म और नैतिकता को व्यक्तियों के निजी चिंताओं के क्षेत्र तक सीमित कर दिया गया। वहीं कानून व्यवस्था और सुरक्षा राज्य के मुख्य कर्तव्य बन गए। दूसरे शब्दों में, राज्य ने स्वयं को धार्मिक प्राधिकारियों के हस्तक्षेप से मुक्त कर लिया। साथ ही, इसने आपस में लड़ते धार्मिक सम्प्रदायों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार, राज्य ने राजनीतिक सत्ता पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया।

राजनीतिक सिद्धांत में प्राकृतिक कानून की परम्परा राज्य और नागरिक समाज के आधुनिक विचारों का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत है। आधुनिक प्राकृतिक कानून सिद्धांतकारों के अनुसार समाज व्यक्तियों से मिलकर बना है। प्राकृतिक कानून ने अपने सिद्धांत में व्यक्ति को समाज के ऊपर प्राथमिकता दी। यह माना गया कि व्यक्ति स्वयं में पूर्ण और विवेकशील है। साथ में, यह भी माना गया कि व्यक्ति समाज से पहले आते हैं और स्वतंत्र हैं। प्राकृतिक कानून सिद्धांत में राज्य के प्राधिकार और वैधता को ऐसे स्वायत्त व्यक्ति के गुणों से उत्पन्न माना गया, जो हर प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक बंधन से मुक्त हो। इन सिद्धांतों से एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया। इससे राजनीतिक प्राधिकार का प्राचीन आधार हट गया, जिसमें राजा की शक्ति के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत को माना जाता था। इसके स्थान पर, इन सिद्धांतों से नया आधार स्थापित हुआ। अब यह माना गया कि संप्रभु का राजनीतिक प्राधिकार ईश्वर के दैवीय स्रोत से उत्पन्न नहीं हुआ। प्राकृतिक कानून के सिद्धांतकारों ने किसी दैवीय स्रोत की सहायता लिए बिना ही राजनीतिक प्राधिकार की व्याख्या करनी आरंभ कर दी। नई सैद्धांतिक चर्चा में व्यक्ति को आरंभिक बिंदु माना गया। इसमें यह भी माना गया कि राज्य व्यक्तियों का संघ है। यह उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत में दो ध्रुवों का आरंभ था। ये दो ध्रुव थे: राज्य और व्यक्ति। तर्क में आए इस परिवर्तन का एक क्रांतिकारी पहलू

भी था। पहलू यह था कि अब राजनीतिक प्राधिकार का स्रोत स्वयं समाज के अंदर स्थित हो गया। बाद में, दूसरे चरण में, इसी आधार पर राज्य की मनमानी शक्तियों पर प्रश्न उठाए गए। (वॉन गीर्क, 1987, पृ. 38) आधुनिक काल के आरंभिक युग में होने वाले ये सैद्धांतिक विकास, नागरिक समाज की समकालीन अवधारणा के विकास की दिशा में मुख्य आरंभिक कदम था। 17वीं सदी में जॉन लॉक ने अपने विचार प्रस्तुत किए, जिन्हें प्राकृतिक कानून सिद्धांत की सबसे महत्त्वपूर्ण आरंभिक अभिव्यक्तियों में से एक माना जा सकता है।(भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ.191)

2.3.2 जॉन लॉक की नागरिक समाज की संकल्पना

जॉन लॉक नागरिक समाज की अवधारणा को प्राकृतिक अवस्था से भिन्न मानते है। प्राकृतिक अवस्था एक ऐसी काल्पनिक स्थिति है, जिसमें मनुष्य राजनीतिक या नागरिक समाज की स्थापना से पहले रहता है। लॉक इसे प्राकृतिक अवस्था के नाम से जानते हैं, क्योंकि इसमें राजनीतिक प्राधिकार और किसी सकारात्मक क़ानून का अभाव होता है। इसमें मनुष्य केवल प्राकृतिक कानून से शासित होता है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें सभी 'मनुष्य स्वाभाविक स्थिति में होते हैं'। लॉक के अनुसार, इस स्थिति में सभी मनुष्य स्वतंत्र और समान होते हैं, क्योंकि वे सब एक ही प्रकार की मनुष्य प्रकृति के सहभागी होते हैं। यह अवस्था प्रकृति के कानून द्वारा शासित होती है। प्रकृति का कानून मनुष्यों को सही या गलत के बुनियादी नियमों के बारे में निर्देश देता है। सभी मनुष्यों के पास विवेक का उपयोग करने की क्षमता होती है। इस विवेक द्वारा प्रकृति के कानून को मान्यता देते हैं और इसका पालन करते हैं। प्राकृतिक अवस्था 'सम्पूर्ण स्वतंत्रता' की स्थिति है। यहाँ मनुष्य प्राकृतिक कानून के द्वारा निश्चित की गई सीमाओं के अन्दर रह सकते हैं। इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र होता है। ऐसे में समानता भी बनी रहती है, क्योंकि किसी भी व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति से अधिक अधिकार नहीं मिले हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पास 'कार्यकारी शक्ति' होती है कि वह प्राकृतिक कानून का उल्लंघन करने वालों को सजा दे पाए। लॉक की प्राकृतिक अवस्था मनुष्य जीवन की शांतिपूर्ण स्थिति है, जहाँ स्वतंत्र और विवेकशील मनुष्य एक- दूसरे की स्वतंत्रता का आदर करते हैं।

धीरे- धीरे किन्ही कारणों से प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्य इससे बाहर निकलकर नागरिक समाज स्थापित करने का निर्णय करते हैं। प्राकृतिक अवस्था की मुख्य समस्या यह है कि विशेष परिस्थतियों में प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने के लिए कोई सार्वजनिक न्यायाधीश नहीं होता है। इस वजह से लोग नागरिक समाज की स्थापना करते हैं। प्राकृतिक अवस्था में, प्राकृतिक कानूनों के विषय में हर मनुष्य के पास कार्यकारी शक्ति होती है। परन्तु किसी सार्वजनिक न्यायाधीश के अभाव में उनके फैसले बहुत अनिश्चित होते हैं। अपने और दूसरे व्यक्तियों के बीच संघर्ष की स्थिति में सही और गलत के बारे में लोगों का निर्णय निष्पक्ष नहीं रहता है। जॉन लॉक के अनुसार, इतिहास के किसी स्तर पर मानव समाज अधिक धनी हो जाता है, इस स्थिति में समाज में धनी और गरीबों के बीच विभाजन हो जाता है। मुख्य रूप से इसका कारण धन का आविष्कार असीमित मात्रा में संपत्ति के संग्रह को संभव बना देता है। समाज में

धनी वर्ग की उत्पत्ति होने के कारण प्राकृतिक अवस्था में लोगों के बीच संघर्ष की संभावना बहुत बढ़ जाती है। वर्तमान विषय के सन्दर्भ में मुख्य बात यह है कि लॉक नागरिक समाज को ऐसे दायरे के रूप में नहीं मानते है, जो राज्य के राजनीतिक दायरे से अलग हो। नागरिक समाज सकारात्मक कानून और निष्पक्ष न्यायाधीश की व्यवस्था कराता है। साथ ही कानून को लागू कराने के लिए दमनकारी उपकरण की स्थाई व्यवस्था भी स्थापित करता है।

लॉक की सैद्धांतिक रूपरेखा में नागरिक समाज की अवधारणा एक ऐसे मानक का कार्य करती है, जिससे तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का मूल्यांकन किया जाता है। लॉक अपने राजनीतिक दर्शन में मुख्य रूप से राजनीतिक सत्ता की निरंकुशता का विरोध करते हैं। उन्होंने अपने जीवन काल में फ्रांस और दूसरे यूरोपीय राज्यों में स्थापित निरंकुश राजतन्त्र का विरोध किया था। वे इंग्लैंड की सत्ता पर राजा के एकाधिकार के भी आलोचक थे और संवैधानिक राजतन्त्र के समर्थक थे। संपूर्ण शक्ति एक व्यक्ति के पास केन्द्रित होने से लोग नुकसान में थे। इस व्यवस्था में लोगों के पास ऐसा कोई प्रभावकारी साधन नहीं था, जिसके द्वारा वे राजनीतिक सत्ता पर नियंत्रण रख पाते और उसे उसके कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराते। लॉक के अनुसार, इस तरह के राज्य को प्राकृतिक अवस्था से अच्छा नहीं माना जा सकता और यह नागरिक समाज की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता है। लॉक की नागरिक समाज की संकल्पना में हम एक मानकीय झुकाव पाते हैं। दूसरे शब्दों में, लॉक अपने समय में स्थित राज्यों का मूल्यांकन करने में नागरिक समाज की संकल्पना का प्रयोग करते हैं। इस तरह, लॉक मानते है कि अधिनायकवादी शासन नागरिक शासन की श्रेणी में नहीं आते। उनके अनुसार प्रजा के पास यह वैध अधिकार है कि वह अधिनायकवादी और निरंकुश शासकों के विरुद्ध विद्रोह करे।

स्पष्टत: लॉक के राजनीतिक सिद्धांत में ऐसे राजनीतिक प्राधिकार के विचार की उत्पत्ति होती है, जिसे लोग वैध तरीके से चुनौती दे सकते हैं। लॉक मानते हैं कि यदि राजनीतिक प्राधिकार तानाशाही करने लगे, या वे प्रजा के विश्वास को कायम करने में नाकाम रहे, तो उसे चुनौती देना वैध है। इस विचार के साथ दूसरा चरण शुरू होता है। यहाँ मुख्य रूप से शक्ति पर राज्य के एकाधिकार पर प्रश्न उठाने पर जोर दिया जाता है। लॉक के समय से ही राजनीतिक सिद्धांत ने राज्य की निरंकुशता के खिलाफ एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपना लिया। ऐतिहासिक रूप से यह वह युग था जब यूरोप के अधिकाँश राज्य शक्तिशाली राजाओं द्वारा शासित होते थे। इन्हें निरंकुश राज्यों के रूप में जाना जाता था। इन राज्यों को 18वीं सदी के राजनीतिक सिद्धांतों के द्वारा और अधिक चुनौती मिली। इस युग में बौद्धिक गतिविधियाँ बहुत बढ़ी। इस युग को प्रबोधन काल के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार, लॉक निरंकुश राज्यों के विरुद्ध प्रबोधन काल के संघर्ष के आध्यात्मिक पिता बन गए। (लॉक, 2002, पृ. 1- 59)

2.3.3 राजनीतिक - अर्थव्यवस्था का आरंभ और नागरिक समाज की प्रबोधनकालीन संकल्पना

नागरिक समाज की प्रबोधनकालीन संकल्पना 18वीं सदी के अंतिम दशकों में अर्थव्यवस्था के क्षेत्र के उदय से निकटता से जुड़ी हैं। औद्योगिक क्रान्ति के कारण पूंजीवादी राजनीतिक-अर्थव्यवस्था की संस्थाओं ने पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में मुख्य स्थान हासिल कर लिया। पूँजीवाद की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इनसे अर्थव्यवस्था के एक स्वतन्त्र दायरे की स्थापना की, जिसमे केवल उसका अपना क़ानून चलता था। अर्थव्यवस्था शब्द का अंग्रेजी रूपांतरण इकॉनोमी ग्रीक शब्द ईकोस से निकला है। ईकोस का अर्थ होता है- घर का प्रबंधन। लेकिन इस युग में इस शब्द को नया अर्थ मिल गया। इसके नए अर्थ के अनुसार, यह राज्य और परिवार के बीच एक ऐसा मध्यवर्ती क्षेत्र है, जहाँ वाणिज्य और उत्पादन की गतिविधियाँ होती हैं। पहले अर्तव्यवस्था घर के निजी क्षेत्र तक सीमित थी। अब यह सार्वजनिक क्षेत्र में आ गयी। साथ ही, इसने घरेलू क्षेत्र और राज्य, दोनों से ही स्वतंत्रता की मांग की। सामंती समाज में उत्पादन मुख्य रूप से खेती पर आश्रित था। इसके विरुद्ध, नयी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के उत्पादन में, बुनियादी रूप से, वाणिज्य, व्यापार और बाज़ार में वस्तुओं के आदान-प्रदान को बढ़ावा दिया गया। अब उत्पादन के सामाजिक कार्य, वस्तुओं के उत्पादन और वितरण सम्बन्धी रोज़गार का निजीकरण हो गया। दूसरे शब्दों में बाज़ार में लेनदेन की स्वतन्त्र और अबाधित कानूनी परिस्थितियां स्थापित हुई। इस कारण वस्तुओं का वितरण और रोज़गार देने के कार्य ज़्यादातर गैर-राजनीतिक साधनों द्वारा किये जाने लगे। पूर्व आधुनिक दौर में विभिन्न संसाधनों और श्रम का वितरण राजनीतिक प्राधिकार के निर्देशों, वंशानुगत कर्तव्य, परंपरा या धार्मिक दायित्व के अनुसार होता था। परन्तु अब यह वितरण खुले बाज़ार में स्वतन्त्र विनिमय के द्वारा होने लगा।

एडम स्मिथ, एडम फर्ग्युसन और डेविड ह्यूम जैसे स्कॉटिश प्रबोधन के विचारकों ने इस परिवर्तनों के महत्त्व पर विचार किया और इनसे जुड़े सिद्धांत बनाए। एडम स्मिथ ने राजनीतिक-अर्थव्यवस्था के अपने प्रभावकारी सिद्धांत का विकास किया, जिसमे उन्होंने यह तर्क दिया कि अर्थव्यवस्था की प्रक्रियाएं अपने नियमों से शासित होती हैं। स्मिथ ने इस बात पर जोर दिया कि अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया को राज्य के नियंत्रण से मुक्त रखना चाहिए। उन्होंने लेसेज़ फेयर या न्यूनतम हस्तक्षेप करने वाले राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की। उनके अनुसार राज्य का काम क़ानून और व्यवस्था, संचार, मुद्रा और सुरक्षा तक ही सीमित रहना चाहिए।

राज्य से अलग संकल्पना के रूप में नागरिक समाज की उत्पत्ति 'राजनीतिक-अर्थव्यवस्था' के इस नए विचार के साथ ही हुआ। इस नयी संकल्पना के अनुसार, वाणिज्य की गतिविधियाँ 'नागरिक समाज' में परिष्करण और शिष्टाचार का स्रोत है, क्योंकि ये बाज़ार में पूरी तरह से अपरिचित लोगों को जोड़ती है। दूसरी ओर राज्य विधि रूप से क़ानून और न्याय के क्षेत्र में अपना एकाधिकार स्थापित कर सकता है। दरअसल, इसका कार्य शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा बनाए रखने तक सीमित हो जाता है। इस तरह,

स्कॉटिश प्रबोधन के विचार के अनुसार, आधुनिक वाणिज्यवादी समाज पूंजीवादी राजनीतिक-अर्थव्यवस्था से उत्पन्न हुआ और इसे ही नागरिक समाज का नाम दिया गया है। इस संकल्पना के अनुसार, नागरिक समाज का क्षेत्र स्पष्ट रूप से राजनीतिक समाज या राज्य से अलग होता है। लॉक की संकल्पना में राजनीतिक समाज और नागरिक समाज या राज्य के बीच इस तरह का अलगाव नहीं दिखाई देता। इसलिए स्कॉटिश प्रबोधन की नागरिक समाज की संकल्पना को लॉक की संकल्पना से आगे बढ़ने के रूप में देखा जा सकता है। इसके साथ ही, इसमें व्यक्तिवाद को नागरिक समाज की नैतिक बुनियाद माना गया। प्रबोधनकालीन विचारकों ने इस दर्शन को 17वीं सदी के चिंतन से, ख़ास तौर पर लॉक के विचारों में पाया। प्रबोधनकालीन अवधारणा में व्यक्तियों को ऐसा स्वायत्त सामाजिक कर्ता माना गया, जो नागरिक समाज में निजी हितों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। साथ ही, इसमें यह भी माना गया है कि ये व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वार्थी हितों से प्रेरित नहीं होते हैं। यह माना गया कि इन व्यक्तियों में प्यार और हमदर्दी की भावना होती है। ये सामाजिक जुड़ाव की भावना रखते हैं और अपनी आवश्यकताओं के लिए ये एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। इन विशेषताओं ने नागरिक समाज के ऐसे विचारकों को नैतिक और मनोवैज्ञानिक आधार उपलब्ध कराया, जिसमें इसे निजी व्यक्तियों की सामाजिक अंत: क्रिया के स्थान के रूप में पाया गया।

ऐतिहासिक रूप से स्वतन्त्र आर्थिक क्षेत्र के विकास ने राजनीति के नए व्यवहारों, विशेषकर प्रतिनिधि मूलक लोकतंत्र की संस्थाओं के क्रमिक विकास में मुख्य भूमिका निभाई। इस युग में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का प्रभुत्व धीरे-धीरे बढ़ता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ऐसे वर्ग का निर्माण हुआ, जिसकी कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका नहीं थी। परन्तु नयी अर्थव्यवस्था में इस वर्ग की मुख्य भूमिका थी और इसने सामाजिक प्रतिष्ठा और संपत्ति प्राप्त की। इस वर्ग में व्यापारी, बैंकर और उद्योगपति शामिल थे। इसके अतिरिक्त, राज्य के लिए काम करने वाले लोगों का एक मध्य वर्ग भी था। इसमें नौकरशाह और क़ानून के व्यवसाय में लगे लोग शामिल थे। इस वर्ग का भी सामाजिक प्रभाव और प्रतिष्ठा थी, लेकिन इसके अन्दर इस बात पर असंतोष था कि इसकी कोई स्पष्ट राजनीतिक भूमिका नहीं थी। सामूहिक रूप से इन वर्गों को बुर्जुआ कहा गया। 18वीं और 19वीं सदी की राजनीति में बुर्जुआ की राजनीतिक भूमिका धीरे-धीरे बढ़ती गयी। हालांकि इन्हें एक खास ऐतिहासिक नियति का सामना करना पड़ा। बुर्जुआ वर्ग ने राज्य के वित्तीय खर्चों का बोझ उठाया, लेकिन इन्हें राजनीतिक प्रक्रिया में हिस्सा लेने की अनुमति नहीं दी गई। राजनीतिक निर्णयों पर राजाओं और सामंतों का एकाधिकार बना रहा। स्वतंत्रता, समानता और कानून के शासन के नए विचारों के प्रसार होने के साथ ही इस वर्ग ने राज्य के निरंकुश दावों का विरोध किया और राज्य की शक्तियों को सीमित करने की तरफदारी की। बुर्जुआ वर्ग का यह विचार विभिन्न तरह के आंदोलनों से अभिव्यक्त हुआ। इन आन्दोलनों ने कई तरह के सार्वजनिक 'स्पेस' का निर्माण किया। ये 'स्पेस' अलग-अलग रूपों में सामने आए। ये सार्वजनिक 'स्पेस' क्लब, कॉफी हॉउस, सैलून, लाइब्रेरी समूह और साहित्यिक समूहों के रूप में सामने आए। आरंभ में ये सभी स्पेस सामाजिक निकायों के रूप में थे। इनका कोई स्पष्ट राजनीतिक उद्देश्य नहीं था। इनके एजेंडे में स्थापित व्यवस्था को चुनौती देने का विचार शामिल नहीं था। इन समूहों ने सत्ता की स्थापित व्यवस्था को चुनौती दिए बिना ही निरंकुश व्यवस्था की

समीक्षा की। इस प्रकार उन्होंने निरंकुश व्यवस्था की वैधता को कमजोर किया। इस दौर में संचार और विचार अभिव्यक्ति के नए साधन, जैसे समीक्षात्मक लेख, समाचार पत्र और पुस्तकें आदि उभरकर सामने आए और इन्होंने जनमत के निर्माण में मुख्य भूमिका निभाई। ये आरंभिक नागरिक समाज के 'स्पेस' थे, जहाँ राज्य के प्रभाव क्षेत्र के बाहर राजनीतिक मुद्दों पर विचार- विमर्श शुरू हुआ। सामान्य तौर पर इसका दृष्टिकोण राज्य का विरोधी था। (कोसेलेक, 1988, पृ. 66)

एलेक्स डी ताकविल ने अपनी पुस्तक डेमोक्रेसी इन अमेरिका में इस बात पर जोर दिया दिया है कि 19वीं सदी में विभिन्न सार्वजनिक साहचर्यों ने राज्य की तानाशाही के विरूद्ध और व्यक्तियों की स्वतंत्रता की सुरक्षा में मुख्य भूमिका अदा की। ताकविल इस बात को मानते हैं कि लोकतान्त्रिक सरकारों में समाज में समानता को बढ़ाने की प्रवृति होती है। महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि वे यह भी मानते हैं कि लोकतान्त्रिक सरकारों द्वारा समानता को बढ़ावा देने से नागरिकों की स्वतंत्रता को खतरा उत्पन्न हो जाता है। वे यह तर्क देते हैं कि लोकतान्त्रिक देशों में हैसियत पर आधारित पुराने पद सोपान और सामाजिक एकजुटता के पुराने रूपों में धीरे- धीरे समाप्त होने की प्रवृति होती है। साथ में इन देशों में समानता के लिए एक सामान्य इच्छा भी होती है। धीरे- धीरे इन देशों में समाज का ध्रुवीकरण हो जाता है। इसमें एक तरफ शक्तिशाली केंद्रीकृत राज्य होता है, तो दूसरी ओर अलग- थलग पड़े लोग होते हैं। ताकविल के अनुसार, यदि सामाजिक उपकरणों के द्वारा रोका नहीं गया, तो अलग- थलग पड़े परिवारों की सामाजिक स्थिति राज्य की निरंकुश प्रवृतियों को बढ़ावा देगी। इस स्थिति में लोकतान्त्रिक शासन को निरंकुश शासन में बदलने से रोकने के लिए सिर्फ एक ही तरह की संस्था सफल हो सकती है। इस तरह की संस्था में वे साहचर्य शामिल हैं जिनका निर्माण व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपनी पहल से करते हैं। उदाहरण के तौर पर इस तरह के साहचर्य राजनीतिक दल, चर्च, साहित्य, विज्ञान और मनोरंजन से जुड़े समूह और दूसरे पेशेवर समूह को मानते हैं। ये साहचर्य शक्तिशाली राज्य और व्यक्तिगत परिवारों के मध्य स्थित होते हैं। ताकविल के अनुसार ये साहचर्य कई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। पहला, ये शैक्षिक कार्य कर सकते हैं। ये नागरिकों में सदगुण और लोकतान्त्रिक मूल्यों का विकास करने में सहायता कर सकते हैं। इससे नागरिकों को संकुचित निजी हितों से आगे बढ़ने में मदद मिल सकती है। इस तरह ये साहचर्य नागरिकों के बीच एकजुटता स्थापित करते हैं। दूसरा, ये साहचर्य राज्य के प्राधिकारियों द्वारा अपनी शक्ति के दुरूपयोग के खिलाफ गारंटी देने का कार्य कर सकते हैं। इस तरह, ये राज्य के प्राधिकारियों को नागरिकों के समक्ष जवाबदेह बनाते हैं। (भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ. 193- 194)

2.3.4 नागरिक समाज की प्रबोधनकालीन संकल्पना की सीमाएँ

19वीं सदी में, हीगल और मार्क्स ने नागरिक समाज की दो प्रभावशाली समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। नागरिक समाज की प्रबोधनकालीन अवधारणा में इसे स्व- नियंत्रित क्षेत्र के रूप में देखा गया। यह माना जाता है कि नागरिक समाज का अपना कानून और काम करने का अपना ढंग होता है। प्रबोधनकालीन चिंतकों को यह आशा थी कि नागरिक समाज नैतिक रूप से क्रियाशील होगा। दूसरी तरफ, यह माना गया

कि राज्य का काम यह है कि वह ऊपर से कानून व्यवस्था को बनाए रखे। यह माना जाता है कि नागरिक समाज में व्यक्ति दोहरी भूमिका अदा करेंगे। व्यक्तियों को बाजार- अर्थव्यवस्था के व्यक्तियों के रूप में देखा गया, जो अपने स्वयं के हित को अधिक से अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी तरफ, यह भी माना गया कि वे समय- समय पर पूरे समाज के हितों की रक्षा करने के लिए नागरिकों की भूमिका निभाएंगे। हीगल और मार्क्स दोनों ने ही नैतिकता और कानून के बीच विभाजन की आलोचना की और इस विभाजन से उभरने के लिए अपने- अपने तरीके से प्रयत्न किया। (भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ. 195)

2.4 हीगल की नागरिक समाज की संकल्पना

19वीं सदी के प्रबोधनकालीन विचारकों की तरह हीगल भी नागरिक समाज को बाजार में शामिल लोगों से मिलकर बना हुआ मानते हैं। इसलिए नागरिक समाज को ऐसी व्यवस्था के रूप में माना जाता है, जिसमे औपचारिक रूप से स्वतंत्र और समान व्यक्ति कार्य और व्यापार की खातिर एक- दूसरे से जुड़ते हैं। इसके अतिरिक्त, इसमें ऐसी नागरिक संस्थाएँ भी शामिल हैं, जो इस तरह की व्यवस्था को बनाए रखनें के लिए आवश्यक हैं। अर्थात इसमें बाजार, न्यायालय, न्याय का प्रशासन और व्यापार कॉरपोरेशन जैसी संस्थाए शामिल हैं। हीगल नागरिक समाज को 'जरूरतों की व्यवस्था' मानते हैं, जहाँ व्यक्ति स्वतंत्र रूप से चयन किए गए अपने आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह व्यक्तियों की पारस्परिक अंतनिर्भरता की व्यवस्था भी है, जहाँ जरूरतों को पूरा करने के लिए मुख्य साधन विनिमय है। हीगल नागरिक समाज की केवल एक बात को समस्या के रूप में मानते हैं कि इसमें हर व्यक्ति केवल अपने हितों की फिक्र करता है। कोई भी व्यक्ति पूरे समाज की चिंता नहीं करता है। हीगल नागरिक समाज को ऐसे दायरे के रूप मानता है, जहाँ व्यक्तियों के विशिष्ट हित परस्पर टकराते हैं। (भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ. 195)

2.5 नागरिक समाज की समीक्षा और राज्य की भूमिका

हीगल के अनुसार, आधुनिक समाज तीन दायरों में बंटा हुआ है- राज्य, नागरिक समाज और परिवार। ये तीनों संस्थाएँ तीन अलग- अलग सिद्धांतों के आधार पर संगठित हैं। हीगल के अनुसार, परिवार प्यार और विश्वास पर आधारित निजी जीवन का क्षेत्र है और यहाँ व्यक्तिगत अहं के लिए कोई जगह नहीं है। इसके विपरीत, नागरिक समाज और राज्य दोनों ही व्यक्तियों की 'सार्वजनिक' गतिविधियों के क्षेत्र हैं। नागरिक समाज वह क्षेत्र है, जहाँ व्यक्ति खुले बाजार में अपने निजी या वर्गीय हितों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। दूसरी ओर, राज्य आधुनिक नागरिक समाज द्वारा उत्पन्न की गई समस्याओं को दूर करने के लिए सामने आता है। हीगल ने नागरिक समाज की समीक्षा के आधार पर इसका औचित्य बताया है।

हीगल का मानना है कि नागरिक समाज व्यक्तिगत अहंवाद के सिद्धांत पर आधारित है। इसलिए, यह ऐसे विभाजन उत्पन्न करता है, जो पहले से उपस्थित नहीं होते हैं और इनसे उभरना आवश्यक होता है। नागरिक समाज को केवल अल्प आजादी मिलती है। हीगल के अनुसार पूर्ण आजादी एकता की मांग

करती है। नागरिक समाज की संस्थाएँ व्यक्तियों को आत्म निर्णय के लिए बहुत कम 'स्पेस'देती हैं। इन संस्थाओं द्वारा प्रदान की गई आजादी औपचारिक और सारहीन होती है। नागरिक समाज में प्राकृतिक और सामाजिक दोनों ही तरह से स्वीकृत आवश्कताओं और इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए 'स्पेस' होता है। नागरिक समाज लोगों को यह भी निर्देश देता है कि वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रभावशाली साधनों का चयन करें। यहाँ लोगों की आजादी पर केवल एक ही पाबंदी होती है कि उन्हें दूसरों की इसी तरह की आजादी का सम्मान करना होगा। लेकिन राज्य से जिस विच्छेद ने लोगों को उनकी पारंपरिक सामाजिक भूमिकाओं से मुक्ति दी थी, वह कुछ विशेष तरह की समस्याएँ भी पैदा करती है। नागरिक समाज में कायम सामाजिकता व्यक्तियों के बीच अलगाव उत्पन्न करती है। सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के कारण संकीर्ण हितों का उभार होता है। हीगल के अनुसार नागरिक समाज में एकता नहीं होती है और वे इसमें एकता लाने पर जोर देते हैं। नागरिक समाज के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों से उभरने के लिए दूसरी तरह की सामाजिकता की आवश्यकता होती है। हीगल के दर्शन में राज्य इस कार्य को पूरा करता है।

हीगल राज्य को नागरिक समाज से ऊपर एक समुदाय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। हीगल के अनुसार व्यक्ति नागरिक समाज से उत्पन्न होने वाले विभाजनों से राज्य के माध्यम से ही उभर सकते हैं। हीगल राज्य के उदारवादी सिद्धांत की आलोचना करते हैं। ऐसा माना जाता है कि राज्य का कार्य न्यूनतम होना चाहिए, राज्य का काम व्यक्तियों की स्वतंत्रता और संपत्ति की सुरक्षा तक सीमित होना चाहिए। हीगल राज्य को 'गैर- न्यूनतम राजनीतिक दायरे' के रूप में देखते हैं। अर्थात हीगल के अनुसार राज्य सर्वव्यापी है। राज्य का स्थान नागरिक समाज से ऊपर है। राज्य का आधार यह है कि इसमें रहने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता यह है कि वे समाज के दूसरे सदस्यों के साथ मिलकर रहें। वे राज्य को केवल व्यक्तियों के स्वहित की सुरक्षा के साधन के रूप में नहीं देखते। राज्य एक ऐसा दायरा है, जहाँ व्यक्ति अपने स्वहित के साथ निजी व्यक्ति के रूप में प्रवेश नहीं कर सकते। वे यहाँ पूर्ण समुदाय के सामान्य हितों की चिंता करने वाले नागरिकों के रूप में प्रवेश करते हैं।(भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ. 195-196)

2.6 मार्क्सवादी परंपरा में नागरिक समाज: कार्ल मार्क्स एवं एंटोनियो ग्राम्शी

हीगल से सहमति व्यक्त करते हुए मार्क्स भी यह दावा करते हैं कि आधुनिक समाज में 'नागरिक के रूप में आदमी' और 'निजी व्यक्ति के रूप में आदमी' के बीच बुनियादी राजनीतिक विरोधाभास है। 18वीं सदी में रूसो ने नागरिक और निजी व्यक्ति के बीच विभाजन की आलोचना की थी, जिसका फ्रांसिसी क्रांति पर प्रमुख असर हुआ। रूसो ने यह तर्क दिया कि नागरिकों का राजनीतिक समाज बनाने के लिए संकुचित हितों के प्रभाव को रोकने की आवश्यकता है। मार्क्स के नागरिक समाज और पूँजीवादी राजनीतिक- अर्थव्यवस्था संबंधी लेख में भी इस विचार को देखा जा सकता है। लेकिन नागरिक समाज और राज्य के बीच संबंधों के बारे में मार्क्स का विचार हीगल के विचार से अलग था। हीगल की आलोचना करते हुए मार्क्स यह तर्क देते हैं कि राज्य नागरिक समाज से ऊपर स्थित होकर, नागरिक समाज

में निजी हितों की अभिव्यक्ति के विरुद्ध सार्वजनिक हितों की रक्षा नहीं कर सकता। मार्क्स के अनुसार, आधुनिक राज्य नागरिक समाज के विशिष्ट हितों से मुक्त नहीं होता है, न ही यह इसके प्रति तटस्थ होता है। अत: राज्य की प्रकृति को जानने के लिए नागरिक समाज की प्रकृति को जानना आवश्यक है। मार्क्स के अनुसार नागरिक समाज के क्षेत्र में सम्पूर्ण पूर्व- राज्य आर्थिक और सामाजिक जीवन शामिल होता है। नागरिक समाज की वास्तविकता को राजनीतिक- अर्थव्यवस्था के विश्लेषण द्वारा जाना जा सकता है। (फेमिया, 2001, पृ. 135)

नागरिक समाज में औपचारिक समानता हो सकती है, परन्तु यह स्वयं वर्गों में विभिजित होता है। इस वजह से नागरिक समाज के सदस्यों में असमानता रहती है। मार्क्स मानते है कि पूंजीवाद में पूंजीपति वर्ग का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है। राज्य एक ऐसा उपकरण है, जिसके द्वारा पूंजीपति वर्ग मजदूर वर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित रखता है। राज्य से जिस सामान्य हित की सुरक्षा करने की आशा की जाती है, पूंजीपति वर्ग उसकी अवहेलना करता है। यह सामान्य हित की अपेक्षा अपने वर्ग हितों को महत्त्व देता है। इस तरह, नागरिक समाज में राजनीतिक जीवन आर्थिक जीवन के अधीन रहता है। मार्क्स के अनुसार इस तथ्य को बुर्जुआ राजनीति सिद्धांतकार भी स्वीकार करते हैं। मार्क्स मानते हैं कि स्वार्थी हितों और निजी संपत्ति के सामान्य प्रभाव के कारण आधुनिक नागरिक समाज में जीवन बुनियादी रूप से समाज विरोधी जीवन होता है। उनका मानना है कि इस समाज विरोधी जीवन में ही आधुनिक राज्य की बुनियाद निहित है। इसलिए राज्य नागरिक समाज पर नियंत्रण नहीं रखता है, बल्कि नागरिक समाज राज्य की प्रकृति को तय करने वाले कारक की भूमिका अदा करता है। दूसरी तरफ, हीगल मानते हैं कि नागरिक समाज में वर्गों का अस्तित्व राज्य के उच्चतर नैतिक स्तर पर समुदायों के एकीकरण में बाधा नहीं डालता है। मार्क्स के अनुसार यह विश्वास करना एक भ्रम है कि व्यक्तियों के लिए यह संभव है कि वे कुछ खास अवसरों पर अपने स्वार्थी,अहमवादी हितों को एक ओर रखकर, सार्वजनिक भावना रखने वाले नागरिकों के रूप में राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा ले सकते हैं। इस तरह का भ्रम एक झूठा आवरण भी उपलब्ध कराता है, जो उन हितों की वास्तविक पहचान को छिपाता है, जिन्हें आर्थिक और राजनीतिक दायरों में प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। मार्क्स के अनुसार, पूंजीवादी नागरिक समाज को समाप्त किये बिना वास्तविक नागरिकता और वास्तविक राजनीतिक जीवन संभव नहीं है। मुख्य बात यह है कि मार्क्स के लिए पूँजीवादी नागरिक समाज को समाप्त करने का अर्थ है- उत्पादन के पूँजीवादी संबंधों को समाप्त करना। मार्क्स के अनुसार जब तक उत्पादन के पूंजीवादी संबंधों का अस्तित्व है, तब तक राजनीतिक दायरे में संकीर्ण निजी हित हावी रहेंगे। सिर्फ श्रमिक वर्ग की क्रांति द्वारा ही ऐसी स्थिति स्थापित की जा सकती है, जो विशिष्ट हितों की तानाशाही से आजाद हो।

20वीं सदी के पूर्वाद्ध में इटली के मार्क्सवादी विचारक एंटोनियो ग्राम्शी ने नागरिक समाज की संकल्पना को नया आयाम प्रदान किया। उन्होंने वर्ग संघर्ष के मार्क्स के विचार को बनाए रखा, लेकिन वर्ग एवं संघर्ष दोनों पर ही समान रूप से ध्यान दिया। ग्राम्शी मानते हैं, राजनीति एक तरह का संघर्ष है। उन्होंने बहुत सी राजनीतिक प्रक्रियाओं के लिए सैन्य अभियानों की शब्दावली का प्रयोग किया। ग्राम्शी के

अनुसार सैन्य अभियानों के विपरीत राजनीति की लड़ाई केवल बल प्रयोग तक सीमित नहीं रहती है। इसमें किसी संदेह की गुंजाइश नहीं कि इस संघर्ष में बल प्रयोग किया जाता है। परन्तु इसमें विचारों के क्षेत्र में होने वाली लड़ाई अधिक महत्त्वपूर्ण है। ग्राम्शी के अनुसार नागरिक समाज एक ऐसा 'स्पेस' है, जहाँ विचारों की लड़ाई होती है। ग्राम्शी के अनुसार सेना और पुलिस राज्य के दमनकारी यन्त्र का हिस्सा हैं। लेकिन वे इस बात पर जोर देते हैं कि केवल राज्य के दमनकारी यन्त्र पर नियंत्रण होने के कारण शासकों का प्रभुत्व स्थापित नहीं होता है। शासक वर्गों का आधिपत्य कायम रहने के लिए यह आवश्यक है कि वे नागरिक समाज में प्रभुत्वशाली बौद्धिक और नैतिक नेतृत्व प्राप्त करें।

ग्राम्शी का मानना है कि, शोषणकारी शासक- वर्गों की वैधता कायम करने के लिए यह आवश्यक है कि पूँजीवादी समाज के शोषणकारी वर्ग- संबंधों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए, मानो वे सही और स्वाभाविक हों। दूसरे शब्दों में, शासक वर्ग द्वारा अपनी वैधता कायम रखने के लिए वे श्रमिक वर्ग में उनकी सामाजिक स्थिति के बारे में गलत समझ को बढ़ावा दें। मनुष्य स्वयं को आदर्शों और मूल्यों के संबंध में परिभाषित करते हैं। इसलिए शासक वर्गों के लिए यह जरूरी है कि वे उन संस्थाओं पर अपना नियंत्रण बनाए रखें, जो मूल्यों, आदर्शों और विचारों का निर्माण करती हैं। ग्राम्शी के अनुसार, नागरिक समाज की विभिन्न संस्थाओं द्वारा यह कार्य किया जाता है। इसमें राजनीतिक दल, चर्च, ट्रेड यूनियन, विश्वविद्यालय, प्रेस, प्रकाशन समूह और सभी तरह के स्वैच्छिक साहचर्य आते हैं। ये संस्थाएँ प्रभुत्वशाली वर्ग की विचारधारा के प्रचार- प्रसार द्वारा अधीनस्थ वर्गों पर इसकी सांस्कृतिक और नैतिक सर्वोच्चता को स्थापित करती हैं। इस तरह, शासक वर्ग अधीनस्थ वर्गों पर अपनी अधीनता के लिए सहमति प्राप्त कर लेता है। जिन प्रक्रियाओं द्वारा प्रभुत्वशाली वर्ग इस बौद्धिक और नैतिक नेतृत्व को प्राप्त करता है, उसका वर्णन करने के लिए ग्राम्शी 'हेजिमनी' शब्द का उपयोग करते हैं। 'हेजिमनी' अवधारणा के द्वारा वे इस बात पर जोर देते हैं कि शासक वर्ग अधीनस्थ वर्गों से सहमति प्राप्त करने के लिए राज्य से अधिक नागरिक समाज की संस्थाओं पर निर्भर होते हैं। केवल उसी समय राज्य के दमनकारी यन्त्र का उपयोग किया जाता है, जब स्वत: स्फूर्त सहमति असफल हो जाती है। ग्राम्शी के अपने राजनीतिक व्यवहार में 'हेजिमनी' की अवधारणा का रणनीतिक महत्त्व है। ग्राम्शी का तर्क है कि श्रमिक वर्गों और खेतिहर लोगों द्वारा सही तरीके से क्रांतिकारी संघर्ष के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ नागरिक समाज में शासक वर्गों की 'हेजिमनी'को चुनौती दें। (भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ. 196 -197)

2.7 नागरिक समाज की संकल्पना का समकालीन पुनरुत्थान

नागरिक समाज की अवधारणा का पुनरुत्थान पूर्वी यूरोप के देशों में हुआ। पूर्वी यूरोप के देशों विशेषतौर पर पोलैंड में निरंकुशवादी कम्युनिस्ट राज्यों के विरूद्ध जनसंघर्षों ने नागरिक समाज के पुनरुत्थान में मुख्य भूमिका निभाई। पोलैंड के लोग वहाँ के तानाशाही शासन से आजादी चाहते थे, इसलिए उन्होंने 'सॉलिडैरिटी' नाम से आन्दोलन आरंभ किया। इसने पश्चिम देशों के नागरिक समाज के मॉडल को अपनाया और राज्य से अलग आजादी का एक स्वतंत्र दायरा कायम करने पर जोर दिया।

चेकोस्लोवाकिया और हंगरी जैसे पूर्वी यूरोप के दूसरे देशों में भी इस तरह के आन्दोलन आरंभ हुए। इन देशों के बुद्धिजीवियों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने दमनकारी राज्यों के विरूद्ध नागरिकों को संगठित करने के लिए पश्चिमी नागरिक समाज की छवि की सहायता ली, जो राज्य के दमन का शिकार नहीं थी। साथ ही, इन्होंने सामाजिक निजता के क्षेत्र पर फिर से अपना दावा किया। इस आन्दोलन के दौरान असंतुष्ट नेताओं और कार्यकर्ताओं ने स्वतंत्र अभिव्यक्ति और स्वतंत्र रूप से साहचर्य बनाने के अपने अधिकार पर दबाव देना आरंभ किया। इन अधिकारों के पीछे उनकी सोच यह थी कि वे इनके द्वारा अपनी राजनीतिक गतिविधियों के लिए एक सार्वजनिक 'स्पेस' प्राप्त कर सकते हैं। इन आंदोलनों ने अपने राज्य विरोधी अभियान में नागरिक समाज की अवधारणा की उपयोगिता को महसूस किया। इस आन्दोलन के नेताओं और उनके समर्थकों ने अपने देश में स्थापित पार्टी- राज्य के खिलाफ नागरिक समाज की अवधारणा का प्रयोग किया। कम्युनिस्ट देशों में राज्य के विरूद्ध इस प्रकार की प्रतिक्रिया का मुख्य कारण इन क्षेत्रों में नौकरशाही जैसी संस्थाओं का क़ानूनी अधिकार-क्षेत्र और प्रभावकारी नियंत्रण ज्यादा बढ़ गया था। वास्तव में इन देशों में राज्य की संस्थाएँ सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में हावी हो गई थीं। इस तरह के राज्य के विघटन के पश्चात नागरिकों की सुरक्षा के लिए इस बात को आवश्यक माना जाने लगा कि राज्य के क़ानूनी क्षेत्राधिकार के बाहर नागरिक समाज की संस्थाओं को महत्त्व दिया जाए।

लगभग इसी समय, पश्चिम यूरोप के देशों और संयुक्त राज्य अमरीका में भी नागरिक समाज के विचारों को महत्त्व मिलने लगा। लेकिन यहाँ प्रमुखता मिलने का कारण पूर्वी यूरोप से अलग था। पश्चिम यूरोप के देशों और संयुक्त राज्य अमरीका में द्वितीय विश्व युद्ध पश्चात नागरिकों में राजनीतिक उदासीनता बढ़ गई थी। राजनीतिक सहभागिता में भी कमी आ गई थी और राजनीतिक दलों, ट्रेड- यूनियनों और दूसरे स्वैच्छिक साहचर्यों की सदस्यता में भी कमी आ गई थी। इसके अतिरिक्त, इन देशों में होने वाले चुनावों में भी नागरिकों की भागीदारी में कमी आती गई। प्रमाण के तौर पर इस दौर में ज्यादातर पश्चिम देशों में होने वाले चुनावों में मतदान कम हुआ। इन देशों में नागरिकों की एकजुटता को पुनर्जीवित करने के लिए नागरिक समाज की अवधारणा का पुनरुत्थान करने का प्रयास किया गया। इस नए पुनरुत्थान में स्वैच्छिक साहचर्यों की भूमिका पर बहुत जोर दिया गया। इस प्रकार, यह ताकविल के विचार की समकालीन प्रासंगिकता को रेखांकित करता है।

पश्चिम में नागरिक समाज के पुनरुत्थान में राबर्ट पुतनाम की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पुतनाम ताकविल से सहमति व्यक्त करते हैं कि नागरिकों के बीच एकता का निर्माण करने में साहचर्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अपने शोध में उन्होंने यह बताया है कि किसी समाज विशेष में राजनीतिक जीवन का स्तर और राजनीतिक संस्थाओं का प्रदर्शन उस समाज के नागरिकों में जुड़ाव के स्तर से प्रभावित होता है। पुतनाम मानते हैं कि जिन क्षेत्रों में नागरिक के जुड़ने की लंबी परंपरा रही है, वहाँ लोकतंत्र ने अच्छा काम किया है। नागरिकों के जुड़ाव की परंपरा को परिभाषित करने के लिए वे राजनीतिक सहभागिता, मतदान, अख़बार पढ़ने वाले और विभिन्न स्वैच्छिक साहचर्यों की सहभागिता को संकेतक के रूप में प्रयोग करते हैं। आगे उनका यह कहना है कि उन समाजों में नागरिक एकजुटता के मानक पाए जाते हैं, जिनमें बड़ी

मात्रा में सामाजिक पूँजी होती है। सामाजिक पूँजी से मतलब सामाजिक जीवन की उन विशेषताओं से है, जिनके द्वारा समन्वित और प्रभावकारी सामाजिक कार्य संभव होते हैं। इसमें मनुष्यों के बीच आपसी अंत: क्रिया से उत्पन्न होने वाले सामाजिक नेटवर्क, पारस्परिकता और एक- दूसरे के प्रति विश्वास भी शामिल है। इस तरह यह हमारे दैनिक जीवन में इस्तेमाल किए जाने वाले शब्दों 'नागरिक भावना'या 'नागरिक सदगुण' से निकटता से जुड़ा हुआ है। सामाजिक पूँजी के संबंध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह व्यक्तियों द्वारा अकेले किया जाने वाला कार्य न होकर उनके द्वारा आपसी जुड़ाव से किया जाने वाला कार्य है। इसमें सहयोग, पारस्परिक विश्वास और उत्तरदायित्व की भावना जैसे मूल्य शामिल हैं। इन मूल्यों के कारण ही समाज के सदस्यों में विश्वास से परिपूर्ण संवाद हो पाता है। ये मूल्य अच्छे तालमेल के साथ होने वाली राजनीतिक गतिविधि के लिए जरूरी नेटवर्क का निर्माण करते हैं। नागरिक साहचर्यों में सहभागी होने से सहयोग की भावना का विकास होता है। साथ में ये राजनीतिक व्यवस्था की संस्थाओं से जुड़ने के साधन का भी कार्य करती हैं। (भार्गव एंड आचार्य, 2016, पृ. 198 -199)

2.8 उत्तर- औपनिवेशिक संदर्भ में नागरिक समाज

1980 और 1990 के दशक में तीसरी दुनिया के देशों में नागरिक समाज की संकल्पना का पुनरुत्थान हुआ। यूरोप के देशों में नागरिक समाज को लोकप्रियता मिलने के तुरंत बाद तीसरी दुनिया के कई देशों, विशेषतौर पर लैटिन अमरीका के देशों में नागरिक समाज का पुनरुत्थान हुआ। 1964 से 1970 के दशक के अंतिम वर्षों तक बहुत से लैटिन अमेरीकी देशों में निरंकुश तानाशाही व्यवस्था स्थापित हो गई थी। इन देशों में ब्राजील,अर्जेंटीना, पेरू, चिली और उरूग्वे शामिल थे। इन निरंकुश शासकों के द्वारा इन देशों में एक छोटे आर्थिक समूह द्वारा राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व कायम किया गया। आम जनता को राजनीतिक भागीदारी और निर्णय- निर्माण की प्रक्रिया से अलग कर दिया गया। ऐसा करने के लिए इन देशों में लोगों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं का दमन किया गया और मतदान पर पाबंदी लगा दी गई। यहाँ का सैनिक शासन बहुत दमनकारी था, इसलिए यहाँ के लोगों में भारी असंतोष था। सैनिक शासकों ने यहाँ के मध्य और निम्न वर्ग की सामाजिक और आर्थिक मांगों को पूरा करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। 1980 के आरंभिक वर्षों में इनमें से अधिकांश देशों को आर्थिक और सामाजिक संकट का सामना करना पड़ा, क्योंकि इन पर विदेशी कर्ज बहुत बढ़ गया था। इन देशों के कामगर लोगों के बीच जबरदस्त गुस्सा था। इसके बाद, शीघ्र ही इन देशों में कई तरह के साहचर्यों का निर्माण हुआ, जिन्हें बाद में नागरिक समाज साहचर्य कहा गया। विशेषतौर पर, लैटिन अमेरिकी देशों में इन साहचर्यों ने नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के विस्तार के लिए दबाव बनाना शुरू किया। पूर्वी यूरोप की तरह यहाँ भी इस विचार का इस्तेमाल किया गया कि नागरिक समाज निरंकुश राज्य के विरूद्ध आजादी का दायरा है।

नागरिक समाज की लोकप्रियता केवल निरंकुश शासकों के विरूद्ध चलने वाली लोकतान्त्रिक संघर्षों से ही जुड़ी हुई नहीं है। यह इस बात को भी दिखाती है कि लोगों के विश्वास में कमी आई है कि राज्य उनकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा करने में सक्षम है। इस अवधारणा का उत्थान यह

बताता है कि अधिकांश उत्तर- औपनिवेशिक राज्य अपने समाज में आर्थिक और राजनीतिक विकास को स्थापित करने में विफल रहे हैं। अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमरीका के अधिकांश नव- स्वतंत्र देश लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को पूर्ण करने में असफल रहे हैं। ये राज्य न तो उच्च आर्थिक वृद्धि दर हासिल कर पाए, न ही ये लोकतान्त्रिक राजनीति को संस्थाकृत कर पाए। राज्य के संकट ने अब तक राजनीतिक विमर्श पर छाए राजनीतिक और आर्थिक विकास के विचारों पर प्रश्न खड़ा कर दिया।

1980 और 1990 के दशक में नए सामाजिक आंदोलनों से विकास के अस्तित्वमान मॉडलों को चुनौती मिलनी शुरू हो गई। इन सामाजिक आंदोलनों ने पारंपरिक राजनीतिक दलों और दबाव समूहों से अलग विरोधी राजनीतिक 'स्पेस' बनाने का प्रयास किया। ये इस अर्थ में भी नए थे कि इनमें से बहुत से आंदोलनों ने विकाशील देशों द्वारा अपनाए गए विकास के मॉडल पर ही सवालिया निशान लगा दिया। हम भारत के 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' और 'चिपको आन्दोलन' को इस तरह के आंदोलनों के उदाहरण के तौर पर ले सकते हैं। दरअसल, ' नर्मदा बचाओ आन्दोलन' ने नर्मदा नदी पर बनने वाले सरदार सरोवर बांध का इकोलॉजिकल आधार पर विरोध किया। आन्दोलन ने बड़े बाँधों पर आधारित विकास मॉडल पर ही सवाल खड़ा कर दिया। यह आन्दोलन बाँध के कारण विस्थापित हुए स्थानीय लोगों के अधिकारों के लिए संघर्ष करता रहा है। इसने बड़ी परियोजनाओं के विभिन्न पहलुओं के संबंध में निर्णय लेने की प्रक्रिया में अति- केंद्रीकरण की आलोचना की है। अति- केन्द्रीकरण के कारण इससे प्रभावित होने वाले लोगों को निर्णय- प्रक्रिया में शामिल नहीं किया जाता है। इन आंदोलनों ने आर्थिक विकास के बारे में जागरूकता पैदा की है। इसके लिए इन्होंने पारंपरिक रूप से गैर- राजनीतिक साधनों का इस्तेमाल किया है। ये आन्दोलन जनमत को बदलने में सफल रहे।

वर्तमान में गैर राजनीतिक संगठन इन मुद्दों को उठा रहे हैं। इन संगठनों को विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों द्वारा आर्थिक सहायता मिलती है। ये संगठन विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में काम करते हैं;जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, विकास का इकोलॉजिकल पहलू, विकास परियोजनाओं का जेंडर पूर्वाग्रह, मानव अधिकार, विकास परियोजनाओं से प्रभावित लोगों के अधिकार और प्रशासन में पारदर्शिता। ये संगठन दलीय राजनीति से दूर रहते हैं और अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए ये अदालतों में सार्वजनिक हित याचिका (पी.आई.एल.) लगाना, राजनीतिक नेताओं और जनप्रतिनिधियों को विभिन्न मुद्दों पर गोलबंद करना, जनसंचार माध्यमों से अभियान चलाना और सीधे लोगों के बीच कार्य करने का काम करते हैं। पिछले दशक में विभिन्न गैर सरकारी संगठनों और स्वतंत्र संगठनों ने मिलकर एक विश्वव्यापी संगठन वर्ल्ड सोशल फोरम (डब्ल्यू.एस.एफ.) का निर्माण किया। इसका उद्देश्य विभिन्न संगठनों के एजेंडे और गतिविधियों में तालमेल स्थापित करना था। हालाँकि महत्त्वपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर विभिन्न गैर सरकारी संगठनों का दृष्टिकोण भिन्न- भिन्न है। वैसे, आर्थिक विकास में राज्य की भूमिका और अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के संबंध में गहरा वाद- विवाद है। इसे देखते हुए यह एक महत्त्वपूर्ण मामला है कि नागरिक समाज के समकालीन उभार का महत्त्वपूर्ण स्रोत नव-उदारवादी आर्थिक सिद्धांत है। इंटरनेशनल मॉनेटरी फंड (आई.एम.एफ.),वर्ल्ड बैंक और वर्ल्ड ट्रेड आर्गेनाइजेशन (डब्ल्यू. टी. ओ.) द्वारा नव- उदारवादी

सिद्धांत का समर्थन किया जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार, राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों को समाप्त किए जाने की आवश्यकता है। इस सिद्धांत के अनुसार नागरिक समाज के विभिन्न संगठनों द्वारा विकास के कार्य संचालित किए जाने चाहिए। (भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ. 199 -200)

2.9 उत्तर-औपनिवेशिक समाज में नागरिक समाज और आधुनिकता: आलोचनात्मक मुद्दे

उत्तर-औपनिवेशिक समाज की राजनीति, समझ और विश्लेषण के लिए नागरिक समाज की समकालीन अवधारणा को पूर्ण रूप से लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने पर कई अजीब समस्याएँ सामने आती हैं। दरअसल,ये समस्याएँ इसलिए सामने आती हैं कि इन समाजों का अपना ऐतिहासिक तर्क रहा है। इसके अतिरिक्त ये पश्चिमी आधुनिकता से भी प्रभावित रहे हैं। तीसरी दुनिया के देशों के लिए नागरिक समाज की संकल्पनाओं के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। यह अर्थ उस विशिष्ट सांस्कृतिक सन्दर्भ पर निर्भर करता है,जिसमे इस अवधारणा का प्रयोग किया जाना होता है। अत: इस संदर्भ में प्रत्येक समाज की विशिष्ट सांस्कृतिक और बौद्धिक परंपरा के प्रति संवेदनशील होने की आवश्यकता है। (कविराज, 2001, पृ. 306 - 7)

उत्तर-औपनिवेशिक युग में, तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों में नागरिक समाज का उभार हुआ। लेकिन इन देशों में उभार का ऐतिहासिक संदर्भ पश्चिमी देशों से अलग तरह का रहा है। इसका कारण यह है कि तीसरी दुनिया के समाजों ने उस तरह के सर्वशक्तिशाली, निरंकुश, प्रभुतासंपन्न शासन का अनुभव नहीं रहा। पश्चिमी देशों के उपनिवेश बने अधिकांश देशों में समाज का संगठन करने वाला सिद्धांत राज्य से स्वतंत्र था। सुदीप्त कविराज भारत के संबंध में यही तर्क देते हैं। सामान्य तौर पर, राज्य प्राधिकारी समाज के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था। पारंपरिक रूप से यह राज्य इतना सत्तावादी नहीं था, जितना कि यूरोप के ऐतिहासिक निरंकुश राज्य थे। दूसरी ओर औपनिवेशिक राज्य संप्रभु शक्ति को मानते थे। इसके द्वारा उन्होंने इन समाजों पर अपना नियंत्रण कायम करने की कोशिश की। औपनिवेशिक युग में नागरिक समाज जैसे किसी दायरे के आरंभ को ऐतिहासिक रूप से औपनिवेशिक शासन के खिलाफ राष्ट्रवादी संघर्ष में खोजा जा सकता है।

उपनिवेश बने सभी देशों में केवल नागरिक समाज की गतिशीलता के कारण आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं का उद्भव नहीं हुआ। भारत के बारे में भी यह बात सही है। इन देशों में आधुनिक संस्थाओं के उत्पन्न होने में औपनिवेशिक शासन के प्रभाव ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। औपनिवेशिक शासन ने अपना काम बेहतर तरीके से चलाने के लिए आवश्यक आधुनिक संस्थाओं जैसे एकीकृत प्रशासन, केंद्रीकृत क़ानूनी व्यवस्था, समूहों की जनगणना, चुनी हुई विधायिका(सीमित लोगों को मताधिकार) और आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत की। आधुनिक शिक्षा ने धीरे- धीरे समाज में ऐसे लोगों का समूह उत्पन्न किया, जिसका संपर्क यूरोपीय राजनीतिक विचारों और अवधारणाओं से हुआ। इस समूह के लोगों

द्वारा रूसो, मिल, बैंथम पढ़ने से स्वतंत्रता, समानता और लोकतंत्र का ज्ञान हुआ। अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा अर्जित करने वाले सदस्य नए विचारों के कारण स्वयं अपनी संस्कृति के कुछ ऐसे विचारों के आलोचक बन गए, जो स्वतंत्रता और समानता में रुकावट थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता 20वीं सदी के आरंभ से ही स्वशासन के अधिकार पर जोर देने लगे थे। धीरे-धीरे इस राजनीतिक मांग ने औपनिवेशिक शासन से पूर्ण स्वतंत्रता का आन्दोलन बना दिया। राष्ट्रवादी राजनीति का एक बड़ा भाग पश्चिमी राजनीतिक शब्दावली में संचालित हुआ। लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पूरी राष्ट्रवादी राजनीति पश्चिमी राजनीति में रंगी हुई थी। मुख्य समस्या यह थी कि भारत के ज्यादातर लोग आधुनिक शिक्षा से वंचित थे और इन लोगों से पश्चिमी राजनीति शब्दावली में बातचीत नहीं की जा सकती थी। यदि हम इस स्थति की तुलना यूरोपीय इतिहास से करें, तो हम कह सकते है कि आजादी, अधिकार, नागरिक समाज और लोकतंत्र जैसे आधुनिक विचारों को भारतीय भाषाओं और स्थानीय मुहावरों में ढाला जाए। दूसरे शब्दों में व्यक्तिवाद की जमीन पर उपजी राजनीतिक अवधारणा इस समाज की सामाजिक स्थिति के अनुसार नहीं थी। परन्तु राष्ट्रवादी नेतृत्व के प्रभावशाली वर्ग के लिए समानता, स्वतंत्रता और नागरिकता के आदर्शों पर आधारित नागरिक समाज ही आशा की किरण और लक्ष्य बन गया। राष्ट्रवादी नेतृत्व आधुनिकीकरण का समर्थन करता था।

स्वतंत्रता के तुरंत बाद, राजनीतिक नेताओं का एक प्रमुख समूह यह मानता था कि औद्यौगिक अर्थव्यवस्था, वैज्ञानिक विचार,आधुनिक शिक्षा और पंथ निरपेक्ष राजनीतिक संस्थाओं को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इनका मानना था कि ऐसा होने पर भारतीय समाज पारंपरिक व्यवहारों को त्याग देगा और आधुनिक नागरिक समाज का उभार होगा। नेताओं का यह समूह जवाहरलाल नेहरू के आधुनिकता के 'विजन' में सहभागी था। समाज विज्ञान के आधुनिक सिद्धांतों ने भी स्वतंत्र हुए राज्यों के आधुनिकीकरण की क्षमताओं पर अपनी आशाएँ टिका दी। इसी दौरान, आधुनिकीकरण के सिद्धांतों ने पश्चिमी यूरोपीय देशों और उत्तरी-अमेरिका की राजनीतिक संस्कृति का ब्यौरा दिया। उन्होंने इसे विकासशील देशों के लिए 'मॉडल' और लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया। धीरे-धीरे राजनीतिक सिद्धांत और समाज- विज्ञान दोनों में ही इस बात का अनुभव किया गया कि तीसरी दुनिया के समाज ने उन्हें अनपेक्षित और अपरिचित तत्व दिए हैं। (कविराज, 2001, पृ. 287 – 323)

पूर्व में बताया जा चुका है कि नागरिक समाज का विचार आरंभिक आधुनिक युग के उदारवादी व्यक्तिवादी चिंतन से निकटता से जुड़ा हुआ है। संक्षेप में, पश्चिमी राजनीति सिद्धांत में नागरिक समाज को साहचर्यों के 'स्पेस' के रूप में जाना जाता है। इसकी सदस्यता व्यक्तिगत सदस्यों के तार्किक हितों पर आधारित होती है। जिन साहचर्यों की सदस्यता पारंपरिक कसौटी पर आधारित होती है, उनका नागरिक समाज के इस शुद्ध मॉडल में कोई स्थान नहीं होता है। कुछ विचारकों ने यह उल्लेख किया है कि भारत में 19वीं सदी के अंत में साहचर्य उभरकर सामने आए। इसके बाद भारत में दोनों ही प्रकार के साहचर्य रहे हैं। आधुनिक व्यक्तिवाद पर आधारित साहचर्यों के साथ ऐसे साहचर्य भी रहे हैं, जो पूर्ण रूप से धर्म या जाति

जैसे पारंपरिक साहचर्यों पर आधारित होते हैं। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा आधुनिक विचारों का प्रसार बहुत ही धीमी गति से हुआ। इसलिए, आधुनिक विचारों के संबंध में आरंभिक राजनीति अभिजन तक सिमट कर रह गई। धीरे-धीरे राजनीति का आधुनिक रूप शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के आम जन तक पहुँचा। साहचर्य आधारित राजनीति में हित अभिव्यक्ति और इसके आधार पर सौदेबाजी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वास्तव में यह राजनीति ही पूरी तरह से आधुनिक राजनीति थी। अत: आधुनिक राजनीति संस्थाओं और भारतीय समाज के पारंपरिक तत्वों की अंत:क्रिया ने नए प्रकार के राजनीतिक संगठनों और गतिविधियों को उत्पन्न किया। कुछ विचारकों ने इस परिघटना को 'परंपरा के आधुनिकीकरण' की उपमा दी। इसकी वजह यह है कि इसमें जाति जैसी पारंपरिक पहचानों पर आधारित साहचर्यों की राजनीति आती है। (रुडोल्फ एवं रुडोल्फ, 1967, पृ. 529)

जब उदारवादी और आधुनिकीकरण के सिद्धांतों के द्वारा नागरिक समाज को राजनीति और समाज के आधुनिकीकरण के बुनियादी शर्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो इसमें एक मानकीय झुकाव होता है। भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक देश में नागरिक समाज को एक ऐसे आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिसे हासिल किया जाना चाहिए। इस तरह का उद्देश्य इस संकल्पना के लागू करने के सन्दर्भ में एक समस्या है, जो इस प्रकार है: मान लो कि हम एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हैं और इस अवधारणा में धर्म, जाति और पारंपरिक पहचानों पर आधारित साहचर्यों को शामिल करते हैं। लेकिन इस तरह करने पर इस अवधारणा की मानकीय अपील कम हो जाती है। इस प्रकार का नागरिक समाज उस मानकीय आदर्श से बहुत दूर होगा, जिसमें यह माना जाता है कि यह राज्य और परिवार के बीच स्थित राजनीतिक गतिविधियों का ऐसा क्षेत्र है, जिसमें आधुनिक और विवेकशील नागरिक अपनी गतिविधियाँ करते हैं। दूसरा, मान लीजिए कि हम नागरिक समाज का एक संकुचित दृष्टिकोण अपनाते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार, नागरिक समाज के क्षेत्र को आधुनिक साहचर्यों तक ही सीमित माना जाता है। लेकिन यह नागरिक समाज को शहरी और अभिजन वर्ग तक ही सीमित कर देता है। अत: ऐसा महसूस होता है कि समकालीन दौर में साहचर्य आधारित राजनीति के रूप में नागरिक समाज को मुख्य शहरी क्षेत्रों में ही प्रसिद्धी मिल रही है। यह एक तथ्य है कि अभी तक क्षेत्रीय राजनीति के विमर्श में 'नागरिक समाज' शब्द का क्षेत्रीय अनुवाद प्रचलन में नहीं आया है। यह इस अवधारणा के प्रयोग की सीमाओं को ही दिखाता है। ऐसा लगता है कि अभी जनसंख्या का केवल अंग्रेजी भाषी भाग ही इसका इस्तेमाल करता है। इसके अतिरिक्त, इस अवधारणा के कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचक यह मानते हैं कि नागरिक समाज की वैचारिक सामग्री को तय करना भी कठिन है। अगर नागरिक समाज साहचर्यों से संबंधित है, तो फिर इसमें प्रत्येक तरह की विचारधारा रखने वाले साहचर्य समाहित किए जा सकते हैं: धार्मिक सुधारवादियों के साथ-साथ कट्टरपंथी समूह; नारीवादी समूहों के साथ-साथ पितृसत्तात्मक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले समूह; अर्थव्यवस्था के उदारीकरण का समर्थन करने वाले समूहों के साथ-साथ ऐसे समूह जो इसका विरोध करते हैं। (चंडोक, 2003,पृ. 278; सेलिगमैन, 1992, पृ. 122)

2.10 अवधारणा एवं सैद्धान्तिक विवेचना

नागरिक समाज ऐच्छिक नागरिक संस्थाओं द्वारा निर्मित ऐसी सम्पूर्णता है जो समाज की प्रकार्यात्मक इकाई का आधार बनते हैं। यह न तो राज्य द्वारा बाध्य संरचना है जो राज्य की राजनीतिक व्यवस्था द्वारा संचालित होती है और न ही बाज़ार व्यवस्था की व्यापारिक संस्थाओं से सम्बंधित होते हैं। हांलांकि इस अवधारणा के सन्दर्भ में अभी बहुत स्पष्ट विचार नहीं हैं परन्तु फिर भी निम्न आधार पर इसे समझा जा सकता (एडवर्ड, 2011, पृ. 15-24) है:-

लन्दन स्कूल ऑफ़ इकोनोमिक्स सेंटर फॉर सिविल सोसायटी के अनुसार –

"नागरिक समाज एक ऐसा मंच है जहाँ इस प्रकार के सामूहिक प्रयत्न होते है जहाँ सिद्धांतत: सामूहिक मूल्य, हित एवं उद्देश्य इस तरह से प्रेरित होते हैं जो राज्य, परिवार और बाज़ार व्यवस्था से अलग होते हैं परन्तु व्यवहारिक रूप से राज्य, नागरिक समाज, परिवार एवं बाज़ार व्यवस्था एक दूसरे से जुड़े होते हैं।" पार्सन्स ने इसे समाज के समुदाय का हिस्सा माना है अर्थात यह राजनीतिक व्यवस्था का सैद्धान्तिक रूप से हिस्सा नहीं है। यह राजनीतिक व्यवस्था की आधारशिला है। व्यावहारिक रूप से नागरिक समाज और राज्य एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। नागरिक समाज वास्तव में विविधताओं का एक पुंज है जहाँ विविध प्रकार की संस्थाएं एवं कार्यकर्ता हैं जिनमें सत्ता, शक्ति, औपचारिकता एवं स्वनिर्णय की मात्रा भी विविध होती है।

नागरिक समाज में साधारणत: पंजीकृत स्वैच्छी संस्थाओं, गैर सरकारी स्वयंसेवी संस्थान, मजदूर संघ, व्यापारिक संघ, प्रशिक्षित व्यावसायिक संघ, विरोधी एवं समर्थनकारी समूहों का समावेश होता है।

2.10.1 पूर्व आधुनिक काल में नागरिक समाज की अवधारणा

इस पूर्व आधुनिक गणतंत्रीय अवधारणा का जन्म 18वीं शताब्दी में पुनर्जागरण के समय हुआ। प्रारंभ में शास्त्रीय दर्शनकारों ने इस अवधारणा को एक राजनीतिक स्मृति के रूप में लिया है जो ऐसे नियमों की व्यवस्था करती है जिससे सामाजिक संघर्ष को कम किया जा सके तथा नागरिक एक दूसरे को हानि न पहुंचायें और समाज का संचालन सुचारू रूप से हो सके।

सुकरात ने नागरिक समाज को ऐसा समाज माना है जहाँ व्यक्ति ईमानदारी और सच्चाई से एक - दूसरे के हितों की रक्षा कर सकें और कल्याणकारी समाज के लिए अंतक्रिया करें।

प्लेटो ने नागरिक समाज, ऐसे समाज को माना है जहाँ नियम और उद्देश्यों का निर्माण समाज के सामान्य हित के लिए होता है।

अरस्तु ने इसे आदान-प्रदान के रूप में देखा है अर्थात नागरिक समाज की अंतक्रिया का आधार सामाजिक कल्याण होना चाहिए।

सिसरो ने इसका प्रयोग रोमन समाज के सन्दर्भ में किया है, जिसमें उसने अच्छी नागरिकता पर बल दिया है। (एहरेनबेर्ग, 1999, पृ. 4-27)

2.10.2 मध्य युग

यह युग युद्धों का युग था, इस युग में अच्छी नागरिकता या नागरिक समाज की अवधारणा गायब सी हो गयी। सामंतवाद बढ़ता गया। समाज का शोषण हुआ और संप्रभु राज्य की अवधारणा का जन्म हुआ। जिसमें एक तन्त्र पनपा और राजाओं ने प्रजा का प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण किया।

हॉब्स का मत है की प्रत्येक व्यक्ति का एक निहित स्वार्थ होता है जो साधारण तथा एक दूसरे से विरोधाभासी होता है जिससे जंगल राज का खतरा होता है। ऐसे में व्यक्ति अकेला हो जाता है और तानाशाही का खतरा उत्पन्न हो जाता है। उसे किसी ऐसे तंत्र की आवश्यकता होती है जो उसकी सुरक्षा करे। इससे राज्य का जन्म हुआ जिसे वह लेविआथान कहता है। इसके दो प्रकार बताए गए हैं–

1) लम्बवत - राज्य द्वारा जनता पर नियंत्रण अर्थात इसमें जनता ने स्वयं को राज्य को समर्पित किया। इससे राज्य का निर्माण हुआ।
2) क्षैतिजीय - सामाजिक नियमों द्वारा समाज कल्याण के लिए व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों को सीमित करना। जिससे समाज को नुकसान न हो और इससे नागरिक समाज का जन्म हुआ।

हॉब्स का कहना है कि नागरिक समाज के लिए सशक्त राज्य की आवश्यकता है जो उचित नियमों के द्वारा समाज का सुसंचालन कर सके। (एहरेनबेर्ग, 1999, पृ. 62-70)

2.10.3 आधुनिक काल

वर्तमान सन्दर्भ में समाज शास्त्र में कई नयी अवधारणाएँ आयी हैं। नागरिक सामाज भी उनमें से एक है। कुछ विचारक इसे पूंजीवाद एवं राज्य का परिणाम मानते हैं। अन्य इसे सार्वभौमिक समूहवाद के रूप में मानते हैं। कई इसे राज्य के विरोध में देखते हैं। कुछ इसे प्रजातंत्र के लिए चुनौती मानते हैं। अन्य इसे आधुनिक प्रजातंत्रीय समितियों का परिणाम मानते हैं। इसके विपरीत अन्य इसे व्यक्ति की स्वतंत्रता का द्योतक मानते हैं।

कुछ विचारक यह सवाल उठाते हैं कि क्या यह समाज का ही 'अंश' है, क्या यह समाज का विशेष 'प्रकार' है, यह कोई समाज की 'वास्तविकता' का रंगमंच है या यह तीनों का मिश्रण है ?

मार्क सुलीवाम ने "द प्रीसाइज़ डेफिनिशन ऑफ़ सिविल सोसायटी" में विभिन्न विद्वानों के विचार प्रकट किये है –

1. चार्ल्स डाईबर ने इस सन्दर्भ में तीन सवाल उठाए हैं –
   a) क्या यह साधारण सामान्य समुदाय का निर्माण करती है ?
   b) इसकी नैतिकता की प्रकृति क्या है ?
   c) इसकी रक्षा किस प्रकार हो ?

   इन तीनों के आधार पर यह मानते हैं कि नागरिक समाज की अवधारणा भ्रमित करने वाली अवधारणा है। प्रत्येक इसका अर्थ अलग – अलग लगाता है।

2. हेराल्ड पीटरसन का मत है कि इस अवधारणा के द्वारा हम यह प्रयास कर रहे हैं कि एक अच्छे समाज की स्थापना की जा सके।

3. प्रोफ़ेसर केय श्लजींमैन का मानना है कि बहुत अधिक स्वतंत्र समाज कभी भी सुरक्षित नहीं होता है इसलिए यह कहना बड़ा कठिन है कि नागरिक समाज की सीमाएं क्या हों ?

4. हैबरमास ने इसे निम्न चित्र के द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है।

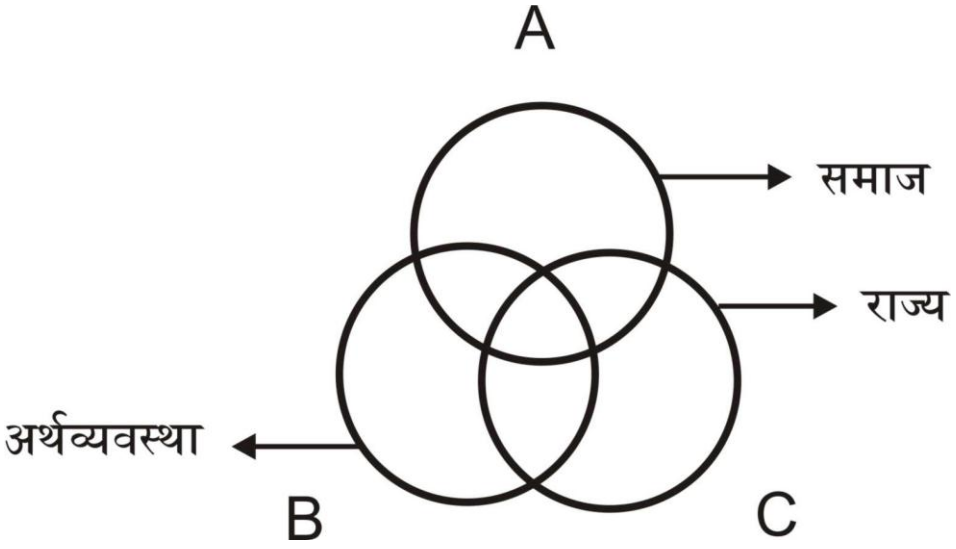

प्रत्येक चक्र अपनी विशिष्टता का प्रदर्शन करता है परन्तु यह तीनों चक्र निजी, सार्वजनिक एवं संस्थात्मक जीवन से सम्बंधित हैं जो परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं और प्रत्येक का विशिष्ट क्षेत्र है जो निम्न है –

a) सामाजिक समूहों का निर्माण अथवा समाज
b) राजनीतिक शक्ति एवं सत्ता अथवा राज्य
c) वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन एवं वितरण अथवा अर्थव्यवस्था

हैबरमास के अनुसार जब सरकार कमज़ोर होती है तो समाज राजनीतिक गतिविधियों पर अधिक निर्भर होता है परन्तु जब सरकार मज़बूत होती है तो समाज स्वतंत्र होता है और राजनीतिक सत्ता उसे प्रभावित नहीं करती है। इस प्रकार हम 1780 के रूस के नागरिक समाज एवं अमेरिका के नागरिक समाज में अंतर को देख सकते हैं। एक शताब्दी बाद यूरोप में जिस नागरिक समाज का जन्म हुआ इस तथ्य को इंगित करता है कि यह एक बुर्जुआ समाज था जो राज्य जैसी संस्था से स्वतंत्र था तथा श्रम और वस्तु बाज़ार पर किसी की बाध्यता नहीं थी। (हैबरमास, 1989, पृ. 79)

जॉन लॉक ने इंग्लैंड की क्रांति के दौरान अपने विचार प्रस्तुत किये। इस समय राजा के दैवीय और संसद के अधिकारों में विरोधाभास था। जॉन लॉक ने भी व्यक्ति और राज्य के बीच समझौतावादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। मानव को प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है और अपने जीवन को शांतिमय जीने के लिए उसे इस तरह की सामान्य शक्ति की जरूरत हुई जिसके अधीन वह कार्य कर सके तथा इसकी वह शक्ति या राज्य प्रजा के पालन पोषण का दायित्व उठाये तथा राज्य की शक्ति भी नियंत्रित हो जिससे राज्य से मानवाधिकारों की रक्षा हो सके। स्वतंत्रता, जीवन और संपत्ति के अधिकार को लॉक मानव के मुख्य अधिकारों में सम्मिलित करता है जिनकी रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है। जॉन लॉक और हॉब्स दोनों ने राज्य और नागरिक समाज को अलग नहीं माना। वास्तव में हॉब्स और लॉक उस समय के विद्वान थे जब राजा को दैवीय शक्ति का रूप माना जाता था। रूसो और कांट ने भी इनके विचारों का समर्थन किया और

यह माना कि मानव अपनी जरूरत के अनुरूप राज्य की व्यवस्था को बदल सकता है। (एडवर्ड, 2011, पृ. 19-20)

हीगल ने नागरिक समाज का अर्थ ही बदल दिया। उसने इसे "आवश्यकताओं की व्यवस्था" के रूप में देखा जो व्यक्ति को संतुष्ट करती है। उनके अनुसार पूंजीवादी युग में बुर्जुआ समाज का जन्म ही नागरिक समाज है और इस युग में राज्य का नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पूंजीवादी शोषण से इसे बचाए।

ताकविल ने निरंकुश फ्रांस और प्रजातंत्रीय अमेरिका की तुलना करते हुए बताया है कि उदारवादी व्यक्तित्व और सत्ता के केन्द्रीकरण के बीच संतुलन होना चाहिए। ताकविल राजनीतिक और नागरिक समाज के बीच अंतर मानता है।

मार्क्स राज्य को आधार नहीं मानता, वह राज्य को निष्पक्ष भी नहीं मानता। इसलिए नागरिक समाज का रक्षक भी नहीं हो सकता।

एंटोनियो ग्राम्शी, मार्क्स के विपरीत नागरिक समाज को राज्य का सामाजिक, आर्थिक आधार न मानकर इसे राजनीतिक अधोसंरचना मानता है। वह मार्क्स की तरह इसे समस्या का केंद्र न मानकर समस्या समाधान का केंद्र मानता है जो व्यक्ति की राज्य से रक्षा करता है। (एडवर्ड, 2011, पृ. 21-23)

2.10.4 उत्तर आधुनिक काल

सर्वप्रथम 1980 में नागरिक समाज का उद्भव पूर्वी यूरोप के सोवियत खंड में हुआ। इसके बाद से राजनीतिक समाज के स्थान पर नागरिक समाज शब्द का प्रयोग होने लगा। 1990 से गैर सरकारी स्वयंसेवी संस्थाओं तथा नव सामाजिक आंदोलनों के आविर्भाव से नागरिक समाज को तीसरे क्षेत्र की तरह देखा जाने लगा। 1990 के बाद गरीब देशों के विकास के लिए विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ऋण की सुविधा देने लगे। ह्ल्मे और एडवर्ड के अनुसार लोग इसे विकास के लिए 'जादू की छड़ी' की तरह देखने लगे। व्हाऐत का कहना है कि नीति निर्धारक भी इसके खतरों को पहचान नहीं पा रहे थे और इसका राजनीतिकरण होने लगा।

1990 के बाद इसका इस्तेमाल वैश्वीकरण के खिलाफ और बहुत से देशों में प्रजातंत्र के विकास में होने लगा। परन्तु अब इसका इस्तेमाल निष्पक्ष रूप से किया जाने लगा। आज नागरिक समाज को राज्य का विरोधी न मानकर पूरक के रूप में माना जाने लगा है। व्हाऐत का तो मानना है कि नागरिक समाज का मूल आधार राज्य ही है। (व्हातेस, 1998, पृ. 343-349)

प्रजातंत्र के विकास में इस समाज की मुख्य भूमिका है जिसे ताकविल ने पहले ही कहा है। गैब्रिअल एलमंड एवं सिडनी बर्वा ने राजनीतिक संस्कृति के विकास में इसकी मुख्य भूमिका मानी है। (अलमंड एवं वर्बा, 1989 , पृ. 41)

रॉबर्ट पुतनाम का मानना है नागरिक समाज की गैर राजनीतिक संस्थाएं भी प्रजातंत्र के विकास में सहायक हैं, क्योंकि यह व्यक्ति को स्वनिर्णय, मताधिकार और सरकार के प्रति जागरूक करवाती हैं। (पुतनाम, 2000)

2.11 नागरिक समाज की परिभाषा एवं सम्बंधित शब्द

नागरिक समाज एवं इससे सम्बंधित अन्य अवधारणाएं जैसे नागरिक संस्कृति, सामाजिक पूंजी आदि को शैक्षणिक दृष्टि से परिभाषित नहीं किया गया है परन्तु ब्रिटिश लाइब्रेरी ने नागरिक समाज की कुछ विशेषताओं के आधार पर इसको परिभाषित करने का प्रयास किया है। इसके अनुसार नागरिक समाज एक ऐसा समाज है जिसमें औसत नागरिकों की स्वैच्छिक सहभागिता पायी जाती है जो राज्य द्वारा बाध्यकारी नहीं होती। कुछ विचारक यह मानते हैं कि इसमें केवल उन राजनीतिक गतिविधियों को सम्मलित किया जा सकता है, जो लाभ के उद्देश्य से प्रेरित नहीं होती हैं बल्कि यह स्वयंसेवी गैर सरकारी संगठनों के द्वारा किया जाता है। इसमें निजी -सार्वजनिक सभी प्रकार की सहभागिता होती है।

नागरिक समाज की अवधारणा में तीन शब्द महत्त्वपूर्ण हैं –

- नागरिक समाज संगठन
- नागरिक संस्कृति
- सामाजिक पूंजी (मानव का आर्थिक उपयोग)

परिभाषा

नागरिक समाज का तात्पर्य: कुछ विद्वानों के अनुसार यह आधारभूत रूप से समाज में राजनीति को कम करता है जिससे समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं उदारता तथा एक स्वतंत्र बाज़ार का विकास होता है या हम ऐसे कह सकते हैं कि यह सत्तात्मक राज्य और शोषक बाज़ार व्यवस्था का विकल्प है। कुछ इसे प्रजातंत्र की खोई कड़ी मानते हैं, कुछ इसे सामाजिक विज्ञानों का मेल मानते हैं।

जेरेमी रिफकिन अपनी पुस्तक "आवर लास्ट बेस्ट होप" में लिखते हैं कि नागरिक समाज पुराने समाजों की व्यवस्था के रहस्यात्मक पक्ष को विश्लेषणात्मक चाबी के माध्यम से खोलने का प्रयास करेंगे।

एडम सालिग्मैन, यू. एन. ओ. एवं विश्व बैंक ने इसे इस प्रकार देखा है –

"यह गरीबी की वृद्धि को कम करने वाला सुशासन है क्योंकि सरकारी और गैर सरकारी ऐच्छिक संस्थाएं तीसरी दुनिया के समाज के कल्याण और उत्पादन को ही प्राथमिकता देती है।"

आधुनिक काल में नागरिक समाज का स्वरुप स्पष्ट होता जा रहा है। राजनीतिक समानता और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व जैसे मूल्यों को महत्त्व दिया जाने लगा है। इनके लिए विभिन्न सामाजिक संस्थाओं

और संगठनों में सहयोग की आवश्यकता है। आधुनिक दार्शनिकों ने इस विचारधारा को और अधिक विस्तृत रूप दिया है जहाँ नागरिक अपनी समस्याओं पर तर्क-वितर्क कर सकें। दार्शनिकों ने इसे "सामान्य या जनहित के रूप में" देखा है जो आज के समाज की विशेषता है।

2.12 नागरिक समाज की पश्चिमी अवधारणा

टॉमस ए. मेटजगर ने चीन के इतिहास के सन्दर्भ में नागरिक समाज को विभिन्न विद्वानों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है जो निम्न है-

डेविड हेल्ड – नागरिक समाज की एक विशिष्ट विशेषता यह है कि यह सामाजिक जीवन के कई पक्षों से मिलकर बना है। इसमें पारिवारिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियां तथा राजनीतिक अंत:क्रिया स्वैछिक या निजी संस्थाओं द्वारा इस प्रकार संगठित होती है कि यह राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण से परे व्यक्ति एवं समूह के मध्य कार्य करता है। हालांकि इसमें राजनीतिक अंत:क्रिया को बिल्कुल समाप्त नहीं किया जा सकता है। (हेल्ड, 1987, पृ. 281)

राजनीतिक दृष्टिकोण – यह समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से मिलता - जुलता है अर्थात राज्य के खर्च पर जन स्थिति को शक्तिशाली बनाना। यह दृष्टिकोण रूढ़िवादी या वामवादी हो सकता है क्योंकि यह समतावादी दृष्टिकोण पर जोर देता है।

आधुनिक सन्दर्भ में नागरिकता की अवधारणा में आर्थिक आधुनिकीकरण, अन्य समाजों के अन्तर्सम्बन्धों एवं संपर्क, स्वतंत्र उद्यमिता और वैश्विक अर्थव्यवस्था को जोड़ा गया है। 'जॉन डन' ने इसे आधुनिक संविधानात्मक प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्रीय गणतंत्र कहा है। (डन, 1979, पृ. 128) इस तरह के आधुनिक प्रजातंत्रीय राज्य की एक विशेष प्रकार की संस्कृति या व्यक्तित्व की विशेषताएँ होती हैं जिसे कई समाज शास्त्रियों ने महत्त्व दिया है, जैसे सुनिल खिलनानी, हंटिंगटन, इन्कल्स, फ्रेडरिक हयाक आदि। इन सबके विचारों के आधार पर नागरिक समाज की विशेषताएँ संक्षिप्त में इस प्रकार हैं –

- राष्ट्रियता की भावना
- सांस्कृतिक एकरूपता
- नागरिकों में सद्भाव
- सरकार का नागरिकों के प्रति उत्तरदायित्व
- नैतिक मूल्य
- नागरिकों की जरूरतों को न्यायपूर्ण तरीके से पूरा करना

2.13 नागरिक समाज की विशेषताएँ

- गैर सरकारी, स्वतंत्र व स्वैच्छिक उत्तरदायी स्वशासित संगठन परंतु जनहित से बंधे हुए

- स्वसंगठित और गतिशील
- समाज में अहम भूमिका
- प्रशासनिक नीतियां, कानून और योजनाओं में जन सहभागिता पर बल
- समाज में सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक चेतना के लिए प्रयासरत
- राज्य की मनमानी प्रवृति पर रोक परंतु राज्य विरोधी नहीं
- भाईचारा, जनहित और मानव कल्याण पर जोर
- नागरिकों में देश प्रेम व कर्तव्यनिष्ठा के प्रति जागरूकता कायम करना
- जीवन सुधार पर बल
- सरकारी विभागों के कामकाज में पारदर्शिता, जवाबदेहिता पर बल (अवस्थी एवं माहेश्वरी, 2012, पृ. 83)

2.14 नागरिक समाज की भूमिका

- नागरिक समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य की मनमानी अर्थात् शक्तियों पर नियंत्रण करना है जिससे लोकतान्त्रिक व्यवस्था कायम रहे। वर्तमान में अन्ना समर्थित आंदोलन भ्रष्टाचार के खिलाफ है। इसका उद्देश्य देश की व्यवस्था को संविधान के अनुरूप बनाकर अमीर-गरीब के अंतर को कम करना है। बी. आर. अम्बेडकर ने भी 'अमीर-गरीब के बढ़ते अंतर को लोकशाही के लिए खतरा बताया था। यह परिवर्तन की लड़ाई इसी अंतर को कम करने के लिए है।'
- नागरिक समाज जनता में अधिकारों, कर्तव्यों व ज़िम्मेदारियों विशेषकर जनसहभागिता व लोकतांत्रिक मूल्यों को प्रभावी बनाता है जिससे कि स्वस्थ लोकतंत्र की नींव रखी जा सके। वर्तमान भारत में इसके तहत जनता के अधिकारों के लिए अनेक कानून बनाये जा रहे हैं जैसे सूचना का अधिकार, लोकसेवा गारंटी अधिनियम, सिटिजन चार्टर आदि।
- नागरिक समाज द्वारा लोकशिक्षा व्यवस्था के विकास, प्रसार तथा गुणवत्ता को बढ़ाया जाता है। ये युवा शक्ति को अपराध, हिंसा, साम्प्रदायिक दंगे,नक्सलवाद आदि के खिलाफ जागृत करते हैं। हमारे देश के लिए गौरवशाली बात यह है कि तेरह दिन तक पूरे देश में इतना बड़ा आंदोलन हुआ जो कि पूर्ण रूप से अहिंसक था और यह पूरी दुनिया के लिए एक मिसाल है। यह एक तरीके से जनता की जीत है जिससे बाध्य होकर सरकार को कुछ कदम उठाने पड़े।
- नागरिक समाज एक ऐसा मंच प्रदान करता है जहाँ अलग-अलग हितों वाले व्यक्ति अपने हितों को भुलाकर सामूहिक हित के लिए संगठित होते हैं। जैसा अभी इस आंदोलन में दिखाई दिया। इस आंदोलन में लोगों ने संगठित होकर अपनी मांगें राजनीतिक दलों व जन प्रतिनिधियों के सामने रखीं। अब यह अलग बात है कि वे अपनी मांगें मनवाने में कहाँ तक सफल होंगे।
- नागरिक समाज भविष्य के राजनीतिक नेताओं से भी परिचय करवाता है। यहाँ नए नेताओं को जनसमूह के समक्ष पहचान मिलती है जो कि लोकहित के मुद्दों पर कार्य कर रहे हैं। यह उन्हें प्रोत्साहित कर आगे स्थानीय, राज्य या राष्ट्र स्तर पर राजनीतिक प्रवेश के लिए तैयार करता है।

- यह लोकहित के मुद्दों से जनता को रूबरू करवाता है, उनसे सम्बंधित सूचनाएँ प्रदान करता है। कई बार ये संगठन सार्वजनिक मुद्दों पर बहस करवा कर जनहित से सरकार को अवगत कराते हैं तथा एक सर्वसम्मति का निर्माण करते हैं, जैसा कि जन लोकपाल बिल के संदर्भ में है। हाँलांकि कुछ लोग जैसे पी. ए. संगमा, अरुणा रॉय इस बिल के कुछ मुद्दों पर असहमति जताते हैं पर मुख्य मुद्दा भ्रष्टाचार की समाप्ति पर सभी सहमत हैं, पर रास्ते सभी अलग-अलग बताते हैं।
- नागरिक समाज निष्पक्ष चुनाव कराने के लिए राजनीतिक दलों व प्रत्याशियों से संबंध न रखते हुए विभिन्न मतदान केंद्रों पर तटस्थ पर्यवेक्षकों की नियुक्ति कर स्वतंत्र व शांतिपूर्ण चुनाव कराने में अपनी भूमिका निभाते हैं। वर्तमान में इस संदर्भ में राइट टू रिकॉल, राइट टू रिजेक्ट की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। अगर ये अधिकार नागरिकों को प्रदान कर दिए जाते हैं तो सही मायने में सच्चे लोकतंत्र की स्थापना हो जाएगी।
- सबसे अहम भूमिका के रूप में नागरिक समाज द्वारा जनता में जागरुकता लायी जाती है। ऐसे मुद्दे जो निजी हितों पर आधारित न होकर जनहित पर हो तथा जिनको संगठित स्वरूप न होने के कारण अनदेखा किया गया है, ऐसे मुद्दों को संगठित रूप से जनता के समक्ष पेश कर एक मजबूत जनमत का निर्माण किया जाता है। जिससे यह मांग सरकार के समक्ष रखकर उससे सम्बंधित कानून बनवाएँ जाएँ। (सिविल सर्विसेज क्रानिकल, अक्टूबर, 2011)

2.15 वैश्विक नागरिक समाज

वैश्विक नागरिक समाज की वास्तविकता इस तथ्य पर आधारित है कि विश्व को समृद्ध बनाया जाए और सबको समानता के आधार पर अधिकार मिले। वसुधैव कुटुम्बकम की भावना के आधार पर विश्व के देशों में प्रेम एवं सहयोग की भावना को बढ़ाया जाए और विभिन्न समस्याओं का समाधान किया जाए।

यह अवधारणा कार्ल मार्क्स के संघर्षवाद पर आधारित न होकर दुर्खिम के सहयोगवाद पर आधारित है, जिसमें व्यक्ति के महत्त्व से अधिक समाज का महत्त्व है। दुर्खिम के अनुसार इसमें चार तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं:-

1) सामाजिक मापदंड एवं कानून
2) श्रम का विभाजन
3) संस्थाएँ
4) प्रतीक एवं रीति रिवाज

यह चारों बिंदु व्यक्ति की समाज पर निर्भरता को बढ़ाते हैं। दुर्खिम राज्य को कार्य संचालन का एक हिस्सा मानता है जो इन पर नियंत्रण करता है।

जोआना मैसी वैश्विक नागरिक समाज को आधुनिक समाज का नया मोड़ मानती हैं जिन्होंने तीन तथ्यों को जोड़ा:-

1) विश्व व्यापार संगठन के ध्वंस के प्रति विरोध, यह विश्व नागरिक समाज को वैश्विक स्तर पर संगठित करता है।

2) इसी सन्दर्भ में नई सामाजिक एवं आर्थिक संस्कृति का निर्माण हो।
3) आध्यात्मिक पुनर्जागरण, यह सब धार्मिक संप्रदायों से अलग वैश्विक मानवता से जुड़ी है। (पेरलास, 2019, पृ. 183)

2.16 वैश्विक नागरिक समाज के क्षेत्र

आर्थिक क्षेत्र- आर्थिक शोषण एवं वित्तीय अस्थिरता को दूर करने के लिए विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंग इसमें शामिल हैं।

आतंकवाद एवं सैन्य बल- इस समस्या से संपूर्ण विश्व पीड़ित है। शक्तिशाली राष्ट्रों को भी ऐसा महसूस होने लगा है कि वे अकेले इस समस्या का निदान नहीं ढूढ़ सकते। इस समस्या का निदान नागरिक समाज विकसित और विकाशील देशों के बीच आपसी सहयोग और अंतर्निर्भरता के आधार पर ही सुलझा सकते हैं, जिससे अंतर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना हो सके।

पर्यावरण संबंधी- आज विश्व के समक्ष पर्यावरण संरक्षण एक विकट समस्या है। पर्यावरण से खिलवाड़, वैश्विक ऊष्मीकरण, प्राकृतिक आपदाओं की अधिकता और मौसम संबंधी अनावश्यक खराबियों ने चिंताजनक स्थिति बना दी है। पर्यावरण प्रदूषण में विकसित देशों का ज्यादा योगदान है, क्योंकि अनुसंधान और उद्योगों का विकास वहाँ ज्यादा विकसित है। (पेरलास, 2019, पृ. 112)

2.17 वैश्विक संस्कृति और नागरिक समाज

वैश्विक नागरिक समाज के उद्देश्य-

वसुधैव कुटुम्बकम की भावना: विश्व के लिए ऐसी नीतियाँ बनाना जो प्रत्येक देश के लिए कल्याणकारी हो। इस समाज का उद्देश्य किसी देश की सीमा का अतिक्रमण या नई सत्ता कायम करना नहीं है बल्कि विभिन्न देशों के मध्य परस्पर सहयोग से एक-दूसरे की समस्याओं का उचित तरीके से समाधान निकालना है।

सार्वभौमिक मूल्यों की स्थापना: यह समाज उन मूल्यों की स्थापना करता है जो सत्य पर आधारित हो, सर्वमान्य हो, मानवीयता से ओत-प्रोत हो। जैसे स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय, बंधुता, अंहिंसा और नागरिकों में जागरूकता एवं सक्रियता आदि।

वैश्विक संस्कृति की स्थापना-

1) इस प्रकार की संस्कृति का विकास करना जिससे एकतंत्रीय या राजतंत्रीय शासन समाप्त हो। जिससे विकसित राष्ट्रों की एकतंत्रीय आर्थिक लोलुपता पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सके।

2) सम्प्रभुता की रक्षा- विभिन्न राष्ट्रों की राजनीतिक, आर्थिक, सैन्य और सांस्कृतिक हमलों से रक्षा करना, जिससे सभी राष्ट्रों की सम्प्रभुता की रक्षा हो सके।
3) वैश्विक लोकतंत्र की स्थापना- स्थानीय सहयोग और मित्रता का विकास करना जिसमें सब व्यक्तियों और समुदायों को समान अवसर प्राप्त हों जिससे लोकतंत्र की स्थापना हो सके।
4) क्षेत्रीय लोकतंत्र, राष्ट्रीय लोकतंत्र और अंतर्राष्ट्रीय लोकतंत्र को बढ़ावा देना जिससे राष्ट्रीय आधार पर अच्छी प्रजातंत्रीय सरकारों का निर्माण हो और अंतर्राष्ट्रीय आधारों पर सब राष्ट्रों को समान अवसर प्राप्त हो।
5) सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में अनुसंधान और नवीनीकरण में वैश्विक सहयोग को बढ़ावा देना जिससे विकासशील देशों को नयी तकनीकी का ज्ञान हो सके,जैसे अर्थ समिट जो पृथ्वी के संरक्षण से जुड़ा है।
6) विश्व में निर्वहन आर्थिक व्यवस्था को कायम करना जिससे विश्व में प्रत्येक व्यक्ति खुशहाली का जीवन व्यतीत करे।
7) वैश्वीकरण की बुराइयों को दूर करना।
8) विश्व में व्याप्त बुराइयों को दूर करना, जैसे पर्यावरण संरक्षण, लैंगिक असमानता और मानव अधिकार के क्षेत्र में।
9) विश्व में एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र के बीच आत्मीय सहयोग को बढ़ावा देना।
10) लोक अभिमुख कार्यों को बढ़ावा देना।
11) प्रोद्यौगिकी के क्षेत्र में लेन- देन को बढ़ावा देना।
12) नागरिक समाज और कार्यरत संगठनों में सहयोग की भावना विकसित करना।
13) बौद्धिक संपदा का संरक्षण करना और स्थानीय वस्तुओं के पेटेंट अधिकार के अंतर्गत संरक्षित करना।
14) बाल अधिकारों को सुरक्षित करना। (पेरलास, 2019, पृ. 111)

2.18 वैश्विक नागरिक समाज की चुनौतियाँ

नागरिक समाज द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक- आर्थिक समानता प्रदान करवाना निश्चित रूप से लोकतंत्र की ओर एक अच्छा कदम है। योगेन्द्र सिंह अपने एक लेख में भारत के राजनीतिक नेतृत्व की चर्चा करते हुए कहते हैं कि नेतृत्व कहीं भी हो, राजनेता का उद्देश्य शक्ति को प्राप्त कर उसे लोगों के सामूहिक हित में लगाना चाहिए। नेतृत्व जहाँ आदर्शात्मक होता है, वहीं उद्देश्यपरक भी होता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो आज वैश्विक स्तर पर नेतृत्व का संकट है। आज वैश्विक स्तर पर यह सोचा जाने लगा है कि हमारे राजनैतिक मूल्य कैसे होने चाहिए और इसी अनुपात में राजनीतिक संस्थाएँ कैसी होनी चाहिए। यह गंभीरता से विचारने का विषय है कि नागरिक समाज को किस तरह संगठित होकर राजनीति और राज्य का मुकाबला करना चाहिए।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार आज देश में राजनीतिक दलों का पतन हो गया है, राष्ट्र- राज्य की प्रशासनिक क्षमता कमजोर पड़ गयी है। अब हमें नई आर्थिक व्यवस्था में ऐसे प्रशासक चाहिए जो किसी भी प्रबंध के मैनेजर की तरह काम कर सके। चिकनी- चुपड़ी बात करने वाले नेताओं की आवश्यक्ता नहीं

है। अमरीका और इंग्लैंड में भी अब यह समझा जाने लगा है कि प्रजातन्त्र को कारगर बनाने के लिए नागरिक समाज को मजबूत करना होगा। नागरिक समाज के समक्ष निम्न चुनौतियाँ हैं-

2.18.1 प्रजातंत्रीय समाज का निर्माण

नागरिक समाज का मुख्य उद्देश्य समानता को स्थापित करना है। यूरोप और अमेरिका की तरह यहाँ राजनीतिक स्थति संकट में है। वैश्विक स्तर के उत्पादन, संचार तकनीकी, प्रजातंत्र, राजनीतिक दल और बाजार में परिवर्तन के कारण संपूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा गया है। अब व्यवस्था में अनेक बुराइयाँ आ गयी हैं। ऐसा लगता है कि आधुनिक समाज की कार्य प्रणाली विदेशों में होने वाले परिवर्तनों के साथ सामंजस्य नहीं बैठा पाई है। इस कारण जहाँ विदेशों में उत्तर- आधुनिक समाज ने आधुनिक समाज को उखाड़ फेंका है वैसे ही भारतीय समाज में भी व्यवस्था का संकट मंडरा रहा है।

2.18.2 आर्थिक विकास

आर्थिक विकास के क्षेत्र में हमारे यहाँ का इतिहास अलग तरह का रहा है। अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में गाँधीजी और नेहरूजी के अलग- अलग दृष्टिकोण थे। गाँधीजी की दृष्टि में व्यक्ति स्वतंत्र था और उसकी स्वतंत्रता राज्य से ऊपर थी। नेहरूजी के अनुसार आमूल- चूल परिवर्तन करने में राज्य की भूमिका बहुत बड़ी थी। उनके काल में योजना आयोग का प्रभुत्व केंद्र और राज्य दोनों पर था। नेहरूजी का बाजार पर विश्वास नहीं था। उनके अनुसार उद्योगपति किसी भी समय जनहित कार्यों के लिए अपना लाभ वितरण के लिए तैयार हो सकते थे। नेहरूजी के अनुसार राज्य ही समाज में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन ला सकता है। लेकिन अब तक का यह अनुभव रहा है कि राज्य अपेक्षित परिवर्तन को लाने में असमर्थ रहा है। नेहरूजी ने एक मध्यम मार्ग का चुनाव किया था, सार्वजनिक क्षेत्र राज्य और उद्योगपति दोनों के बीच का है। लेकिन अनुभव ने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि सार्वजनिक क्षेत्र अपने लक्ष्य में सफल नहीं रहा क्योंकि यह क्षेत्र शीघ्रता से निजी हाथों में जा रहा है।

आर्थिक संकट के दबाव में देश ने 1991 में ढाँचागत परिवर्तन की नीति को अपनाया और इस कारण देश में वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण आया। अब वित्तीय नियंत्रण का केंद्र राज्य में स्थापित हो गया। अब मुख्यमंत्री अपने स्तर पर विदेशी निवेश के लिए समझौता करते हैं। अब आयात-निर्यात के नियंत्रण ढीले पड़ गए हैं। देश में वैश्वीकरण, उदारीकरण और इन दोनों के कारण निजीकरण एक नई आर्थिक क्रांति का परिचायक है। इस क्रांति ने बहुराष्ट्रीय कोरपोरेशन के निवेश का रास्ता खोल दिया है। इस स्थिति में स्थानीय और वैश्विक नागरिक समाज की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती जा रही है।

वर्तमान में राज्य और सरकार का प्रभुत्व घट रहा है। वैचारिक क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया है। एक समय पूंजीवाद और समाजवाद भारतीय समाज के परिवर्तन के पैराडाइम थे। संविधान संशोधन द्वारा भारत प्रजातान्त्रिक, धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी समाज बन गया लेकिन अब यह समाज उदारीकरण और निजीकरण की गिरफ्त में आ गया। राज्य की बजाय वैश्वीकरण शक्तिशाली बन गया। भारत को इस स्थिति में वैश्विक चुनौती स्वीकार करके नागरिक समाज को संगठित करना होगा।

इस प्रकार आधुनिक समाज जनहित समाज नहीं कहा जा सकता। इस समाज पर बाजार का अधिकार है। बाजार के बढ़ते प्रभाव के समर्थक विचारक यह कहते हैं कि अब राज्य की स्वायत्तता का अंत हो गया है। अब बाजार स्वायत्त हैं। सत्यता यह है कि भारत का बाजार विश्व बाजार की चपेट में आ गया है। विश्व बाजार से हटकर इसकी अपनी निजी पहचान नहीं है। जो लोग यह कहते हैं कि आज की अर्थव्यवस्था में मुक्त बाजार सर्वोपरि है, वास्तव में वे एक मिथक के शिकार हैं। मुक्त जैसी कोई वास्तविकता नहीं है। यह मुक्त बाजार पूंजीवादी देशों का पिट्ठू है। मुक्त बाजार के क्रियाकलापों में पूंजीवादी देशों का सबसे ज्यादा हस्तक्षेप है। इन देशों का ही तकनीकी के स्थानान्तरण और व्यापार में दखल है।

2.18.3 उपभोक्ता समाज

राष्ट्रीय जीवन के कुछ क्षेत्रों का आधुनिक समाज से मोह भंग हो गया है। हाल के सर्वेक्षण से पता चला है कि देश में एक उपभोक्ता समाज शीघ्रता से उभर रहा है। अब लोग उपभोग का शिकार हो रहे हैं। अब एक नया मध्यम वर्ग हमारे सामने है। योगेन्द्र सिंह के अनुमान के अनुसार यह वर्ग कोई दो करोड़ लोगों का है जिसकी मांगे बराबर बढ़ती ही जाती हैं। यह वर्ग शहरों तक ही सीमित नहीं है। देश में हरित क्रांति और श्वेत क्रांति ने ग्रामीण वर्ग में उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया। अब बाजार के विभिन्न रूप संपूर्णता में दिखाई देते हैं। मध्यम वर्ग का विकास उपभोक्तावादी समाज से जुड़ा हुआ है। इस नई प्रवृति पर योगेन्द्र सिंह कहते है "आँचलिकता और एकीकरण की पहचान" के रूप में दृष्टिगत होती है जिसका विवरण निम्न है-

आंचलिक पहचान-

बाजार की विविधता के प्रभावों को उद्योग, कृषि और सेवा क्षेत्र में देखने के बाद, मध्यम वर्ग जहाँ उपभोक्ता वर्ग बन रहा है, वहीं इस वर्ग की बचत में भी वृद्धि हो रही है। जहाँ एक ओर संस्कृति और आंचलिक क्षेत्रों में पहचान की चेतना आ रही है, वहीं दूसरी ओर कई अन्य क्षेत्रों में एकीकरण की भावना जागृत हो रही है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार उपभोक्तावादी समाज के निष्कर्ष का आधार भारत के लोग हैं। उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि देश में पिछले दशकों में जो विकास हुआ है उसमें लोगों की जीवनशैली में तो बहुत परिवर्तन आया है लेकिन नुकसानदायक बात यह हुई है कि असमानता में पहले से कहीं अधिक वृद्धि हुई है। दलित वर्ग का आधुनिक समाज से मोह भंग हो गया है। यह वर्ग उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग से अपने आप को ठगा महसूस करने लगा है। इस समय दो प्रक्रियाएं एक साथ चल रही हैं। पहला, औद्योगीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया राष्ट्र निर्माण को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जोड़ने में लगी है। दूसरा, क्षेत्रीय या आंचलिक एकता मजबूत हो रही है। अब स्थानीय पहचान जाति, धर्म और जनजाति के साथ जुड़ी हुई है। लोगों का राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे राजनीतिक दल, प्रजातन्त्र और शिक्षा से विश्वास उठ गया है। इस स्थिति में नागरिक समाज की चुनौतियाँ बढ़ जाती हैं।

2.18.4 बहुलवादी समाज

उत्तर- आधुनिकता और उत्तर-औद्योगीकरण दोनों बहुलवादी समाज हैं। उत्तर- आधुनिक युग की बहुत बड़ी विशेषता बुद्धिसंगतता का अभाव होता है। लोगों में बहुल सांस्कृतिक परम्पराएँ आ जाती हैं

और लोग खंडित रूप में रहना पसंद करते हैं। समाज में अनेक एथनिसिटिज काम करती हैं। भाषाएँ अनेक हो जाती हैं, कला की अभिव्यक्ति बहुल आयामी हो जाती है। स्थानीयता का बोलबाला हो जाता है। स्थानीय मेले, बाजार, त्योंहार और महान पुरूष इतिहास इस युग में प्रासंगिक हो जाते हैं। बहुल संस्कृति, भाषा, धर्म और बहुल एथनिकवाद उत्तर- आधुनिक और उत्तर- औद्योगिक युग की पहचान बन जाते हैं। क्षेत्रीय एकता समकालीन भारत की बहुत बड़ी पहचान है। बहुलता के कारण गत वर्षों में अनेक सामाजिक आन्दोलन हुए। मजदूर किसान शक्ति संगठन ने लोगों को सूचना का अधिकार दिलाने में अहम भूमिका निभाई। सरकारी और गैर- सरकारी क्षेत्र में काम- काज में पारदर्शिता आई है। आरक्षण की नीति ने दलित वर्ग को अति संवेदनशील बना दिया है। यह वर्ग समूह की चेतना के आधार पर अपने आप को शक्तिशाली समझने लगा है। पहली बार अनुसूचित जातियों और जनजातियों ने डरबन के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अपने साथ हो रहे भेदभाव को ताकत के साथ प्रस्तुत किया है। असफलता जरूर मिली लेकिन सरकार को कटघरे में खड़ा कर दिया है।

सारांश के रूप में कह सकते है कि नागरिक समाज के समक्ष बड़ी चुनौतियाँ है और कार्य का क्षेत्र व्यापक है। सूचना के अधिकार से काम- काज में पारदर्शिता बड़े संघर्ष के साथ प्राप्त हुई है। नागरिक समाज बाजार और राज्य व्यवस्था से मुक्त होकर संगठित रूप से निर्वहन विकास के आधार पर समाज को आगे बढ़ाने का काम कर सकता है। (एडवर्ड्स, 2011, पृ. 93-101)

2.19 निष्कर्ष

नागरिक समाज' एक अत्यंत अस्पष्ट अवधारणा है जिसकी परिभाषा के बारे में आम सहमति नहीं है। सामान्यत: यह ऐसी सामाजिक संस्थाओं की संरचनाओं को इंगित करती है जो राज्य की संस्था के साथ-साथ परिवार की संस्था से भी परे होता है। एक नागरिक समाज ऐसे गैर-राज्यीय संगठनों, संस्थाओं और आंदोलनों का एक समुच्चय है जो राजनीति, सार्वजनिक नीति और संपूर्ण समाज को अपने क्रियाकलापों से प्रभावित कर न्याय के साथ-साथ सभी नागरिकों को अधिकाधिक स्वतंत्रता देने की वकालत करता है। इस प्रकार के समाज का उद्देश्य राज्य को संयमित करना और उसे नागरिक नियंत्रण में लाना है। इसकी प्रमुख रूप से तीन सन्दर्भों में व्याख्या की गई है। प्रथम, विश्लेषणात्मक रूप से इसे साहचर्य जीवन का आधार माना गया है। दूसरा, आदर्शात्मक रूप में इसे एक अच्छे समाज का प्रतिरूप माना जाता है। तीसरा, इसकी व्याख्या सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिरूप के रूप में भी की गई है। कुछ विचारकों ने अपनी व्याख्या में इन तीनों- साहचर्य जीवन, अच्छे समाज और सार्वजनिक क्षेत्र का समन्वय किया है। निजी अथवा घरेलू जीवन पर आधारित क्रियाकलापों की बजाय इसमें सार्वजनिक जीवन को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह अवधारणा एक ओर कानून सम्मत शासन व्यवस्था को प्राथमिकता देती है तथा दूसरी ओर परिवार और राज्य के संबंधों की निकटता पर बल देती है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार इसके प्रमुख कार्य- क्षेत्र स्वैच्छिक संगठनों, व्यावसायिक संघों, श्रमिक संघों और जन संचार के साधनों तथा इसी प्रकार के अन्य संगठनों में जनता की भागीदारी जैसे विषय शामिल होते हैं। नागरिक समाज की अवधारणा को समाजशास्त्रियों ने तीन दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। पहला, परिवार और राज्य के बीच तालमेल

बैठाने वाली समितियों के रूप में। दूसरा, निरंकुश राज्यों पर अंकुश लगाने वाली संस्था के रूप में। तीसरा, बाजार के बीच एक स्थान के रूप में। समाजशास्त्रियों ने नागरिक समाज के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों का विश्लेषण किया है।

नागरिक समाज की अवधारणा का विकास 18वीं और 19वीं सदी में हुआ है। परन्तु बाद में 20वीं सदी के प्रारंभिक काल में इसका प्रयोग बहुत कम हो गया। ए. फर्ग्युसन (1767) ने नागरिक समाज को नागरिकता की एक दशा माना है, जिसकी उत्पत्ति सभ्यता के फलस्वरूप हुई है। समाजशास्त्र में यह अवधारणा दार्शनिक हीगल और मार्क्स की कृतियों के माध्यम से आई। हीगल (1837) के विश्लेषणों में 'नागरिक समाज' शब्द का प्रयोग परिवार (व्यक्ति) और राज्य के राजनीतिक संबंधों के मध्यवर्ती सम्बन्धों को इंगित करने के रूप में हुआ है। उन्होंने इसे बुर्जुआ समाज अर्थात पूंजीवादी समाज माना है जहाँ व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों को महत्त्व देता है और तर्क बुद्धि और विवेकसम्मत्ता पर आधारित समाज उसे संयमित करने की भूमिका निभाता है। परंपरागत मार्क्सवादियों ने इस धारणा के प्रति अपनी कड़ी आपत्ति दर्ज की है, फिर भी एंटोनियो ग्राम्शी जैसे मार्क्सवादी चिंतकों ने इस विचार को आगे बढ़ाने में मुख्य भूमिका अदा की है। मार्क्स और एंजिल्स के विश्लेषणों में हम बिरले ही अकेले शब्द समाज का प्रयोग देखते हैं। उनके सभी विश्लेषणों में 'नागरिक समाज' सामाजिक- आर्थिक संबंधों और उत्पादन की शक्तियों की समष्टि के रूप में और 'राज्य' नागरिक समाज के भीतर वर्ग-संबंधों के अधिसंरचनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में, के आधारभूत द्विभाजन के रूप में देखते हैं। अपनी पुस्तक 'द जर्मन आइडियोलॉजी' (1845) में उन्होंने लिखा है कि 'नागरिक समाज समस्त इतिहास का स्रोत एवं रंगशाला है।' उनके इस कथन का तात्पर्य यही है कि राजनीतिक घटनाओं, वैधानिक परिवर्तनों और सांस्कृतिक विकास की सारी व्याख्याएं नागरिक समाज की संरचना के विकास के सन्दर्भ में की जानी चाहिए। कार्ल मार्क्स ने 'नागरिक समाज'की अवधारणा का प्रयोग एक ऐसे भ्रष्ट पूंजीवाद के लिए किया है, जिसमें चरम व्यक्तिवादिता और भौतिकतावादी प्रतिस्पर्द्धा होती है। इस भ्रष्ट पूंजीवादी समाज के काले कारनामों से उत्पन्न संघर्ष, उत्पीड़न और दुर्गति को नियंत्रित करने या अंकुश लगाने के लिए ही आधुनिक राज्य की आवश्यकता हुई। इस सन्दर्भ में, मार्क्स ने आधुनिक पूंजीवाद और मध्यकालीन सामंती समाज में भिन्नता बताई है और कहा कि मध्यकालीन समाजों में सामाजिक संबंधों की समस्त संरचना मुख्यत: पारिवारिक रिश्तों और सामन्तवादी राजनीतिक बन्धनों एवं दस्तकारी संघों पर आधारित था।

मार्क्सवादी विचारक ए.ग्राम्शी (1971, पृ. 12) ने इस अवधारणा को अपने राजनीतिक विचारों में बहुत प्रयोग किया। उनकी धारणा मार्क्स के विचारों से अनुप्राणित होते हुए भी उनसे अलग थी। ग्राम्शी नागरिक समाज की स्थिति को राज्य के दबावमूलक अवपीड़क संबंधों और उत्पादन के आर्थिक क्षेत्र के बीच को बताते हैं। उन्होंने नागरिक समाज को उत्पीड़नकारी राज्य पर नियंत्रण पाने का एक साधन माना है। उनके इस विश्लेषण ने विचारधारा और शक्ति के आधुनिक मार्क्सवादी विश्लेषण में एक मुख्य भूमिका अदा की है। ग्राम्शी के विचारों का प्रभाव हम अधिक स्पष्ट रूप में लुई अल्थ्युजर की रचनाओं में 'विचारधारात्मक राज्य तन्त्र' और 'दमनात्मक राज्य तन्त्र'के बीच किये गए भेद में देख सकते हैं।

विभिन्न वैचारिक कारणों और विभिन्न सन्दर्भों में नागरिक समाज की अवधारणा के अलग-अलग अर्थ लिए जाते हैं। इस अवधारणा की विस्तृतता, इसके अर्थ को खोज निकलने के लिए हमें प्राचीन यूनानियों की ओर जाना पड़ेगा। जहाँ हमें इसकी दो आधुनिक परम्पराएँ दिखाई देती हैं। नागरिक समाज की यह दो परम्पराएँ उदारवादी- लोकतन्त्रीय और मार्क्सवादी हैं। यह दोनों परम्पराएँ नागरिक समाज की अवधारणा को पूंजीवाद के उदय के साथ जोड़कर शक्ति के दायरे में खड़ा कर देती है। जो राज्य से अलग होती है। उदारवादी लोकतन्त्रीय परम्परा नागरिक समाज के दायरे में विभिन्न परिप्रेक्ष्यों को लेते हुए इस तथ्य पर जोर देती है कि नागरिक समाज, राज्य की शक्ति पर अंकुश लगाने तथा सरकार पर नियंत्रण करने में मुख्य भूमिका निभा सकता है। 19वीं शताब्दी के फ्रांसीसी विचारक डी. ताकविल ने अमरीका का उदाहरण देते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि अमरीकी नागरिक समाज, स्वनियंत्रित और न्यूनतम सरकार के लिए सहायक हुआ है।

मार्क्स ने नागरिक समाज के विषय में किसी व्यापक व क्रमबद्ध विश्लेषण का प्रयास नहीं किया था। फिर भी उनकी रचनाओं से कहीं- कहीं यह स्पष्ट होता है कि नागरिक समाज, सामाजिक रूप से तटस्थ नहीं होता। मार्क्स मानते है कि नागरिक समाज का क्षेत्र, विभिन्न तरह के संघ- समूहों का क्षेत्र होता है। पूंजीपति वर्ग इसके माध्यम द्वारा अपनी शक्ति का संचय करता है। मार्क्स के विचारों को इतालवी विद्वान ग्राम्शी ने 1930 तथा 1940 के दशकों में आगे बढ़ाने का कार्य किया। ग्राम्शी के अनुसार नागरिक समाज असमान तथा जटिल शक्ति- संबंधों का स्थल होता है, जिन्हें अक्सर चुनौती मिलती रहती है और पराक्रमणीय होती है।

नागरिक समाज में अनेक मान्यताएं, मूल्य तथा सांस्थानिक तत्व जैसे सामाजिक, राजनीतिक अधिकार, विधि का शासन, प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएँ , एक जन क्षेत्र और उन सबके साथ संघ समुदायों की बहुलता सम्मिलित होती है। डेविड हेल्ड (मॉडल ऑफ डेमोक्रसी) के अनुसार नागरिक समाज में अपना एक विशेष स्वरूप यह होता है कि "यह सामाजिक जीवन के क्षेत्र से बना होता है, आंतरिक संसार, आर्थिक क्षेत्र, सांस्कृतिक गतिविधियों तथा राजनीतिक अन्योंन्यक्रियायें जो राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण से बाहर, व्यक्तियों व समूहों के निजी अथवा ऐच्छिक प्रबंधनों द्वारा संगठित होती हैं।" नागरिक समाज में हैबरमास राजनीतिक अन्योंन्यक्रियाओं में सम्पूर्ण 'जन क्षेत्र' सम्मिलित करते हुए, उसमें आधुनिक राष्ट्रीय राज्य, आर्थिक आधुनिकीकरण, अन्य समाजों के साथ संबद्धता, स्वतंत्र उद्यम तथा जिसे जॉन डन (वेस्टर्न पोलिटिकल थ्योरी) 'आधुनिक प्रतिनिध्यात्मक लोकतान्त्रिक गणराज्य' कहता है, शामिल करता है। नीरा चंधोक (स्टेट एंड सिविल सोसायटी) नागरिक समाज के अर्थ के विषय में लिखती हैं "इसमें वह जन क्षेत्र शामिल है जिसमें लोग अपने तथा उस संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एकत्रित होते हैं जिसे वे समाज कहते हैं।" आगे वह कहती हैं कि यह वह क्षेत्र है जो इस कारण सार्वजनिक है कि इस पर सबकी औपचारिक रूप से पहुँच संभव होती है तथा जिसमें सिद्धांत रूप से सबको अधिकार धारक के रूप में प्रवेश मिलता है।

नागरिक समाज की पुरातन परिभाषा संत आगस्टाइन द्वारा दी गयी है, जिसमें सिसरो का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि नागरिक समाज अथवा कॉमनवैल्थ लोगों का वह संगठन है जो सामान्य अधिकारों और सामान्य हितों के फलस्वरूप एकत्रित होते हैं।

नागरिक समाज के विचार में उन सबका विचार, जिसे हम सार्वजनिक कहते हैं, तो पूर्व आधुनिक काल, नागरिक समाज की संकल्पना के विरुद्ध का काल था। प्लेटो के शासक ही केवल प्रशासक थे तथा उत्पादकीय वर्ग जो समाज का अधिकांश भाग बनाता है, को सार्वजनिक मामलों में कोई भूमिका प्राप्त नहीं थी। अरस्तु का 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी' वाला विचार, अभिजातीय इस रूप में था कि उसका राजनीतिक प्राणी केवल एक पुरुष था, वह ही केवल नागरिक था, वह ही केवल संपत्ति का स्वामी था। शेष पूरी जनसंख्या महिलाएं, दास आदि वैयक्तिक दुनिया बनाते थे। यह नहीं कहा जा सकता था कि ये नागरिक समाज बना रहे हैं। प्राचीन रोम निवासी 'निजी व सार्वजनिक' में भेद करते थे। वे भी किसी नागरिक समाज के विचार को कोई रूप नहीं दे रहे थे। आधुनिक काल के आरंभ की उदारवादी- व्यक्तिवादी परम्परा (मैकियावली,बोदां, हॉब्स, लॉक तथा एडम स्मिथ), 17वीं से 19वीं शताब्दी के दौरान अनेक प्रकार के नागरिक समाजों की रूपरेखा बनाने का प्रयत्न किया, जो राज्य से भिन्न थी। हीगल ने नागरिक समाज को 'परिवार' का विलोम बताया तथा 'राज्य' को परिवाररुपी वाद एवं नागरिक समाजरुपी प्रतिवाद का संवाद। ग्राम्शी (1891- 1937) ने मार्क्स का अनुकरण करते हुए हुए 'नागरिक समाज' को एक अर्थ दिया था कि राज्य को न केवल सरकार के यंत्र के रूप में समझा जाना चाहिए, अपितु नागरिक समाज अर्थात आधिपत्य रुपी निजी यंत्र भी। राज्य की मार्क्सवादी धारणा के अनुसार ग्राम्शी ने एक राजनीतिक संगठन के रूप में, राज्य व सरकार के रूप में राज्य में भेद किया था। सम्पूर्ण राज्य तो नागरिक समाज में स्थित समस्त गतिविधियों को प्रतिदिन अपने अनेक व्यवहारों में प्रदर्शित करता रहता है। यह आधिपत्य है, जो बौद्धिक और नैतिक नेतृत्व को नागरिक समाज के व्यवहार में लाता है। ग्राम्शी के अनुसार आधिपत्य, नागरिक समाज में प्रभुत्वकारी व उपाश्रित, दोनों वर्गों के लिए काम करता है। ग्राम्शी कहता है कि शक्ति प्राप्त करने से पूर्व प्रत्येक वर्ग को समाज के सामाजिक संबंधों का आधिपत्यकरण करना चाहिए।

उदारवाद व मार्क्सवाद दोनों में नागरिक समाज को प्राथमिकता दी गयी है। जबकि उदारवादी नागरिक समाज को राज्य की स्वायत्तता से अलग रखना चाहते हैं। दूसरी ओर मार्क्सवादी, नागरिक समाज की वैकल्पिक परम्परा को बनाना चाहते हैं, जिसके दायरे में नागरिक समाज, अपनी समस्त विविधताओं सहित अपने आप को पुनर्गठित व परिवर्तित बनाए रखना चाहती है। भ्रष्ट सामन्ती व्यवस्था को बदलने और व्यक्ति की स्वतंत्रता को सशक्त बनाने के लिए पहले पहल 'नागरिक समाज' शब्द का प्रयोग करने का श्रेय एडम फर्ग्युसन को दिया जाता है। शुरू-शुरू में 'नागरिक समाज' शब्द का भाव 'राजनीतिक समाज', 'कानून द्वारा प्रशासित समाज' था। अब सामान्यतया नागरिक समाज उन संस्थाओं के लिए प्रयोग किया जाता है जो सरकार से अलग-थलग होती हैं। वर्तमान में तो 'नागरिक समाज' का प्रयोग, पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के विघटन के बाद बने समाज के लिए किया जाने लगा, क्योंकि साम्यवादी शासन ने

नागरिक समाज की संस्थाओं पर रोक लगा दी थी। अधिक सुनिश्चितता हेतु नागरिक समाज को बहुलवाद के समानार्थ समझा जाने लगा।

नागरिक समाज की अवधारणा में बहुत परिवर्तन आया है। नागरिक समाज ने आधुनिक युग के प्रारम्भ में जॉन लॉक के राजनीतिक सिद्धांत के साथ अपनी ऐतिहासिक यात्रा शुरू की। प्रबोधन कालीन विचारकों ने इसके अर्थ में बदलाव किया। हीगल, मार्क्स, ग्राम्शी जैसे विचारकों ने इसमें नए आयाम जोड़े। सामाजिक सिद्धांत की उपयोगी श्रेणी के रूप में सन् 1980 और 1990 के दशकों में इस अवधारणा की पुनः खोज हुई। यह भी देखा गया है कि समकालीन समय में नागरिक समाज का जो अर्थ लगाया जाता है, उसका इतिहास ज़्यादा पुराना नहीं है। इस अवधारणा के अनुसार नागरिक समाज को सामाजिक जीवन के बहुत से दायरों में से एक दायरा समझा जाता है। वर्तमान उपयोग में नागरिक समाज का प्रभाव क्षेत्र राज्य के प्रभाव क्षेत्र से पूरी तरह अलग है। इसमें स्वैच्छिक सहचर्यों का एक नेटवर्क शामिल है। समकालीन दौर में इस अवधारणा का उपयोग करने वाले चिंतकों में इन बातों पर सहमति है, लेकिन इस प्रश्न पर इनमें बहुत गहरी असहमति है कि इस संकल्पना में किस तरह के सहचर्यों और समूहों को शामिल किया जाना चाहिए। एक दृष्टिकोण के अनुसार नागरिक समाज को बुनियादी रूप से अर्थव्यवस्था की सीमा में शामिल किया जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण को मानने वाले विचारक यह चाहते हैं कि बाज़ार अर्थव्यवस्था में मिली स्वतंत्रता की राज्य के हस्तक्षेप से सुरक्षा की जाए। दूसरी ओर, एक वैकल्पिक दृष्टिकोण के अनुसार, नागरिक समाज का 'स्पेस' राज्य और अर्थव्यवस्था दोनों से ही स्वतन्त्र है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, नागरिक समाज ऐसे स्वैच्छिक सहचर्यों, आन्दोलनों और समूहों से बनता है जो लोकतांत्रिक व्यवस्था में विचारों के स्वतन्त्र आदान- प्रदान से उत्पन्न होते हैं। ये स्वैच्छिक सहचर्य समूह और आन्दोलन नागरिकों की स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए राज्य की शक्तियों पर स्थायी नियंत्रण लगाने का कार्य करते हैं। नागरिक समाज ने नियामकीय आयाम ग्रहण कर लिया है, क्योंकि यह लोकतंत्र और आज़ादी के लिए ज़रूरी स्थिति है।

नागरिक समाज की अवधारणा एक गतिशील विचार है और इसके साथ सामाजिक आन्दोलन का विचार भी जुड़ा हुआ है। इसे नागरिकता के गत्यात्मक पक्ष के रूप में भी देखा गया है, जिसके साथ दायित्व और अधिकार जुड़े होते हैं। नागरिक समाज के स्तर पर इन दायित्वों और अधिकारों का प्रयोग, छानबीन, पुनर्ज्जीवित और पुनर्परिभाषित किया जाता है। आजकल नागरिक समाज की धारणा का प्रयोग ज्यादातर स्वैच्छिक समितियों (नागरिक समाज संगठन और गैर सरकारी संगठनों) के लिए किया जाता है। इन समितियों का मुख्य मुद्दा गरीब, शोषक और उत्पीड़ित वर्ग की चिंताओं और विरोध को प्रकट करना है। इसके अलावा इनका मुख्य लक्ष्य निजी के साथ-साथ सामूहिक स्वतंत्रता को प्राप्त करना है। नागरिक समाज की धारणा आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्र बाजार का और राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र के रूप में उदारवाद का पोषण करती है। आजकल गैर-सरकारी राजनीतिक आन्दोलन, मानवाधिकार संगठन तथा अन्य स्वयंसेवी संगठन नागरिक समाज के विचार को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

नागरिक समाज परिवार, राज्य तथा बाजार से बाहर के उस क्षेत्र को कहा जाता है जहाँ लोग सामान्य हितों को बढ़ावा देने के लिए संगठित हो जाते हैं। संगठनात्मक रूप से नागरिक समाज में नागरिक सहभागिता का विस्तार, गहराई, आंतरिक विविधता एवं संगठनों के विभिन्न स्तर में परस्पर संबंध होना चाहिए। संसाधन या पर्यावर्णीय रूप में नागरिक समाज में राजनीतिक, मौलिक स्वतंत्रता, अधिकार, सामाजिक-आर्थिक एवं सामाजिक- सांस्कृतिक सन्दर्भ के संकेत मिलते हैं। जिस कानूनी दायरे में रहकर नागरिक समाज काम करता है वहाँ नागरिक समाज एवं राज्य तथा निजी क्षेत्र एवं नागरिक समाज में परस्पर संबंध होते हैं।

नागरिक समाज लोकतंत्र, सहनशीलता, खुलापन, लिंग समानता, पर्यावरणीय पोषणकारिता जैसे कुछ मूल्यों पर आधारित होता है। राज्यतंत्र, प्रशासन तथा समाज पर नागरिक समाज का प्रभाव रहता है जैसे:

1. सार्वजनिक नीति को प्रभावित करना
2. उत्तरदायित्व
3. सामाजिक हितों के प्रति सजगता
4. नागरिकों को शक्ति प्रदान करना
5. सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास

नागरिक समाज एवं राज्य के परस्पर संबंध तुलनात्मक स्थिति का संकेत देते हैं । राज्य जितना सशक्त होता है ,नागरिक समाज उतना ही कमजोर होता है। राज्य जितना कमजोर होता है, नागरिक समाज उतना ही सशक्त होता है। स्पष्ट है कि राज्य- गतिविधि के विस्तार से, नागरिक समाज की भूमिका न्यूनतम होती है। नागरिक समाज की गतिविधि के विस्तार से, राज्य की भूमिका में कमी आती है। आज के उदारवादी समाज में, नागरिक समाज का क्षेत्र, राज्य के क्षेत्र से विस्तृत है जबकि तानाशाही में नागरिक समाज की अपेक्षा, राज्य का क्षेत्र व्यापक होता है। संक्षेप में नागरिक समाज व्यक्तियों तथा संघ समुदायों के अनुभवों का एक जन क्षेत्र है। यह वह मंच है जहाँ निजी व सार्वजनिक के बीच के द्वंद्व में वार्ता होती है। यह साझे हितों, लक्ष्यों व मूल्यों पर निर्मित, अबाध्य, सामूहिक गतिविधियों का क्षेत्र है। यह राज्य से अलग, स्वायत्तयुक्त ऐच्छिक नागरिक, सामाजिक संगठनों व संस्थाओं का साकल्य है।

❑❑❑❑❑

तृतीय अध्याय

भारत में नागरिक समाज : उद्भव, विकास एवम् वर्तमान स्थिति

3.1 प्रस्तावना

प्राचीन काल से नागरिक समाज किसी न किसी रूप में रहा है, जहाँ मानवीय अधिकारों का संघर्ष प्रच्छन्न और मानव कल्याण के रूप में प्रकट रहा है। यह सुझाव दिया जाता है कि अवधारणा न तो तटस्थ होती है और न संस्कृति से बाहर होती है। ऐतिहासिक संदर्भ में पहली बार जो प्रकट होता है उसे सहन किया जाता है। दिलचस्प बात यह है कि इस तरह की अवधारणा विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक समायोजन को पुन: आकार प्रदान करती है। भारत एक लोकतांत्रिक देश है। लोकतंत्र का मुख्य आधार है जनता का शासन, एक ऐसा शासन जो जनता की शक्ति पर आधारित है एवम जिसमें जनता की शासन में सहभागिता हो। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का मूल पहलू जनता है इसलिए इसकी सफलता एवम असफलता देश के नागरिक समाज पर निर्भर करती है और एक ऐसा समाज जो कि सभ्य हो, शिक्षित हो और जागरूक हो।

भारत के राजनीतिक पटल पर यदि ध्यान दें तो यह प्रतीत होता है कि शासन व्यवस्था और प्रक्रियाओं के प्रति वर्तमान समय में जनता में गम्भीर असंतोष व्याप्त है। इसकी एक बानगी हमे अन्ना समर्थित जन आंदोलन के रूप में भ्रष्टाचार के खिलाफ दिखाई देती है जिसमें युवा वर्ग की अहम् भूमिका थी। इस अनशन का प्रभाव सरकार पर दिखाई दिया और सरकार ने आगामी शीतकालीन सत्र में लोकपाल बिल पारित करने की सहमति प्रदान की है।

भारतीय संविधान के शिल्पकार डा॰ बी. आर. अम्बेडकर द्वारा 25 नवम्बर 1949 को वक्तव्य दिया जो कि आज सार्थक एवम् प्रासंगिक है। उन्होने कहा था, " यदि हम चाहते हैं कि हमारा लोकतंत्र केवल ढाँचा भर ही नहीं रहे, वह वास्तविक भी रहे तो हमे क्या करना होगा? मेरे विचार से पहली बात तो यह है कि हमे अपने सामाजिक एवम् आर्थिक उद्देश्य हासिल करने के लिए अनशन को संवैधानिक तरीके के रूप में अपनाना होगा। इसका अर्थ है हमे क्रांति के हिंसक तरीकों को छोड़ना होगा। हमे नागरिक अवज्ञा, असहयोग एवम् सत्याग्रह के तरीकों का भी परित्याग करना चाहिए। जहाँ संवैधानिक रास्ते खुले हैं, वहाँ असंवैधानिक तरीका अपनाना न्यायोचित नहीं हो सकता, ये तरीके कुछ नहीं हैं सिवाय अराजकता के, जल्द ही इनका परित्याग हमारे भले के लिए है"। (राजस्थान पत्रिका, अगस्त, 2011)

भारत में आज भ्रष्टाचार के खिलाफ जो माहौल नागरिक समाज ने बनाया है उससे यह प्रतीत होता है कि आने वाले समय में इसे लेकर कुछ ठोस कदम प्रशासन द्वारा उठाये जाएंगे। इस आंदोलन में युवावर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ नागरिक समाज की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह अध्याय खास

तौर से भारत में नागरिक समाज की विशेषताएं और सामान्य रूप से नागरिक समाज की अवधारणा की उलझनों की खोजबीन करता है।

नागरिक समाज वह संगठित कार्यविधि है जिसका सरकार एवम् प्रशासन जैसे किसी सरकारी संस्था यथा शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यवसाय, उद्योग, सुरक्षा एवम् धर्म से कोई संबंध नहीं होता। नागरिक समाज के अंतर्गत धर्म आधारित संगठन, कॉरपोरेटिव, शिक्षण संस्थान, समुदाय युवा संगठन आदि शामिल हैं। ये वे लोग एवम् संस्थाएं हैं जिनका शक्ति एवम् सत्ता तथा लाभ से कोई सरोकार नहीं होता। ये समाज के तीसरे वर्ग हैं जो सरकार तथा उसके कार्यकलापों के लिए पूरक का कार्य करते हैं। इनका कार्य अराजनीतिक होता है परंतु ये राजनीतिक व्यवस्था पर दबाव डालकर बिना किसी लाभ के उद्देश्य के सामान्य नागरिकों के हक में लोकोन्मुख नीतियों एवम् कानूनों के निर्माण में मदद करते हैं इनके लिए पंजीकृत होना आवश्यक नहीं है। इनका प्रमुख उद्देश्य गरीब तथा वंचित वर्गों के जीवन स्तर को बेहतर बनाना है। इसलिए इनका निर्माण एवम् संगठन जनहित के लिए होता है। (सिविल सर्विसेज क्रोनिकल, सितंबर, 2011, पृ. 113)

वर्तमान समय में ऐसे अनेक अंतर्राष्ट्रीय नागरिक संगठन है जो कि अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर ध्यान देते है और उन्हें हल करते हैं। विकास की खोज में पर्यावरण या मानवाधिकारों से सम्बंधित एन.जी. ओ. परम्परागत राजनीति के क्षेत्र में नया आयाम जोड़ते हैं। नागरिक समाज का इतिहास अत्यंत पुराना है परंतु आधुनिक काल में हीगल की रचना 'फिलोसोफी ऑफ राइट्स' में इसके तत्त्व दिखाई देते हैं। भारत के संदर्भ में यह प्राचीन काल में जाति पंचायत, ग्राम पंचायत जैसे संस्थानों में तथा ट्रेड गिल्ड्स में दिखाई देते हैं जो कि राज्य में स्वतंत्र तथा स्वायत्त होते थे तथा जिनका अपने सदस्यों पर नियंत्रण होता था। आज़ादी के बाद जैसे-जैसे देश पुलिस राज्य से कल्याणकारी राज्य की ओर बढ़ा वैसे ही नागरिक समाज की प्रासंगिकता बढने लगी। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने राज्य की परम्परागत अवधारणा जैसे कानून लागू करना, कर एकत्रित करना, न्याय प्रदान करने की भूमिका से बाहर निकलकर इसे नए परिवेश में शामिल करना जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा एवम् सुरक्षा। राज्य के बढ़ते कार्यक्षेत्र एवम् कर्तव्य ने इसके कार्याधिकारियों को कई स्वैच्छिक अधिकारों को प्रदान किया अर्थात् राज्य के एकाधिकार को स्थापित किया तथा इससे कई प्रकार की समस्याओं से भी अवगत होना पड़ा। जैसे बढ़ते कार्यभार से राज्य की अक्षमता, असफलता, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार आदि। इन सभी समस्याओं को दूर करने के लिए नागरिक समाज की भूमिका एक ऐसे समूह के रूप में उभर कर आई जो कि राज्य और व्यक्ति के बीच की दूरी को कम करते हुए व्यक्ति की न्यायोचित्त मांगों को पूरा करने के लिए सरकार पर दबाव बनाता है और लोकतांत्रिक व्यवस्था की जडों को मजबूती प्रदान करता है। 1990 के बाद विश्व में नई विचारधारा जैसे उदारीकरण,निजीकरण और व्यापारीकरण का उदय होने से राज्य के कल्याणकारी स्वरूप में बदलाव आया। अब सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवेश में बाज़ार की अहम् भूमिका होने लगी अर्थात् बाज़ार आधारित कारकों का हस्तक्षेप बढ़ गया इसलिए नागरिक समाज की भूमिका और भी अहम हो गयी और इन्होंने आम व्यक्ति या समूह की आवाज़, मुद्दों को नई पहचान दिलाई। (सिविल सर्विसेज क्रोनिकल, अक्टूबर 2011, पृ. 22)

नागरिक समाज लोकतांत्रिक राजनीति का अहम हिस्सा है। भारत का इतिहास विविधतापूर्ण, जोशपूर्ण नागरिक समाज और आंदोलनों का इतिहास रहा है जहाँ जे. पी. आंदोलन या चिपको आंदोलन जैसे कई सफल आंदोलन हुए। जिससे जनता की आवाज़ को गति मिली औपचारिक चुनावी व्यवस्था के बाहर से सरकार पर कार्यवाही करने का दबाव डाला गया। वर्ष 2004 में राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के गठन के साथ नागरिक समाज ने औपचारिक रूप से अपना प्रभाव दिखाया। एन. ए. सी. नीतियों के मसौदे बनाने में प्रत्यक्ष रूप से योगदान के लिए नागरिक समाज के सदस्यों को आमंत्रित करती है। वर्तमान में इन्हीं के प्रयासों से भारत में महत्त्वपूर्ण अधिनियम जैसे सूचना का अधिकार, राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारन्टी अधिनियम, सिटिज़न चार्टर, लोकसेवा गारन्टी अधिनियम आदि बने। इनमें से सूचना का अधिकार और रोज़गार गारन्टी अधिनियम मील के पत्थर साबित हुए। इन कार्यों के द्वारा नागरिक समाज जो परम्परागत रूप से आंदोलन के ज़रिये सरकार को प्रभावित करता था, अब नीति निर्धारण में अहम भूमिका निभाने लगा। लेकिन इसका अन्य प्रभाव यह भी हुआ कि कुछ मुद्दों पर सरकार से इसके मतभेद दिखाई देने लगे। कुछ उदाहरणों में जैसे 2005 में सूचना का अधिकार पास होने के पश्चात जब अधिकारियों ने फाइलों पर होने वाली नोटिंग को सूचना के अधिकार से बाहर करवाने के प्रयत्न हुए तब अरुणा रॉय समेत आर. टी. आई. कार्यकर्ताओं ने विरोध जताया और परिणाम स्वरूप सरकार को संशोधन से पीछे हटना पड़ा।

आज भ्रष्टाचार को रोकने या जनलोकपाल बिल के सम्बन्ध में नागरिक समाज की अहम भूमिका है। भारत के संविधान में हालांकि नागरिक समाज का उल्लेख नहीं है परंतु संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों में अनुच्छेद 19 में संघ बनाने व विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान की गयी है, जो कि नागरिक समाज का ही प्रतिरूप है। आज भारत की शासन व्यवस्था अराजकता, अव्यवस्था व संकट से गुज़र रही है। नित नये घोटाले सामने आ रहे हैं। आवश्यकता इस बात है कि इन संकटों का सामना कर इनका समाधान किया जाये। हालांकि समाधानों के रूप भी अनेक हैं, जैसे लोकसभा व विधानसभा की तरह ग्राम सभाओं को भी मजबूत और सशक्त बनाया जाये, सत्ता का विकेंद्रीकरण हो, चुनाव प्रणाली में बदलाव हो, धरती के संसाधनों से शासन में शुचिता, पारदर्शिता, जवाबदेही शामिल हो आदि। इन सभी समाधानों से शासन व्यवस्था में सुधार किया जा सकता है।

नागरिक समाज इन सभी समस्याओं से सरकार को अवगत कराता है। चूंकि नागरिक समाज व राज्य एक दूसरे के पूरक है, इसलिए इसकी भूमिका राज्य की नीतियों पर निर्भर करती है। यह जनता का दृष्टिकोण सरकार के समक्ष रख सकती है। परंतु संसद को बाध्य नहीं कर सकती जैसा कि इन दिनों दिखायी दे रहा है। संसद जनप्रतिनिधियों से मिलकर बना संगठन है, जो कि जनमत की उपेक्षा कभी नहीं कर सकता। परंतु लोकतंत्र में अपनी बात कहने का भी अधिकार है। (राजस्थान पत्रिका, अक्टूबर, 2011) हाल ही में जन लोकपाल बिल को लेकर इसी तरीके के मतभेद निकल कर आये हैं। नागरिक समाज द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को दूषित घोषित कर देना और सभी राजनेताओं को भ्रष्ट घोषित कर देना और गैरनिर्वाचित संस्थाओं को सही घोषित करना या केवल यह मान लेना कि उनके द्वारा पेश किया गया प्रस्ताव ही सही है, यह अधिकारवाद या सत्तावाद का प्रतीक प्रतीत होता है। नागरिक समाज की भूमिका वास्तव में लोकतंत्र

की गहराई को मजबूत करने की होनी चाहिए न कि लोकतांत्रिक संस्थाओं को अतर्कसंगत ठहराने की। बी. आर. अम्बेडकर ने ऐसे तरीकों को 'अराजकता का व्याकरण' के रूप में संदर्भित किया है।

इन सबके बावजूद नागरिक समाज की एकजुटता व समाज की असहमतियाँ लोकतांत्रिक समाज का अंदरूनी हिस्सा है। इसके पूरी तरह से खत्म होने का अर्थ है नागरिक समाज का अधिकारवाद। अब यह संसद पर निर्भर करता है कि वह इस बिल को किस रूप में पास करती है परंतु आदर्श लोकतांत्रिक व्यवस्था तभी स्थापित होगी जबकि राज्य व नागरिक समाज मिलकर काम करें और हमें उसी आदर्श स्थिति को प्राप्त करना है। (राजस्थान पत्रिका, अगस्त 2011)

3.2 नागरिक समाज की खोज

मोलियर की 'बुर्जीइस जेन्टल्मेन जोर्डन' में उन्होंने बिना विचार किए कि 1980 के दशक में जो विचार नागरिक समाज के रूप में अस्तित्व में आएगा, इस बात पर बल दिया कि भारत में गद्य के रूप में विद्वानों के दस्तावेजों, विश्लेषणों, सम्बंधित अवधारणाओं, राजनीतिक आन्दोलनों, सामाजिक संलिप्तताओं के रूप में नागरिक समाज पहले से ही अस्तित्व में है। राजनीतिक कल्पना के रूप में यह विचार सबसे आगे क्यों आया, यह भी सर्वविदित है। पहले नागरिक समाज ने मध्य और पूर्वी यूरोप में तथा अन्य स्थानों पर सर्वसत्तावादी शक्तियों के विरुद्ध सफल संघर्ष प्रारम्भ किया। इसे विकासवादी और कल्याणकारी राज्यों से तीव्र विरक्ति हो गयी है। समाजवादी राज्य सक्रियतावादी और विद्वान लोगों से प्रेरित हैं जो राजनीतिक दुर्दशा का समाधान अन्य कहीं देखते हैं। उन्होंने इसे नागरिक समाज के सामाजिक आंदोलनों और सर्वसत्तावादी जीवन के अंदर पाया है। तीसरा, विश्व के सामने अंग्रेज़ी भाषी लोगों ने दो महत्त्वपूर्ण कार्य 'एंटोनियो ग्राम्शी' की 'प्रिजन नोटबुक संग्रह' तथा 'जुर्गेन हैबरमास' की 'द स्ट्रकचरल ट्रान्सफोरमेशन ऑफ द पब्लिक स्पेयर' के रूप में सुझाए। दोनों रचनाएँ नागरिक समाज की अवधारणा को लोगों के सामाजिक वर्ग के रूप में सर्वप्रमुख स्थान देती हैं।

अंतिम रूप से समाजवादी विश्व द्वारा जो विकास कार्य अपनी जागृत अवस्था में वर्ग योजना तथा क्रांतिकारी परिवर्तनों के रूप में लाए गए उनका समाधान बड़ी मुश्किल से किया गया। इससे अच्छा सबक मिला। भविष्य में मुद्दों, पहचान आधारित आंदोलनों, प्रचार और नागरिक संघों के ढीले गठबंधन हुए। राज्य की बजाए स्वयं की देखरेख में राजनीतिक कार्यसूची पर स्वप्रतिबंध स्थापित किये गए। नागरिक समाज के आगमन को महत्त्वपूर्ण ढंग से महसूस किया गया। नागरिक समाज की अवधारणा न केवल इसके अमूर्त रूप और अवधारणात्मक वर्णन को बल्कि विशेष रूप से नागरिक सक्रियता तथा सामूहिक क्रिया को भी रूप देता है। जहाँ तक यह निर्देशात्मक है, यह दर्शाता है कि सहयोगात्मक जीवन लाक्षणिक जगत में परिवार, बाज़ार और राज्य के बीच अनेक कारणों से मूल्यवान है। सहयोगात्मक जीवन, व्यक्तिवाद और नैतिक पतन की बजाय आधुनिकता को निष्प्रभावी करता है। सामाजिक संघ गुणात्मक रूप से इसे सम्भव बनाता है। इस प्रकार यह एकता को उत्पन्न करता है। इन योजनाओं का मुख्य उद्देश्य सामाजिकता को

बढ़ावा देना और अलगाववाद को रोकना है। जो भी कारण हो ,सहयोगात्मक जीवन मूल रूप से अच्छा है। सहयोगात्मक जीवन एक अन्य रूप में भी अच्छा है जो सामूहिक क्रियाओं को बढ़ावा देने का काम करता है। सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने से मानवीय संस्थाएं यह महसूस करती हैं कि उनके पास निर्णय प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार है। दूसरे शब्दों में सामूहिक क्रिया लोकतंत्र की मूल परिकल्पना, लोकप्रिय सर्वसत्तावाद के रूप में उनके लिए लाभदायी है; वह यह भी बताता है कि जब तक लोग आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताओं में एक साथ नहीं आएंगें, तब तक नागरिक समाज राज्यों के साथ समाहित नहीं हो सकता। (चंधोक, 2009, पृ. 99-108) इसके विपरीत यद्यपि सहयोगात्मक जीवन अपने मूल्यों पर अधिकार रखता है, इसे नागरिक अधिकारों के संघर्ष और राज्यों के उत्तरदायित्व से नहीं जोड़ा जा सकता। (गुप्ता, 1997, पृ. 305-07) उत्तरदायित्व महत्त्वपूर्ण क्यों है? एक विचार जो नागरिक समाज के तर्कों में उपस्थित है वह यह है कि लोकतांत्रिक राज्य अपने आप में अपूर्ण है। लोकतंत्र एक परियोजना है जो न केवल सामूहिक क्रिया कलापों में बल्कि राज्य के साथ अनवरत संलग्न रहता है। नागरिक सक्रियता, लोकसतर्कता, अभिसूचित लोकमत, एक स्वतंत्र मीडिया इस काम के लिए आवश्यक है लेकिन यहाँ अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, क्या नागरिक समाज में सभी संगठन राज्यों के साथ एक ही प्रकार का संबंध रखते हैं? दूसरा प्रश्न है कि क्या वे अपने संविधान, निर्णय, कार्यों तथा दृष्टिकोण में इस लोकतंत्रिक विचार को सम्मिलित करते हैं? क्या नागरिक समाज के सभी संगठन प्रजातंत्रीकरण के अभिकर्ता हैं? (महाजन, 1999, पृ. 1194)

3.3 भारत में नागरिक समाज का उद्भव

भारत में नागरिक समाज संगठनों को हम बुर्जुआ समाज के स्पष्ट परिणाम के रूप में नहीं देख सकते। ये संगठन न तो स्वायत्त बाज़ार के अनुभव से उत्पन्न हुए हैं, न किसी न्यायिक आदेश के उत्पाद हैं, ना सम्पत्ति संबंधों से, ना वैयक्तिक रूप से और न ही भाषाई अमूर्त अधिकार से उत्पन्न हुए हैं। इनका उद्भव जुड़वा प्रक्रिया के तहत हुआ है। एक ओर उपनिवेशवाद का प्रतिरोध तो दूसरी ओर सुविचारित दृष्टिकोण का विकास जो उदारवादी आदर्श व आधुनिक शैक्षिक व्यवस्था के प्रकाश में निरंतर अस्वीकार्य पाया जाता है।

अपने प्रारम्भ से ही, भारत में नागरिक समाज बहुस्थान रहा है जहाँ कम से कम सात विभाग संगठन के रहे हैं। (बेहर एन्ड प्रकाश, 2004, पृ. 196-197; जायल, 2007, पृ. 144-145) पहले, उन्नीसवीं सदी में सामाजिक व धार्मिक सुधार आंदोलन जैसे कि ब्रह्म समाज व आर्य समाज जिन्होंने मूर्तिपूजा, धार्मिक रीति रिवाज़ों व जाति का विरोध किया, महिला शिक्षा व विधवा पुनर्विवाह के लिए काम किया तथा विभेदीकृत व पुरोहित वर्ग के स्थान पर हिंदुत्व को तार्किक रूप देने का प्रयास किया। दूसरा, बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में गांधीवादी संगठन जातिगत रूप से पिछडे व गरीब वर्गों के सामाजिक उन्नयन में संलग्न रहे(उदहारण.हरिजन सेवक संघ)। तीसरा, औद्योगिक शहरों जैसे मुम्बई व

अहमदाबाद में श्रमिक संघों के चारों ओर स्वहित संगठन खड़े हो गए जैसे स्वदेशी मित्र मंडल व श्रमिक समाज मित्र मंडली।

चौथा, तमिलनाडु में सामाजिक दमन के खिलाफ स्वाभिमान आंदोलन जिन्होंने विभेदीकृत सामाजिक परिपाटियों के स्थान पर तथाकथित नीची जातियों हेतु एक नैतिक मापदण्ड स्थापित किए।

पांचवा, व्यावसायिक अंग्रेज़ी बोलने वाले भारतीयों ने बहुत बड़ी संख्या में ऐसी संस्थाओं का निर्माण किया जिनका काम था- शिक्षित मध्यवर्गी भरतीयों हेतु रोज़गार, अवसरों व अंग्रेज़ी शिक्षा के व्यापक प्रचार हेतु औपनिवेशक सरकार को ज्ञापन देना, जैसे बॉम्बे प्रेसिडेन्सी एसोसिएशन।

छठा, स्वतंत्रता आंदोलन की अगुआ कांग्रेस पार्टी ने महिला व युवा वर्ग के उत्थान हेतु अनेक संगठन स्थापित किए जैसे हिंदू महासभा व राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ जो भारतीय नागरिक समाज में गैर नागरिक संगठनों का केंद्र थे।

स्वतंत्रता के पश्चात, चूंकि स्वतंत्रता संघर्ष के नेताओं ने ही सत्ता सम्भाली थी, नागरिक समाज के संगठन कम या अधिक रूप में राज्यों से दूर होते गए। चूंकि राजनीतिक नेतृत्व ने कानूनी वैधता प्राप्त कर ली थी, अतएव नागरिक समाज संगठनों ने इस बात की अवश्यकता ही महसूस नहीं की कि लोगों को राजनैतिक चेतना प्रदान करनी है, कि उन्हें उनके अधिकारों के प्रति जागरुक करना है, कि एक राजनीतिक समुदाय बनाना है ताकि नवस्वतंत्र भारत के नागरिक आपस में व राज्य के साथ तादात्म्य बना सकें। यह स्थिति आज़ादी के ढाई दशकों तक रही। कांग्रेस पार्टी के पतन ने उत्तरदायी व प्रतिनिध्यात्मक राजनीति की मृत्यु की घोषणा कर दी। इससे अत्यधिक असंतोष व क्रोध का वातावरण बना। 1970 के प्रारम्भ में समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायण ने इस सामाजिक असंतोष की आँच पर एक वृहद राजनैतिक आंदोलन खडा करने में सफलता प्राप्त की जो इंदिरा गांधी के नेतृत्व वाली केंद्रीय सरकार के सर्वाधिकारवाद के विरुद्ध था।

इस आंदोलन ने इंदिरा गांधी को जून 1975 से जनवरी 1977 तक आंतरिक इमरजेंसी लगाने का अवसर प्रदान किया। यह इमरजेंसी आम लोकतांत्रिक राजनीति व संवैधानिक सुरक्षा के नागरिक अधिकारों के निलम्बन के साथ ही उच्च स्तर के दमन हेतु भी जानी जाती हैं। विरोधाभास यह है कि इससे दल राजनीति के बाहर सम्पूर्ण सामाजिक संघर्षों में जान डाल दी। यदि भारत से कुछ सीखा जा सकता है तो वह यह है कि सर्वसत्तावादी राज्य ने विकास की शुरुआत की व स्वयं नागरिक समाजों को दृढ़ता प्रदान की। विवादास्पद रूप से, नागरिक समाज की प्रभावी विजय तानाशाही से सामना होने पर, नागरिक व राजनीतिक अधिकारों से हीन होने की बजाय असंतोष व राजनीतिक क्रोध सक्रिय नहीं हुआ। नागरिक समाज संगठन, भारत में लोकतांत्रिक अधिकार उल्लंघन को आधार प्रदान करते हैं व राज्य के विकास की कमी को पूरा करने का काम करते हैं। (शेठ, 1983, पृ. 1-24; कोठारी, 1988, 1989, पृ. 216-24)

नागरिक समाज जब एक अभिव्यक्ति के तौर पर भारतीय राजनीति परिदृश्य पर आया, उस समय राज्य की प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं (चुनावों और राजनीतिक दलों) के बाहर चलने वाली लोकतांत्रिक राजनीति के बारे में गहरा वाद विवाद चल रहा था। यह बहस लोकायन आन्दोलन से जुड़े एक्टिविस्टों और पब्लिक इंटेलेक्चुअल द्वारा शुरू की गयी। उन्होंने इसे गैर दलीय राजनीति नाम दिया और इसे लोकप्रिय बनाया। राजनीति के इस क्षेत्र का वर्णन गैर दलीय राजनीतिक समूह और आन्दोलन के रूप में किया गया। यह गैर दलीय राजनीति का विचार जय प्रकाश नारायण द्वारा 1960 के दशक में शुरूआती वर्षों में विकसित किये गए दल विहीन लोकतंत्र की तरह नहीं था।

लोकायन द्वारा शुरू की गई बहस का निचोड़ यह था कि संसदीय राजनीति के उस आयाम पर प्रकाश डाला जाए, जो लोकतांत्रिक राजनीति की असाधारण दुनिया का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन संस्थाबद्ध राजनीति करने वाले लोगों ने इस विचार को संदेह की नज़र से देखा। राजनीतिक सिद्धांतकारों के एक तबके को ऐसा लगा मानो वह लोकतंत्र के पुरातन विचार का प्रतिनिधित्व करता है। शायद उन्होंने इसे उदारतावादी लोकतंत्र के लिए खतरा भी माना। गैर दलीय राजनीतिक समूहों में ऐसे व्यक्तिगत कर्ता, सामाजिक कार्यकर्ता और समूह शामिल हैं जिनका उद्देश्य और कार्यक्रम बुनियादी रूप से राजनीतिक है, लेकिन जो दलों और चुनावों की राजनीति से परहेज़ करते हैं।

गैर दलीय राजनीति ने जनहित के ख़ास मुद्दों को बुलंद करके राजनीतिक व्यवस्था तक पहुंचाया। लोगों को गोलबंद कर उसने राजनीतिक व्यवस्था को इन मुद्दों पर कार्यवाही करने पर मजबूर किया। ज़मीनी आन्दोलनों के राज्य स्तरीय समर्थक संगठनों की मुख्य गतिविधि यह थी कि वे राज्य के साथ विरोध और सहयोग का एक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध कायम करते थे। ये लोगों के साथ और लोगों की ओर से काम करते थे। राजनीतिक दल इन लोगों की ज़रूरतों और अधिकारों की ओर ध्यान नहीं देते थे। कभी कभार ध्यान चला भी जाता तो भी इसे चुनावी राजनीति के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता। स्थानीय और ग्रामीण समुदायों के लिए भ्रष्टाचार इतना बढ़ चुका था कि उसने उनके लिए जिंदगी और मौत से जुड़े मुद्दे की शक्ल इख्तियार कर ली थी। इस सन्दर्भ में एम.के.एस.एस. का उद्देश्य हमारे सामने है। इसका गठन अरुणा रॉय और उनके सहयोगियों ने किया। इसने राजस्थान में राजनीतिक दलों से उपेक्षित पड़े लोगों के साथ जुड़ कर काम किया और सरकारी अधिकारियों को मजबूर कर दिया कि वे भ्रष्टाचार मुक्त तरीके से विकास कार्यों का संचालन करें। बाद में इसी ने सरकारी भ्रष्टाचार से लड़ने के संघर्ष के रूप में सूचना के अधिकार की मांग रखी। जल्द ही यह एक बहुत ही व्यापक अभियान बन गया। इस बार भी एम.के.एस.एस. को सफलता मिली। सूचना के अधिकार की मुहीम न्याय और समानता के संघर्ष की पैदाइश थी जिसमें भ्रष्टाचार सत्ता के मनमाने इस्तेमाल का पर्यायवाची था। आर.टी.आई.आन्दोलन का सबसे ज्यादा जोर पारदर्शिता और एक लोकतान्त्रिक प्रणाली को आम आदमी के प्रति जवाबदेह बनाने पर था। आर.टी.आई.ने गोपनीयता की संस्कृति में पारदर्शिता का समावेश करा कर एक बड़ा बदलाव लाने का काम किया है। जवाबदेही के लिए संघर्ष अपने आप में उस तन्त्र में न्याय के लिए संघर्ष है। आर.टी.आई.ने सूचना और तथ्यों के सहारे आम आदमी का सशक्तिकरण किया है। यह राष्ट्रीय स्तर की जीत थी। वास्तव में, लोकायन की गैर-दलीय

राजनीतिक समूह की अवधारणा में इसी तरह की प्रक्रियाओं और आंदोलनों की कल्पना की गयी है। इसी तरह का अन्य उदाहरण नेशनल अलायंस ऑफ पीपल्स मूवमेंट्स है। इसका नेतृत्व मेधा पाटकर कर रही हैं। देश के दूसरे भागों में जमीनी स्तर पर बहुत से आंदोलन चल रहे हैं।

नागरिक समाज की अभिव्यक्ति के चलन के कारण गैर दलीय राजनीतिक संगठनों से जुड़ा वाद-विवाद फीका पड़ गया है। लेकिन मुख्य बात यह है कि एक्टिविस्टों की एक अच्छी खासी जमात में ज़मीनी स्तर पर 'ग्रासरूट आन्दोलन' का विचार 'जन आन्दोलन' के नाम से कायम रहा। हम सब जानते हैं कि भारत के अकादमीशियनों की यह प्रवृत्ति रही है कि पश्चिम से कुछ नए प्रचलित शब्दों के आने के साथ ही अपने शब्दों और अवधारणाओं को छोड़ देते हैं। मेरा यह मानना है कि कहीं से भी आने वाले शब्द को मानने में कोई हर्ज नहीं है लेकिन इसे हमारे अनुभव से जुड़ा होना चाहिए। (प्रतिमान, जनवरी-जून, 2013, पृ. 19-21)

1970 के अंत में नागरिक समाज जाति व लिंग आधारित न्याय हेतु संघर्ष के रूप में सक्रिय हुए। वे नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा, पर्यावरण सुरक्षा, वृहद परियोजनओं के विरुद्ध संघर्ष, जिन्होंने आदिवासियों व पहाड़ियों को विस्थापित किया तथा भोजन, कार्य व सूचना, मकान, प्रारम्भिक शिक्षा व स्वास्थ्य हेतु आंदोलन किए। इन आंदोलनों से लोग साथ आए व इन्होने राज्य की नीतियों को प्रभावित किया। सन् 2000 तक यह अनुमान लगाया गया कि जमीनी स्तर पर काम करने वाले सामाजिक आंदोलन, गैर राजनीतिक संघ सम्पूर्ण देश में 20,000 से 30,000 के बीच है। (शेठ, 2004, पृ. 45)

1990 के दशक में ये संगठन सामाजिक सेवा सुधार, सशक्तिकरण अधिकार, विकास, सुशासन उत्तरदायित्व के रूप में सक्रिय हुए। राजनीतिक लोकतंत्र संगठनात्मक रूप में सम्पूर्ण देश में सक्रिय हुए, यद्यपि अभी भी बहुत बडी संख्या में लोग न्यूनतम स्तर पर जीवन जी पा रहे हैं। 1970 में शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, पर्यावरणविदों, सामाजिक कार्यकर्ताओं ने विकास के वैकल्पिक प्रारूपों पर प्रयोग किए। व्यावसायिक NGO को मुख्यत: पश्चिम से पैसा मिलता है। इस परिवर्तन को नवीं पंचवर्षीय योजना (1985-1990) में आधिकारिक पहचान मिली जब सेवा वितरण हेतु पर्याप्त फण्ड दिया गया। सन् 2004 के अध्ययन के अनुसार भारत में गैरलाभकारी संगठन 1.2 मिलियन से ज़्यादा है जहाँ 20 मिलियन लोग स्वैच्छिक अथवा वेतन भोगी के रूप में काम करते हैं। (प्रिया, 2003, पृ. 5, 11)

नागरिक समाज वैसे तो राजनीतिक दर्शन की स्थापित अवधारणा है पर अन्ना हजारे के नेतृत्व में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन की शुरुआत होने के साथ ही यकायक उभर कर सामने आई है। अभी तक लोग अपने आप को नागरिक समाज के भाग के रूप में नहीं देखते थे। इसके बजाय एन.जी.ओ., स्वैच्छिक संगठन, ग्रासरूट संगठन, सामाजिक आन्दोलन आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। लेकिन आज इन्हें नागरिक समाज के रूप में पहचाना जा रहा है। इन्टरनेट और मीडिया में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन का वर्णन करने के लिए इस शब्द का खासतौर से प्रयोग किया गया है।

3.4 भारत में नागरिक समाज का विकास

भारत में नागरिक समाज की अवधारणा बौद्धिक वंशावली की एक धारा के रूप में राजनीतिक दर्शन में देखी जा सकती है। इसमें यह ध्यान देने की जरूरत है कि भारतीय विद्वानों ने मार्क्स, हीगल और ग्राम्शी का अध्ययन किस रूप में किया, उनकी किस तरह व्याख्या की और उनको नए सिरे से कैसे पढ़ा। इसकी एक दूसरी धारा कुछ ब्रिटिश या उत्तर अमेरिकी विचारकों के लेखन में खोजी जा सकती है। इन विचारकों ने लोकोउपकार, कल्याण, शिक्षा-स्वास्थ्य और आगे चलकर विकास के क्षेत्र में भी सार्वजनिक संगठनों और संस्थाओं के नागरिक कार्यों की भूमिका पर ध्यान दिया। इस परिघटना ने भारतीय विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। विशेष तौर पर,1980 के दशक के अंत में राजनीतिक वैज्ञानिक और समाज शास्त्री इस ओर आकर्षित हुए। उन्होंने माना कि भारत के सार्वजनिक जीवन के आधुनिक- सेकुलर क्षेत्र में नागरिक समाज का अस्तित्त्व है। इस रूप में इसके उभार का सूत्र औपनिवेशिक आधुनिकता में खोजा जा सकता है।

औपनिवेशिक शासन को सरकार, विशेष तौर पर इसके प्रशासनिक संयंत्र को, लोगों से जोड़ने की आवश्यकता महसूस हुई। ऐसे में उसने शासक और शासित के बीच कई मध्यवर्ती संगठनों और संस्थाओं की रचना की। इसका एजेंडा यह था कि इस विचार को चर्चा में लाया जाए। इसके द्वारा यह प्रांतों में सामाजिक, आर्थिक और कल्याणकारी गतिविधियों की पहल का समर्थन करना चाहता था। वह चाहता था कि इस पूरी प्रक्रिया द्वारा भारतीय जनता के बीच औपनिवेशिक शासन के लिए एक सीमा तक राजनीतिक समर्थन कायम रहे। इसमें स्वास्थ्य, शिक्षा और कल्याण के क्षेत्र में कई सहकारी समितियों, सार्वजनिक ट्रस्टों और स्वैच्छिक सामाजिक संगठनों का निर्माण भी शामिल था। स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में जिला विकास बोर्ड जैसे बहुत से जिला स्तरीय संगठनों का निर्माण किया गया। औपनिवेशिक शासन ने इन क्षेत्रों के 'जाने-माने' और 'सम्मानित' लोगों को इसका सदस्य बनाया। 19वीं और 20वीं सदी की शुरुआत के दौर में औपनिवेशिक शासन ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार किया और पारम्परिक अभिजनों से मिलकर इन नीतियों पर अमल किया। इससे 'कोलोनियल पब्लिक' के बारे में जागरूकता बढ़ी। समाज सुधारकों के एजेंडे में भी मध्यवर्ती निकायों के निर्माण और उसमें भागीदारी की बात शामिल थी। गुजरात में नर्मदाशंकर दवे एक प्रभावशाली समाज-सुधारक थे। इन्हें आधुनिक गुजराती साहित्य का संस्थापक भी माना जाता है। इन्होंने 'मंडली बनवाना फायदा' शीर्षक से एक छोटा और रोचक निबन्ध लिखा था। इसमें उन्होंने संगठन बनाने के बहुत से फायदों पर प्रकाश डाला था। इस तरह, जहाँ औपनिवेशिक राज्य ने संगठन बनाने को नीतिगत कदम के रूप में अपनाया, वहीं समाज सुधारकों ने भी विभिन्न क्षेत्रों में संगठनों को बढ़ावा देने का काम किया। (प्रतिमान, 2013, पृ. 23-24)

नागरिक समाज की लोकप्रियता केवल निरंकुश शासकों के विरूद्ध चलने वाली लोकतान्त्रिक संघर्षों से ही जुड़ी हुई नहीं है। यह इस बात को भी दिखाती है कि लोगों के विश्वास में कमी आई है कि राज्य उनकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा करने में सक्षम है। इस अवधारणा का उत्थान यह

बताता है कि अधिकांश उत्तर- औपनिवेशिक राज्य अपने समाज में आर्थिक और राजनीतिक विकास को स्थापित करने में विफल रहे हैं। अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमरीका के अधिकांश नव- स्वतंत्र देश लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को पूर्ण करने में असफल रहे हैं। ये राज्य न तो उच्च आर्थिक वृद्धि दर हासिल कर पाए न ही ये लोकतान्त्रिक राजनीति को संस्थाकृत कर पाए। राज्य के संकट ने अब तक राजनीतिक विमर्श पर छाए राजनीतिक और आर्थिक विकास के विचारों पर प्रश्न खड़ा कर दिया।

1980 और 1990 के दशक में नए सामाजिक आंदोलनों से विकास के अस्तित्वमान मॉडलों को चुनौती मिलनी शुरू हो गई। इन सामाजिक आंदोलनों ने पारंपरिक राजनीतिक दलों और दबाव समूहों से अलग विरोधी राजनीतिक 'स्पेस' बनाने का प्रयास किया। ये इस अर्थ में भी नए थे कि इनमें से बहुत से आंदोलनों ने विकाशील देशों द्वारा अपनाए गए विकास के मॉडल पर ही सवालिया निशान लगा दिया। हम भारत के 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' और 'चिपको आन्दोलन' को इस तरह के आंदोलनों के उदाहरण के तौर पर ले सकते हैं। दरअसल, 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' ने नर्मदा नदी पर बनने वाले सरदार सरोवर बांध का इकोलॉजिकल आधार पर विरोध किया। आन्दोलन ने बड़े बाँधों पर आधारित विकास मॉडल पर ही सवाल खड़ा कर दिया। यह आन्दोलन बाँध के कारण विस्थापित हुए स्थानीय लोगों के अधिकारों के लिए संघर्ष करता रहा है। इसने बड़ी परियोजनाओं के विभिन्न पहलुओं के संबंध में निर्णय लेने की प्रक्रिया में अति- केंद्रीकरण की आलोचना की है। अति- केन्द्रीकरण के कारण इससे प्रभावित होने वाले लोगों को निर्णय- प्रक्रिया में शामिल नहीं किया जाता है। इन आंदोलनों ने आर्थिक विकास के बारे में जागरूकता पैदा की है। इसके लिए इन्होंने पारंपरिक रूप से गैर- राजनीतिक साधनों का इस्तेमाल किया है। ये आन्दोलन जनमत को बदलने में सफल रहे।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नागरिक समाज और राज्य का संबंध समझने के लिए औपनिवेशिक आधुनिकता बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अब ऐसा नहीं हो सकता कि कोई नागरिक समाज की बात करे और राज्य का उल्लेख न करे। नागरिक समाज ने तुलनात्मक रूप से स्वायत्त होकर और लोगों के आम हित में काम किया। परन्तु फिर भी यह राज्य की उपच्छाया की तरह सामने आया। समाज वैज्ञानिकों ने इसे आधुनिक राज्य के दायरे के अंदर अवस्थित किया। उन्होंने इस पर मुख्य रूप से सेकुलर सन्दर्भ में विचार करना शुरू किया। यह माना गया कि जाति और धार्मिक संगठन इसके दायरे से बाहर स्थित हैं। इसलिए इसे सार्वजनिक संगठनों की अर्द्ध- राजनीतिक संरचना के रूप में देखा गया, जो राज्य से जुड़ी हुई है। संक्षेप में, वे यह मानते थे कि नागरिक समाज प्राथमिक रूप से भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन के आधुनिक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है। इस रूप में यह प्रजातन्त्र का एक आयाम बना।

आधुनिकता और लोकतंत्र के सिद्धांत एक-दूसरे से निकटता से जुड़े हुए हैं। एक में होने वाला बदलाव दूसरे को भी प्रभावित करता है, अर्थात लोकतंत्र का दायरा आधुनिकता से पूर्ण रूप से मिलता-जुलता लगता है। आज दुनिया में पोलिटिकल पब्लिक की किस्मों में जबरदस्त विकास हुआ है। विशेष तौर पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के लोकतन्त्रों में ऐसा हुआ है। इन लोकतन्त्रों में नागरिक समाज राज्य के

मुकाबले आ गया है। इसका राज्य के साथ टकराव और सहयोग का गत्यात्मक संबंध है। नागरिक समाज के मंथन में दीर्घकालिक आधुनिकतावादी प्रोजेक्ट की पड़ताल की जा रही है। इस प्रोजेक्ट का लक्ष्य एक ऐसे लोकतान्त्रिक शासन की स्थापना करना था, जिसके नागरिक अपने अतीत की पहचानों से कटे हों। नागरिक समाज की राजनीति के कारण राज्य-समाज संबंधों के बारे में एक सरल, 'ब्लेक एन्ड व्हाइट' नजरिया बनाना भी कठिन है। अर्थात एक ऐसा दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता जिसके अनुसार केवल राज्य द्वारा बनाए गए पूरी तरह से सेकुलर स्पेस में ही नागरिक समाज का अस्तित्व हो सकता है, जैसे नागरिक से परे कोई दूसरा समाज नहीं होता।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जातिगत और धार्मिक संगठनों ने अपने सदस्यों के लिए बहुत से सेक्यूलर काम किये हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और सामान्य कल्याण के क्षेत्र में बहुत काम किया गया है। इस तरह के संगठन इन गतिविधियों के द्वारा राजनीतिक प्रभावों से अछूते नहीं रहे। उन्होंने कभी भी अपनी गतिविधियों को कर्मकांडीय संविधियों और अपने सदस्यों की पवित्र भूमिकाओं तक ही सीमित नहीं किया। इस बात को याद रखने की आवश्यकता है कि आधुनिकता से पहले के जमानों में भी सामाजिक और धार्मिक केन्द्रों में सामाजिक और राजनीतिक कार्य किये जाते थे। इसलिए नागरिक स्पेसों की अवधारणा तैयार करने और नागरिक समाज की सीमा रेखा तय करने का काम अभी शेष है।

वास्तव में यह नागरिक समाज को समझने का एक तरीका है, जो मुख्य रूप से अकादमीय और विचारधारात्मक विमर्श में सामने आया है। इसकी वास्तविक राजनीति एक अलग कहानी है- यह विकासशील, खुला और बहुआयामी है। आंशिक रूप से यह हाशिये पर पड़े लोगों द्वारा सम्मानजनक जिन्दगी के अधिकार के लिए किये जाने वाले संघर्ष और आंदोलनों से जुड़ी है। इस प्रक्रिया में यह राज्य की संस्थात्मक संरचना का लोकतंत्रीकरण करती है। संविधान लोकतान्त्रिक राजनीति के इस आयाम को मान्यता देता है। लेकिन यह केवल सामान्य अर्थ में ही ऐसा करता है, अर्थात यह इसे व्यक्तियों और समूहों के राजनीतिक अधिकारों के रूप में ही मान्यता देता है। कई बार राज्य द्वारा नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण किया जाता है या फिर कार्यपालिका की शक्तिशाली संस्थाओं या संसद द्वारा उपेक्षा की जाती है। कई बार गैर-राज्य सत्ता-केन्द्रों द्वारा भी नियमित रूप से समाज में साधारण नागरिकों के अधिकारों की उपेक्षा हो सकती है। नागरिकों के इन अधिकारों की हिफाजत के लिए नियमित रूप से काम करने वाले आंदोलनों को अब भी क़ानूनी और राजनीतिक रूप से अपनी राजनीतिक वैधता स्थापित करनी है। संविधान में तकनीकी रूप से दिए गए अधिकारों को वास्तव में हासिल करने के लिए बहुत से दूसरे संवैधानिक तौर-तरीकों और प्रावधानों की आवश्यकता है। लेकिन अभी तक इन्हें तात्त्विक रूप से प्राप्त नहीं किया जा सका है। इन्हें नागरिक समाज की मुख्य धारा की राजनीति में शामिल करने की सम्भावना नहीं है। गैर-दलीय राजनीति के आन्दोलन में यह सम्भावना निहित है। आज लोकतंत्र के युग में विरोध की राजनीति को पुराने औपनिवेशिक कानूनों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। ये औपनिवेशिक कानून भारतीय दंड संहिता में निहित हैं। इसमें किसी सभा को गैर-क़ानूनी घोषित करने वाले कानून भी शामिल हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गैर दलीय समूहों और लोकतन्त्रों ने भारतीय लोकतंत्र को गहनता और

गतिशीलता प्रदान की है। राजनीति को राजनीतिक और सैद्धांतिक वाद-विवादों के केंद्र में लाने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही नागरिक समाज की अवधारणा को सही तरह से समझा जा सकता है। (प्रतिमान, 2013, पृ. 23-26)

नागरिक समाज वैसे तो राजनीतिक दर्शन की स्थापित अवधारणा है पर अन्ना हजारे के नेतृत्व में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन की शुरुआत होने के साथ ही यकायक उभर कर सामने आई है। अभी तक लोग अपने आप को नागरिक समाज के भाग के रूप में नहीं देखते थे। इसके बजाय एन.जी.ओ., स्वैच्छिक संगठन, ग्रासरूट संगठन, सामाजिक आन्दोलन आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। लेकिन आज इन्हें नागरिक समाज के रूप में पहचाना जा रहा है। इन्टरनेट और मीडिया में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन का वर्णन करने के लिए इस शब्द का खासतौर से प्रयोग किया गया है। औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारत में नागरिक समाज तीन चरणों में विकसित हुआ है। पहला आज़ादी के आन्दोलन के दौरान, दूसरा जे.पी आन्दोलन के दौरान और तीसरा उत्तर वैश्वीकरण दौर मे। जे.पी. आन्दोलन के बाद देश के विभिन्न भागों में तरह-तरह के गैर सरकारी संगठन सामने आये। इसके बाद नागरिक समाज के विचार को भलाई करने वाले संगठनों तक सीमित रखना बहुत ही मुश्किल हो गया था। आज नागरिक समाज शब्द का उपयोग अपने उस शुरूआती स्तर से आगे जा चुका है जो इस शब्द की पश्चिमी अवधारणा के नज़दीक था। अपने नए अर्थ में नागरिक समाज में वे सारी परिघटनाएं शामिल हैं। यह अवाधारणा भारत में लोकतांत्रिक व्यवहार के विविध रूपों की जटिलता सामने लाने के लिए आवश्यक है। राजनीति शब्द के बुनियादी अर्थ के आधार पर इसे राजनीतिक ही कहा जा सकता है।

भारत ने नब्बे के दशक में भूमंडलीकरण की दुनिया में प्रवेश कर नई आर्थिक नीतियां अपनाई। विदेशी फंडिंग एजेंसियों ने इसे चलाया। उन्होंने आर्थिक मदद लेने वाले गैर सरकारी संगठनों को नागरिक समाज संगठन कहना शुरू किया। एन.जी. ओ. को नागरिक समाज का अंग बताकर ये विदेशी एजेंसियां भारतीय एन.जी.ओ. के साथ अपने लेनदेन का औचित्य एक हद तक प्रमाणित कर पाईं। भारत के गैर सरकारी संगठनों ने भी ख़ुशी-ख़ुशी खुद को नागरिक समाज का हिस्सा कहलाना स्वीकार किया। इस सन्दर्भ में रोचक बात यह देखी गयी कि राजनीतिक माहौल में बदलाव और एक नए राजनीतिक विमर्श के उभार के साथ पुरानी स्थापित अवधारणा को नए अर्थ मिल सकते हैं और उसका स्थापित अर्थ धुंधला हो सकता है। ऐसा लगता है कि नागरिक समाज के विचार के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ है। नागरिक समाज की अवधारणा को शीतयुद्ध की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण भी बल मिला है। शीत युद्ध की समाप्ति के समय सोवियत बुद्धिजीवियों और राजनीतिक विरोधियों ने नागरिक समाज शब्द का विचार अपनाया। सोवियत शासन का विरोध कर रहे लोगों ने ज़ोरदार तरीके से अपना तर्क रखा। यह तर्क इस प्रकार था: साम्यवादी राज्य का सिर्फ नागरिक समाज का पुन: उभार ही राज्य को राज्य के लोगों तक वापस ला सकता है। दूसरी तरफ मार्क्सवादी विश्लेषण में नागरिक समाज को निष्क्रिय, क्रांति विरोधी और प्रतिभागी परिघटना के तौर पर देखा जाता है। इसके तहत यह माना जाता है कि यह बुर्जुआ लोकतंत्र से जुड़ा हुआ है।

सोवियत शासन ने लोगों को बहुदलीय व्यवस्था और राजनीतिक आजादियों से वंचित रखा था। सोवियत शासन के विरोधियों का विश्वास था कि एक बहुदलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के उभार और राजनीतिक आज़ादी हासिल करने के लिए राज्य को नागरिक समाज के अंतर्गत लाना ज़रूरी है। इस तरह सोवियत राज्य विरोधी विमर्श में नागरिक समाज शब्द ने एक ख़ास अर्थ हासिल किया है। अब इसे राज्य के खिलाफ राजनीतिक कार्यवाही के रूप में देखा जाने लगा। जल्द ही यह भारत के सामाजिक कार्यकर्ताओं और अकादमीशियनों की पसंदीदा अवधारणा बन गया। इनमें से बहुतों ने बिना गहराई से विचार किये नियमित रूप से 'समाज' की जगह नागरिक समाज शब्द का प्रयोग करना शुरू कर दिया। कई अवसरों पर इस तरह का प्रयोग पूरी तरह से गलत था। जब अन्ना हजारे के आन्दोलन ने सरकार के भ्रष्टाचार के खिलाफ लोगों को अच्छी खासी संख्या में गोलबंद किया तो फ़टाफ़ट इस शब्द को इसके साथ जोड़ दिया गया। अन्ना आन्दोलन के साथ इसके उस अर्थ को भी जोड़ा गया जिसमें इसे राज्य के खिलाफ राजनीतिक कार्यवाही के रूप में देखा जाता है। (प्रतिमान, जनवरी-जून, 2013, पृ. 18-19)

भारतीय विद्वानों, विशेष तौर पर राजनीतिक शास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने शीत युद्ध समाप्त होने के बाद गम्भीरता से इस शब्द का प्रयोग करना शुरू किया। एक प्रकार से उत्तर-आपातकाल के समय से ही इसके प्रयोग की शुरुआत हो चुकी थी। समाजशास्त्रियों ने इसका प्रयोग भारतीय समाज में लोकतान्त्रिक राजनीति को समझने के लिए किया। राजनीतिक वैज्ञानिकों ने शायद औपचारिक, संस्थात्मक लोकतंत्र के बारे में ज्यादा चिंता दिखाने और आंदोलन की तात्त्विक राजनीति की उपेक्षा करने से पैदा हुए शून्य को भरने के लिए इसका उपयोग किया। वास्तव में,इस तरह के आन्दोलन की उपेक्षा के कारण ही राजनीतिक सिद्धांत का राजनीतिक शक्ति संबंधी दृष्टिकोण केवल आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य, विशेष तौर पर इसकी संस्थाओं तक सिमटा रहा है। यह गैर-संस्थात्मक रूपों और प्रक्रियाओं को अपने विश्लेषण में शामिल नहीं कर पाया। सत्ता के इन गैर-संस्थात्मक रूपों का उभार गैर-दलीय लोकतान्त्रिक राजनीति से हो रहा था, जो भारतीय लोकतंत्र के सिद्धांतीकरण के लिए बहुत ही प्रासंगिक था। (प्रतिमान, 2013, पृ. 22) परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक सिद्धांत ने मुख्य तौर से भारत के लोकतान्त्रिक राज्य की आधुनिकता पर ध्यान दिया और उसके लोकतान्त्रिक चरित्र पर उतनी गहराई से विचार नहीं किया। इस वजह से लोकतांत्रिक सिद्धांत आधुनिकता के सिद्धांत से बुरी तरह उलझ गया। इस कारण हमें नुकसान का सामना करना पड़ा। राजनीतिक दलों और चुनावों से अलग होकर सामने आने वाली राजनीतिक भागेदारी के रूपों को मान्यता नहीं दी गई। इस कारण भारत में आधुनिकता और लोकतंत्र के बीच एक द्वंद्व का निर्माण हुआ। लोकतान्त्रिक सिद्धांत इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। सिद्धांत ने राजनीतिक सत्ता के पूर्व आधुनिक स्रोतों को सरलता से अपने दायरे में स्वीकार नहीं किया है। वास्तव में गैर दलीय राजनीति भी गैर लोकतान्त्रिक मानी जाती रही है। सत्ता के पूर्व आधुनिक रूपों का समकालीन रूपों में परिवर्तन हो गया है। लोकतंत्र की संस्थाओं को नियमित रूप से इनका मुकाबला करना पड़ता है। सत्ता की इस पूर्ववर्ती संरचना में लोकतान्त्रिक राजनीति के कारण काफी बदलाव और सुधार हुआ है। परंतु अब भी यह समकालीन अभिजनों की सत्ता के रूप में स्थित है। वास्तव में, इस अभिजन सत्ता ने भारतीय आधुनिकीकरण के इंजन

के रूप में कार्य किया है। लेकिन यह लोकतंत्र के लिए बड़ी चुनौती है। इसका कारण यह है कि ऐतिहासिक रूप से मौजूद सत्ता की अभिजन संरचना ने भारत के उदारतावादी लोकतंत्र की संस्थात्मक सत्ता का निर्माण किया है। उसी अभिजन ने इसके आधुनिकीकरण का नेतृत्व किया है। (प्रतिमान, 2013, पृ. 22-23)

3.5 नागरिक समाज वर्तमान स्थिति

कोई भी लोकतान्त्रिक राज्य अपने संगठनों और संस्थाओं तक सीमित नहीं रह सकता। इसे एक नागरिक समाज की जरूरत होती है, ताकि ऐसी राजनीतिक कार्यवाही, जो अमूमन गैर-क़ानूनी और हिंसक हो सकती है, उसे लोकतान्त्रिक विरोध और संवाद की रुपरेखा में लाया जाये। यही कारण है कि औपनिवेशिक समय से ही राज्य को विरोध और सहयोग के ऐसे संगठित रूपों की तलाश रही है जिसका वह सामना कर सके। राज्य ने ऐसे संगठित रूपों को बढ़ावा भी दिया है। इसलिए हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि इसने विकासात्मक योजनाएँ लागू करने में गैर-सरकारी और स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका को मान्यता दी है। उसने योजना प्रक्रिया में उनके सुझाओं का महत्त्व स्वीकार किया है। दरअसल, सोनिया गाँधी के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय सलाहकार परिषद(एन.ए.सी.) इसी प्रक्रिया का परिणाम है। राजनीति में बाजार की व्यापक मौजूदगी के कारण एक नया शब्द 'पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप(पी.पी.पी.) भी प्रचलन में आया है। यह भी सत्य है कि जहाँ राज्य पहुँचनें में समर्थ नहीं है, वहाँ नागरिक समाज यह भूमिका अदा कर रहा है और जहाँ दोनों ही मौजूद नहीं हैं, वहाँ नक्सलियों का दबदबा है। हम देख सकते है कि जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाले आपातकाल विरोधी आंदोलन के बाद नागरिक समाज की भूमिका में बहुत ज्यादा बदलाव हुआ है। अधिकांश समकालीन प्रगतिशील कानूनों की शुरुआत नागरिक समाज से हुई है और फिर सरकार ने उसे आगे बढ़ाया। सूचना का अधिकार, शिक्षा का अधिकार आदि जैसे कानून से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है। (प्रतिमान, जनवरी-जून, 2013, पृ. 27)

3.6 नागरिक समाज सरकार के परामर्शदाता

भारत के दूसरे हिस्सों की तरह भारत में भी नागरिक समाज संगठनों की भूमिका आमतौर पर आंदोलनकारी नहीं रही है। ये संगठन हमेशा से सरकार की पूरक भूमिका ही अदा करते रहे हैं। संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यू.पी.ए.) की मौजूदा सरकार में योजना आयोग से लेकर कई तरह की सरकारी कमेटियों में नागरिक समाज के प्रतिष्ठित कार्यकर्ताओं को सदस्य बनाया गया है। नागरिक समाज के नाम पर सार्वजनिक जीवन में कितना भी हंगामा क्यों न हो रहा हो, ये लोग चुपचाप आज भी सरकार के अंग बने हुए हैं। अन्ना हजारे की टीम ने सरकारी लोकपाल को 'जोकपाल' करार दिया है, हम इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं कर सकते कि लोकपाल विधेयक का जो संस्करण संसद में पेश किया गया है उसमें एन ए सी के रूप में नागरिक समाज के ही एक महत्त्वपूर्ण हिस्से द्वारा बनाए गए मसौदे के कई पहलू शामिल हैं। स्वयंसेवी संगठनों के नेटवर्क के रूप में नागरिक समाज को थर्ड सेक्टर भी कहा जाता है। यह थर्ड सेक्टर

खुद को बेहिचक अराजनीतिक कहता है। दरअसल, यही उसकी राजनीति है। भारतीय लोकतंत्र को इस 'अराजनीतिक' किस्म के नागरिक समाज से बहुत फायदा हुआ है।

नागरिक समाज और वर्तमान सरकार का यह संबंध उस समय पहली बार चर्चा में आया था जब नागरिक समाज के गाँधीवादी रुझान वाले संगठनो के नेतृत्व में भोपाल से दिल्ली तक राष्ट्रीय जनादेश यात्रा निकाली गयी थी। उसी समय दिल्ली में वामपंथी पार्टियाँ अपनी रैली कर रहीं थीं। वामपंथी रैली विशाल और प्रभावशाली थी, पर मनमोहन सिंह सरकार ने मजदूर वर्ग की उस आंदोलनकारी पहल की पूरी तरह से उपेक्षा कर दी। जनादेश यात्रा के प्रतिनिधि मंडल को प्रधानमन्त्री ने फौरन मिलने का वक्त दिया। इसी यात्रा के परिणामस्वरूप नया वन कानून बना। नागरिक समाज की भूमिका परामर्श की ही रही है। उसके मंचों पर होने वाली बहस में अक्सर रैडिकल भाषा और पदावली का प्रयोग किया जा सकता है, पर सार्वजनिक एक्शन के प्रश्न पर वह ठंडा खाने में विश्वास करती है। राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेना, उनका नेतृत्व करना, टकराव की रणनीतियाँ बनाना और व्यूह रचना करना उसका काम नहीं है।

3.7 नागरिक समाज और गैर- दलीय राजनीति

नागरिक समाज की स्वाभाविक प्रवृतियों के खिलाफ जाकर उसके एक उल्लेखनीय हिस्से ने भ्रष्टाचार विरोधी मुहीम के अगाऊ दस्ते की बागडोर थाम रखी है। एन ए सी जहाँ ख़ामोशी से काम करते हुए खुद को ज्यादा से ज्यादा बौद्धिक विचार-विमर्श तक ही सीमित रखती है, वहीं इस हिस्से ने मीडिया के साथ खेलते हुए राजनीतिक मंच पर आकर कुछ ऐसी दावेदारियाँ की है जिसके कारण उसके भीतर लम्बे अरसे से सुस्त और खामोश पड़ा हुआ आयाम मुखरित हो गया है। नागरिक समाज के भारतीय अध्याय में यह प्रवृति गैर-दलीय राजनीति के नाम से जानी जाती है। गैर-दलीय नजरिए पर शोध करने वाले तथा अनुसंधान करने वाले 'इन्द्रजीत झा' का विचार है कि अस्सी के दशक में स्थापित राजनीतिक दल पर्यावरण प्रदूषण, मानवाधिकार, बंधुआ मजदूरी, महिलाओं और बच्चों के अधिकार, विकास परियोजनाओं द्वारा विस्थापित किये गए लोगों की समस्याओं, रिक्शा चालकों, सड़क के किनारे रेहड़ी लगाने वाले लोगों की समस्याओं पर ध्यान नहीं दे रहे थे, क्योंकि चुनाव में वोट प्राप्त करने के दृष्टिकोण से इनकी अधिक अहमियत नहीं थी। संस्थागत राजनीति के क्षेत्र में विकल्पहीनता की इसी स्थिति के कारण गरीबों एवं शोषितों की समस्याओं तथा मानव-अधिकार, बाल-अधिकार, महिला-अधिकार, पर्यावरण सुरक्षा के लिए कई आंदोलन उभर कर आये। विशेष बात यह थी कि इन पहलकदमियों ने परम्परागत आंदोलनों की तरह किसी सत्ता के लिए संघर्ष नहीं किया, बल्कि इन्होंने कुछ नवीन किस्म के मुद्दों जैसे पर्यावरण, मानवाधिकार, महिला अधिकार, दलितों पर अत्याचार के खिलाफ आवाज, विकास योजनाओं से विस्थापन के प्रतिरोध, जन स्वास्थ्य, कुपोषण, वन एवं सामुदायिक संसाधनों पर अधिकार आदि से संबंधित मुद्दों को उठाया। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इन संगठनों ने उन्हीं मुद्दों को उठाया जिन्हें पूरा करना राज्य का कर्तव्य था। दरअसल इनके अधिकांश मुद्दे संविधान में वर्णित नीति-निर्देशक तत्त्वों से ही संबंधित थे।

इनका चरित्र कुल मिलाकर राज्य के ऊपर सत्ता में किसी हिस्सेदारी की मांग न करते हुए दबाव बनाने से ज्यादा नहीं था। इन आंदोलनों के पास भारतीय दल प्रणाली में किसी परिवर्तन की गुंजाइश नहीं थी। ये चुनाव सुधार, पुलिस सुधार, भ्रष्टाचार विरोध, प्रशासनिक सुधार जैसे मुख्य धारा के सरकारी लक्ष्यों से अलग थे। इस तरह गैर-दलीय राजनीति केवल सैद्धांतिक चर्चा में ही सिमट कर रह गयी। वह नागरिक समाज का दूसरा नाम नहीं बना पाई।

3.8 नागरिक समाज और भ्रष्टाचार विरोधी मुहीम

भ्रष्टाचार विरोधी मुहीम एक ऐसी कोशिश के रूप में देखी जा सकती है जिसके जरिए नागरिक समाज परामर्शदात्री और पूरक भूमिका तक सीमित न रहकर एक बार फिर गैर-दलीय आंदोलनकारी राजनीति के दायरे में आ सकती है। यह स्वागत योग्य प्रयास है, क्योंकि इसके द्वारा प्रतिनिधित्व के विचार को चुनावी नुमाइंदगी से बाहर निकाल कर व्यापक करने की संभावना खुलती है। हालात के ऐसे कई आयाम थे जो जो अस्सी के दशक में मौजूद नहीं थे: कारपोरेट जगत का नई ताकत के रूप में उदय, बाजार के तेज प्रसार के कारण मध्य वर्ग की महत्त्वकांक्षाओं में परिवर्तन, गठजोड़ राजनीति के कारण दलीय प्रणाली में परिवर्तन, विचारधारात्मक राजनीति, वामपंथी या दक्षिणपंथी की वैधता का क्षय, मीडिया के आकार और प्रभाव में बढ़ोतरी और जनगोलबंदी के तौर-तरीकों में तब्दीली। इन आयामों के साथ-साथ एक मनोवैज्ञानिक आयाम भी मौजूद है जिसके तहत भले ही गरीबी और उत्पीड़न में कमी न आयी हो, पर व्यवस्था आर्थिक संवृद्धि के आँकड़ों, तेज शहरीकरण और स्व-रोजगार की बढ़ती सम्भावना के चलते निचले तबकों को भविष्य का आश्वासन थमाने में सक्षम हो गयी है। इस तथ्य को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि नागरिक समाज के सभी या ज्यादातर हिस्से इस मुहीम के साथ नहीं हैं। मीडिया का साथ मिल जाने के कारण यह अभियान प्रभावशाली जरुर लगने लगता है, पर असल में यह 1974 जैसी गोलबंदी करने की क्षमता का प्रदर्शन अभी तक नहीं कर पाया है। (मील, 2013, पृ. 62-68)

नागरिक समाज लोकतांत्रिक राजनीति का अहम हिस्सा है। भारत का इतिहास विविधतापूर्ण, जोशपूर्ण नागरिक समाज और आंदोलनों का इतिहास रहा है जहाँ जे. पी. आंदोलन या चिपको आंदोलन जैसे कई सफल आंदोलन हुए जिससे जनता की आवाज़ को गति मिली तथा औपचारिक चुनावी व्यवस्था के बाहर से सरकार पर कार्यवाही करने का दबाव डाला गया। वर्ष 2004 में राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के गठन के साथ नागरिक समाज ने औपचारिक रूप से अपना प्रभाव दिखाया। एन. ए. सी. नीतियों के मसौदे बनाने में प्रत्यक्ष रूप से योगदान के लिए नागरिक समाज के सदस्यों को आमंत्रित करती है। वर्तमान में इन्हीं के प्रयासों से भारत में महत्त्वपूर्ण अधिनियम जैसे सूचना का अधिकार, राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारन्टी अधिनियम, सिटिज़न चार्टर, लोकसेवा गारन्टी अधिनियम आदि बने। इनमें से सूचना का अधिकार और रोज़गार गारन्टी अधिनियम मील के पत्थर साबित हुए। इन कार्यों के द्वारा नागरिक समाज जो परम्परागत रूप से आंदोलन के ज़रिये सरकार को प्रभावित करता था, अब नीति निर्धारण में अहम भूमिका निभाने लगा। लेकिन इसका अन्य प्रभाव यह भी हुआ कि कुछ मुद्दों पर सरकार से इसके मतभेद दिखाई देने लगे।

कुछ उदाहरणों में जैसे 2005 में सूचना का अधिकार पास होने के पश्चात जब अधिकारियों ने फाइलों पर होने वाली नोटिंग को सूचना के अधिकार से बाहर करवाने के प्रयत्न किए तब अरुणा रॉय समेत आर. टी. आई. कार्यकर्ताओं ने विरोध जताया और परिणाम स्वरूप सरकार को संशोधन से पीछे हटना पड़ा। (राज-यष्टि, जनवरी – मार्च, 2011, पृ. 43- 48)

हाल में गैर राजनीतिक संगठन इन मुद्दों को उठा रहे हैं। इन संगठनों को विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों द्वारा आर्थिक सहायता मिलती है। ये संगठन विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में काम करते हैं;जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, विकास का इकोलॉजिकल पहलू, विकास परियोजनाओं का जेंडर पूर्वाग्रह, मानव अधिकार, विकास परियोजनाओं से प्रभावित लोगों के अधिकार और प्रशासन में पारदर्शिता। ये संगठन दलीय राजनीति से दूर रहते हैं और अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए ये अदालतों में सार्वजनिक हित याचिका (पी.आई.एल.) लगाना, राजनीतिक नेताओं और जनप्रतिनिधियों को विभिन्न मुद्दों पर गोलबंद करना, जनसंचार माध्यमों से अभियान चलाना और सीधे लोगों के बीच कार्य करने का काम करते हैं। पिछले दशक में विभिन्न गैर सरकारी संगठनों और स्वतंत्र संगठनों ने मिलकर एक विश्वव्यापी संगठन वर्ल्ड सोशल फोरम (डब्ल्यू.एस.एफ.) का निर्माण किया। इसका उद्देश्य विभिन्न संगठनों के एजेंडे और गतिविधियों में तालमेल स्थापित करना है। हालाँकि महत्त्वपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर विभिन्न गैर सरकारी संगठनों का दृष्टिकोण भिन्न- भिन्न है। वैसे, आर्थिक विकास में राज्य की भूमिका और अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के संबंध में गहरा वाद- विवाद है। इसे देखते हुए यह एक महत्त्वपूर्ण मामला है कि नागरिक समाज के समकालीन उभार का महत्त्वपूर्ण स्रोत नव- उदारवादी आर्थिक सिद्धांत है। इंटरनेशनल मॉनेटरी फंड (आई.एम.एफ.),वर्ल्ड बैंक और वर्ल्ड ट्रेड आर्गेनाइजेशन (डब्ल्यू. टी. ओ.) द्वारा नव- उदारवादी सिद्धांत का समर्थन किया जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार, राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों को समाप्त किए जाने की आवश्यकता है। इस सिद्धांत के अनुसार नागरिक समाज के विभिन्न संगठनों द्वारा विकास के कार्य संचालित किए जाने चाहिए। (भार्गव एवं आचार्य, 2016, पृ. 199 - 200)

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गैर-दलीय समूहों और लोकतन्त्रों ने भारतीय लोकतंत्र को गहनता और गतिशीलता प्रदान की है। राजनीति को राजनीतिक और सैद्धांतिक वाद-विवादों के केंद्र में लाने की जरूरत है। ऐसा होने पर ही नागरिक समाज की अवधारणा को सही तरीके से समझा जा सकता है। फ़िलहाल तो इसकी स्थिति अमीबा जैसी आकारहीन है। आशा की जा सकती है कि ऐसा होने पर यह सिद्धांत को गैर-दलीय राजनीति की दुनिया से जोड़ेगा।

3.9 भारत में नागरिक समाज का व्यावसायीकरण

'डेमोक्रेसी इन अमेरिका' में डी ताकविल ने सुझाव दिया है कि "लोकतांत्रिक देशों में सहयोग का विज्ञान समस्त विज्ञान की जननी है। अन्य सभी की उन्नति उसी पर निर्भर है"। (ताकविल, 2000, पृ. 492) यह सर्वेक्षण आधुनिक समाज में पूर्वज्ञानियों से अधिक व्यक्तिपरक है। सामजिक संघ मूल्यकारक हैं

क्योंकि वे सामूहिक जीवन को सम्भव बनाते हैं। नागरिकों को संकटपूर्ण राजनीतिक और सार्वजनिक चर्चा में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। सामूहिक कार्यकलापों को राज्य के साथ बांधते हैं। इस प्रक्रिया में लोकतंत्र की आधारभूत पूर्वअवधारणा सहभागिता है जो नागरिक सक्रियता, अनेक प्रकार की संलिप्तता और विरोध द्वारा महसूस की जाती है।

विश्व में नागरिक समाजों पर उच्च व्यावसायिक गैर सरकारी संगठनों का प्रभुत्व है। इन गैर सरकारी संगठनों की स्थिति पर आपत्ति की जाती है कि ये न तो सामाजिक आंदोलन हैं व न ही नागरिक समूह हैं। इन संगठनों का उद्देश्य सरकारी अधिकारियों पर दबाव बनाना है न कि कोई सामाजिक आंदोलन चलाना। ये दबाव समूह की भांति कार्य करते हैं, एक नेटवर्क चलाते हैं, कोई नागरिक आंदोलन नहीं चलाते। ये मीडिया व न्यायपालिका पर ज़्यादा निर्भर रहते हैं, कोई प्रत्यक्ष कार्यवाही नहीं करते। भारत में नागरिक समाज ने भोजन का अधिकार, रोज़गार का अधिकार, सूचना का अधिकार व शिक्षा का अधिकार क्षेत्रों में कार्य किया है। हालांकि इन क्षेत्रों में इन्होंने कार्य किया है लेकिन सफलता तभी प्राप्त हुई जब उच्चतम न्यायालय ने हस्तक्षेप किया। (चंधोक, 2007) समस्या वहाँ हुई जब न्यायालय ने सामाजिक अधिकारों पर अतिसक्रिय रवैया अपनाया, इसने आंदोलन की इस मांग को रद्द कर दिया कि भारत में शक्ति सम्बंधों में उग्रसुधारवादी नवीनीकरण किया जावे। उदाहरण के लिए 1980 में नर्मदा बचाओ आंदोलन के द्वारा हज़ारों लोगों की बदहाली को संज्ञान में लाया गया। पश्चिम भारत में सैकड़ों लोगों को नर्मदा नदी पर सरदार सरोवर बांध बनाने के लिए विस्थापित कर दिया गया। आंदोलन उच्चतम न्यायालय में गया तथा निवेदन किया गया कि बांध निर्माण को रोको। न्यायालय ने अक्टूबर 2000 में बांध की ऊंचाई एक के बहुमत से 90 मीटर तय करने की अनुमति प्रदान की। यह आदेश न केवल हज़ारों परिवारों के विस्थापन का परिणाम था बल्कि यह उन आलोचकों के लिए भी एक बड़े धक्के के बराबर था, जो विशालकायी परियोजनाओं को पर्यावरण के लिए नुकसानदायी देखते है। इसका यह मतलब नहीं है कि न्यायिक सक्रियता महत्त्वपूर्ण नहीं है लेकिन न्यायिक हस्तक्षेप पर बहुत ज़्यादा निर्भर रहना नागरिक समाज के विचार को वश में कर सकता है और राजनीतिक क्षम्यता को स्वीकार करने का दबाव बनाता है।

भारतीय गैर सरकारी संगठनों ने भारत में गरीब, अधिकारहीन और अलाभार्थी लोगों के लिए सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन किए हैं। (बेहेर एंड प्रकाश, 2004, पृ. 199) गैर सरकारी संगठनों को राज्यों से जहाँ बहुत भारी मात्रा में पैसा मिलता है, वहाँ यह अपेक्षा करना बहुत मुश्किल है कि वे राज्य की आलोचना करेंगे। विकास तथा विशेष अनछुए मुद्दों के क्षेत्र में गैर सरकारी संगठनों के विशेष योगदान के बावजूद बड़ी मात्रा में संसाधनों की प्राप्ति में गम्भीर अनियमितताएँ पाई जाती हैं। गैर सरकारी संगठनों का उद्देश्य यह निश्चित करना है कि संविधान के वायदों के अनुसार राज्य संसाधनों का वितरण करेंगे जिससे कि नीतियाँ प्रभावी रूप से लागू हो, स्थानीय सत्ता उत्तरदायी बने, सरकार पारदर्शी हो, प्राथमिक विद्यालयों के बच्चों को दोपहर का भोजन मिले, गरीबों को साल में कम से कम 100 दिन का रोज़गार मिले तथा विद्यालयों का नामांकन बढ़े। इस तरह आम भारतीय के जीवन स्तर में किसी भी तरह से सुधार हो। लेकिन इस प्रक्रिया में लोकप्रिय प्रभुसत्ता और सहभागिता कहीं एक तरफ हो जाती है। इन चिंताओं का समाधान

नहीं है। भारत में गरीबी, असाक्षरता और स्वास्थ्य जैसी समस्याओं से किसी भी रणनीति द्वारा निपटाना मुश्किल है। इसका केवल एक तरीका है, सामाजिक आंदोलनों, नागरिक समूहों तथा व्यावसायिक एन. जी. ओ. के मध्य सम्बंध स्थापित करना और इनकी रणनीतियों व तरीकों में तालमेल करना। दूसरे कारणों के लिए यह राजनीतिक निपुणता होगी। यदि सामाजिक आंदोलन, लोगों को संगठित करें और उनकी आवश्यकता को स्पष्ट करें तो एन. जी. ओ. क्षेत्र उन्हें दक्षता, प्रचार तथा कार्यक्रम रणनीतियों द्वारा पूरा कर सकता है। लोकतंत्र की मजबूती वास्तविक राजनीतिक अधिकारों, प्रतिनिधित्व व उत्तरदायित्व पर निर्भर करता है। सम्भवत: यह नागरिक समाज के व्यावसायिकरण का प्राकृतिक परिणाम है जो न केवल भारत बल्कि कहीं भी प्रचलित विचारों के विरुद्ध जैसे कि श्रमिकों का विरोध- स्वयं खड़े होने में ज़्यादा समर्थ नहीं है।

3.10 अस्वैच्छिक संगठन

सामाजिक सम्बंधों में उच्च श्रेणी की स्वैच्छिक संस्थाएँ होती हैं, व्यक्तियों की एकजुट होने की शक्ति, संघ बनाने व संघ से बाहर होने की स्वतंत्रता। भारत जैसे देश में नागरिक समाजों की समस्याएँ जानी जा सकती हैं। भारत में ये समाज न तो पूर्णत: व्यक्तिगत हैं और न ही सामुदायिक। यहाँ लोग अपने व्यवसाय, रोज़गार और सामाजिक वचन-बद्धता में अपना व्यक्तिगत जीवन जीते हैं। सामुदायिक रूप में वे जाति व धर्म के समूह में संगठित होते हैं। कुछ संघों में सदस्यता का मुख्य सिद्धांत स्वैच्छिक है। प्रश्न यह है कि अस्वैच्छिक समूह नागरिक समाजों का समूह हैं या नहीं।

कुछ विद्वान कहते हैं कि नहीं। इनका तर्क है कि सभी संघ सभी के लिये खुले हुए होने चाहिये। नागरिक समाजों के सामने सबसे बड़ा खतरा सामूहिक पहचान का हस्तक्षेप है। (बेटिली, 1999, पृ. 2589) यहाँ पर दो मुद्दे अहम हैं। प्रथम, अस्वैच्छिक संगठन आवश्यक रूप से बहिष्कृत है। द्वितीय यह है कि वे यह दावा करते हैं कि उनको विशेष रूप से उत्पन्न हुआ माना जाए।

उदाहरण के लिए ग्रुप X केवल अपने सदस्यों के लिए सकारात्मक नीतियों की मांग करता है वहीं ग्रुप Y विरोध करता है। अस्वैच्छिक संगठनों को नागरिक समितियों से बाहर नहीं किया जा सकता।

सुजेन रुडोल्फ (रुडोल्फ, 2000, पृ.1767) यह बताते हैं कि ज़्यादातर संघ अंतर्राष्ट्रीय हैं। इन संघों का जन्म अपने उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक ढांचे की मानवजातीय पहचान के लिए उत्तरदायी है। इसलिए इन संघों को नागरिक समाज से अलग नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि इन संघों का जीवन इन पहचानों का गठन है। लेकिन यह इस तथ्य को निरस्त नहीं कर सकता कि इन संघों की सदस्यता और कार्यसूची को रोका जा सकता है। समस्या यह है कि ये समूह इस विचार का दावा करते हैं कि नागरिक समाज स्वैच्छिक संघों को मान्यता देता है, यह विचार उनकी हठधर्मिता नहीं है। उदाहरण के लिए एक बहुवर्गीय समाज में सभी के लिए स्वतंत्र रूप से एक ही कार्यप्रणाली सम्भव नहीं है। कुछ बिंदुओं पर हम कह सकते हैं कि तथाकथित निम्नजातिवर्ग अनौपचारिक प्रयासों के रूप में इन संघों को विभाजित कर

सकते हैं क्योंकि ये दो पहचान एक दूसरे से मेल खाती हैं। वे महिलाएँ जो अनौपचारिक क्षेत्र में काम करती हैं, वे अन्य सामाजिक क्षेत्र में कार्य करने वाली महिलाओं के साथ समान सम्बंध बनाती हैं क्योंकि उनकी कुछ समस्याएँ समान होती हैं जैसे यौन शोषण या घरेलू हिंसा और कभी-कभी ये सभी समूह पर्यावरणीय समूहों के साथ भी सम्बंध बनाते हैं क्योंकि जलवायु परिवर्तन सभी के जीवन को प्रभावित करता है। नागरिक समाज के नेटवर्क को छोड़ना एक गम्भीर कारण का परिणाम है, जो इस प्रकार की पहचानों के कारणों को आपस में मिला देता है। लेकिन ज़्यादा महत्त्वपूर्ण रूप में इस नेटवर्क को और कॉमन कार्यसूची को बनाने की प्रक्रिया में दूसरे सहयोगी प्रोजेक्ट में सुधार किया जा सकता है और एक सामान्य सामाजिक और आर्थिक रूप से लोकतंत्रीकरण के लिए दूसरी कार्यसूचियों के साथ इसे लाने के लिए कठोर परिश्रम किया जाता है। संघों के आंतरिक संविधान से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि नागरिक समाज में ये दल और उनका स्थान जुड़े रहते हैं और एक दूसरे में सुधार करते रहते हैं। इस प्रकार की जटिल प्रक्रिया में एक आलोचनात्मक आमराय विकसित होती है और एक विशिष्ट प्रेरणा उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रक्रिया के द्वारा नागरिक समाज विभिन्न लाभकारी दलों को एकसाथ मिलाती है और वह व्यवहार जिसके द्वारा विभिन्न दल व्यक्तिगत लाभों को खत्म करने की ओर अग्रसर होते हैं और इसे एक सूक्ष्म आम मत के रूप में बदल देते हैं, यह एक विशिष्ट मांग का आंतरिक प्रकटीकरण के महत्त्व के बराबर हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि वह संगठन जो अलग-अलग मांगों का प्रतिनिधित्व करते रहे, उनसे नागरिक समाज समूह से सम्बंध बनाये रखने के लिए अपनी मांगों को छोड़ देना होगा। इसके बजाय यह सुझाव देता है कि ये मांगें राजनीतिक कद को बढ़ाती हैं। जब दूसरे समूहों को लोकतांत्रिक कार्यसूची के रूप में एक अनिवार्य तत्व के रूप में पहचान मिलती है। (उम्मेन, 2004, पृ. 128-143) जहाँ पहला वर्ग लोकतांत्रिक संगठनों के उदय को सरल बनाता है, वहीं इसके राजनीतिक कद को मांग प्रदान करता है।

3.11 अनागरिक संगठन

इस विश्वास के बावजूद कि बहु नागरिक समाजों में भिन्न व्यक्तिगत कार्य प्रणाली दूसरे मंचों पर मध्यस्थता का काम कर सकती है या करेगी, संगठनों का एक वर्ग ऐसा है जो इस प्रक्रिया का विरोध करता है। ये ऐसे बंद संगठन है जो एकनिष्ठा से दूसरों की लागत पर एक विशेषहित को पाने का प्रयास करते हैं। भारत में संवर्ग आधारित इसके उदाहरण (धार्मिक आधार पर) RSS या राष्ट्रीय स्वयम सेवा संघ है। RSS का तथाकथित उद्देश्य न केवल हिंदुत्व आधारित आत्म विश्वास है बल्कि एक हिंदु राष्ट्र का निर्माण करना भी है। चूंकि 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक से ही RSS व इससे जुड़े हुए धार्मिक संगठन इस उद्देश्य में लगे हुए हैं, अल्पसंख्यक खतरा महसूस कर रहे हैं। इस प्रकार के संगठनों की समस्या ये है कि ये न केवल अपनी स्वयं की मध्यस्थ प्रतिबद्धता को रोकते हैं बल्कि वे दूसरों संघों को साथ आने से भी रोकते हैं। रोबर्ट पटनम की "सोशियल कैपिटल थिसिस" से संदर्भ लेते हुए, आशुतोष वार्ष्णेय (वार्ष्णेय, 2002, पृ. 46-48) सुझाव देते हैं कि विभिन्न समुदायों के सदस्यों के बीच में प्रारम्भिक सम्पर्क, बर्हिजात झटकों से उत्पन्न तनावों व तत्सम्बंधी हिंसाओं के मध्य मध्यस्थता करता है। इसके विपरीत, साम्प्रदायिक हिंसा नि:संदेह

शहरों में होती है जहाँ या तो ऐसा नेटवर्क नहीं पाया जाता या तोड़ दिया जाता है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि वार्ष्णेय अंत: साम्प्रदायिक सम्बंधों के विघटन व घृणा, संदेह व उग्रता के वातावरण के निर्माण में धार्मिक अधिकारों के योगदान को कम करके आंक रहे हैं। अहमदाबाद में लगातार हुए साम्प्रादायिक दंगे बताते हैं कि 1960 से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ व इससे सम्बद्ध गठन बहुसंख्यक समुदाय में अल्पसंख्यक समुदाय के प्रति गहन घृणा उत्पन्न करने में संलग्न रहे हैं। यह संगठित कार्य (संघटन), समुदायों के मध्य पहले से कमज़ोर सहयोगात्मक जीवन को ध्वस्त करता है। सन् 2002 में हिंदु अधिकार के सम्वर्ग ने, जनता के समर्थन से शहर में मुस्लिम अल्पसंख्यकों की हत्या की। जहाँ नागरिक समाज से शक्ति के इस अत्यधिक प्रदर्शन पर नज़र रखने की उम्मीद की जानी थी वहाँ उसने खामोशी इख्तियार की। (उम्मेन, 2008, पृ. 74-75; चंधोक, 2009) कोई ये दावा नहीं कर सकता कि RSS एक नागरिक समाज संघ नहीं है क्योंकि ये स्वयं को सांस्कृतिक व सामाजिक सेवा संगठन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ये एक शैक्षिक संस्थान व सामाजिक सेवा संगठन के नेटवर्क रूप में स्थापित हुए थे तथा प्राकृतिक आपदाओं के समय पीड़ितों के बचाव व पुनर्वास कार्यों में मदद करने वाले स्वयंसेवकों के रूप में प्रथम कहे जाते हैं। इन कारणों ने इसे लोगों के मध्य एक विश्वसनीय संगठन बना दिया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि नागरिक समाज संगठनों के लिए लोकतांत्रिक या तत्सम्बंधी मूल्यों का होना आवश्यक नहीं है। फलत: एकमात्र तरीका जिससे अनागरिक संगठन व उनकी अलोकतांत्रिक कार्यप्रणाली को निष्प्रभावी किया जा सकता है, वह है स्वयं नागरिक समाज में भाग लेना। इसका तात्पर्य यह है कि नागरिक समाज में लोकतांत्रिक संगठन दो चेहरे वाला है । जहाँ एक चेहरा राज्य की तरफ है तो दूसरा खुद इसकी तरफ है। ग्राम्शी के अनुसार, "नागरिक समाज एक प्रतिवाद का रूप है।"

3.12 नागरिक समाज का परिप्रेक्ष्य

प्राचीन काल से नागरिक समाज किसी न किसी रूप में रहा है जहाँ मानवीय अधिकारों का संघर्ष प्रच्छन्न और मानव कल्याण के रूप में प्रकट रहा है। भारत में स्वतंत्रता पूर्व ब्रिटिश शासन काल में यह भावना गांधी जी एवम अन्य समाज सुधारकों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई।

भारत में स्वतंत्रता पश्चात 1960 तक इनकी गति मंद रही परंतु 1980 के दशक में इनका विकास तीव्र गति से हुआ और नागरिक समाज का क्षेत्र चर्चित रहा। इनका प्रमुख उद्देश्य निर्वहन विकास रहा जिससे गरीबी को दूर किया जा सके। इस संदर्भ में तीन विचारधाराएँ दृष्टिगत होती (अलगप्पा, 2004, पृ. 25) हैं-

1) नागरिक समाज समितीय जीवन के रूप में-

यह निम्न बिंदुओं पर आधारित है- यह स्वैच्छिक समितियों की भूमिका पर बल देती है तथा उनमें सहिष्णुता, सहयोग और प्रजातंत्रीय मूल्यों को चाहती है जो परिवार एवम स्कूल में समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से अंतरीकृत किए जाते हैं क्योंकि ऐच्छिक संस्थाओं की अपेक्षा व्यक्ति अपना अधिकांश समय परिवार एवम अन्य प्राथमिक संस्थाओं में व्यतीत करता है। समाज सुधार और राजनीतिक

एकता के लिए जिस आधारभूत ढांचे की आवश्यकता है वह इन ऐच्छिक संस्थाओं के माध्यम से प्राप्त नहीं की जा सकती है क्योंकि इन गैर सरकारी और ऐच्छिक संस्थाओं की विचारधारा में मतैक्य नहीं होता है। इनमें विषय, समस्याएँ एवम स्थानीय विविधता होती हैं।

जॉन कीन के अनुसार यह एक कूट प्रश्न है जो प्रजातंत्रवादियों एवम प्रजापीड़कों दोनो को समान स्वतंत्रता देता है जो कई बार हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

2) नागरिक समाज आदर्श समाज के रूप में-

यदि सम्पूर्ण समाज आदर्श बन जाएगा तो अच्छे बुरे का भेद कैसे हो सकता है। इस प्रकार का समाज लिंग एवम धार्मिक असमानता को दूर करता है और ऐच्छिक समितियों की कमज़ोरियों को दूर करता है। इसका उद्देश्य लाभ न होकर समाज का हित होता है।

3) नागरिक समाज जनमंडल के रूप में-

इसका तात्पर्य है कि हम नागरिक समाज उस समाज को मान रहे हैं जहाँ प्रजातंत्रीय मूल्यों को महत्त्व दिया जाता है और जनसमूह का पालन पोषण इन मूल्यों जैसे स्वतंत्रता, अवसर की समानता, बंधुत्व की भावना तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय आदि के आधार पर किया जाता है अर्थात् नागरिक समाज जन समूह के लिए प्रतिबद्ध है।

3.13 भारत में विकास का स्वरूप एवम नागरिक समाज

भारत में नागरिक समाज की अवधारणा नई नहीं है। स्वतंत्रता के पहले कई समाज सुधारकों ने अंग्रेज़ी शासन में व्याप्त उन समस्याओं पर आवाज़ उठाई जो मानवता के खिलाफ थी। 1947 के पूर्व ही इस तरह के कार्यों के प्रति मान सम्मान था। गांधी जी ने इस तरह की गतिविधियों को बढ़ावा दिया तथा बाद में गांधी जी ने यह प्रस्ताव रखा कि भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस को लोकसेवक संघ में परिवर्तित किया जाए जिससे यह राजनीति की जगह मानव सेवा से जुड़े। पर उस समय यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। बाद में गांधी जी की राह पर चलकर उनके शिष्यों ने स्वयंसेवी संस्थाओं के माध्यम से लोकहित में कई कार्य किए जो आज भी सतत प्रयासरत हैं। इस प्रकार की संस्थाएँ निश्चित रूप से उन कार्यों को करती हैं जो सरकार नहीं करती। इस प्रकार इन संस्थाओं को एक तरह से रिक्तस्थान की पूर्ति के रूप में देखा जा सकता है। भारत में नागरिक समाज 1980 से अधिक प्रचलित हुआ। छठी पंचवर्षीय योजना में इस समाज ने कुछ क्षेत्र रखे जो निम्न हैं-

- स्वास्थ्य सबके लिये
- परिवार कल्याण, शिक्षा एवम पोषाहार
- संसाधनों का विकास
- जल एवम मृदा प्रबंधन, पारिस्थितिकी
- पर्यावरण संरक्षण
- कमज़ोर वर्ग एवम सामाजिक कल्याण

- आपात प्रबंध सम्बंधी कार्यक्रम
- पारिस्थितिकी एवम जनजातीय समाज की समस्याएँ
- न्यूनतम पोषण प्रोग्राम
- घरेलू कुटीर उद्योग धंधे, हाथ करघा, दुग्ध पालन, मत्स्य पालन एवम सहकारी समितियों का निर्माण

इन कार्यक्रमों को सातवीं एवम आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं में भी गैर सरकारी संस्थाओं के द्वारा संचालित किया गया। भारत में आज गैर सरकारी स्वयंसेवी संस्था 25 से 30 हज़ार है। 1989 में इनकी संख्या केवल 1213 थी। 1976 में विदेश अनुदान अधिनियम 1976 बना जिसमें एन. जी. ओ. को विदेश से वित्तीय सहायता के लिए मार्ग प्रशस्त किया गया।

सामान्यत: तीन प्रकार के एन. जी. ओ. दृष्टिगत होते हैं-

1) ग्रामीण क्षेत्र
   - कृषि संबंधी नई तकनीकियों से अवगत कराना
   - ग्रामीण क्षेत्र में जाकर शैक्षणिक गतिविधियाँ आरंभ करना
   - ऋण योजनाओं तथा बैंक संबंधी कार्यक्रमों का विवरण देना
   - स्वास्थ्य एवं सफाई से सम्बंधित सुविधाओं का प्रचार करना
   - सामाजिक कुरीतियों जैसे बेमेल विवाह, बाल विवाह, दहेज, मृत्यु भोज के प्रति जागरूक करना
   - जनसंख्या वृद्धि की समस्या तथा बाबा आमटे के जन कल्याण सम्बंधी कार्यक्रम इसी प्रकार के हैं।
2) अनुसंधान के क्षेत्र में -

मानव की मूलभूत आवश्यकताओं से सम्बंधित वस्तुओं में मिलावट एवं उपलब्धता से सम्बंधित अनुसंधान करना। सेंटर फॉर साइंस एवं एनवायरमेंट इसी तरह के जनहित के कार्यक्रमों से सम्बंधित है जैसे जल के नमूने एकत्र करना, उसमें हानिकारक रसायनों को दूर करके पीने योग्य बनाना। पर्यावरण की शुद्धिकरण के उपाय बताना।

3) न्यायिक सक्रिय समूह -

यह स्वयं को न्यायिक सक्रियता से जोड़ते हैं। पत्रकार – मीडिया, प्रशासन की कमियों को उजागर करता है। नर्मादा बचाओ आंदोलन इसी तरह का आंदोलन था जिससे कई लोग जुड़े जैसे अरुंधति रॉय। वे इसके लिए जेल भी गईं। मेघा पाटेकर ने उस जनजातीय समाज के लिए आंदोलन किया जो इस बांध के कारण विस्थापित हो गया था, जिन्हें उस प्राकृतिक पर्यावरण में रहने की आदत थी।

हालांकि तीन प्रकार के एन. जी. ओ. की चर्चा 'पार्था चटर्जी' ने की है पर उनका मानना है कि जब कोई बड़ी समस्या सामने आती है तो तीन प्रकार के एन. जी. ओ. एकजुट हो जाते हैं और राजनेताओं को जवाबदेह बताते हैं और जनसमूह के कल्याण के कार्य करते हैं।

भारतीय प्रजातंत्र प्रतिनिधित्वपूर्ण प्रजातंत्र है। यहाँ सहभागीय प्रजातंत्र नहीं है। राजनेता चुनाव के बाद अपने उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं। भारत में स्विट्ज़रलैंड की तरह नेताओं को जनमत नहीं दिया जाता है और न ही उन्हें प्रमाण पुरुष की तरह कार्य करना होता है।

विभिन्न एन. जी. ओ. का भारतीय समाज पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। इसकी सशक्त भूमिका के कारण ही भारतीय समाज में परिवर्तन आया है। यह परिवर्तन समाज को अच्छी दिशा, समृद्धि और खुशहाली की ओर ले जा रहा है। इनका प्रयत्न है कि आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े और निर्धन वर्ग को समतल पर लाकर समानाधिकार दिलाने का प्रयत्न किया जाये जिसका प्रमुख उद्देश्य प्रजातंत्रीय समाज की स्थापना करना है।

साधारणत: विश्व के सभी एन.जी.ओ इस उद्देश्य को लेकर प्रयत्नशील रहते हैं कि निर्वहन अर्थव्यवस्था स्थापित करके जनकल्याण एवम विकास सम्बंधी कार्य किये जाएँ।

निर्धनता निदान क्षेत्र -

उस क्षेत्र मे कई एन .जी .ओ कार्य कर रहे है उदाहरण के लिए 'गिव इंडिया' नामक संस्था गरीबतम नागरिक के हित में कई कार्यक्रम करती है, उनके लिए धन एकत्रित करके कई योजनाएँ कार्यान्वित करती हैं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली, पानी, मकान, रोज़गार, स्वच्छ पर्यावरण आदि। इस प्रकार के एन. जी. ओ. का यह प्रयास रहता है कि निर्वहन अर्थव्यवस्था की स्थापना हो सके। व्यक्ति की मूलभूत आवश्यक्ताएँ पूर्ण की जा सकें। 'अनजानी फाउंडेशन' भी इसी उद्देश्य को लेकर कार्यरत है। शिक्षा के क्षेत्र में निम्न कार्यक्रम आयोजित किए गये हैं-

1. सर्वशिक्षा अभियान- इसका उद्देश्य शिक्षा का सार्वभौमीकरण करना है ताकि "प्रत्येक, प्रत्येक को पढ़ाए" पूरे भारत में प्रचारित हो सके।
2. नन्हीं कली- मुम्बई स्थित यह संस्थान पिछड़े वर्ग की बालिकाओं के लिये शिक्षा के साथ अन्य सुविधाएँ भी प्रदान करता है।
3. नन्हीं फाउंडेशन एण्ड महिंद्रा एजुकेशन ट्रस्ट- यह भी शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत है।

बाल एवम महिला सशक्तिकरण -

- प्रोजेक्ट क्रेयॉन- अनाथ बच्चों के लिये यह मुम्बई में कार्यरत है। यहाँ से नवजात बच्चे गोद भी दिए जाते हैं।
- निश्चय गर्ल्स स्कूल- 2004 में गरीब निर्धन लड़कियों के लिए प्रथम से आठवीं तक निशुल्क रोज़गारोन्मुख शिक्षा प्रदान करना इसका उद्देश्य है। इसमें आधुनिक रोज़गारों का प्रशिक्षण दिया जाता है।
- इन केयर- यह राष्ट्रीय स्तर का स्वयंसेवी संस्थान है जो कमज़ोर वर्ग के बहुमुखी विकास के लिए प्रयासरत है। इसमें निम्न जाति एवम वर्ग दोनों के लिए ही कार्य किए जाते हैं।
- सार्ड सोसायटी - अल्पसंख्यकों के उत्थान के लिए विशेष रूप से समर्पित है।

- दीपालय- आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े बच्चों के लिए कार्यरत है। इसे बेस्ट अवॉर्ड भी मिल चुका है।
- सेव द चिल्ड्रन - यह बाल एवम महिलाओं के विकास से सम्बंधित है।
- आकांक्षा फाउंडेशन - यह मुम्बई एवम पूना के गरीब बच्चों के साथ जुड़ा हुआ है।
- स्माइल इंटरनेशनल- यह युनेस्को द्वारा संचालित बाल विकास से सम्बंधित है जिसमें बालश्रम जैसी समस्याओं और उनकी शिक्षा को भी देखा जाता है।
- राष्ट्रीय सहारा- यह महिला उत्पीड़न एवम उनके विरुद्ध हिंसा के लिए कार्यरत है। कई अन्य गैर सरकारी संगठन भी इस हेतु कार्य कर रहे हैं।

स्वास्थ्य के क्षेत्र में दो प्रकार के एन. जी. ओ. कार्यरत हैं -

1) जो स्वास्थ्य के प्रतिरोधात्मक पक्ष से प्रेरित हैं जैसे निशुल्क टीके और स्वास्थ्य जागरुकता शिविरों की व्यवस्था करना, रक्तदान, मोतियाबिंद एवम मधुमेह आदि से सम्बंधित शिविरों का आयोजन किया जाता है।
2) निदानात्मक क्षेत्र - टी. बी., कैंसर, एड्स जैसी भयंकर बीमारियों एवम अन्य महामारियों के लिए कार्यरत है। यह महानगरों में ऐसी सुविधा उपलब्ध करवाते हैं। यहाँ छोटी जगह के नागरिक भी सुविधा प्राप्त करते हैं। मानसिक स्वास्थ्य एवम विक्षिप्त बच्चों के लिए भी इस प्रकार के प्रोजेक्ट चलते रहते हैं।

वन्यजीव एवम पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में -

टाइगर प्रोजेक्ट, वृक्षारोपण, स्वच्छता, गंदी बस्ती की समस्याएँ आदि विभिन्न क्षेत्रों में यह कार्य करती है। यह राष्ट्रीय एवम अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण सम्बंधी कार्यक्रम से जुडे रहते हैं।

आपात स्थिति -

भूकम्प, बाढ़, अकाल या अन्य महामारी के समय यह नागरिक समाज तत्परता से लोगों को सहायता पहुंचाने का कार्य करता है।

जन जातीय संदर्भ में : जन जातीय समाज हमारी धरोहर है। कई एन.जी.ओ संस्थायें इन की कला, भाषा, वेशभूषा आदि के संरक्षण से जुड़ी हैं तथा औद्योगीकरण आदि से उत्पन्न इस समाज के विस्थापन की समस्याओं से भी यह संस्थायें जुड़ी हैं। दक्षिणायन प्रोजेक्ट इसी तरह का कार्यक्रम है। समाज में धन का अभाव, जनता में गरीबी से जुड़ी करुण समस्यायें एवम चेतना का अभाव और इन के प्रति नेताओं की उदासीनता, ऐसे कई कारक हैं जो नागरिक समाज को इन समस्याओं के प्रति जागरुक एवम् आकर्षित करते हैं। यह ऐसे क्षेत्रों में कार्य करते हैं, जहाँ सरकार नहीं आना चाहती। प्रतिनिधि नेता भी जातीय संस्तरण और समीकरण में कोई बाधा उत्पन्न करना नहीं चाहते। यह उनका वोट बैंक है। केवल शास्त्रा साहित्य परिषद में शत प्रतिशत साक्षरता लाने का संकल्प किया है। सह शिक्षा में लड़कियों के माँ - बाप पढ़ाने को

तैयार नहीं होते परंतु घरेलू कार्य करने वाली लड़कियाँ भी पढ़ने को तैयार नहीं होतीं। पर इस एन.जी.ओ ने इसे पूर्ण करने का संकल्प लिया है। ऐसी कई ज्वलंत समस्याएं हैं जिनके प्रति नागरिक समाज आगे आता है और समाज के प्रति एक नैतिक दायित्व मानकर कार्य करता है। (व्हाऐत, ए. 1998, पृ. 343-349)

आज भ्रष्टाचार को रोकने या जन लोकपाल बिल के सम्बंध में नागरिक समाज की अहम भूमिका है। भारत के संविधान में हालांकि नागरिक समाज का उल्लेख नहीं है परंतु संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों में अनु. 19 में संघ बनाने व विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान की गयी है जो कि नागरिक समाज का ही प्रतिरूप है। आज भारत की शासन व्यवस्था अराजकता तथा अर्थव्यवस्था संकट से गुजर रही है। नित नये घोटाले सामने आ रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन संकटों का सामना कर इनका समाधान किया जाये। हालांकि समाधानों के रूप भी अनेक हैं जैसे लोकसभा व विधानसभा की तरह ग्राम सभाओं को भी मजबूत और सशक्त बनाया जाये , सत्ता का विकेंद्रीकरण हो, चुनाव प्रणाली में बदलाव हो, धरती के संसाधनों का शोषण कम हो, शासन में शुचिता, पारदर्शिता, जवाबदेहिता शामिल हो आदि। इन सभी समाधानों से शासन व्यवस्था में सुधार किया जा सकता है।

नागरिक समाज इन सभी समस्याओं से सरकार को अवगत कराती है। चूंकि नागरिक समाज व राज्य एक दूसरे के पूरक हैं इसलिये इसकी भूमिका राज्य की नीतियों पर निर्भर करती है। यह जनता का दृष्टिकोण सरकार के समक्ष रख सकती है परंतु संसद को बाध्य नहीं कर सकती जैसा कि इन दिनों दिखायी दे रहा है। संसद जन प्रतिनिधियों से मिलकर बना संगठन है, जो कि जनमत की उपेक्षा कभी नहीं कर सकता। परंतु लोकतंत्र में अपनी बात कहने का भी अधिकार है। (राजस्थान पत्रिका, अक्टूबर, 2011) हाल ही में जन लोकपाल बिल को लेकर इसी तरीके के मतभेद निकल कर आये हैं। नागरिक समाज द्वारा राजनीतिक व्यवस्था को दूषित घोषित कर देना और सभी राजनेताओं को भ्रष्ट घोषित कर देना और गैर निर्वाचित संस्थाओं को सही घोषित कर देना या केवल यह मान लेना कि उनके द्वारा पेश किया गया प्रस्ताव ही सही है, यह अधिकारवाद या सत्तावाद का प्रतीक प्रतीत होता है। नागरिक समाज की भूमिका वास्तव में लोकतंत्र की गहराई को मजबूत करने की होनी चाहिये न कि लोकतांत्रिक संस्थाओं को अतर्कसंगत ठहराने की। बी. आर. अम्बेडकर ने ऐसे तरीके को अराजकता का व्याकरण के रूप में संदर्भित किया है।

इन सबके बावजूद नागरिक समाज की एकजुटता, समाज की असहमति या लोकतांत्रिक समाज का अंदरूनी हिस्सा है। इसके पूरी तरह से खत्म होने का अर्थ है नागरिक समाज का अधिकारवाद। अब यह संसद पर निर्भर करता है कि वह इस बिल को किस रूप में पास करती है। परंतु आदर्श लोकतांत्रिक व्यवस्था तभी स्थापित होगी जब राज्य व नागरिक समाज मिलकर काम करें और हमे उसी आदर्श स्थिति को प्राप्त करना है। (राजस्थान पत्रिका, अगस्त, 2011) आज नागरिक समाज को सामाजिक परिवर्तनों के माध्यम से परम्परागत दलगत राजनीति की भूमिका तथा क्षमता के बारे में निराशा की भावना से निकालकर लोकतंत्र को व्यापक तथा गहरा बनाने का प्रयास किया जा रहा है। (कविराज एंड खिलनानी, 2002, पृ. 317)

3.14 नागरिक समाज की प्रासंगिकता

अंतिम रुप से क्या नागरिक समाज भारत जैसे देश के लिये जो सामाजिक बहिष्कार, असमानता व गरीबी से जाना जाता है, प्रासंगिक है ? यूरोप में नागरिक समाज का उदय बुर्जुआ समाज के दृढीकरण के बाद हुआ। इस समाज की इकाई व्यक्तिगत अधिकार है जो कानून के नियम द्वारा रक्षित है। इस लिए 'पार्थ चटर्जी' यह तर्क देते हैं कि भारत में नागरिकों के एक छोटे वर्ग द्वारा नागरिक समाज बाधित है, विशेषतया मध्यम वर्ग जो अधिकारों की भाषा बोलता है। (चटर्जी, 2001, पृ. 172) गरीब वर्ग जो अपने अस्तित्व के लिए कड़ी मेहनत करता है, गैरकानूनी साधनों व कानूनों के उल्लंघन द्वारा राजनीतिक समाज में अपनी जगह बना लेता है। हालांकि चटर्जी स्पष्ट रूप से नागरिक समाज का खंडन नहीं करते, वे इसे बहुसंख्यक भारतीयों के लिये अप्रासंगिक मानते हैं और यद्यपि वे राजनीतिक समाज को महिमामंडित नहीं करते, वे नागरिक समाज की बजाय इसका स्थान व इसकी मध्यस्थता ज़्यादा प्रामाणिक बताते हैं।

कोई भी यह स्वीकार कर सकता है कि नागरिक समाज की अवधारणा, सभी प्रकार की प्रवृतियों का समर्थन नहीं करती है, तथा उन सभी प्रवृतियों को छोड़ने की बात कहती है जिनके अध्ययन व विचार करने की आवश्यकता है। लेकिन चटर्जी के नागरिक व राजनीतिक समाज के अंतर के मध्य कम से कम दो कठिनाइयाँ हैं। पहली, क्या समाज की गैर कानूनी रूप से नल या बिजली कनेक्शन की प्रवृत्तियाँ राजनीति या अर्द्ध राजनीति वर्ग में बांटी जा सकती हैं? जैसा कि 'हॉब्सबॉन' ने सामाजिक अध्ययन में कहा है कि राजनीति के कुछ निश्चित रूप आद्य-राजनीति के रूप में जाने जाते हैं – अनिश्चित, दकियानूसी व अनेकार्थी। अर्द्ध-राजनीति, व्यक्तिगत या समूहों के लिये रियायत की प्रक्रियाओं का समर्थन करती है। परंतु यदि राजनीति का उद्देश्य उस राजनीतिक संदर्भ को आकार देना है, जिसमें हम रहते हैं, तब हमें उस राजनीति की आवश्यकता होती है जो अवैधानिक रूप से दिन- प्रतिदिन की समस्याओं पर बात करने की अपेक्षा एक ज्यादा व्यापक दृष्टि प्रस्तुत करे। इस प्रकार की राजनीति यह मांग करती है कि लोग एक-दूसरे से सम्पर्क बनाएं, कि सामूहिक प्रयास किए जाएं, कि विशिष्ट द्वारा सामान्य की मध्यस्थता की जाए तथा आम व सूक्ष्म भाषणों के संविधान के निर्माण में नागरिक भाग लें। राज्य अर्द्ध -गतिविधियों में छूट करता है, न वह औपचारिक संस्थाओं को बदलता है, न वह पूर्ण एकता करता है। वास्तव में हम छोटे - छोटे कार्य करके राज्य की शक्ति को शक्तिशाली बनाते हैं। यद्यपि राजनीति के इस प्रकार के रूप आधुनिक नागरिक समाजों के पास जा सकते हैं। अंतिम रूप से राजनीतिक कर्ता को शक्ति के वास्तविक रूप में इसे अल्पकालिक रूप से दीर्घकालीन रूप में परिवर्तन करने की ज़िम्मेदारी करनी पड़ती है।

द्वितीय, बुर्ज़ुआ विचारधारा ने वंचित समूहों को बिल्कुल नहीं छेड़ा। उन्होंने सामाजिक वर्ग की सीमा को नज़रअंदाज़ किया है। अवैध बसावट के हस्तांतरण में भूमि अधिकारों के उनके संघर्ष में वंचित वर्ग, बुर्जुआ विचारों से प्रेरित हो सकता है तथा संपत्ति के उनके विचारों से भी। और भी आगे अवैध लेनदेन ना केवल अनागरिक समाज की एक विशेषता है बल्कि औपचारिक नागरिक समाज भी इस प्रकार के लेनदेन में शामिल रहे हैं। (बर्धन, 2009, पृ. 31-6; कोयलों एंड वेंकट, 2009, पृ. 358-367) लेकिन

सबसे महत्त्वपूर्ण रूप में, इतिहास में मुश्किल से ही यह पाया जाता है कि पुस्तकों में 'विशुद्ध' नागरिक समाज पाया गया हो तथा उसे विशेष संदर्भ में स्थानांतरण किया गया हो। नागरिक समाज की अवधारणा यह सूचित करती है कि उसका एक स्थान और मूल्य है परंतु विदेशी विचारधारा से यह प्रकट हुआ है कि यह स्थान और मूल्य ऐतिहासिक संदर्भों द्वारा मध्यस्थता एवं बदलाव के रूप में किया गया है। भारत के नागरिक समाज में आधुनिक अधिकारों की चर्चा क्रिया रूपों के साथ अस्तित्व में पाई जाती है जो कि उन्हें सामूहिक पहचानों के रूप में पुन: उत्कीर्ण की जाती है, व्यक्तिगत स्वचेतना अधीनस्थों के साथ जुड़ी होती है जो कि जाति या धार्मिक समूहों के नेताओं से आज्ञा पाते हैं तथा वैध प्रणाली अन्य प्रकार की प्रणालियों को परस्पर काट देती है, जो कानून को भंग कर देती है। दूसरे शब्दों में, जब हम नागरिक समाज को एक बहु व खण्डित क्षेत्र के रूप में सोचते हैं तब राजनीतिक और नागरिक समाज के बीच अंतर धुंधला होने लगता है।

3.15 निष्कर्ष

नागरिक समाज के वास्तविक अस्तित्व की यह चर्चा कम से कम तीन निहितार्थ बताती है। पहला, चूंकि राज्य प्रमुख रूप से शक्ति का केंद्र है, वे राज्य भी जो यह दावा करते हैं कि उनमें अपूर्ण लोकतंत्र है। लोकतंत्र वह कार्ययोजना है जिसे नागरिक समाज के क्षेत्र में नागरिकों की सक्रियता को महसूस करना पड़ता है। दूसरा, नागरिक समाज अपनी प्रकृति और गठन में बहुवचन है। यहाँ हम श्रमिकों के संगठनों के साथ-साथ वाणिज्य कक्ष भी पाते हैं, महिलाओं के लिए लड़ने वाले समूहों के साथ-साथ पितृ सत्तात्मक समूह भी पाते हैं, सम्मान हेतु लड़ने वाले लोकतांत्रिक आंदोलनों के साथ- साथ जातिवादी समूह भी पाते हैं। नागरिक समाज कोई एक तत्व नहीं रखता, न ही कार्यप्रणाली का कोई एक सेट रखता है जो एक दूसरे से मेल खाते हों। तीसरा, कोई यह भी अनुमान नहीं लगा सकता कि नागरिक समाज में सभी संगठन लोकतांत्रिक ही होंगे। इसलिए लोकतंत्र के लिए प्रतिबद्ध समूहों द्वारा अराजनीतिक संगठनों को शामिल किया जाता है, उनको प्रतिकूल किया जाता है, यहाँ तक कि उन्हें तटस्थ भी किया जाता है। अंतिम उदाहरण के रूप में नागरिक समाज अनेक प्रकार के समूहों और प्रतिबद्धताओं के बीच संघर्ष का स्थान है। भारत में नागरिक समाज का उदाहरण इसे कांच की तरह स्पष्ट कर देता है।

दुनिया के दूसरे भागों की तरह भारत में भी नागरिक समाज संगठनों की भूमिका आमतौर पर आन्दोलनकारी किस्म की नहीं रही है। ये संगठन सदैव सरकार की पूरक भूमिका ही निभाते रहे हैं। संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन(यूपीए) की मौजूदा सरकार में योजना आयोग से लेकर कई तरह की सरकारी समितियों में नागरिक समाज के प्रतिष्ठित कारकुनों को सदस्य बनाया गया है। नागरिक समाज के नाम पर सार्वजनिक जीवन में इस समय कितना भी हंगामा क्यों न रहा हो, ये लोग आज भी सरकार के अंश बने हुए हैं। मौजूदा शोरगुल में हम यह वास्तिकता नहीं भुला सकते कि सरकार के मंत्रियो ने नागरिक समाज द्वारा की जाने वाली गतिविधियों का इस्तेमाल करके सत्ता की संरचनाओं के भीतर अपने उद्देश्य हासिल किये हैं। हम इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं कर सकते कि लोकपाल विधेयक का जो संस्करण संसद में पेश किया गया है

उसमें एन ए सी के रूप में नागरिक समाज के ही एक महत्त्वपूर्ण हिस्से द्वारा बनाये मसौदे के कई पहलू शामिल हैं। एन ए सी वाले अपने मसौदे की प्रस्तुति बुद्धिजीवी समाज के सामने कर चुके हैं। स्वयंसेवी संगठनों के नेटवर्क के रूप में नागरिक समाज को थर्ड सेक्टर भी कहा जाता है। यह थर्ड सेक्टर खुद को बेहिचक अराजनीतिक कहता है। दरअसल यही उसकी राजनीति है। भारतीय लोकतन्त्र को इस अराजनीतिक किस्म के नागरिक समाज के मशविरों से काफी फायदा हुआ है।

नागरिक समाज की भूमिका परामर्शदाता की ही रही है। उसके मंचो पर होने वाली बहस में अक्सर रैडिकल भाषा और पदावली का प्रयोग किया जा सकता है। राजनीतिक क्रिया-कलाप के सवाल पर वह ठंडा करके खाने में विश्वास करती है। राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेना,उनका नेतृत्व करना, टकराव की रणनीतियां अपनाना और व्यूह रचना करना उसका काम नहीं है। नागरिक समाज जानता है कि अगर उसने यह रास्ता अपनाया तो उसे तीन नतीजों का सामना करना पड़ेगा-उसे एक राजनीतिक दल बनाकर खुद चुनाव के मैदान में उतरना पड़ेगा। ऐसा न करने की स्थिति में किसी दूसरे को चुनाव में समर्थन देना पड़ेगा या फिर गैरसंसदीय रास्ते का उपयोग करते हुए मौजूदा व्यवस्था को पलटने का कार्यक्रम बनाना होगा। चूंकि ये तीनों रास्ते उसके बुनियादी चरित्र के विपरीत हैं, इसलिए ऐसा न करने पर नागरिक समाज अपनी मौजूदा पहचान और ढांचा खो कर कुछ और हो जायेगा।

नागरिक समाज की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के खिलाफ जाकर उसके एक उल्लेखनीय हिस्से ने आजकल भ्रष्टाचार विरोधी मुहीम के अगाऊ दस्ते की बागडोर संभाल रखी है। एन. ए. सी. खामोशी से काम करते हुए स्वयं को ज्यादा से ज्यादा बौद्धिक विचार विमर्श तक सीमित रखती है, वहीं उसने मीडिया के साथ खेलते हुए राजनीतिक मंच पर आकर कुछ ऐसे मुद्दे उठाए हैं जिसके कारण उसके भीतर लम्बे समय से सुस्त और खामोश पड़ा आयाम मुखर हो गया है। नागरिक समाज के भारतीय अध्याय में यह प्रवृति गैर दलीय राजनीति के नाम से जानी जाती है। इसकी शुरुआत जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक नेतृत्व में सत्तर के दशक में हुई थी। गांधीवादी, समाजवादी और कुछ-कुछ मार्क्सवादी-लेनिनवादी रुझान वाले कार्यकर्ताओं की गैर चुनावी गतिविधिओं के अनुभव के आधार पर किये गए सिद्धान्तिकरण ने नागरिक समाज की अवधारणा को भी अपने अधिकार में लेने की कोशिश की थी। लोकायन जैसी संस्थागत पहलकदमी इसी का परिणाम थी। इसका उद्देश्य शिक्षाविदों, विभिन्न संघर्षों से जुड़े जमीनी कार्यकर्ताओं एवं नीति निर्माताओं के बीच संवाद स्थापित करना था। भारतीय लोकतंत्र में प्रतिनिधित्व के आधार को महज चुनावी प्रतिनिधित्व की सीमाओं से निकाल कर व्यापक करना चाहते थे।

सिद्धांतकारों ने वामपंथ की मुख्यधारा से अलग काम कर रहे वाम संगठनों द्वारा चलाये जा रहे आन्दोलनों, पर्यावरण के संरक्षण से सम्बंधित चिपको आन्दोलन जैसी घटनाओं को गैर दलीय राजनीति के खाके में रखकर देखा। नागरिक समाज की इन आन्दोलनकारी घटनाओं ने हमारे उदारतावादी समाज वैज्ञानिकों को कितना भी उत्साहित क्यों ना किया हो, इनका चरित्र कुल मिलाकर सत्ता में किसी हिस्सेदारी की मांग ना करते हुए दबाव बनाने से ज्यादा नहीं था।

इस आन्दोलनकारी धारा को नब्बे के दशक में उभरी मंडल, कमंडल और भूमंडलीकरण की तीन व्यापक एवं प्रभावशाली घटनाओं ने गंभीर चोट पहुंचाई। इन घटनाओं ने ना केवल समाज के राजनीतिकरण की दिशा बदल दी, बल्कि राजनीतिक ताकतों का विन्यास बदल दिया। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप भारतीय जीवन का रुझान वामोन्मुखी ना होकर दक्षिणोन्मुखी हो गया। लगभग 15 साल चली इस अवधि का परिणाम गठजोड़ राजनीति दलीय प्रणाली पर हावी हो गया। परिणामस्वरूप राजनीतिक आन्दोलन और संघर्ष की स्थापित तकनीकी पूरी तरह बदल गयी। लोगों ने यह मानना बंद कर दिया कि जो सड़कों और जेलों को भरेगा, वही संसद और विधान सभा को भी भरेगा। अर्थात जो जितने नारे लगाएगा, जितनी गिरफ्तारियां देगा और जितनी लाठी-गोली खायेगा, वह चुनाव के मैदान में उतने ही जोरदार तेवर के साथ उतरेगा। आज भ्रष्टाचार के खिलाफ उठ रही आवाज में भी ये तीनों पहलू गायब हैं। खुद को समाजवादी कहलाने वाले नेता अतीत बन गए हैं। स्वतंत्रता सेनानियों की पीढ़ी लगभग ख़त्म हो चुकी है। भूमंडलीकरण और गठजोड़ राजनीति के प्रभाव के कारण होने वाले आन्दोलनों का दौर ख़त्म हो गया है। इस तरह गैर दलीय राजनीति केवल सैद्धांतिक चर्चा में ही सिमट कर रह गई। वह नागरिक समाज का दूसरा नाम नहीं बन पायी।

भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन को एक ऐसे प्रयास के रूप में देखा जा सकता है जिसके द्वारा नागरिक समाज परामर्शदात्री और पूरक भूमिका तक सीमित ना रहकर एक बार फिर गैर दलीय राजनीति आन्दोलनकारी राजनीति के दायरे में आ सकती है। इसके द्वारा प्रतिनिधित्व के विचार को चुनावी नुमाइंदगी से बाहर निकालकर व्यापक करने की संभावना खुलती है।

ऐसे कई आयाम है जो अस्सी के दशक में मौजूद नहीं थे। जैसे कारपोरेट क्षेत्र का एक नई ताकत के रूप में उदय, बाजार के प्रसार के कारण मध्य वर्ग की महत्वाकांक्षाओं में परिवर्तन, गठजोड़ राजनीति के कारण दल प्रणाली में परिवर्तन, विचारधारात्मक राजनीति, वामपंथ और दक्षिणपंथ की वैधता के क्षय, मीडिया के प्रभाव और आकार में बढ़ोतरी और जनगोलबंदी के तरीकों में परिवर्तन। इन आयामों के साथ एक मनोवैज्ञानिक आयाम भी उपस्थित है जिसके तहत उत्पीड़न और गरीबी में कमी न आयी हो, पर व्यवस्था आर्थिक संवृद्धि के आँकड़ों, तेज शहरीकरण एवं स्वरोजगार की बढ़ती संभावनाओं के चलते निचले तबकों को भविष्य का आश्वासन देने में समर्थ हो गयी है। ये सभी कारण भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के रेडिकलिज्म पर ठण्डा पानी डालने का काम करते हैं। इस तथ्य से भी आँखे बंद नहीं की जा सकती कि नागरिक समाज के ज्यादातर हिस्से इस आन्दोलन के साथ नहीं हैं। मीडिया का साथ मिलने से यह आन्दोलन प्रभावशाली जरुर लगता है, पर वास्तव में यह 1974 जैसी गोलबंदी अभी तक नहीं कर पाया है।

❑❑❑❑❑

चतुर्थ अध्याय

भारत में नागरिक समाज आंदोलन-:

लोहिया आंदोलन

जे.पी. आंदोलन

अरुणा रॉय आंदोलन

4.1 प्रस्तावना

औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारत में नागरिक समाज तीन चरणों में विकसित हुआ है: पहला, आज़ादी के आंदोलन के दौरान; दूसरा जे. पी. आंदोलन के दौरान; तीसरा उत्तर- वैश्विकरण दौर में। जे. पी. आंदोलन के बाद देश के विभिन्न भागों में तरह-तरह के गैर सरकारी संगठन (एन. जी. ओ.) सामने आए। उसके बाद नागरिक समाज के विचार को सिर्फ भलाई का काम करने वाले संगठनों या विश्वविद्यालय जैसे संगठनों तक सीमित रखना बहुत ही मुश्किल हो गया। आजकल नागरिक समाज शब्द का उपयोग अपने उस शुरुआती स्तर से आगे जा चुका है जो इस शब्द की पश्चिमी अवधारणा के नज़दीक था। अब नए अर्थ में नागरिक समाज शब्द में वे सारी परिघटनाएँ शामिल हैं जिन्हें हम गैर दलीय राजनीतिक संगठन में शामिल करते हैं। मैं गैर दलीय राजनीतिक संगठन के विचार पर ज़ोर देना चाहूंगा। इसका ख़ास कारण यह है कि इसके तहत आंदोलनों की राजनीतिक अंतर्वस्तु छिपती नहीं। यह अवधारणा भारत में लोकतांत्रिक व्यवहार के विविध रूपों की जटिलता सामने लाने के लिए आवश्यक है। मुझे इस बात से हैरत होती है कि भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन का एक तबका खुद को गैर राजनीतिक कहता है। दरअसल राजनीति शब्द के बुनियादी अर्थ के आधार पर इसे राजनीतिक ही कहा जा सकता है।

दरअसल नब्बे के दशक की शुरुआत में भारत ने भूमंडलीकृत दुनिया में प्रवेश किया और विश्व अर्थव्यवस्था से अपने एकीकरण के लिए नई आर्थिक नीतियाँ अपनाई। इसके साथ ही इस अभिव्यक्ति का भी चलन बढ़ा। विदेशी फंडिंग एजंसियों ने इसे चलाया। उन्होंने अपने सहयोगियों अर्थात आर्थिक मदद लेने वाले गैर सरकारी संगठनों (एन. जी. ओ.) को नागरिक समाज संगठन कहना शुरू किया। असल में एन. जी. ओ. समाज के साथ अपने लेनदेन का औचित्य एक हद तक ही प्रमाणित कर पाए। भारत के गैर सरकारी संगठनों ने भी ख़ुशी-ख़ुशी नागरिक समाज का हिस्सा कहलाना स्वीकार किया। इस सन्दर्भ में एक रोचक बात यह देखी गयी कि राजनीतिक माहौल में बदलाव और एक नए राजनीतिक विमर्श के उभार के साथ पुरानी स्थापित अवधारणा को नए अर्थ मिल सकते हैं और उसका स्थापित अर्थ धुंधला हो सकता है। यहां तक कि पहले की तुलना में इसका अर्थ उलट भी सकता है। ऐसा लगता है कि नागरिक समाज के विचार के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ है।

शीत युद्ध की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण भी नागरिक समाज की अवधारणा को पानी मिला है। खास तौर पर शीत युद्ध की समाप्ति के समय सोवियत बुद्धिजीवियों और राजनीतिक विरोधियों ने नागरिक समाज शब्द का विचार अपनाया। सोवियत शासन का विरोध कर रहे लोगों ने जोरदार तरीके से अपना तर्क रखा। भारत सहित पूरी दुनिया में अमेरिकी एकेडमियों ने यह दलील जोर शोर से पेश की। मोटे तौर पर यह तर्क इस प्रकार था: साम्यवादी राज्य का सिर्फ लोगों से संपर्क ही नहीं टूटा बल्कि यह उनका दुश्मन हो गया। इसका कारण यह था कि इस राज्य में सत्ता एक छोटे समूह में ही केन्द्रित होकर रह गयी थी। राज्य लोगों से बहुत दूर चला गया था। वह लोगों से दूर बैठकर शासन कर रहा था। सिर्फ नागरिक समाज का पुनर्भाव ही राज्य को लोगों तक वापस ला सकता है। दूसरी तरफ मार्क्सवादी विश्लेषण में नागरिक समाज को निष्क्रिय, क्रांतिविरोधी और प्रतिगामी परिघटना के तौर पर देखा जाता है। इसके तहत माना जाता है कि यह बुर्जुआ लोकतंत्र से जुड़ा हुआ है।

सोवियत शासन ने लोगो को बहुदलीय व्यवस्था और राजनीति आज़ादियों से वंचित रखा था। सोवियत शासन के विरोधियों का विश्वास था कि एक बहुदलीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था के उभार और राजनीतिक आज़ादी हासिल करने के लिए राज्य को नागरिक समाज के अंतर्गत लाना ज़रूरी है। इस तरह सोवियत राज्य विरोधी विमर्श में नागरिक समाज शब्द ने एक खास अर्थ हासिल किया है। अब इसे राज्य के खिलाफ राजनीतिक कार्यवाही के रूप में देखा जाने लगा। जल्द ही यह भारत के सामाजिक एक्टिविस्टों और शिक्षाविदों की पसंदीदा अवधारणा बन गया। इनमें से बहुतों ने गहराई से विचार किये बिना नियमित रूप से समाज की जगह नागरिक समाज शब्द का प्रयोग करना शुरू कर दिया। कई मौकों पर इस तरह का प्रयोग पूरी तरह से गलत था। जब अन्ना हजारे के आन्दोलन ने सरकार के भ्रष्टाचार के खिलाफ लोगों को अच्छी – खासी संख्या में गोलबंद किया तो फटाफट उस शब्द को इसके साथ जोड़ दिया गया। अन्ना आन्दोलन के साथ उसके उस अर्थ को भी जोड़ा गया जिसमें इसे राज्य के खिलाफ राजनीतिक कार्यवाही के रूप में देखा जाता है। जब नागरिक समाज एक अभिव्यक्ति के तौर पर भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर आया उस समय राज्य की प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं (चुनावों और राजनीतिक दलों) के बाहर चलने वाली लोकतान्त्रिक राजनीति के बारे में गहरा वाद-विवाद चल रहा था। यह बहस लोकायन आन्दोलनों से जुड़े एक्टिविस्टों और पब्लिक इन्टेलेक्चुअल्स द्वारा शुरू की गयी थी। उन्होंने गैर दलीय राजनीति की अवधारणा तैयार की और इसे लोकप्रिय बनाया। राजनीति के इस क्षेत्र का वर्णन गैरदलीय राजनीतिक समूहों और आन्दोलन के रूप में किया गया। दरअसल, इस पूरी परिघटना का वर्णन करने के लिए नागरिक समाज की तुलना में गैर दलीय राजनीतिक प्रक्रिया ज्यादा अच्छी अवधारणा थी। यह गैर दलीय राजनीति का विचार जयप्रकाश नारायण द्वारा 1960 के दशक के शुरुआती वर्षों में विकसित किये गए दलविहीन लोकतंत्र की तरह नहीं था। इसमें संसदीय लोकतंत्र की जगह प्रत्यक्ष सहभागी लोकतंत्र की बात नहीं कही गयी थी। लोकायन द्वारा शुरू की गई बहस का निचोड़ यह था कि संसदीय राजनीति के उस आयाम क्षेत्र पर प्रकाश डाला जावे जो लोकतान्त्रिक राजनीति की असाधारण दुनिया का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन संस्थाबद्ध राजनीति करने वाले लोगों ने इस विचार को संदेह की नज़र से देखा। राजनीतिक सिद्धान्तकारों

के एक तबके को ऐसा लगा कि मानो यह लोकतंत्र के पुरातन विचार का प्रतिनिधित्व करता है। शायद उन्होंने इसे उदारतावादी लोकतंत्र के लिए ख़तरा भी माना। गैर दलीय राजनीतिक समूह में ऐसे व्यक्तिगतकर्ता, सामाजिक एक्टिविस्ट और समूह शामिल हैं जिनका उद्देश्य और कार्यक्रम बुनियादी रूप से राजनीतिक है, लेकिन जो दलों और चुनावों की राजनीति से परहेज़ करते हैं। इस बहस ने नागरिकों को याद दिलाया कि लोकतांत्रिक राजनीति सिर्फ दलों और चुनावों तक ना तो सीमित है और ना होनी चाहिए।

मोटे तौर पर गैर दलीय राजनीति ने जनहित में ख़ास मुद्दों को बुलंद करके राजनीतिक व्यवस्था तक पहुंचाया। लोगों की गोलबंदी के ज़रिये उसने राजनीतिक व्यवस्था को इन मुद्दों पर कार्यवाही करने के लिए मजबूर किया। इन आंदोलनों के राज्य स्तरीय समर्थक संगठनों की मुख्य गतिविधि यह थी कि वे राज्य के साथ विरोध और सहयोग का एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध कायम करते थे। ये लोगों के साथ और लोगों की ओर से काम करते थे। इसमें पूरे देश की अर्थव्यवस्था और समाज में हाशिये पर पड़े लोगों के बहुत से समूह शामिल थे। राजनीतिक दल इन लोगों की ज़रूरतों और अधिकारों की ओर ध्यान नहीं देते थे। यदि कभी कभार उनका ध्यान चला भी जाता था तो भी इसे चुनावी राजनीति के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था। लोग जिन समस्याओं का सामना कर रहे थे उनके आधार पर वोट बैंक नहीं बनाया जा सकता था। स्थानीय और ग्रामीण समुदायों के लिए भ्रष्टाचार इतना ज़्यादा बढ़ चुका था कि उसने उनके लिए ज़िंदगी और मौत से जुड़े मुद्दे की शक्ल इख्तियार कर ली थी। इस सन्दर्भ में एम. के. एस. एस. यानी मजदूर किसान संघर्ष समिति के उदाहरण पर विचार किया जा सकता है। इसका गठन अरुणा रॉय और उनके सहयोगियों ने किया था। इसने राजस्थान में राजनीतिक दलों से उपेक्षित पड़े लोगों के साथ जुड़कर काम किया और सरकारी अधिकारियों को मजबूर कर दिया कि वे भ्रष्टाचार मुक्त तरीके से विकास कार्यों का संचालन करें। बाद में इसी ने सरकारी भ्रष्टाचार से लड़ने के साधन के रूप में सूचना के अधिकार की मांग रखी। जल्द ही यह एक बहुत ही व्यापक अभियान बन गया। इस बार भी एम. के. एस. एस. को सफलता मिली। यह राष्ट्र स्तरीय सफलता थी। दरअसल लोकायन की गैर दलीय राजनीतिक समूह की अवधारणा में इस तरह की प्रक्रियाओं और आन्दोलनों की कल्पना की गयी है। इस तरह का एक और उदाहरण गैर दलीय समूह और आन्दोलनों का एक नेटवर्क एन. ए. पी. एम. (नेशनल अलायंस ऑफ़ पीपल्स मूवमेंट्स) है। इसका नेतृत्व मेघा पाटकर कर रही हैं। ईला बहन भट्ट की संस्था 'सेवा' भी एक अहम् आन्दोलन है जिसका रूप एन. जी. ओ. का न होकर स्वरोजगारशुदा स्त्रियों के लिए काम करने वाली ट्रेड यूनियन जैसा है। मधु पूर्णिमा किश्वर के नेतृत्व में चलने वाला मानुषी आन्दोलन भी इसे श्रेणी में रखा जा सकता है। इसने गरीबों; ख़ास तौर पर रिक्शा चलाने वालों और रेहड़ी पटरी वालों के आर्थिक अधिकारों के लिए संघर्ष किया है। (प्रतिमान, 2013, पृ. 20)

एक अन्य सामाजिक आन्दोलन अन्ना हजारे का रहा है जो दशकों से अधिक समय से राज्य में नौकरशाही तंत्र में पारदर्शिता की मांग कर रहा है। उनके आन्दोलन ने महाराष्ट्र में उनके गाँव रालेगण सिद्धि को मॉडल गाँव बना दिया है। उनके आन्दोलन में जन साधारण की कल्याण योजनाओं में सरकारी पहलू तथा कार्यान्वयन प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त करने के अधिकार पर बल दिया गया है। इस दबाव से सरकार

द्वारा सूचना का अधिकार प्राप्त हुआ है। इस कानून से लोगों की सरकारी रिकॉर्ड तक पहुँच सुनिश्चित हुई है। इसके परिणाम स्वरूप भ्रष्टाचार तथा रिश्वतखोरी की समस्या को रोकने में मदद मिलेगी। (विघ्नराज, पोन्ना, 1993)

पुराने सामाजिक आन्दोलनों में सामाजिक दलों की केन्द्रीय भूमिका थी। राजनीति शास्त्री रजनी कोठारी भारत में 1970 के दशक में सामाजिक आन्दोलनों की भरमार को लोगों के संसदीय लोकतंत्र में बढ़ते असंतोष का कारण मानते थे। कोठारी तर्क देते हैं कि राज्य की संस्थाओं पर अभिजात लोगों का अधिकार हो गया है। इसके कारण राजनीतिक दलों द्वारा चुनावी प्रतिनिधित्व, गरीबों द्वारा अपनी सुनवाई करवाने का एक प्रभावशाली तरीका नहीं रह गया। औपचारिक राजनीतिक व्यवस्था से छूट गए व्यक्ति सामाजिक आन्दोलनों अथवा गैर दलीय राजनीतिक संगठनों में सम्मिलित हो गए ताकि वे राज्य पर बाहर से दबाव डाल सकें। आज राजनीतिक समाज की विस्तृत परिभाषा राजनीतिक दलों तथा मजदूर संघों के प्रतिनिधित्व वाले दोनों पुराने सामाजिक आन्दोलनों तथा नए गैर सरकारी संगठनों, महिलाओं के समूहों, पर्यावरण के समूहों तथा जनजातीय आन्दोलनकारियों के लिए प्रयोग की जाती है। (मार्टिन एंड लिनकेनवेज, 2003, पृ. 1524-1563)

भारत में नागरिक समाज आन्दोलन के अंतर्गत निम्नलिखित आन्दोलनों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तावित है-

- लोहिया आन्दोलन
- जे. पी. आन्दोलन
- अरुणा रॉय आन्दोलन

4.2 राममनोहर लोहिया का व्यक्तित्व और नेतृत्व

डा. राम मनोहर लोहिया आजादी के बाद अपने राजनीतिक जीवन में बहुत विवादस्पद व्यक्ति रहे हैं। अपने अनुयायियों में 'युगांतकारी' और 'राजनीतिक विरोधियों में खोया हुआ' के नाम से प्रसिद्ध रहे। वे एक विचारक थे जिन्होंने व्यवहार और समाजवादी सोच की खोज की थी। (मकसूद, 1969, पृ. 39) भारत के स्वतंत्रता संग्राम के समय उनके अन्दर आशंका एवं डर की बजाय प्यार और आदर था। सत्ता में बैठे लोग उनके दृढ विश्वास, बुद्धिमानी और कटुआलोचना करने और उनके त्याग की असाधारण क्षमता से डरते थे। विपक्ष में बैठे लोग भयभीत थे कि अगर हम इनका अनुसरण करेंगे तो या तो हम क्रांतिकारी तत्वों में समाहित हो जाएंगे या सत्ता की दौड़ से दूर हो जाएंगे। (कारंथ, 1968, पृ. 9)

लोहिया के बारे में लोगों के विचार अलग हो सकते हैं लेकिन भारत में राष्ट्रीय और समाजवादी आन्दोलन को उनकी प्रतिभा और योगदान से वंचित नहीं किया सकता।

उनका जन्म अकबरपुर (उत्तर प्रदेश) में 23 मार्च 1910 को हुआ था। (मैनकाइंड, 1970, पृ. 91) वे मारवाड़ी वैश्य समुदाय से थे जो धन और संचय के लिए जाना जाता है। अपने स्कूली दिनों से ही उनकी राजनीति में रूचि थी। जब लोकमान्य तिलक ने बंबई में अंतिम सांस ली तभी लोहिया ने अपने साथियों के साथ मिलकर, जहाँ महान नेता का शव रखा था, वहीं से ही जुलूस की शुरुआत की। (केलकर, 1963) गांधी जी की एक आवाज़ पर स्कूल को छोड़कर असहयोग आन्दोलन में शामिल हो गए। 1921 में जब गांधी जी बम्बई आये थे तब लोहिया ने उनके साथ पहली मुलाक़ात की। बंबई, बनारस और कलकत्ता विश्वविद्यालय में पढ़ाई करने के बाद उन्होंनें सन 1932 में बर्लिन विश्वविद्यालय से 'नमक और सविनय अवज्ञा' पर शोध उपाधि प्राप्त की। (केलकर, 1963, पृ. 30)

भारत आने के बाद लोहिया भारत के स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। वे 'कांग्रेस समाजवादी पार्टी' के संस्थापकों में से एक थे और 'कांग्रेस समाजवादी' पत्रिका के मुख्य सम्पादक थे। 1936 में कांग्रेस पार्टी के विदेश विभाग के सचिव बनाए गए। यूरोप में द्वितीय विश्व युद्ध में शामिल होने के सवाल पर नेहरु और कांग्रेस के अन्य सहयोगियों से उनके विचार अलग थे। वे अंग्रेजों के खिलाफ आक्रामकता के पक्ष में थे। उन्होंने इसे ब्रिटिश चंगुल से मुक्त होने का अवसर कहा। 11 मई 1940 को दोस्तपुर में अपने सार्वजनिक भाषण में कहा, "ब्रिटिश साम्राज्य का भीमकाय भवन शोषण और दासता की नींव पर टिका है। ब्रिटिश राज ने जो इतनी मेहनत से विशाल स्तम्भ बनाया है, कोई भी उसे चूर-चूर होने से नहीं बचा सकता। देश के दस प्रान्तों में जनप्रिय सरकार को गवर्नर के निरंकुश शासन से पुनर्स्थापित कर दिया, इसलिए पर्याप्त प्रमाणिकता के आधार पर सत्याग्रह आरम्भ कर देना चाहिए। (शरद, 1967, पृ. 159-60)" सत्याग्रह की आवाज़ पर लोहिया को दो साल के लिए बरेली केन्द्रीय जेल में डाल दिया गया। हालांकि दिसंबर 1941 को दो साल के समय से पूर्व ही उन्हें मुक्त कर दिया लेकिन जेल में डालने का कारण सार्वजनिक नहीं किया गया।

भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान महत्त्वपूर्ण राजनेताओं को जेल में डाल दिया गया, लोहिया ने भूमिगत रहकर अंग्रेज़ी राज के खिलाफ संघर्ष किया। उन्होंने बंबई और कलकत्ता में रहकर भूमिगत रेडियो का प्रसारण शुरू किया और जयप्रकाश नारायण के साथ मिलकर ब्रिटिश उपनिवेश के साथ गुरिल्ला लड़ाई लड़ी। इसके परिणाम स्वरूप उनको जेल हुई और अंग्रेजों द्वारा उन्हें लाहौर फोर्ट में अमानवीय यातनाएं दी गयी। (लोहिया, 1965, पृ. 72-77) इस युद्ध के तत्काल बाद नेहरु ने उनसे कांग्रेस महासचिव बनाने के लिए पूछा। लोहिया ने नेहरु के सामने तीन शर्त रखी जो बाद में नेहरु द्वारा अमान्य कर दीं गयी। शर्तें निम्न प्रकार थीं –

- कांग्रेस अध्यक्ष न तो अंतरिम सरकार में मंत्री पद लेगा, न प्रधानमंत्री पद।
- कोई राज्य मंत्री या कैबिनेट मंत्री कांग्रेस की वर्किंग समिति का सदस्य नहीं होगा।

- कांग्रेस मंत्रिमंडल और कार्यसमिति एक दूसरे से पूरी तरह अलग तथा स्वतन्त्र रखे जाएंगे और कार्य समिति को यह विशेष अधिकार प्राप्त होगा कि वह मंत्रिमंडल की खुलकर आलोचना कर सके। (लोहिया, 1969, पृ. 42-43)

उसी समय गोवा और नेपाल का स्वतंत्रता संग्राम अपनी चरम सीमा पर था। गोवा और नेपाल के लोगों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से पुर्तगालियों और राणाओं के अत्याचारी शासन से मुक्ति के लिए गाँधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन को संगठित करने में उनकी मदद करने को कहा। अंतरिम सरकार के कांग्रेसी नेताओं ने उनके अनुरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया। तब लोहिया ने उनका नेतृत्व किया। उन्होंने गोवा की यात्रा की, पुर्तगालियों के क़ानून की निंदा की। इस पर कोर्ट ने उन्हें गिरफ्तार किया। लोहिया ने गोवा के लोगों को पुर्तगालियों और राणाओं के गठबंधन के विरुद्ध गाँधी जी की तकनीक को सिखाया। नेपाली कांग्रेस का निर्माण और राणाओं के निरंकुश शासन की समाप्ति, यह सब लोहिया के प्रयासों से ही संभव हुआ। (लोहिया, 1963, पृ. 148) फरवरी 1947 में पार्टी का अधिवेशन कानपुर में लोहिया की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। उन्होंने कांग्रेस कार्य समिति के अन्दर और बाहर समान रूप से व ज़ोरदार ढंग से देश के विभाजन का विरोध किया। जब भारत में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे, लोहिया अपने जीवन की चिंता किए बिना कलकत्ता और दिल्ली की गलियों में अपने मुस्लिम भाइयों को बचाने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान गए। (लोहिया, 1970, पृ. 6-7) कलकत्ता में गाँधी जी के व्रत के दौरान वे उनके साथ थे। उन्होंने नोआखली भ्रमण के दौरान गाँधी जी के रक्षा कवच के रूप में काम किया। नेहरु के नेतृत्व में मुक्त भारत के लिए लोहिया ने निराशा व्यक्त की। (मैनकाइंड, 1967, पृ. 6-7) उन्होंने महसूस किया कि नेहरु भारतीय विद्रोह के साथ धोखा कर सकते हैं। यदि यह पूरा नहीं हो सकता है तो इसे पथभ्रष्ट कर सकते हैं। वे अपनी स्वयं की पार्टी से भी निराश थे। परम्परागत रूप से गठित पार्टी लोहिया के क्रन्तिकारी और नए विचारों को ग्रहण नहीं कर पा रही थी। सन 1952 में पहले सार्वजनिक चुनाव हुए। सार्वजनिक चुनाव में समाजवादी पक्ष और आचार्य कृपलानी के कृषक- मजदूर प्रजापक्ष का विलीनीकरण और प्रजा समाजवादी पक्ष की स्थापना की गयी। कांग्रेस के साथ सहयोग के लिए नेहरु-जयप्रकाश भेंट और बातचीत हुई लेकिन लोहिया ने सहयोग के लिए विरोध किया। प्रजासमाजवादी पक्ष का बैतूल (मध्य प्रदेश) में कांग्रेस के साथ सहयोग के प्रश्न पर निर्णय करने के लिए विशेष अधिवेशन बुलाया गया।

इलाहाबाद में प्रजासमाजवादी पक्ष का प्रथम अधिवेशन हुआ। इसमें महामंत्री पद पर लोहिया का चयन किया गया। उत्तरप्रदेश में नहर पानी लगान में वृद्धि के विरोध में प्रजासमाजवादी पक्ष के आंदोलन का नेतृत्व, गिरफ्तारी, सत्याग्रह के प्रचार के लिए अधिकार को प्रस्थापित करने के लिए इलाहाबाद उच्च न्यायालय में मामला दायर किया गया। इसमें लोहिया की जीत हुई और दो महीने बाद रिहाई हुई। मुख्यमंत्री पिल्लै की त्रावणकोर-कोचीन की प्रजासमाजवादी सरकार ने नि:शस्त्र नागरिकों पर गोली चलाई थी। कुछ लोगों की मौत हुई थी, लोहिया ने जेल से ही महामंत्री के नाते पिल्लै सरकार को सुझाव दिया कि वह इस्तीफा दे। परन्तु पिल्लै सरकार ने सुझाव नहीं माना, इसलिए लोहिया ने महामंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया। कांग्रेस ने अवाडी (तमिलनाडु) अधिवेशन में अपना उद्देश्य समाजवादी समाज रचना घोषित किया,

अशोक मेहता की ओर से घोषणा का स्वागत और सहयोग के लिए उत्सुकता प्रदर्शित की गई। अशोक मेहता के प्रस्ताव का लोहिया द्वारा तीव्र विरोध किया गया, मधुलिमये ने अशोक मेहता के विरोध में प्रकट तौर पर अपना मत व्यक्त किया। लिमये का पक्ष सदस्यत्व स्थगित रखा गया। लोहिया ने इसका भी निषेध किया। प्रजा समाजवादी पक्ष का आंतरिक कलह अपनी चरम सीमा पर पहुँचा, लोहिया का सदस्यत्व भी रद्द किया गया।

लोहिया ने दिसंबर 1955 में अपने राजनीतिक जीवन का सबसे बड़ा निर्णय लिया। वे अपने मूल संगठन से बाहर कर दिए गए। उन्होंने अपनी निजी 'भारतीय समाजवादी पार्टी' बनाई जिसने उनकी नीतियों और विचारों को आगे बढ़ाने का काम किया। उन्होंने अपनी पार्टी को अन्याय के खिलाफ संघर्ष के लिए एक क्रांतिकारी उपकरण का रूप दिया। उन्होंने एक राज्य से दूसरे राज्य में सत्याग्रहों की श्रंखला शुरू की और अनेक बार जेल गए। उस समय वे धारा के विपरीत चल रहे थे, ऐसा लग रहा था कि वे लुप्त हो जायेंगे। दोस्तों ने साथ छोड़ दिया, दुश्मनों ने तिरस्कृत कर दिया, प्रेस ने उनकी हँसी उड़ाई लेकिन लोहिया ने अदम्य साहस के बल पर अन्याय के खिलाफ लड़ाई लड़ी और भारत की जनता को उत्साहित किया लेकिन अभी तक वे 5 करोड़ भारतीयों की जड़ता दूर नहीं कर सके। (मैनकाइंड, मार्च-अप्रेल, 1968, पृ. 70) लोहिया का संसदीय जीवन बहुत छोटा था। वे मई, 1963 में तीसरी लोकसभा के उपचुनाव में फर्रुखाबाद से चुने गए थे। सदन के सदस्य के रूप में उन्होंने बड़े व्यापारिक घरानों तथा भारत में सीआईए के एजेंटों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने संसद को दूर-दूर तक फैली भुखमरी के बारे में जानने के लिए बाध्य किया कि हमारी एक तिहाई आबादी जो कृषि श्रमिकों के रूप में काम कर रही है, वह किस तरह भुखमरी से पीड़ित है। लोकसभा में अपने 1964 के प्रसिद्ध बजट भाषण में अकाट्य दस्तावेजों के द्वारा बताया कि 270 मिलियन भारतीय तीन आना(19 पैसे) प्रतिदिन पर अपना जीवन गुजर कर रहे हैं। (लोहिया, मार्च 5, 1964) लोहिया के साथ विवाद करके पं. नेहरु ने जान बूझकर मुसीबत मोल ले ली और इसके बाद संसद में उनकी यही कोशिश रही कि वे लोहिया के साथ किसी विवाद में न पड़ें। (पुरी, अक्टूबर 21, 1967, पृ. 8) लोहिया ने कांग्रेस सरकार की यह कहकर आलोचना की कि वह परिवर्तन की सबसे बड़ी शत्रु है। (मैनकाइंड,जन.-फरवरी, 1967, पृ. 91) इसलिए उन्होंने चौथे आम चुनाव से पहले सभी विरोधी पार्टियों को सुझाव दिया कि वे अपने राजनीतिक मतभेद भुला दें ताकि कांग्रेस को सत्ता से बाहर कर सकें, जिससे कि वे न्यूनतम साझा कार्यक्रम को कार्य रूप दे सकें। चुनावों के बाद वे विभिन्न राज्यों में गैर- काँग्रेसी सरकारों के निर्माण में जुट गए। वे केंद्र में भी काँग्रेस को सत्ता से बाहर करना चाहते थे लेकिन उस समय वे 57 वर्ष के हो चुके थे, इस उम्र में उनके पिता और दादा की मृत्यु हो चुकी थी तथा वे यह समझते थे कि उनका अंत भी आ गया था। (मैनकाइंड, मार्च-अप्रेल, 1968, पृ. 46) 12 अक्टूबर, 1967 को उनकी मृत्यु हो गई। (सेन, 1968, पृ. 46) अपने जीवन के अंत तक वे लौह दृढ़ता व दबाव के मध्य भी भारतीय जनमानस को प्रभावित करने का प्रयास करते रहे।

उनके लेखन कार्य को दो भागों में बांटा जा सकता है- एक में उनके विषय संबंधी लेखन, सम्पादकीय और विदेशी मामलों पर उनके विचार हैं; दूसरे में उनके अन्य विषयों पर विचार हैं। विदेश नीति के बारे में

उनके विचार थे कि भारत की विदेश नीति ब्रिटेन की विदेश नीति से अलग होनी चाहिए। उनका विचार था कि भारत दूसरे देशों के साथ भी राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करे। उनकी बाद की रचनाओं में प्रमुख हैं- 'व्हील ऑफ़ हिस्ट्री' जिसमें उन्होंने वर्णों के बीच में आंतरिक विवाद और राष्ट्रों के मध्य बाहरी विवादों के सम्बन्ध के बारे में लिखा है। बर्लिन में अपनी शिक्षा के दौरान वे एक कट्टर समाजवादी के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। वहीं पर उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद की कमजोरियों को महसूस किया और यूरोपीय सोच के विरुद्ध उनके विचार बने। लोहिया के विचारों के प्रमुख सूत्रधार थे पूंजीवाद का पतन, संसार का दो भागों में विभाजन (गोरे और काले), हीगल और मार्क्स की असफलता, योजनाबद्ध क्रांति की आवश्यकता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और पहल की आवश्यकता, सामाजिक लोकतंत्र की कमजोरियों और जनक्रांति की आवश्यकता। अपने पिता के अलावा गांधी जी वह अकेले व्यक्ति थे जिनका लोहिया पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। वे गांधी को अपना आदर्श मानते थे।

वे गांधी के धार्मिक रिवाजों के विरुद्ध थे। उनका तार्किक मस्तिष्क धर्म को ग्रहण नहीं कर पाता था। वे हिन्दू समाज की रूढ़िवादिता के खिलाफ थे। इसके विपरीत वे देश की गरीबी, नग्नता और भूख से प्रभावित थे। हिन्दू समाज में व्याप्त सवर्ण और शूद्र वर्ण की अपेक्षा वे आम आदमी के जीवन के अध्ययन में विश्वास करते थे। वे जीवनभर निरंकुशता, रूढ़िवादिता, औपनिवेशवाद, पूँजीवाद और संकीर्ण राष्ट्रीयता के विरुद्ध रहे। वे सामयिक एंग्लो इंडियन संस्कृति के विरुद्ध थे जिसने भारतीयों की सहज और प्राकृतिक भावनाओं को नष्ट कर दिया था। इनके अनुसार एंग्लो इंडियन संस्कृति अभद्र थी। इसमें झूठ था, खालीपन था, मिथ्याचरित्र था और यह जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ थी। वे प्रेम एवं सत्य में विश्वास करते थे। वैदिक सिद्धांतों पर उनका भरोसा था। आत्म नियन्त्रण और प्रेम ही विश्व में शान्ति ला सकते हैं।

वे एक जन्मजात विद्रोही थे, स्वतंत्रता आंदोलन के महान योद्धा, महान उत्प्रेरक, दुर्लभ योग्यताओं के सांसद और चिंतक थे। वे भारत के समाजवादी आंदोलन के नेता थे। वे जबरदस्त व्यक्तिवादी, स्पष्टवादी और निर्भय थे। विपरीत परिस्थितियों में भी आशावादी रहना उनके व्यक्तित्व का गुण था। वे निर्भीक थे क्योंकि वे सत्यवादी और नि:स्वार्थी थे। उन्होंने अपने लिए कभी सत्ता नहीं चाही। नि:संदेह उन्होंने सत्ता के लिए काम किया परन्तु वह सत्ता उन्होंने लोगों के लिए, दबे हुओं के लिए, नीचे गिरे हुओं के लिए और उपेक्षितों के लिए चाही। महात्मा गाँधी के बाद वे अकेले थे जिन्होंने गरीबों और कमजोरों से प्रेम किया। (अरोड़ा, 1984, पृ. 32)

4.3 लोहिया के समाजवाद के मूल सिद्धांत

समाजवाद राजनीतिक आर्थिक क्षेत्र में वह सामान्य पद है जो निजी संपत्ति का विरोध करता है और जन कल्याण हेतु दूसरे उपयोग का समर्थन करता है, निजी उद्योगों का समापन करता है तथा सामूहिक स्वामित्व और नियंत्रण को स्थापित करता है, जिसका लाभ सम्पूर्ण समाज को मिले। यह उत्पादन और

वितरण में तथा विनिमय में कम से कम सामूहिक सहभागिता का पक्षपाती है। यह समाज के उस स्वरूप का समर्थन करता है जहाँ आदमी और औरत सामाजिक और आर्थिक समानता की स्थिति तक पहुंचें तथा आम साधनों का उपयोग सामाजिक कल्याण को बढ़ाने में हो। लोहिया के अनुसार आज विकासशील एशिया पांच मूल बीमारियों से ग्रसित है-

- धर्म और जाति आधारित राजनीति
- सरकारों का दमनकारी रूप
- विलासितापूर्ण नई मध्यम वर्गीय नौकरशाही का उदय
- ऐसे नायकों का उदय जिनके कार्यो को अनदेखा किया जाता है
- सामाजिक दर्शन और विषद नीतियों और कार्यक्रमों का अभाव(लोहिया, 1963, पृ. 297)

इन्हें दूर करने के लिए एक नए सामाजिक राजनीतिक विचारधारा की आवश्यकता है।

आज विश्व में मुख्य रूप से तीन प्रकार की विचारधाराए हैं- पूंजीवाद, साम्यवाद और समाजवाद। पूंजीवाद सबसे अपर्याप्त है क्योंकि यह अलगाववादी और कट्टरतावादी प्रवृतियों को प्रोत्साहित करता है। (लोहिया, पृ. 53) इससे बेरोजगारी संकट और युद्ध होते हैं तथा यह लाभ के सिद्धांत पर आधारित है। लोहिया के अनुसार साम्यवाद कपट, झूठ, विश्वासघात, विद्रोह और सभ्यता के क्षय का सिद्धांत है तथा पूंजीवाद का सहायक है। (लोहिया, 1963, पृ. 333) समाजवाद जोश और एकता का संयोजन है जो अलगाववादी और कट्टरतावादी प्रवृतियों को मात देता है तथा मनुष्य के भौतिक और नैतिक उत्थान के लिए काम करता है।

कर्म से ही लोहिया समाजवाद से प्रभावित थे क्योंकि वे उस पिता के पुत्र थे जो गाँधी के समर्थक थे और अपने आप को किसानों और श्रमिकों का सच्चा सेवक मानते थे। (तेंदुलकर, 1954, पृ. 40) यद्यपि वे रूस में लेनिन की उपलब्धियों को पढ़ चुके थे परन्तु उनका प्रारंभिक समाजवाद भारत में ब्रिटिश शासन के अन्याय का परिणाम था। मुख्य रूप से यह मानवीय स्वतंत्रता और समानता के विश्वास पर आधारित था। वैयक्तिक सम्मान में उनका दृढ़ विश्वास उन्हें उन विचारों और संस्थाओं के खिलाफ लड़ने की प्रेरणा देता था जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करते थे। अपने प्रारम्भिक दिनों में वे मार्क्स के यूरोपियन समाजवाद के नज़दीक थे, बाद में वे गांधी के निकट होते गए। समाजवादी सिद्धांतों के गहन अध्ययन के बाद उन्होंने अपने सिद्धांतों को ठोस रूप दिया। यद्यपि वे रूस के समाजवाद से आकर्षित थे तो भी वे मार्क्स के परम्परावादी स्वरूप से प्रभावित नहीं हुए। वे हिंसा और सैन्य दल के विरोधी थे, जब स्टालिन ने बोल्शेविक क्रांति के द्वारा अपने साथियों को दबाया तो लोहिया आश्चर्यचकित रह गए। (मैनकाइंड, मार्च-अप्रेल, 1968, पृ. 59) मार्क्स और दूसरे परम्परावादी समाजवादियों के सिद्धांतों से अलग लोहिया ने अपना स्वतन्त्र समाजवादी दर्शन स्थापित किया। जिसका मुख्य बिन्दु स्थानीय एशिया का परिदृश्य था। (लोहिया, 1956, पृ. 53) यह कहना रुचिप्रद होगा कि लोहिया ने कभी भी अपने सामाजिक दर्शन के पक्षों का एक स्थान या एक समय पर वर्णन नहीं किया। 1938 से 1955 के बीच उनके जीवन के सत्रह वर्षों के दौरान हम

उनके विचारों को अलग-अलग हिस्सों में देख पाते हैं; ऐसा इसलिए क्योंकि इन सत्रह सालों में उन्होंने कभी भी एक जगह बैठकर नहीं लिखा। उन्होंने भारत छोड़ो आन्दोलन का नेतृत्व किया, गोवा और नेपाल में विद्रोह को संगठित किया। कलकत्ता के हिंसा प्रभावित क्षेत्रों नोवाखली और देहली में शांति बनाए रखने में गांधीजी का साथ दिया। हिन्द किसान पंचायत का गठन किया। पांच बार गिरफ्तार हुए, दो साल भूमिगत रहे और 170 सप्ताहों तक जेल में रहे। (दीपक, 1968, पृ. 60) निश्चित ही ऐसा व्यक्ति अपने विचारों को अलग-अलग हिस्सों में व्यक्त कर सकता है। वास्तव में उनका समाजवाद मार्क्स और गाँधी के दर्शन का मध्यम मार्ग था। उन्होंने स्वीकार किया कि गाँधी और मार्क्स का दर्शन बेशकीमती खज़ाना है परन्तु एक गांधीवादी या एक मार्क्सवादी होना बेवकूफी है। (लोहिया, 1951, पृ. 172)

यद्यपि लोहिया मार्क्स के वर्ग चित्रण और वर्ग संघर्ष में विश्वास करते थे तथापि उन्होंने इसे कुछ निश्चित आरक्षण के साथ स्वीकार किया। उन्होंने इसमें तात्कालिकता के सिद्धांत का अभाव पाया। उनका विश्वास था कि हम रूस या चीन के वर्ग संघर्ष के तरीकों से समाजवाद स्थापित नहीं कर सकते क्योंकि यह पूर्ण रूप से तात्कालिकता की जांच में असफल है। (लोहिया, 1963, पृ. 368) लोहिया चाहते थे कि संघर्ष का प्रत्येक कार्य अपने आप में वैधता लिए हुए हो। इस प्रकार उन्होंने मार्क्स के वर्ग संघर्ष को पूर्णत: सही नहीं माना। मार्क्स की थ्योरी कि पूंजीवादी कड़ी अपने सबसे मजबूत बिंदु पर टूट जाएगी, गलत सिद्ध हुई। (लोहिया, 1963, पृ. 99-100) लोहिया की स्वयं की नीति या इतिहास दर्शन यह था कि वर्णों के बीच आतंरिक संघर्ष तथा राष्ट्रों के मध्य बाहरी संघर्ष राष्ट्रों के उत्थान और पतन के निर्धारक जुड़वाँ सिद्धांत हैं। हालांकि इसमें अन्य ज्ञात और अज्ञात तथ्य भी सम्मिलित हैं। (लोहिया, 1955, पृ. 26) मार्क्स ने इन पर ध्यान नहीं दिया था। लोहिया के अनुसार प्रत्येक समाज या सभ्यता अपने अधिकतम संगठनात्मक उत्कृष्टता या तकनीकी उत्कृष्टता की दिशा में लगी रहती है। (लोहिया, 1955, पृ. 26) जितने लम्बे समय तक यह उत्कृष्टता बढ़ती रहती है वहीं पर स्वास्थ्य, ऊर्जा और सामान्य गतिविधियाँ रहती हैं। इस प्रकार मानव इतिहास एक आंतरिक आन्दोलन है या जाति या वर्ण के बीच दोलन है या वर्ण जातियों में बंट जाता है और जातियां वर्णों के रूप में कमज़ोर हो जाती हैं। (लोहिया, 1955, पृ. 43) हिटलर और साम्यवादी आन्दोलनों ने प्रयास किया था यूरोप में जातिगत स्थिरता को प्राप्त करने का, लेकिन भारत में वर्ण कमज़ोर होते चले गए। (लोहिया, 1963, पृ. 258)

लोहिया के अनुसार मार्क्स ने पूंजीवाद विकास का निरंतर सिद्धांत नहीं दिया। मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार पूंजीवाद का बढ़ना पूँजी को एक हाथ में केन्द्रित करता है तथा उत्पादन के संबंधों को एक रूप देता है। उत्पादन का यह संबंध एक विध्वंसक सामाजिक बल उत्पन्न करता है। उत्पादन की ताकतों के मध्य एक तनाव होता है। लोहिया ने इसे अर्द्धसत्य कहा है क्योंकि यह पूंजीवाद के द्वारा उत्पादित मूल विरोधाभास को बताने में असफल है। (लोहिया, 1963, पृ. 366) यदि पूंजीवाद उत्पादन की ताकतों और उत्पादन के संबंधों के बीच क्रमिक विकास में टकराव को उत्पन्न करता है तो यह दो विश्व को जन्म देता है। प्रथम, उन लोगों का विश्व जो इसकी क्रांतिकारी तकनीक से लाभान्वित होता है। दूसरा, वह विश्व जो लोगों को गरीबी, कंजूसी और बेशुमार पीड़ायें देता है। (लोहिया, 1963, पृ. 366) अतीत में पूंजीवाद

यूरोपियन लोगों के लिए उन्नति लेकर आया है लेकिन आज इसने ऐसा करना बंद कर दिया है। शेष मनुष्यों के लिए यह कभी उन्नति लेकर नहीं आया। (लोहिया, 1963, पृ. 106)

लोहिया के अनुसार मार्क्स का पूंजीवाद सिद्धांत स्वचालित पश्चिम यूरोपियन घेरा है, जो नि:संदेह बाहरी संसार के लिए एक प्रतिक्रिया का कारण है। लेकिन इसकी गति के सिद्धांत और नियम पूर्णत: आंतरिक है। उनकी राय में समाजवाद इस अवास्तविक मार्क्सवादी तस्वीर को नष्ट करेगा तथा यह एक तस्वीर में दो घेरे वाला स्थान प्रदान करेगा जो एक के अन्दर दूसरा होगा। (लोहिया, 1963, पृ. 16-17) अन्दर वाला घेरा मुक्त पूंजीवादी ढांचे को व्यक्त करेगा जिसमें पूंजीवादी लाभ और मशीनीकृत श्रम के बीच विरोधाभास होगा। दूसरा घेरा शेष संसार की औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को अभिव्यक्त करेगा। जो शाही शोषण और औपनिवेशिक श्रम के बीच में सक्रिय होगा, जिसमें बहुत बड़े-बड़े छिद्र होंगे जिनके द्वारा यह बाहर वाले को चूसने में सक्रिय रहेगा। यह एक मात्र तरीका होगा जिसके द्वारा हम पूँजी-श्रम सक्रियता में साम्राज्य-औपनिवेशिक सक्रियता के साथ शामिल हो सकते हैं तथा पूँजीवाद के विकास को समझ सकते हैं। (लोहिया, 1963, पृ. 17)

मार्क्स के पूंजीवादी सिद्धांत के विकास का दूसरा विरोधाभास विनिमय मूल्य और श्रम के मूल्य का प्रयोग है,जिससे अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न होता है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन के चार सिद्धांतों में- भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन, जिनमें तीन स्थिर हैं और अकेला श्रम ही परिवर्तनीय है। मूल्य का एक मात्र निर्माता श्रम है। यह पुनःउत्पादन करने में सक्षम है। (कैपिटल, वॉल्यूम I, पृ. 345) श्रम दो मूल्यों को उत्पन्न करता है- एक जिसके द्वारा श्रमिक मजदूरी के रूप में प्राप्त करता है और दूसरा नियोक्ता के रूप में कुल उत्पादन में अपना हिस्सा प्राप्त करता है। श्रमिक अपने द्वारा उत्पादित का पूरा मूल्य प्राप्त नहीं करता है। श्रमिक द्वारा किया गया कार्य और उसके द्वारा प्राप्त राशि के मध्य अंतर को मार्क्स के सिद्धांतों में अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है। पूंजीवाद की वास्तविक रूचि सुनिश्चित उत्पादन में नहीं होती बल्कि पूँजी के सम्मिलित मूल्य के ऊपर उत्पाद के मूल्य की अधिकता में है। (कैपिटल, वॉल्यूम III, पृ. 54)

लोहिया के विचारों में मार्क्स ने अपने मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को अत्यंत उच्च अमूर्त रूप में बताया है। वास्तव में पूँजीवाद के अन्दर श्रम के दो रूप हैं जो एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उनको एक श्रेणी में रखने से हम ठीक ढंग से समझ नहीं सकते। श्रम या तो राजसी रहा है और या औपनिवेशिक और उनके मूल्यों के बीच में बहुत बड़ी विभिन्नताएं रही हैं। (लोहिया, 1963, पृ. 17) उनके अनुसार अतिरिक्त मूल्य जो पूंजीवादी प्रणाली के सम्पूर्ण लाभों तथा ऊंची कमाई को संभव बनाता है, मुख्य रूप से औपनिवेशिक खेतों और खानों से निकला है। इसलिए अतिरिक्त मूल्य की गणना नहीं हो सकती और न ही मार्क्स के श्रम की आवश्यकताओं और इसके उत्पादन के बीच के अंतर के आधार पर समझा जा सकता है। अतिरिक्त मूल्य, श्रम की वास्तविक कमाई तथा प्रतिश्रमिक उत्पादन के बीच का अंतर है इसलिए लोहिया के अनुसार हमें एक नए अतिरिक्त मूल्य के क़ानून पर विचार करना होगा, पूँजीवाद के विरोधाभासों तथा क्रांति के नियमों और इसलिए हमारी सम्पूर्ण रणनीति और तरकीबों को दोहराना होगा

क्योंकि मार्क्स की रणनीति और तरकीबें इस पूंजीवादी विकास के नियम का अनिवार्य परिणाम है। (लोहिया, 1963, पृ. 101)

4.4 लोहिया के विचारों पर गांधी की प्रतिबद्धता

लोहिया ने सामाजिक विचारों और सामाजिक परिवर्तनों की प्रणाली के बारे में गाँधी जी के तीन महत्त्वपूर्ण योगदान बताए है जो हैं- नैतिक आधार, सत्याग्रह और विकेंद्रीकरण का आग्रह। उनके अनुसार यह प्रत्येक समाजवादी का कर्तव्य था कि वह गांधीवाद को समझे और सच्चे समाजवाद को स्थापित करने में जितना इसे ग्रहण करना था, करे। (लोहिया, 1963, पृ. 121)

नैतिकता और राजनीति में सम्बन्ध-

उन्होंने गांधीवाद में नैतिकता और राजनीति के मध्य निकट का सम्बन्ध पाया। यही कारण था कि उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि क्रांति की तैयारी करते समय नेता और राजनीतिक दल चरित्र की महत्ता को नज़रअन्दाज न करें। वह गांधी से इस बात से सहमत थे कि साधन और साध्य साथ-साथ चलते हैं। यह संभव नहीं है कि सत्य को झूठ से जीता जाए, स्वास्थ्य को हत्या से जीता जाए, एक विश्व को देश की आज़ादी को बलिदान करके पाया जाए या लोकतंत्र को निरंकुशता से जीता जाए। उनका विश्वास था कि हिंसा और झूठ के अनैतिक रास्ते पर चलकर हम कभी भी सत्य और न्याय की मंजिल पर नहीं पहुँच सकते। एक अच्छे दृष्टिकोण को महसूस करने के लिए अच्छे साधन अनिवार्य हैं। अनैतिक साधन की शरण लेने से एक के बाद एक कड़ियाँ प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होती हैं और अंत में यह निश्चित ही हमारे दृष्टिकोण को विकृत कर देती है। (लोहिया, 1963, पृ. 123-24) यह सभी विचार लोहियाजी ने उस पार्टी मीटिंग में व्यक्त किये थे जहाँ त्रावणकोर कोचीन में पुलिस फायरिंग के बाद मंत्री पट्टमथानू पिल्लै के त्यागपत्र के संबंध में बातचीत चल रही थी। लोहिया के अनुसार दल चाहे सत्ता में रहे या विपक्ष में रहे उसका नैतिक चरित्र एक होना चाहिए। (पी.एस.पी.कान्वेंसन, 1954) गाँधी की तरह लोहिया ने भी अहिंसात्मक क्रांति की आवश्यकता पर बल दिया। हम नफरत की बजाय सहानुभूति और क्रोध की क्रांति की बात कर रहे हैं। क्या गाँधी आधुनिक संसार में एक सजावटी चीज थे, क्या थोरो केवल पढ़ने के लिए है ,हमारे प्रतिदिन के जीवन को प्रभावित करने के लिए नहीं? क्या अब तक थोरो और गाँधी जीवन की मुख्यधारा में प्रवेश नहीं कर पाए हैं?

सत्याग्रह -

सत्याग्रह एक अहिंसात्मक संघर्ष है। इसके बहुत सारे रूप हो सकते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गाँधी जी ने इसे सफलतापूर्वक लागू किया- घरेलू, संस्थागत, आर्थिक और राजनीतिक। लोहिया गांधीजी के सत्याग्रह की तकनीकों से बहुत गहरे प्रभावित थे। उनका विचार था कि जब तक अन्याय और दमन विश्व में हैं, तब तक सत्याग्रह भी प्रचलित रहेगा और इसे प्रचलित होना भी चाहिये क्योंकि यदि सत्याग्रह नहीं होगा तो फिर बन्दूक और गोली होगी। यह एक विशिष्ट विकल्प है जिसे भारत ने पिछले तीस वर्षों में

विश्व के सामने रखा है:- नागरिक अवज्ञा या गोली, संसद और विद्रोह, गोली और वोट के बीच विकल्प नहीं हैं। बल्कि विकल्प है सत्याग्रह और गोली के बीच। नि:संदेह वोट का अपना स्थान है। यह अपने रूप में सर्वोच्च है। इसे कोई चुनौती नहीं दे सकता लेकिन जहाँ तक अन्याय और दमन की बात है, जब वे असहनीय अनुपात में हो जाते हैं तब गोली और नागरिक अवज्ञा के बीच विकल्प ज़रूरी है। इस शताब्दी के ख़त्म होने से पहले पूरे विश्व को यह पाठ सीखना चाहिए कि वैयक्तिक और सामूहिक तौर पर आततायियों को हराने के लिए नागरिक अवज्ञा के रूप में उनके हाथों में एक अद्भुत हथियार है, तब हम एक नयी सभ्यता की ओर अग्रसर होंगे। (लोहिया, 1961, पृ. 128)

गाँधी के विपरीत लोहिया सोचते थे कि पूर्ण सत्याग्रही बनने के लिए भगवान में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं है। (लोहिया, 1961, पृ. 173) उनका विचार था, सत्याग्रह संवैधानिक और आक्रामक विद्रोह का एक विकल्प है जो एशिया की जनता को मिला है। एशिया के समाजवादी अन्याय के खिलाफ धैर्यपूर्वक लड़ने के लिए सत्याग्रह से शिक्षा लेते हैं। (लोहिया, 1961, पृ. 302) लोहिया सोचते थे कि एक लोकतंत्र में अक्सर ऐसे अवसर आ सकते हैं जब यह संभव नहीं हो सकता कि एक उच्च समिति या पार्टी मुख्य कार्यालय अन्याय का विरोध करने के लिए तैयार रहे, स्थितियों के विपरीत एक पूरा राष्ट्र अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने को तैयार हो सकता है। जहाँ समूह या व्यक्तिगत इकाई इस प्रकार के विरोध की जिम्मेदारी ले सकते हैं। इस प्रकार लोहिया सत्याग्रह को वर्ग संघर्ष कहते हैं। (लोहिया, 1963, पृ. 346) सत्याग्रह और वर्ग संघर्ष एक ही प्रक्रिया है जो बुराई की ताकत को कम करती है और अच्छाई की ताकत को बढ़ाती है। गाँधी की तरह उनका भी विश्वास था कि सत्याग्रह या शांतिपूर्ण वर्ग संघर्ष जीवन का रोजमर्रा का व्यवहार है। एक सत्याग्रही के रूप में व्यक्ति को हमेशा तैयार रहना चाहिए तथा सत्य और अहिंसा के द्वारा आरोपित इसकी सीमाओं का ज्ञान होना चाहिए। लोहिया के अनुसार सत्याग्रह का अंतिम उद्देश्य यह होना चाहिए कि लोग अन्याय को घृणित मानें तथा वे इसका सामना करने में खुद को असहाय न मानें। बिना हथियार और बिना संगठन के अन्याय का विरोध करने की तत्परता का गुण आज मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है। (लोहिया, 1963, पृ. 386) निर्माण के बिना संघर्ष वैसा ही है जैसा कि क्रिया के बिना वाक्य। इस प्रकार लोहिया ने सत्याग्रह को मानवीय दया और सामंजस्यपूर्ण क्रियाकलापों का संगम माना है। इसके अलावा उन्होंने तात्कालिकता के सिद्धांत की घोषणा की जिसके तहत लम्बी अवधि के कार्यक्रम और लघु अवधि के कार्यक्रम के बीच में समय का अंतर है और इस प्रकार प्रत्येक कार्य न्याय संगत होना चाहिए। लोहिया ने एक ऐसे साधारण समाज की स्थापना की जहाँ शक्ति का विकेंद्रीकरण हो तथा जहाँ दोषमुक्त समाज हो।

विकेंद्रीकरण -

उन्होंने राज्य के चार आधारों का वर्णन किया जो नीचे से स्वशासन पर आधारित हों तथा केन्द्रीय सत्ता का भार न हो। (लोहिया, 1963, पृ. 131) उन्होंने एक विश्व संसद की स्थापना का आह्वान किया जिसके बिना राष्ट्रों के मध्य समानता तथा मनुष्यों के मध्य समानता संभव नहीं है। इस प्रकार वे गाँधी के

पंचायती राज और ग्रामीण स्वशासन के विचारों के समर्थक थे। गाँधी की तरह उन्होंने यह बल दिया कि जब तक बड़ी संख्या में लोग राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में भाग नहीं लेंगे, तब तक संस्थागत समाजवाद एक खाली नारा, एक मिथ और एक निष्फल स्वप्न ही रहेगा।

4.5 लोहिया के समाजवाद की अवधारणा

लोहिया के अनुसार अपने स्थानीय रूप में समाजवाद , पूँजीवाद या साम्यवाद की बजाय बहुत गहन रूप में जाना जाता है। जब ये तीव्र गति से परिवर्तित होता है तो यह एक रस्म बन जाता है। समाजवाद की प्रवृतियाँ इस प्रकार घुलमिल जाती हैं कि इसे विश्व परिदृश्य में अलग से नहीं पहचाना जा सकता। (लोहिया, 1963, पृ. 284) साम्यवाद के आर्थिक उद्देश्यों व साधनों में, अतिउत्पादन, उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व व नियोजित अर्थव्यवस्था है। पूंजीवादी लोकतंत्र के सामान्य उद्देश्य हैं- वैयक्तिक स्वतंत्रता का संरक्षण, जीवन में शांति व आध्यात्म की स्थापना। समाजवाद इन दोनों को मिलाने का प्रयास करता है। परन्तु एक को दूसरे के ऊपर जोड़ना भविष्य के समाजवाद के लिए खतरा हो सकता है क्योंकि यह उस ध्वंसकारी विश्वास को प्रोत्साहन देता है कि आर्थिक लोकतंत्र, साम्यवाद के तहत तथा राजनीतिक लोकतंत्र पूँजीवाद के तहत आता है तथा उन दोनों को जोड़ने की आवश्यकता है। (लोहिया, 1963, पृ. 321-322) लोहिया ने समाज के आर्थिक व सामान्य लक्ष्यों को इस रूप में मिलाने का प्रयास किया कि एक सौहार्द्र का माहौल बन सके, समाजवाद को एक नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण प्रदान किया ताकि वह विश्व में सामाजिक बदलाव हेतु शक्तिशाली ताकत बन सके। दो तिहाई हिस्से में रहने वाली विश्व की आधी जनसंख्या बेरोजगार है(लोहिया, 1963, पृ. 325), जिसे परम्परागत व संगठित समाजवाद रोज़गार नहीं दे सकता। इसलिए लोहिया ने ऐसे समाजवाद को मृत सिद्धांत व मृत संगठन कहा है। उन्होंने नव समाजवाद का आव्हान किया जिसके अनुसार निम्न सिद्धांत हैं:-(लोहिया, अक्टूबर 13, 1959)

- अधिकतम समानता की प्राप्ति
- सामाजिक स्वामित्व
- लघु इकाई तकनीक
- चार स्तम्भ राज्य
- मर्यादित जीवन स्तर
- विश्व संसद व सरकार

4.5.1 अधिकतम समानता की प्राप्ति

समाजवाद, समानता का सिद्धांत है, यह समाजवाद का सबसे मजबूत पक्ष है। यदि हम लापरवाह रहेंगे तो यह नष्ट होकर असमानता में बदल जाएगा। चूँकि मनुष्य क्षमता व आवश्यकता में अलग-अलग हैं, अत: समानता का अर्थ सबके साथ समान व्यवहार नहीं है। उनके अनुसार समानता एक अमूर्त कल्पना है

जो ऐसा वातावरण बनाती है जिसके तहत व्यक्तियों के मध्य राजनीतिक, सामाजिक,आर्थिक आधार पर भेदभाव न हो। (लोहिया, 1963, पृ. 227) लोहिया ने इसे 'तात्कालिकता का सिद्धांत' कहा है जिसके तहत आदर्श की प्राप्ति हेतु अधिकतम व त्वरित प्रयास हों। (लोहिया, 1963, पृ. 230)

सप्त क्रांति

लोहिया ने सत्य अथवा सुन्दरता की तरह समानता को जीवन का उच्च उद्देश्य बताया है। (लोहिया, 1963, पृ. 222) इसके बिना विश्व में न्याय, आत्मसमान, नैतिकता, भाईचारा, स्वतंत्रता व विश्व कल्याण संभव नहीं है। असमानता मनुष्यों को तोड़ती है। यह राष्ट्रों के मध्य सशस्त्र विवादों को जन्म देती है। बीसवीं सदी असमानता के सबसे निकृष्ट रूप से गुज़र रही है। (मैनकाइंड, वॉल्यू.XII, 1968, पृ. 81) यह सप्त क्रांति है -

- स्त्री व पुरुष के मध्य समानता
- रंगभेद पर आधारित असमानता की समाप्ति
- जन्म व जाति आधारित असमानता का अंत
- राष्ट्रीय स्वतंत्रता
- उत्पादन द्वारा आर्थिक समानता
- सभी सामूहिक अतिक्रमणों के खिलाफ व्यक्तिगत निजता की रक्षा
- शस्त्रों की सीमा तय करना(लोहिया, 1963, पृ. 531)

(1) स्त्री व पुरुष के मध्य समानता -

यह अहिंसक क्रांति का प्रथम उद्देश्य होना चाहिए। पुरुष, स्त्री से दो परस्पर विरोधी अपेक्षाएं रखता है। एक तो वह बुद्धिमान व सुन्दर हो तथा दूसरा वह पूर्ण रूप से उसकी हो जो कि असंभव है। जब तक आदमी के दिमाग में दुखद उलझन रहेगी स्त्री समान स्तर प्राप्त नहीं कर सकेगी। संस्कृति के नाम पर राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक षड्यंत्रों से इस कीचड़ को संरक्षण दिया जाता है। केवल अवसरों की अधिकता से ही इसे दूर कर सकते हैं। (लोहिया, 1964, पृ. 9)

(2) रंगभेद -

रंगभेद का राजनीतिक इतिहास रहा है। यूरोप के गोरे लोगों ने संसार पर तीन सौ सालों तक राज किया है। यदि अफ्रीका के नीग्रो लोगों ने गोरे लोगों की तरह विश्व पर राज किया होता तो नि:संदेह स्त्री की सुन्दरता के मायने अलग होते। चूँकि ज़्यादातर मनुष्य अश्वेत हैं, अश्वेत महिलाऐं आज ज्यादा पीड़ित हैं। परन्तु निश्चित ही त्वचा का रंग, सुन्दरता का पैमाना नहीं है। (लोहिया, 1965, पृ. 134) रंग की बजाय त्वचा का गठन, प्रदर्शन व संरचना सुन्दरता के निर्धारक हैं। रंगभेद प्रत्येक स्तर पर नष्ट होना चाहिए।

(3) जातिभेद -

क्रांति का तीसरा उद्देश्य जातिगत असमानताओं को नष्ट करना है। लोहिया के अनुसार जाति रूढ़िवादी वर्ग है तथा वर्ण गतिशील जाति है। जाति व वर्ण के मध्य यह दोलन इतिहास का नियम रहा है। लोहिया के अनुसार जाति किसी भी देश की बुद्धिमत्ता को शुष्क रेगिस्तान बना देती है। यह अवसरों का निषेध करती है। निषेधित अवसर योग्यता को दबा देते हैं। दबी हुई योग्यता आगे पुन: अवसरों को रोक देती है। अवसरों की समानता इस समस्या का हल नहीं है क्योंकि अवसरों की समानता होने पर भी जाति सर्वोच्च रहती है। निम्न जाति को विशेष उपहार देकर ही इस समस्या को दूर किया जा सकता है। इसलिए समान अवसर नहीं अपितु अवसरों की प्राथमिकता ही इस दीवार को तोड़ सकती है। (लोहिया, 1964, पृ. 147)

(4) राष्ट्रीय स्वतंत्रता -

चौथी क्रांति विश्व से विदेशी शासन का उन्मूलन है। लोहिया के अनुसार राष्ट्रीय स्वतंत्रता मनुष्य का सबसे बड़ा जुनून है। विदेशी शासन एक बुराई है जिसे ख़त्म किया जाना चाहिए। औपनिवेशवाद का युग बीत गया है तथा अब राष्ट्रीय आज़ादी मनुष्य की स्थायी संपत्ति हो गयी है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि मनुष्य के दिमाग से आर्थिक शोषण की इच्छा ख़त्म हो गयी है या राजनीतिक आधिपत्य की भूख ख़त्म हो गयी है। अपने विविध रूपों में छिपा हुआ साम्राज्यवाद प्रकट हो रहा है। लोहिया के अनुसार विश्व में शांति तभी हो सकती है जब सभी प्रकार का साम्राज्यवाद ख़त्म हो। (लोहिया, 1963, पृ. XXXVII)

(5) आर्थिक समानता -

मनुष्यों की आय में बहुत अंतर है, विशेषतया अविकसित राष्ट्रों में। अमीर व गरीब के बीच बढ़ती खाई से राष्ट्र की मानव चेतना मर जाती है। लोग अपने मताधिकार का प्रभावी उपयोग नहीं कर पाते। वे गूंगे हो जाते हैं इसलिए रोज़गार के पर्याप्त अवसर, पर्याप्त मजदूरी, पर्याप्त आराम तथा पर्याप्त आर्थिक अधिकार मिलने चाहिए।

(6) निजता की रक्षा -

वैयक्तिकता धीरे-धीरे खोकर संगठन में बदलती जा रही है। वैयक्तिक कल्याण व प्रसन्नता, शिक्षा व स्वास्थ, आराम, विचार, विभिन्न प्रकार की योजनाओं के विषय हैं। साम्यवाद के लिए यह योजना सही है परन्तु संगठनात्मक अनिवार्यता के तत्व सब जगह देखे जा रहे हैं। यह अनिवार्यता बुरी है व विश्व के सभी लोग इसके विरुद्ध हैं। सभी क्षेत्रों में निजता व स्वतंत्रता को पहचान मिलनी चाहिए। (लोहिया, 1963, पृ. XXXX)

(7) निशस्त्रीकरण -

हथियारों को नष्ट करना, अन्याय व असमानता को नष्ट करना है। मनुष्य को हथियारों की आवश्यकता या तो दूसरों का सामान हड़पने के लिए होती है या जो कुछ खुद के पास है, उसकी रक्षा हेतु। अच्छे व गुणी लोग हथियारों के विरुद्ध होते हैं। हथियार प्रेम के विरुद्ध हैं। चूँकि न्याय व समानता, हथियारों के उपयोग से जुड़े हुए हैं, एक रास्ता ढूँढना होगा जो हथियारों के बिना अन्याय व असमानता का विरोध करता हो। लोहिया के अनुसार ऐसा मार्ग नागरिक अवज्ञा के रूप में हो सकता है। यदि कुल जनसंख्या का दसवां भाग भी आतताइयों के खिलाफ हो जाए(नागरिक अवज्ञा के रूप में) तो यह विदेशी आक्रमण के खिलाफ प्रभावी हो सकता है। (लोहिया, 1963, पृ. XXXI)

4.5.2 सामाजिक स्वामित्व

लोहिया के अनुसार असमानता का मूल कारण प्रकृति के वे उपहार हैं जिनसे मनुष्य को दौलत प्राप्त होती है तथा उत्पादन के वे उपकरण जो निजी रूप से मनुष्य के स्वामित्व में हैं। इससे आर्थिक शोषण होता है। निजी संपत्ति बुराई व दुःख का स्रोत है जो मानव मस्तिष्क को अवरुद्ध कर देता है। (लोहिया, 1963, पृ. XV) यह न केवल अमीर व गरीब के बीच असामंजस्य लाता है अपितु राष्ट्रों के मध्य युद्ध का कारण भी बनते हैं। जब तक हमारे समाज में वैधानिक संस्था के रूप में निजी संपत्ति है तब तक शांति व समानता प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य या तो निजी संपत्ति रखता है या सर्वसमानता पर ध्यान देता है। वह दोनों बातें एक साथ नहीं कर सकता क्योंकि ये दोनों विरोधी हैं। निजी सम्पत्ति की संस्थायें समाज में असमानता की वाहक हैं। जिसमें जनता आधी भूखी व आधी नंगी रहती है जबकि एक छोट भाग विलासिता का उपभोग करता है।

इस समस्या हेतु लोहिया दो तरफा उपाय बताते हैं- एक, मनुष्यों के दिमाग से संपत्ति का मोहभंग व दूसरा उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का उन्मूलन(लोकभारती,1969,पृ. 39)। हिन्दू धर्म विशेषतया ईशोपनिषद में भी संपत्ति की आसक्ति को नष्ट करने पर बल दिया है। परन्तु निजी संपत्ति के प्रति आकर्षण सदैव रहा है। इस हेतु लोहिया ने सुझाव दिया कि सामूहिक संपत्ति का विस्तार किया जाये व संपत्ति की आदर्श सीमा तय हो, जहाँ अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति की जा सके। (लोहिया, 1963, पृ. XVI) प्रत्येक व्यक्ति की वास्तविक संपत्ति उसके हाथ, पैर, सर इत्यादि होना चाहिए। उसके पास इतनी संपत्ति न हो कि वह श्रमिक रख सके। उसके पास स्वयं का घर, टाइपराइटर, टीवी व एक खेत हो जहाँ बिना श्रमिक व भारी मशीनरी के वह व उसका परिवार काम कर सके। (मैनकाइंड, 1969, पृ. 77)

4.5.3 लघु इकाई तकनीक

बड़ी मशीनों के विपरीत लोहिया लघु इकाई तकनीक के पक्षपाती थे। उनका विश्वास था कि बड़ी फैक्ट्रियां जहाँ बड़ी मात्रा में सामान का उत्पादन होता है, बड़े पैमाने पर गरीबी को ख़त्म नहीं कर सकती।

यदि कृषि का मशीनीकरण करते हैं तो 80 मिलियन किसान शहरों में पलायन कर जाते हैं। बड़ी फैक्ट्रियां दूसरी बुरी मानसिक स्थितियां भी उत्पन्न करती हैं। वे मनुष्यों को स्वतन्त्र नहीं रहने देती। फैक्ट्री में व्यक्ति से एक विशेष कार्य ही करवाया जाता है ताकि वह अपने दिमाग को विस्तृत रूप से सोचने लायक न बना सके तथा वह उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को न समझ सके। (मैनकाइंड, वोल.XII, 1968, पृ.78-9) लोहिया की लघु इकाई तकनीक गाँधी के चरखे से मिलती-जुलती है परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि बड़े वस्त्र उद्योग की जगह चरखे को लगाया जाए। बल्कि जापान द्वारा विकसित बिजली से चलने वाले चरखे लगाए जाएं। (लोहिया, 1963, पृ. 305) गैसोलीन या बिजली पर आधारित लघु इकाई दस या बीस लोगों को रोज़गार देगी ही साथ ही स्थानीय कच्चे माल का भी उपयोग होगा। लघु इकाई विशद, नियंत्रणीय व किफायती हो। यह सामान्य हो तथा विकेन्द्रित हो। इसमें बड़ी पूँजी की आवश्यकता नहीं होगी। लोहिया की लघु इकाई तकनीक का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि श्रमिक, मशीन के सीधे संपर्क में होगा; वही इसका मालिक व चालक होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि बड़े उद्योग नहीं हों। इस्पात व जल-बिजली जैसे उद्योगों में बड़ी मशीनें उपयोगी हैं परन्तु ज्यादा जोर लघु उद्योगों पर हो। (लोहिया, 1963, पृ. 326) इसके अनेक लाभ हैं। इससे गाँव व कस्बों में उत्पन्न कच्चे माल का उपयोग होगा। इससे गाँव में ही उद्योग स्थापित होंगे। (लोहिया, 1951, पृ. 24) इससे ग्रामीणों का पलायन रुकेगा, ज़्यादा रोज़गार मिलेगा, बेरोजगारी का हल निकलेगा, विकेंद्रीकरण व लोकतंत्र को मजबूती मिलेगी। लोहिया के अनुसार बड़े उद्योग जैसे रेल का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए, छोटे उद्योग राज्य व गाँव की सरकार द्वारा सहकारिता के सिद्धांत पर चलाये जाएं।

यह सही है कि बड़े उद्योग कम श्रम व समय में ज्यादा व सस्ता उत्पादन करते हैं। अन्यथा यहाँ केवल 'बीड़ी या चरखा' उद्योग ही विकसित हो पायेंगे जहाँ थोड़े से मूल्य के लिए लम्बे समय तक काम करना पड़ेगा। नैतिक मूल्य से भी लघु इकाई ठीक नहीं है। पहला, मानव स्वतंत्रता व क्रियात्मकता आराम के ऊपर निर्भर है। दूसरा, मानव जाति की उन्नति शहरी व ग्रामीण समाजों में विचारों के विवादों का परिणाम है। अंत में, यह मूल प्रश्न-मानव जीवन का उद्देश्य क्या है- सरलता या संतुष्टि?

भारत जैसे विशाल देश के लिए कुछ हद तक लघु इकाई उचित है क्योंकि अर्थव्यवस्था पिछड़ी है। यह पाया गया है कि जब मशीनें मानव श्रम को विस्थापित करती हैं तो अन्य ऑफिस कार्य उत्पन्न होते हैं। चूँकि भारत में पूँजी की कमी है अत:लघु इकाइयाँ उचित हैं।

4.5.4 चार स्तम्भीय राज्य

अभी तक राज्य के दो स्तम्भ होते थे- केंद्र व राज्य। राज्य केंद्र के अधीन रहते हैं। लोहिया के अनुसार इस तरह का संगठन लोगों की अभिलाषा को पूर्ण संतुष्ट नहीं कर सकता क्योंकि यह बड़ी संख्या में लोगों को सत्ता से बाहर रखता है। इसलिए राज्य का संगठन चार इकाइयों में होना चाहिए- गाँव, मंडल (जिला), प्रान्त व केंद्र। विशिष्ट मामलों में उनके पास कार्य व निर्णय करने की स्वायत्तपूर्ण ताकत होनी

चाहिए। (लोहिया, 1963, पृ. 286) चार स्तम्भीय राज्य एक कार्यकारी व विधायी व्यवस्था है। यह उत्पादन, स्वामित्व, प्रशासन, योजना व शिक्षा जीवन के सभी पक्षों तक विस्तृत है। इस राज्य में सशस्त्र बलों पर केंद्र का नियंत्रण रहेगा, सशस्त्र पुलिस पर राज्य का परन्तु अन्य पुलिस जिला व गाँव के अधीन रहेगी। इसी प्रकार भारी उद्योग, मूल्य निर्धारण केंद्र के अधीन रहेंगे। कलेक्टर का पद समाप्त होना चाहिए व उसकी शक्तियां जिले के विभिन्न पदों निकायों में बांटनी चाहिए। लोहिया के अनुसार ऐसा राज्य लोगों को पहल करने में प्रोत्साहित करेगा व प्रशासन को शुद्ध करेगा। (अरोड़ा, 1984, पृ. 76)

4.5.5 अच्छा जीवन स्तर

सभी देशों में मनुष्य उत्पादन बढ़ाने के साथ-साथ एक परिवार की भी कामना करता है। लोहिया के अनुसार जीवन स्तर को निरंतर बढ़ाने की बजाय एक मर्यादित जीवन स्तर बनाना चाहिए। इन दोनों में क्या अंतर है? जीवन स्तर का मतलब है आवश्यकता ⟶ आराम ⟶ विलासिता की ओर बढ़ना। मर्यादित जीवन स्तर का मतलब है- दृष्टिकोण में परिवर्तन। यह अमीरों की नक़ल का प्रदर्शन नहीं है। इसका अर्थ है कि सभी लोगों का उपभोग स्तर बढ़े। सभी लोगों में समान वितरण इसकी प्रायिकता है। (अरोड़ा, 1984, पृ. 77)

4.5.6 विश्व संसद व सरकार-

अंत में लोहिया शान्ति व आर्थिक विकास के द्वारा विश्व संसद व सरकार की कल्पना करते हैं। विश्व संसद वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी जानी चाहिए(लोहिया, 1956, पृ. 79) यह मानव की सामूहिक चेतना का जमावड़ा होगा। इसमें युद्ध व शान्ति, सेना व विदेश नीति व विश्व स्वास्थ्य हेतु न्यूनतम आर्थिक विषय के मुद्दे होंगे। यह सरकार पूंजीगत स्रोतों का अंतर्राष्ट्रीय पूल होगा।यह विश्व सरकार प्रत्येक देश से उसकी क्षमता अनुसार लेगा व आवश्यकता अनुसार देगा। (लोहिया, 1955, पृ. 62) लोहिया का यह सिद्धांत कई लोगों को जटिल व यूटोपियन लगता है। लेकिन लोहिया इसकी संभावना के बारे में बिलकुल स्पष्ट थे। जब तक विश्व संसद का निर्माण नहीं होता, तब तक राष्ट्र संघ, विश्व पुनर्निर्माण का कार्य कर सकता है। लोहिया का सुझाव था कि राष्ट्र संघ को तीन विशिष्ट दिशाओं में पुन: संगठित किया जाना चाहिए। इसकी व्यापक सदस्यता हो तथा सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यता व वीटो पावर ख़त्म हो।

4.6 भारत के पुनर्निर्माण के लिए लोहिया का समाजवादी कार्यक्रम

लोगों की दशा सुधारने के लिए आजाद भारत के पास बहुत सारी समस्यायें थीं। भारत की पूर्व समृद्धि और स्वर्णकाल की जगह गरीबी, गंदगी, बीमारी, अज्ञानता और दलबंदी ने ले ली। ये लोग गैर साम्यवादी संयुक्त एशिया से अधिक थे। राष्ट्र की 1960-61 के मूल्यों के प्रति व्यक्ति आय 374 रूपये प्रति वर्ष थी। भारत के 18.7 मिलियन बेरोजगार रोजगार के लायक थे। (हिंदुस्तान समाचार वार्षिकी, 1972, पृ. 311) ज्यादातर जनसंख्या झुग्गी झोपड़ियों में रहती थी जो संक्रामक और गंदगी से होने वाली बीमारी से

पीड़ित थी। सामूहिक निर्देशों की बजाय कम लोगों को स्वच्छता के निर्देश दिए गए। भारत की 67 प्रतिशत आबादी असाक्षर थी। (स्टेट्समैन इयर बुक, 1971-72, पृ. 334) लोगों की आर्थिक समस्याओं को पार करने के लिए यह अकेला तथ्य रुकावट था। शिक्षित जनसंख्या से प्रगति और राष्ट्रीय एकता प्राप्त की जा सकती है जबकि यहाँ जनसंख्या का इतना बड़ा प्रतिशत पढ़ और लिख नहीं सकता है। भारतीय समाज सतत और सर्वव्यापी जागीरदारी प्रथा से पीड़ित था। लोगों के स्तर से यह पता चलता था कि श्रेष्ठ लोग अपने अधीनस्थों के प्रति अहम भाव और अधीनस्थ अपने श्रेष्ठियों के प्रति चापलूसी का भाव रखते हैं। राष्ट्र हजारों जातियों, उपजातियों और बहिष्कृत जातियों में विभाजित था। इसके अतिरिक्त साम्यवाद श्राप था। हिन्दू और मुस्लिम दो राष्ट्रों की तरह रह रहे थे। (लोकभारती, 1969, पृ. 246) दलबंदी थी, यह कहा जाता था जहाँ कहीं चार भारतीय मिल जाते थे वहाँ दो दल हो जाते थे और वे एक-दूसरे के विपरीत हो जाते थे।

दूसरी वस्तु जो भारत की उन्नति को रोकती थी वह समाज में भ्रष्टाचार था। यह उच्च स्तर से निम्न स्तर तक व्याप्त था। लोग जो सार्वजनिक उपक्रमों में थे वे कार्य नहीं करते थे। भारतीय पुलिस आसानी से पीटने और गोलाबारी का सहारा लेती थी। कानून और नियम सिर्फ किताबों के लिए थे। जिम्मेदारियों का अभाव सब जगह देखा जाता था। भारत के धन में पिछले 25 सालों में बढ़ोतरी हुई लेकिन यह कोई नहीं जानता था कि यह कहाँ गायब हो गया। "एक तरफ उग्र सुधारवाद भाषणों में था लेकिन रूढ़िवाद कार्यरूप में था और क्रांति शब्दों में थी लेकिन प्रतिक्रिया अभ्यास में थी ये सब रोजमर्रा उपयोग के द्वारा पवित्र हो गयी" । (लोहिया, 1963, पृ. 398) यह सब जाना चाहिए, इन सब को रोकने के लिए हमें प्रयास करना चाहिए। भारत का पुर्ननिर्माण करना चाहिए। यह जो इतने बड़े राष्ट्र का पुर्ननिर्माण था, यह बच्चों का खेल नहीं था। यह कार्य आकार-प्रकार में दहला देने वाला था लेकिन भारत के अस्तित्व के लिए एक स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता द्वारा इसका बीड़ा उठाया जाना है। भारत के सभी राजनीतिक दलों ने इस समस्या के लिए गहराई से सोचा। काँग्रेस ने भारत के सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए मार्च 1950 में योजना आयोग का गठन किया। भारत में योजना आयोग की सिफारिश पर चार पंचवर्षीय योजना और तीन वार्षिक योजनाएँ शुरू की गई।

लोहिया ने काँग्रेस के कार्यक्रम का विरोध किया क्योंकि उन्होंने महसूस किया कि किसी भी तरह इसका फायदा नहीं है। इसने विकास के आर्थिक पक्ष पर जोर देकर भारतीय समाज की वास्तविकताओं को अनदेखा किया। लोहिया के अनुसार भारत में आर्थिक विकास के साथ-साथ जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक उत्थान पर भी ध्यान देना चाहिए। हमारे देश की समस्याएँ योजना आयोग की स्थापना करके और अर्थव्यवस्था पर कानून बनाकर इसकी मिश्रित, बहुगामी और समाजवादी अर्थव्यवस्था की समस्या को दूर नहीं किया जा सकता। कुछ निश्चित दिशा निर्देश विकास कर सकते हैं और कुछ छोटे कदम उठाये जा सकते हैं। इस काम में काँग्रेस का नेतृत्व दयनीय है, यह भाषण में समाजवादी है लेकिन कार्यरूप में रुढ़िवादी। लोहिया ने लिखा है कि काँग्रेस सरकार ने अकाल पर एक पुनरावृति युद्ध घोषित किया है और

अपने आप से यह वायदा करती रही है कि अनाज की पर्याप्तता है। बादलों को दोष दिया है कि उसने बारिश नहीं की। (लोहिया, 1956, पृ. 15)

लोहिया ने भारत में वास्तविक समाजवाद की स्थापना हेतु जनता व सरकार को ये चार चरण उठाने पर बल दिया -

- कृषि क्रांति
- व्यय और उपभोग पर रोक
- जनता द्वारा सामाजिक- सांस्कृतिक निकटता
- विश्व राजनीति में तीसरा शिविर

(1) कृषि क्रान्ति- इसके तहत उन्होंने निम्न बिंदु बताये हैं-

- परती भूमि में सुधार
- भूमि का न्याय संगत वितरण
- भूराजस्व की समाप्ति
- भूसेना या भोजन सेना
- सिंचाई की छोटी या मध्यम योजनाओं पर बल

(2) व्यय और उपभोग पर रोक- लोहिया ने अमीर और गरीब के बीच की खाई को कम करने के लिए व्यय और उपभोग पर तुरंत रोक लगाने हेतु अपनी नीति प्रस्तुत की-

- भूतपूर्व शासकों के विशेषाधिकार समाप्त होने चाहिए
- उनके द्वारा प्राप्त सुविधाओं को बंद कर देना चाहिए
- निजी कारों पर रोक होनी चाहिए
- उनके स्थान पर बस चलायी जानी चाहिए
- कठोर नियम बनाये जाने चाहिए। धन विलासता पर खर्च नहीं होना चाहिए
- किसी को भी महीने में 1500 से ज्यादा खर्च नहीं करना चाहिए

ये सभी कार्यक्रम हमें गांधीजी के उन शब्दों की याद दिलाते हैं जिसमें उन्होंने कहा था कि किसी का भी वेतन 500 रूपये से ज़्यादा नहीं होना चाहिए। ये कार्यक्रम स्वाभाविक रूप से सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों से राष्ट्रीयकरण का रास्ता तय करते हैं। इन कार्यक्रमों से हम एक साल में 1500 करोड़ बचा सकते हैं जिससे हम बिना बाहरी आर्थिक सहायता के देश निर्माण कर सकते हैं।

(3) जनता द्वारा सामाजिक- सांस्कृतिक निकटता- सामाजिक समानता हेतु लोहिया ने निम्न बिंदु बताए हैं-

- भारतीय समाज के अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों को अवसरों में वरीयता देना
- हिन्दू- मुस्लिम एकता
- अंग्रेज़ी की समाप्ति
- मुफ्त और अनिवार्य समान शिक्षा

(4) विश्व राजनीति में तीसरा शिविर- नेहरु की गुटनिरपेक्षता की नीति में लोहिया ने कुछ गंभीर कमियां देखी। इसलिए 1948 में समाजवादी पार्टी के नासिक कांफ्रेंस में "तीसरा शिविर" की नीति प्रस्तुत की। इसमें उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया के स्वतन्त्र राष्ट्रों जैसे बर्मा,नेपाल, श्रीलंका के साथ स्थायी मित्रता पर बल दिया। ऐसी संधियाँ एक स्थायी संघ का निर्माण करेंगी जो थर्ड कैंप को मजबूत करेगा तथा लोकतंत्र को सुरक्षित रखेगा और विश्व शान्ति देगा(मैनकाइंड, 1966, पृ. 18)। नेहरु ने लोहिया की इस नीति को ख़ारिज कर दिया। नेहरु ने इसे गलत दृष्टिकोण बताया क्योंकि इससे शीत युद्ध और शत्रुता को बढ़ावा मिलेगा(जवाहर लाल नेहरु, 1961, पृ. 78)।

4.7 लोहिया और भारत में समाजवादी आन्दोलन

लोहिया से पहले भारतीय समाजवादी आंदोलन

स्वामी विवेकानंद पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपने आप को समाजवादी कहा। उन्होंने धन की ताकत की आलोचना की। सबसे पहले उन्होंने यह घोषणा की कि भारतीयों के लिए न भूतकाल के सामन्तवादी आदेश और न ही बुर्जुआ संबंध स्वीकार्य हैं। यह उनके समाजवादी विचारों का ही प्रभाव था कि उन्होंने श्रमिकों की सर्वोच्चता की वकालत की। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक नयी स्थिति के लक्षण उत्पन्न हुए। श्रमिकों और पूंजीवादियों के मध्य संघर्ष हुए। अनेक आन्दोलन हुए। बम्बई, बंगाल और पंजाब में श्रमिकों और किसानों के दल बने। इस प्रकार भारत में समाजवादी विचारधारा ने जड़ें जमाना शुरू किया। सितम्बर 1931 में बिहार समाजवादी पार्टी का गठन हुआ। इसके बाद बंगाल लेबर पार्टी और बम्बई, केरल, उत्तर प्रदेश में समाजवादी दल बने। (संपूर्णानंद, 1962, पृ. 72) 17 मई 1934 में पटना के अंजुमाना-ए-इस्लामिया हॉल में समाजवादियों की पहली ऑल इंडिया कांफ्रेंस हुई जिसकी अध्यक्षता आचार्य नरेंद्र देव ने की। इसमें लोहिया भी उपस्थित थे। (केलकर, 1963, पृ. 53-54) इसमें कांग्रेस के अन्दर ही एक समाजवादी दल बनाने का निर्णय लिया गया। कांग्रेस समाजवादी पार्टी के निम्नलिखित पंद्रह बिंदु थे-

- उत्पादित जनता में सभी शक्तियों का रूपांतरण
- देश के आर्थिक जीवन का विकास जिसकी योजना और नियंत्रण राज्य द्वारा हो

- बड़े और मुख्य उद्योगों का समाजवादीकरण जैसे स्टील, वस्त्र, जूट, रेलवे, समुद्री, खान, वृक्षारोपण, बैंक, बीमा और सामाजिक उपयोगिता का उत्पादन, वितरण और विनिमय में विकासात्मक समाजीकरण
- विदेशी व्यापार में राज्य का एकाधिकार हो
- सहकारिता संगठनों का उपयोग आर्थिक जीवन के असामाजिक क्षेत्रों के उत्पादन, वितरण और साख में हो
- ज़मींदारों और राजकुमारों का अंत हो तथा बिना किसी क्षतिपूर्ति के शोषक वर्ग समाप्त हों
- किसानों में ज़मीन का पुनर्वितरण
- राज्य द्वारा सामूहिक और सहकारी कृषि को प्रोत्साहन
- किसानों और श्रमिकों के कर्जे सरल हों
- राज्य द्वारा काम करने के अधिकार की पहचान हो
- आर्थिक सामानों के वितरण और उत्पादन का अंतिम आधार यह होना चाहिए कि प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिले तथा प्रत्येक अपनी क्षमता अनुसार कार्य करे
- कार्य रूप में वयस्क मताधिकार हो
- राज्य द्वारा धर्म जाति और समुदाय के आधार पर कोई भेद या समर्थन न हो
- राज्य द्वारा लिंगभेद न हो
- भारत के तथाकथित सार्वजनिक कर्जों का परित्याग। (लखनपाल, 1946, पृ. 101-2)

दल के सदस्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के सदस्य तो हों परंतु किसी साम्प्रदायिक दल के सदस्य न हों। पार्टी का मुख्य ऑफिस वाराणसी था, बाद में यह बंबई स्थानांतरित हो गया। जयप्रकाश नारायण इसके जनरल सेक्रेटरी बने। इसके चार जॉइंट सेक्रेटरी थे और 17 सदस्यों की एक कार्यकारिणी थी। लोहिया इस कार्यकारिणी के सदस्य थे। (केलकर, 1963, पृ. 54) प्रारंभ से ही पार्टी के नेतृत्व में विजातीय तत्व थे। यह तीन अव्यस्थित प्रवृत्तियों में विभाजित था- मार्क्सवादी, ब्रिटिश लेबर पार्टी जैसा सामाजिक लोकतंत्र और गाँधी की अवधारणा के अनुसार एक लोकतांत्रिक सामाजिक विचारधारा जिसमें वर्ग संघर्ष और राष्ट्रवाद हेतु अहिंसा और नागरिक अवज्ञा की तकनीकियाँ काम में ली जाती थीं(पार्क एंड तिनकर सं., 1959, पृ. 144)। पहले का समर्थन आचार्य नरेन्द्र देव ने किया, दूसरे का अशोक मेहता ने और तीसरे का लोहिया ने किया। मूल अंतर के बावजूद वे राष्ट्रीय स्वतंत्रता हेतु मिलकर काम करते थे। चूँकि सबसे महत्त्वपूर्ण नेता जयप्रकाश और नरेन्द्र देव मार्क्सवादी थे, पार्टी की विचारधारा ने मार्क्सवाद को उलट दिया। मेरठ में सी.एस.पी. के दूसरे अधिवेशन में यह कहा गया कि साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ मार्क्सवाद ही खड़ा हो सकता है। इसलिए दल के सदस्य क्रांति की तकनीक, सिद्धांत, वर्गसंघर्ष, राज्य की प्रकृति तथा समाजवादी समाज की प्रक्रिया को समझें(लखनपाल, 1946, पृ. 144)। इस सिद्धांत के दो परिणाम रहे- इसने काँग्रेस के दक्षिणपंथी नेताओं को अलग कर दिया जो इसके क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को संदेह की दृष्टि से देखते थे और इस दरार को काँग्रेस अध्यक्ष नेहरु भी

नहीं भर सके। हालाँकि उन्होंने कार्य समिति के तीन मुख्य समाजवादियों नरेन्द्र देव, जयप्रकाश और अच्युत पटवर्धन को नियुक्त किया था।

4.8 समाजवादी एकता

समाजवादी एकता प्राप्त करने के लिए सी.एस.पी. ने साम्यवादियों के चार सदस्य सम्मिलित कर लिए जिसमें जे.पी.और नरेन्द्र देव मुख्य थे। लोहिया ने इसका समर्थन नहीं किया, वे महसूस करते थे कि भारत में साम्यवादी दल मास्को का एक हथियार है तथा वह सोवियत यूनियन के प्रति स्वामिभक्त है। जल्दी ही लोहिया ने इसे सही साबित किया। सी.पी.आई. सदस्यों के बीच में एक गुप्त पत्र वितरित हुआ परन्तु यह सी.एस.पी. के हाथ पड़ गया। 'इसमें कहा गया था कि काँग्रेस समाजवादी दल एक समाजवादी दल नहीं है तथा साम्यवादी दल कभी भी एक प्रतिद्वंदी दल को सहन नहीं करेगा। इसमें यह भी कहा गया कि साम्यवादी दल ही एक मात्र समाजवादी दल है तथा काँग्रेस समाजवादी दल केवल वामपंथियों की एकता को विकसित करने के लिए एक मंच के रूप में है'। यह पत्र दल की राष्ट्रीय कार्यकारणी के लिए बड़ा झटका था। इसमें सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि भविष्य में साम्यवादियों को सी.एस.पी. में शामिल नहीं किया जाएगा। इसके तुरंत बाद ही एम.आर.मसानी ने एक दूसरा गुप्त साम्यवादी परिपत्र प्रस्तुत किया जिसमें यह बताया गया कि साम्यवादियों की यह योजना है कि सी.एस.पी. को किस प्रकार ग्रहण किया जाये। (मसानी, 1954, पृ. 69) आरोपों और प्रत्यारोपों के बीच एक नई कार्यकारिणी का गठन हुआ जिसमें एक तिहाई सदस्य साम्यवादियों को बनाया गया। इसके विरोध में लोहिया ने त्यागपत्र दे दिया। अंत में 1940 में रामगढ़ मीटिंग में यह निर्णय किया गया कि सभी साम्यवादियों को दल से निकाल दिया जाये। (रोज, 1959, पृ. 24) अब तक यह स्पष्ट हो गया था कि सी.पी.आई. धीरे-धीरे लाभ की स्थिति में होती जा रही थी। सी.एस.पी.की मदद से उसने इंडियन नेशनल काँग्रेस, एटक, आल इण्डिया किसान सभा और स्टूडेंट फेडरेशन के महत्त्वपूर्ण पदों को हथिया लिया था। 1933 के एक्ट के अनुसार सरकार के अधीन मंत्री पद के प्रश्न पर भी काँग्रेस और सी.एस.पी. के बीच असहमति थी। समाजवादी मानते थे कि मंत्री बनने से लोगों का क्रांतिकारी जोश समाप्त हो जाएगा हालाँकि बाद में कुछ परिवर्तन के साथ उनका दृष्टिकोण बदला और उन्होंने निश्चय किया कि वे काँग्रेस मंत्री पद के रास्ते में बाधा नहीं बनेंगे।

भारत छोड़ो आन्दोलन के समय समाजवादी अपने शिखर पर थे। लोहिया एक प्रसिद्ध व्यक्ति बन चुके थे। उन्होंने बम्बई और कलकत्ता में भूमिगत रेडियो ट्रांसमिशन स्थापित किया तथा करो या मरो के नाम से पत्र निकाला। अपने एक भाषण में उन्होंने लोगों से कहा, "यह एक आन्दोलन नहीं,यह एक क्रांति है। एक आन्दोलन में या तो जय होती है या पराजय परन्तु एक क्रांति में या तो जय होती या मृत्यु जिससे वापस नहीं आया जा सकता"। (जनता, 1968, पृ. ii) लोहिया की विजय या मृत्यु वाली पुकार प्रबल थी। अमीर-गरीब, जवान-बुड्ढे, किसान-श्रमिक, विद्यार्थी और नौकरशाह सभी अपना बलिदान देने के लिए उनके साथ आ गए थे। बाद में जब ब्रिटिश सरकार ने लोहिया की गिरफ्तारी पर इनाम रखा तब वे नेपाल चले गए जहाँ वे जे. पी. से मिले तथा 'आज़ाद दस्ता' नाम से गुरिल्ला संगठन बनाया लेकिन हिंसा के

खिलाफ जेल में गाँधी जी का उपवास, 1944 में लोहिया की गिरफ्तारी और दूसरे तथ्यों ने इस हिंसात्मक आन्दोलन को ख़त्म कर दिया। 11 अप्रैल 1946 को देश में तेजी से घटनाएं हो रही थी। आज़ादी सामने दिख रही थी। गाँधी जी के अनुरोध पर नेहरु को कांग्रेस का नेता बनाया गया। 6 जुलाई 1946 को बम्बई में ए. आई. सी. सी. की मीटिंग में नेहरु ने लोहिया को कांग्रेस का जनरल सेक्रेटरी बनने का निमंत्रण दिया। लोहिया ने नेहरु के सामने तीन शर्तें रखी- पहली, कांग्रेस अध्यक्ष ब्रिटिश सरकार का सदस्य न हो। दूसरा, कांग्रेस वर्किंग समिति के सदस्य मंत्री न बने। तीसरा, कांग्रेस संगठन को मित्रवत तरीके से अपनी सरकार की आलोचना करने की आज़ादी हो। नेहरु ने केवल पहली शर्त को माना। तब लोहिया ने नेहरु को दोबारा अध्यक्ष होने से मना किया लेकिन नेहरु ने इसे यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि वह इस बारे में आगे नहीं सोचेगा। (लोहिया, 1969, पृ. 41-3)

4.9 कानपुर कॉन्फ्रेंस

फरवरी 1947 में लोहिया कानपुर कॉन्फ्रेंस में काँग्रेस समाजवादी पार्टी के अध्यक्ष चुने गए। यह कॉन्फ्रेंस भारत के समाजवादी आंदोलन के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखती है। अगस्त क्रांति के कारण जो इसमें भर्ती हुए थे उनके कारण पार्टी का स्तर बढ़ गया था। लम्बे समय से पूर्ण स्वतंत्रता की उपलब्धि सन्निकट थी। काँग्रेस नेतृत्व ने सी.एस.पी. पर दबाव डाला कि वह काँग्रेस शब्द अपने नाम से हटा दे ताकि इस शब्द का दुरूपयोग नहीं हो। (जनता, 1947, पृ. 1) प्रतिनिधि मंडल कॉन्फ्रेंस में मिले और यह महसूस किया कि पार्टी को अपनी नीति में परिवर्तन करना जरूरी हो गया था। अब इसके लिए एक नया शांतिपूर्ण और लोकतान्त्रिक युद्ध तैयार करना जरूरी था। यह युद्ध भारत में लोकतांत्रिक समाजवादी पार्टी की स्थापना के लिए था। (पी.एस.पी., 1956, पृ. 9) यह इस नई परिस्थिति के सन्दर्भ में था कि कॉन्फ्रेंस ने पार्टी के नाम से काँग्रेस शब्द हटाने का निर्णय ले लिया लेकिन मूल संगठन से अलग हुए बिना छोड़ दिया। अपने अध्यक्षीय भाषण में लोहिया ने कहा "काँग्रेस शब्द छोड़ने का मतलब यह नहीं है कि हम इसका विरोध कर रहे हैं, काँग्रेस हमारा राष्ट्रीय संगठन है, केवल काँग्रेस के सदस्य बनने के लिए आवश्यक शर्त के रूप में इसे हटाया गया। इसका मतलब यह नहीं है कि हमनें काँग्रेस को छोड़ दिया है। काँग्रेस शब्द हटाना उन लोगों को सक्षम बनाना था जो अन्य समूह से आकर हमारी पार्टी के उद्देश्य और कर्तव्य में विश्वास कर इसकी सदस्यता ग्रहण करें जो काँग्रेस में नहीं जाना चाहते। हमनें काँग्रेस की छवि को बनाया है, हम इसे खत्म होते हुए देखना सहन नहीं करेंगे। काँग्रेस मंत्रिमंडल को जोड़ने वाली वस्तु बन गई है। हमें विश्वास है जब तक गांधीजी हैं, ये काँग्रेस को पूर्ण खत्म करने के लिए इसके क्रांतिकारी चरित्र की अनुमति नहीं देनी चाहिए। अब किसी भी तरह समाजवादी काँग्रेस से लड़ने और न्याय प्राप्त करने के लिए एक अवसर प्राप्त करेंगे"। (शरद, 1967, पृ.178)

कॉन्फ्रेंस के द्वारा पार्टी ने नई नीति अपनाई और आंदोलन के उद्देश्य के रूप में अपने झंडे पर लोकतांत्रिक समाजवाद अंकित किया। जनवरी 1947 में लोहिया की अगुवाई में कलकत्ता में नेपाली राष्ट्रीय काँग्रेस बनाई गई। पार्टी का उद्देश्य राणाओं के शासन को समाप्त करना और नेपाल में लोकतंत्र की

स्थापना करना घोषित किया गया। इसने पूरे राष्ट्र में नागरिक अवज्ञा आंदोलन आयोजित किया और नेपाल में जागीरदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए पांच वर्ष संघर्ष किया। (लोहिया, 1969, पृ. 45)

4.10 काँग्रेस से दरार

आजादी के बाद समाजवादियों और काँग्रेस के बीच सहअस्तित्व कठिन हो गया। समाजवादी अभी तक काँग्रेस के अंदर थे लेकिन उन्होंने अपने आप को काँग्रेस मंत्रिमंडल से बाहर रखा। एक सूक्ष्म विरोधी के रूप में काँग्रेस के साथ उनकी भूमिका से काँग्रेस नेताओं के साथ उनके संबंध खराब होते चले गए। गांधीजी की हत्या के बाद इंडियन नेशनल काँग्रेस ने अपने संविधान में कुछ बदलाव किये(राजनीतिक दलों का काँग्रेस के पदों के अनुसार उनका बहिष्कार कर दिया) । (राजकुमार, 1949, पृ. 103) इस प्रकार समाजवादियों के लिए यह विकल्प था कि या तो वे काँग्रेस में बने रहें और अपनी पार्टी से संबंध विच्छेद कर लें या अपनी पार्टी को बनाए रखें और काँग्रेस को छोड़ दें। इस हेतु फरवरी 1948 में बम्बई में प्रमुख नेताओं की मीटिंग हुई। लोहिया ने निवेदन किया कि काँग्रेस के अंदर ही रहकर इसे एक सुधारवादी दल बनाया जाये, लेकिन उनके विचारों को समर्थन नहीं मिला। (देव, 1949, पृ. 317-9) लोहिया अपने दल के साथ काँग्रेस पार्टी से बाहर आ गए और भारत में समाजवादी आंदोलन की सफलता हेतु कार्य करने लगे। अक्टूबर 1949 में दल ने अपनी नई नीति बनाई और अपने आप को काँग्रेस पार्टी के विकल्प के रूप में देखा (सत्ता प्राप्ति हेतु)। (इंडिया, 1960, पृ. 114) पहले आम चुनाव में पार्टी ने 50 पेज का एक विस्तृत घोषणा पत्र प्रस्तुत किया जिसमें समाजवादियों की नीतियों को स्पष्टता से बताया गया। इसमें काँग्रेस पर यह आरोप लगाया गया कि आजादी के बाद प्रत्येक क्षेत्र में वह गलत सिद्ध हुई है। इसने ईमानदारी से कार्यक्रमों को लागू नहीं किया है तथा देश के सामाजिक, आर्थिक ढाँचे में मूल बदलाव लाने में असफल रही है। इस पत्र में उन्होंने अपने कार्यक्रमों के बारे में बताया जिसमें प्रमुख थे,भू स्वयंसेवक दल की स्थापना ताकि प्रति एकड़ उपज में सुधार हो, भूमिहीन और गरीबों हेतु बंजर भूमि के बहुउपयोग हेतु भोजन सेना का गठन, बिना क्षतिपूर्ति के जमींदारी प्रथा की समाप्ति। चार खम्बों (गाँव, क्षेत्र, राज्य और संघ) पर राज्य का गठन, तीन क्षेत्रों (राष्ट्रीयकृत, निजी, मध्यम और लघु सहकारी) में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, 100 से 1000 रु.प्रति माह आय आदि बताए गए। ऊँची आशाओं के साथ दल ने चुनाव लड़ा। लोकसभा की 489 सीटों में से 255 और राज्य विधान सभाओं की 3283 सीटों में से 1805 पर उन्होंने अपने उम्मीदवार खड़े किये लेकिन लोकसभा में 12 और विधान सभाओं में 125 सीटों पर ही विजय मिली। इस हार से दल में निराशा का माहौल हो गया, विशेष रूप से उच्च स्तर के नेताओं में। 1952 में पचमढ़ी सम्मेलन में लोहिया पार्टी के अध्यक्ष बने। उन्होंने समाजवादी आंदोलन में गांधीजी की तकनीकों पर बल दिया, साम्यवाद को बुरे व्यवहार की शिक्षा बताया और यह घोषणा की कि समाजवाद हिंसा से परे है। उन्होंने शांतिपूर्ण साधनों से निर्माण कार्यों पर ध्यान दिया। जयप्रकाश नारायण सहित बहुत से नेताओं ने लोहिया के विचारों से असंतुष्टि प्रकट की परन्तु वे लोहिया के निर्माण कार्यों और भारत में समाजवादी ताकतों की एकता के उनके कार्यक्रमों से सहमत थे। परिणामत: समाजवादी दल और किसान मजदूर प्रजा पार्टी (संस्थापक आचार्य

जे.बी.कृपलानी) का आपस में विलय हो गया तथा एक नया दल प्रजा सोशलिस्ट पार्टी बना। पार्टी के चेयरमेन कृपलानी, जनरल सेक्रेटरी अशोक मेहता और लोहिया, जे.पी., नरेन्द्र देव को राष्ट्रीय कार्यकारणी में लिया गया। नये दल ने योजनाबद्ध आर्थिक विकास में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण दिखाया परन्तु इसने मूल कार्यों पर बल दिया जिसमें भूमि कानूनों और भूसेना का गठन था।

4.11 पहली एशियाई समाजवादी कांफ्रेंस

1948 में समाजवादी पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने कमला देवी चट्टोपाध्याय और लोहिया को भारत में विश्व समाजवादी कॉन्फ्रेंस हेतु प्रारम्भिक तैयारियाँ करने का निर्देश दिया। लोहिया के प्रयासों से मार्च 1952 में बर्मा, भारत और इंडोनेशिया के प्रतिनिधि इस उद्देश्य हेतु एकत्र हुए। इस प्रकार की कॉन्फ्रेंस की महत्ता पर बल देते हुए लोहिया ने कहा, "पूरे एशिया की आम बीमारी गरीबी है। पहले पूरा एशिया अपने आप को समझे, फिर एक समान नीति बनाए।"

6 जनवरी 1953 को रंगून में पहली एशियाई समाजवादी कांफ्रेंस हुई। इसमें 15 जनवरी तक विचार-विमर्श चला तथा इसमें जापान, इंडोनेशिया, मलाया, बर्मा, पाकिस्तान, लेबनान, मिश्र, इजराइल और भारत के 177 प्रतिनिधि शामिल हुए। यद्यपि सारी तैयारियों के बावजूद लोहिया इसमें शामिल नहीं हो सके तो भी इसका एजेंडा लोहिया द्वारा तैयार किया गया। लोहिया को उम्मीद थी कि भारतीय प्रतिनिधि रंगून में आधारभूत विचारों की आवश्यकता पर बल देंगे तथा विस्तृत दर्शन हेतु काम करेंगे जो कि एशिया में फैली हुई रुग्णता हेतु लाभदायक होगा। परन्तु मुख्य भारतीय प्रतिनिधि जयप्रकाश नारायण ने समाजवाद के मूल दर्शन पर काम करने की बजाय नेहरु का गुणगान किया तथा उनके सामाजिक लोकतंत्र में विश्वास जमाया। इससे लोहिया को निराशा हुई। (रोज, 1959, पृ. 43)

4.12 लोहिया और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी

प्रजा सोशलिस्ट पार्टी बनने के बाद नेहरु ने जयप्रकाश को यह पता लगाने के लिए कहा कि काँग्रेस और पी.एस.पी. में सहयोग की कितनी संभावनाएं है। मार्च 1953 में इस मुद्दे को लेकर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं ने अनौपचारिक मीटिंग बुलाई, जिसमें लोहिया ने उपस्थित होने से मना कर दिया। जयप्रकाश और मेहता सहयोग के पक्ष में थे जबकि कृपलानी, नरेन्द्र देव और मीटिंग में अनुपस्थित लोहिया ने इसका विरोध किया। मीटिंग में सहयोग का निर्णय किया गया और उग्र कार्यक्रम, जो जरूरी था, उसके लिए समयबद्ध समझौता किया। (रोज, 1959, पृ.43) इसके परिणामस्वरूप एक 14 बिन्दुओं का कार्यक्रम तैयार किया गया और नेहरु के पास भेजा। उन्होंने फिर भी इस पर वादा करने से मना कर दिया। (साप्ताहिक दिनमान, 1970, पृ. 17)

पी.एस.पी. ने जून 1953 में नेहरु-जयप्रकाश बातचीत से जो रोष पैदा हो रहा था, उस कड़वे विवाद पर विचार करने के लिए बैतूल में विशेष अधिवेशन बुलाया। महासचिव अशोक मेहता ने 'पिछड़ी

अर्थव्यवस्था की राजनीतिक मजबूरी' पर अपनी शोध प्रबंध की रिपोर्ट जमा करके लौ पर तेल डालने का काम किया। उन्होंने तर्क दिया कि भारत जैसे देश में लोकतान्त्रिक सामाजिक परिवर्तन तभी हो सकता है जबकि सरकार का आधार विस्तृत हो तथा विपक्ष एक हो। लेकिन समाजवादियों हेतु सरकार में जगह नहीं रही।

4.13 समान-असम्बद्धता का लोहिया का सिद्धांत

लोहिया के अनुसार निजी सम्पत्ति के प्रश्न के अलावा काँग्रेस व साम्यवादी एक हैं। इसलिए दल के साथ उनका सहयोग असम्बद्ध है। जब तक पी.एस.पी.स्वयं सरकार बनाने में सक्षम न हो जाये, तब तक उसे काँग्रेस के साथ या साम्यवादियों के साथ नहीं होना चाहिए। मीडिया ने लोहिया के इस सिद्धांत को 'समदूरस्थ का सिद्धांत' नाम दिया है। लोहिया ने इसका विरोध किया। परन्तु वे अपने इस सिद्धांत का वास्तविक अर्थ बताने में असफल रहे। सर्वप्रथम 1939 में लोहिया ने समान-असम्बद्धता के सिद्धांत को प्रतिपादित किया, जब विश्व युद्ध की स्थिति बन रही थी। उन्होंने यह सिद्धांत अशोक मेहता के सिद्धांत के विरोध में प्रतिपादित किया। इलाहाबाद में पी.एस.पी.के प्रथम अधिवेशन (1954) में लोहिया के समान-असम्बद्धता के सिद्धांत को स्वीकार किया गया। मेहता व कृपलानी क्रमशः संयुक्त सचिव व सभापति बने रहे यद्यपि लोहिया से उनके वैचारिक मतभेद बने रहे।

4.14 भारत में समाजवादी दल

समाजवादी दल की स्थापना 1955 में हैदराबाद में हुई। इसका संविधान पुराने समाजवादी दल से मिलता-जुलता था। नया संगठन सप्ताह में 14 घंटे दल हेतु कार्य करने की मांग करता था। यह श्रमिक संगठन सहकारिता, श्रमिक, युवा, महिलाओं व किसानों हेतु विशेष प्रावधानों पर बल देता था। लोहिया ने एकता व शोषण के विरुद्ध क्रोध पर बल दिया। पहले उन्होंने 7 वर्षों में सत्ता का नारा दिया। (सोशलिस्ट पार्टी, 1956, पृ. 65-66) परन्तु जब उन्होंने देखा कि उनका दल केवल सत्ता की कामना करता है तो उन्होंने '100 वर्षों तक प्रतिरोध' का नारा दिया। समाजवादी पार्टी और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का विलय संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी में हो गया। संयुक्त पार्टी का प्रथम अधिवेशन वाराणसी में 1965 में हुआ।

4.15 जे.पी.आन्दोलन

लोकनायक जयप्रकाश नारायण का जन्म 11 अक्टूबर 1902 को बिहार के सारण जिले के सिताब दियारा गाँव में हुआ था। सम्प्रति यह उत्तरप्रदेश के बलिया जिले में है। मैथलीशरण गुप्त उसके प्रिय कवि थे, जिनकी रचनाओं से उनमें देशभक्ति का भाव तीव्र होता गया। छात्र-जीवन में भाषा और साहित्य-प्रेम का जो संस्कार-बीज उसके मानस में पड़ा, वह कभी नष्ट नहीं हुआ। अमेरिका प्रवास तथा चंडीगढ़ जेल में भी उन्होंने कविताएं लिखीं। श्री सत्यदेव परिव्राजक श्रेष्ठ वक्ता, अमेरिका में रहकर आये थे इसलिए उन्होंने अमेरिका के रोचक एवं आकर्षक संस्मरण सुनाये। जयप्रकाश पर उनके भाषण का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने उसी दिन संकल्प कर लिया कि वह अमेरिका जाएगा और बाद में वह गया। चम्पारण सत्याग्रह में वे

गाँधी की भूमिका से अत्यधिक प्रभावित हुए। जयप्रकाश को लगने लगा कि आम जनता के लिए हिंसा का मार्ग ठीक नहीं है। देश की सामान्य जनता के लिए गाँधी का अहिंसा मार्ग ही ठीक है। 1920 में जयप्रकाश, गाँधी के भाषण से इतना प्रभावित हुए कि पढ़ाई छोड़कर असहयोग आन्दोलन में कूदने का मन बना लिया। जयप्रकाश की पत्नी प्रभावती ने गाँधी के आश्रम में रहकर न केवल चरित्र निर्माण किया बल्कि कालान्तर में जयप्रकाश के संपूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित किया, उन्हें क्रांतिकारी से 'लोकनायक' बना दिया, जयप्रकाश को अंतत: 'दूसरा गाँधी' बना दिया। गाँधी की इस घोषणा से कि "एक वर्ष में देश को आजादी मिल जाएगी" इन सबका प्रभाव जयप्रकाश के संवेदनशील मन पर पड़ा और उनके मन में यह इच्छा जगने लगी कि अंग्रेजी सरकार द्वारा स्थापित कॉलेज छोड़कर वे इस क्रांति में अपने को पूरी तरह झोंक दें। "ब्रिटिश संस्था में पढ़ना पाप है" यह भावना उन्हें रोज-रोज कॉलेज छोड़ने के लिए प्रेरित करती रही। जयप्रकाश ने अंतत: अमेरिका जाकर अध्ययन करने का निश्चय किया। 16 मई 1922 को वे पटना से चले और 8 अक्टूबर 1922 को सेनफ्रांसिस्को पहुंचे। 8 अक्टूबर की तिथि का जयप्रकाश के जीवन में विशेष महत्त्व रहा। उनके जीवन की कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं 8 अक्टूबर को घटी और उनका देहांत भी 8 अक्टूबर, 1979 को पटना में हुआ। वहाँ उन्होंने तरह- तरह की मशीनों का प्रयोग देखा, एक विशेष प्रकार का सामाजिक व्यवहार देखा और अश्वेत लोगों के साथ अमेरिकनों का दुर्व्यवहार और अन्याय को देखकर आश्चर्य हुआ। उस समय विन्स्कान्सिन विश्वविद्यालय को सर्वाधिक प्रगतिशील विश्वविद्यालय माना जाता था। विश्वविद्यालय में जयप्रकाश का सम्पर्क युवा साम्यवादी मित्रों से हुआ, तो उनकी दुनिया ही बदल गयी। उन्होंने यहाँ मार्क्स, लेनिन, ट्राटस्की, प्लेमाखोव और रोजा लक्जमबर्ग की रचनाएँ पढ़ डालीं, बल्कि उस समय तक अंग्रेजी में जो भी साम्यवादी साहित्य उपलब्ध था जैसे 'दास कैपिटल' के तीनों खंडों को पढ़ लिया। जर्मन विभाग के एब्रोम लैंडी ने उन्हें एम.एन. राय की पुस्तकें दी, जिनमें साम्यवादी दृष्टिकोण से भारतीय राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया था। विन्स्कान्सिन विश्वविद्यालय उस समय समाजशास्त्रियों का गढ़ था। समाजशास्त्र एक नए सामाजिक विज्ञान के रूप में विकसित हो रहा था और जयप्रकाश की इस विषय में गहरी रूचि थी। वे नवीन चिंतन और विश्लेषण के आधार पर भारतीय समाज को समझना चाह रहे थे और उसके विकास के लिए नए मार्ग ढूढ़ रहे थे। वे रूस जाना चाहते थे मगर राजेंद्र बाबू ने लिखा- अन्याय के विरुद्ध लड़ाई भारत में लड़नी है, न कि सोवियत रूस में। जयप्रकाश रुक गए। विचारों से समाजवादी होते हुए भी वे कट्टर 'कम्युनिस्ट' नहीं बन पाए, रुसी रंग में नहीं रंग पाए। मार्क्सवादी होते हुए भी लेनिनवादी नहीं बन पाए। नवम्बर 1929 में वे भारत लौट आये। विविध अनुभव सम्पन्न होकर, नई दृष्टि और नया आत्मविश्वास लेकर वे भारत लौटे। यह जे.पी. नाम उन्हें उनके प्रोफेसरों ने ही दिया था। उन्होंने वहाँ के जीवन की विविध विधाओं को पढ़ा और उनसे बहुत कुछ सीखा। वहाँ उनका नई दुनिया से साक्षात्कार था, जिसमें श्रम की गरिमा और जीवन का पूर्ण उपभोग व आनंद उठाने की ललक, एक विशेष प्रकार की स्वतंत्रता, अभाव और संघर्ष का आत्म अनुभव, दरिद्रता और समृद्धि का सहअस्तित्व। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है- "मैंने हिंदुस्तान में गरीबी देखी थी, उसका अनुभव तो अमेरिका में ही हुआ। मानवमात्र की समानता और श्रम का गौरव मेरे लिए शब्द नहीं रहे, बल्कि मेरी

प्रत्यक्ष अनुभूति की वस्तु बन गए। जे.पी ने वहाँ ट्रेड-यूनियनों के प्रदर्शनों और हड़तालों में भी थोड़ी- बहुत हिस्सेदारी निभाई। कठोर परिश्रम, व्यापक अध्ययन, बहुविध अनुभव और विभिन्न स्थानों के दर्शन और प्रवास ने उन्हें युवावस्था में ही परिपक्व बना दिया"। (श्रीवास्तव, 2002, पृ. 17)

जे.पी.पूर्ण स्वतंत्र स्वभाव के थे, कभी किसी बंधन को स्वीकार नहीं किया। वे अपने प्यारे स्वदेश को भी राजनीतिक दासता से मुक्त, असमानता और अन्याय से मुक्ति दिलाना चाहते थे। अत: भारत लौटकर उन्होंने अपने को देश कार्य के लिए पूर्णत: समर्पित कर दिया। एक तरफ उनके सामने संघर्षमूलक साम्यवाद था और दूसरी तरफ महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चलने वाला, सत्य और अहिंसा पर आधारित जन-आंदोलन। साम्यवाद उन्होंने पढ़ा था, मार्क्सवाद को वे शोषण के उन्मूलन का अत्यंत प्रभावी मार्ग मानते थे। वे धार्मिक नहीं थे, पर आध्यात्मिक थे और उनका आध्यात्म हिंसात्मक मार्क्सवाद को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता था। जे.पी. के अनुसार साम्यवाद उद्देश्य सिद्धि के लिए नीति और अनीति में कोई अंतर नहीं करता। उधर गाँधी सत्य, अहिंसा, नीति, आदर्श, साधनों की पवित्रता और मनुष्य की श्रेष्ठता की बात करते थे और जनता उन्हें मात्र नेता नहीं महात्मा कहकर पुकारने लगी थी। भारत की प्रकृति और परम्परा के साथ रुसी मार्क्सवाद का कैसे मेल बैठ सकेगा, यह उन्हें स्पष्ट नहीं हो पा रहा था। विदेश से लौट कर वे 23 नवम्बर, 1929 को पटना पहुंचे। वहाँ से प्रभावती के साथ वर्धा आश्रम के लिए रवाना हो गए। नेहरु और गाँधीजी के साथ मिलन ने जे.पी. के जीवन को नई दिशा प्रदान की। वे सशस्त्र क्रांति की ओर न मुड़कर, स्वाधीनता-संग्राम की मुख्यधारा से जुड़ गए। नेहरूजी के आग्रह पर इलाहाबाद में श्रमिक प्रकोष्ठ के गठन का प्रभार संभाल लिया। उन्होंने लाहौर के उस ऐतिहासिक काँग्रेस अधिवेशन में भाग लिया, जिसमें नेहरु जी राष्ट्रपति चुने गए। 1930 से ही काँग्रेस-अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाने लगा था। काँग्रेस के माध्यम से स्वाधीनता संग्राम में भाग लेकर राष्ट्र-सेवा, समर्पण, त्याग और संघर्ष का कंटकाकीर्ण जीवन अपनाने का दृढ़ निश्चय किया। स्वतंत्रता और समता दोनों की साथ-साथ प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बना लिया। काँग्रेस को मजदूरों में प्रतिष्ठित करने के लिए उन दिनों के प्रसिद्ध ट्रेड-यूनियन नेताओं से सम्पर्क किया और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के निर्देशों के आधार पर श्रम-कानून बनाए जाने की भूमिका तैयार की। काँग्रेस में युवा जे.पी. ने अपनी अलग पहचान बनाई। अमेरिकी शिक्षा का प्रभाव, साम्यवादी चिंतन का गहरा अध्ययन और संपर्क में आने वालों को अतिशय प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता ने न केवल नेहरु जी को, बल्कि सम्पूर्ण काँग्रेस नेतृत्व को प्रभावित किया। श्रम-प्रकोष्ठ के प्रभारी के नाते उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक कानूनों का अध्ययन किया और भारतीय सन्दर्भ में नयी श्रमिक नीति बनाने और नए कानून बनाने के सुझाव सरकार के सामने रखे। जे.पी.ने काँग्रेस नेताओं को यह समझाने का प्रयास किया कि स्वाधीनता-संग्राम को मजबूत बनाने और सही दिशा देने के लिए उन्हें फैक्ट्रियों में जाना चाहिए और अधिक से अधिक मजदूरों को अपने साथ जोड़ना चाहिए। इस नई सोच के साथ काँग्रेस का युवा-नेतृत्व जुड़ने लगा और धीरे-धीरे पार्टी के भीतर एक समूह खड़ा हुआ, जो अपने को समाजवादी कहने लगा और दूसरों के द्वारा क्रांतिकारी समझा जाने लगा। (एलन एंड वेंडी, 1975, पृ. 48)

काँग्रेस अब एक प्रस्ताव पारित करने वाली संस्था नहीं रह गयी थी, वरन एक जुझारू संघर्ष के लिए तैयार हो चुकी थी। गाँधी जी गोलमेज सम्मेलन से खाली हाथ लौट आये थे और लॉर्ड इरविन द्वारा काँग्रेस की ओर से मांगी गयी 11 स्वतंत्रताओं की मांगों को ठुकरा दिए जाने से दुखी थे। गाँधी जी ने सरकार का प्रतिकार करने के लिए नमक- सत्याग्रह की घोषणा कर दी। दांडी मार्च में सत्याग्रहियों का एक बलिदानी जत्था चला जो यह बता देना चाहता था कि जनता अब ब्रिटिश हुकूमत और उसके कानूनों को नहीं मानती बल्कि उन्हें उखाड़ फेंकने के लिए तैयार है। इस यात्रा में पारिवारिक कठिनाइयों के कारण जे.पी.शामिल नहीं हो सके, जिसका उन्हें मलाल था। 9 अप्रेल को गांधीजी के आह्वान पर कानून तोड़कर नमक बनाओ के चलते सरकारी दमन चक्र चला, नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और काँग्रेस को प्रतिबंधित कर दिया गया। 7 सितम्बर, 1932 को जे.पी की पहली गिरफ्तारी हुई। बम्बई के अंग्रेजी दैनिक ने तो सुर्खियों में छापा "काँग्रेस ब्रेन अरेस्टेड" इस गिरफ्तारी ने उनको पक्का नेता बना दिया। नासिक जेल में उनका सम्पर्क ऐसे कई युवा नेताओं से हुआ जो स्वतंत्रता की उत्कट भावना तो रखते थे पर गांधीवाद में अटूट आस्था नहीं रखते थे। एक राजनीतिक दर्शन के रूप में, एक व्यावहारिक मार्ग के रूप में जिन्हें समाजवाद विशेष रूप से आकृष्ट करता था। जे.पी.भी काँग्रेस की शांति नीति से विमुख होने लगे थे, भगत सिंह की रिहाई के प्रकरण में अहिंसा के पुजारी गाँधी की भूमिका से और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगन से उन्हें भारी झटका लगा। वे अपने लिए नए रास्ते की खोज करने लगे। स्वभाव से शोधकर्ता, प्रयोगधर्मी और किसी भी प्रकार की रूढ़ियों, रीतियों व परिपाटियों से बहुत दिनों तक बंधकर रहना उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं था।

1925 में भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो चुकी थी। इसका कोई जनाधार नहीं था। विचारों से समाजवाद का पक्षधर होते हुए भी जे.पी.को भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से तब घृणा हो गई, जब उसने भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को एक बुर्जुआ आंदोलन कहकर और महात्मा गांधी के विरुद्ध अपशब्दों का प्रयोग कर अपने को स्वाधीनता संग्राम से अलग कर लिया था। अत: वे ऐसी किसी पार्टी की ओर नहीं झुक सकते थे, जो अंतर्राष्ट्रीयता के मोह में राष्ट्रीयता को तिलांजलि देने को तैयार हो। एक समाजवादी दल की आवश्यकता सबको महसूस होने लगी थी। जे.पी. की स्पष्ट धारणा थी कि स्वतंत्र भारत की शासन-संरचना और समाज- व्यवस्था समाजवादी आदर्शों के अनुरूप ही होनी चाहिए। उसमें जन्म, जाति, सम्प्रदाय और सामाजिक स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए, सबको अपनी योग्यता के आधार पर काम मिलना चाहिए, सबको उनकी आवश्यकताओं के अनुसार प्राप्त होना चाहिए। सरकार को नैतिक और बौद्धिक विकास की दिशा में प्रयास करना चाहिए। उस समय काँग्रेस सबसे बड़ी पार्टी थी, ब्रिटिश हुकूमत भी जिससे डरती थी। यह तय किया गया कि एक ऐसा नया समाजवादी दल बनाया जाये, जो काँग्रेस में रहकर भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारों के अनुरूप शोषितों, कृषकों और मजदूरों के हितों की बात करे और समाज में नई चेतना जगाए। (वाई.मेहर अली, 1942, पृ. 51-52)

जयप्रकाश नारायण का कहना था कि सिर्फ शासक बदलने से समस्या का हल नहीं होता, जब तक कि सारी व्यवस्था में आमूल परिवर्तन न हो। चम्बल के चार सौ डाकुओं का समर्पण, बिहार में

अराजक सत्ता व्यवस्था, कुशिक्षा, अपराध व अराजकता के खिलाफ ऐतिहासिक छात्र आन्दोलन, व्यवस्था में बदलाव के लिए सम्पूर्ण क्रांति के आव्हान से लेकर केंद्र में इंदिरा गाँधी की तत्कालीन सरकार को सत्ता से उखाड़ कर लोकतंत्र की बहाली तक जयप्रकाश नारायण ने विविध सत्याग्रही भूमिकाओं का निर्वहन किया। लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने देश में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए एक सम्पूर्ण क्रांति का सपना देखा और देश के सामने उसे प्रस्तुत किया। आज का भारत उनके योगदान को विस्मृत कर ही नहीं सकता। लोकनायक न होते तो भारत में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना नहीं होती और आज भारत इस रूप में नहीं होता। (किशोर, 2011, पृ. 36)

4.16 कांग्रेस समाजवादी पार्टी का गठन एवं इसमें जे.पी.की भूमिका

जेल से छूटने पर जे.पी.ने सारे देश की यात्रा की। उन्हें कई ऐसे लोग मिले जिनके दिलों में समाजवाद की लौ जल रही थी। जे.पी. ने 17 मई, 1934 को पटना में 'बिहार काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' का गठन किया। यह तय हुआ कि एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाय। आचार्य नरेन्द्र देव अध्यक्ष और जे.पी. महासचिव निर्वाचित किये गए। कांग्रेस समाजवादी पार्टी का प्रथम अधिवेशन पटना में आचार्य नरेंद्र देव की अध्यक्षता में 17 मई 1934 को आहूत हुआ। सम्मेलन के अध्यक्ष आचार्य नरेंद्र देव ने स्वराज की समस्या तथा देश में समाजवाद की महत्ता पर क्रमश: प्रकाश डाला। नरेंद्र देव ने समाजवादी विचारधारा के लोगों को कांग्रेस के अंतर्गत आर्थिक कार्यक्रमों के लिए आवाज़ उठाने के लिए प्रेरित किया। इस प्रथम अधिवेशन के प्रतिनिधियों ने कांग्रेस समाजवादी पार्टी के लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए अखिल भारतीय कांग्रेस के कार्यक्रम तथा संविधान का मसौदा तैयार करने हेतु एक समिति गठित की जिसके अध्यक्ष आचार्य नरेंद्र देव तथा जे. पी. सचिव चुने गए। इस प्रकार कांग्रेस समाजवादी दल के नेताओं ने पटना सम्मलेन के साथ एक अच्छी शुरुआत की। जे. पी. ने पूरे उत्साह के साथ एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त का दौरा करते हुए सर्वत्र कांग्रेस समाजवादी दल के संगठन के लिए अथक प्रयास किया। उन्होंने समाज को यह समझाने का प्रयास किया कि मात्र स्वराज से जनता की समस्याओं का अंत नहीं होगा, जब तक कि समाज के आर्थिक संगठनों में मूलभूत परिवर्तन नहीं लाया जाता। जे. पी. के अथक प्रयास का यह परिणाम हुआ कि द्वितीय सम्मलेन के समय तक लगभग सभी प्रान्तों में समाजवादी दल का संगठन स्थापित हो चला। अंत में हिन्दुस्तान में एक समाजवादी पार्टी के संगठन की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए इसके लिए एक अस्थायी समिति बनायी गयी जिसका प्रधानमन्त्री जयप्रकाश को चुना गया। (सिंह, 2016, पृ. 50)

पटना सम्मेलन में पारित प्रस्तावों को काँग्रेस ने खतरे की घंटी के रूप में देखा। प्रस्ताव में स्पष्ट कहा गया था कि देश के आर्थिक जीवन का नियोजन और नियंत्रण सरकार द्वारा होगा और क्रमशः उत्पादन, वितरण और विनिमय के सभी अंगों और उद्योगों का समाजीकरण। गांधीजी ने काँग्रेस समाजवादी दल की स्थापना का औपचारिक स्वागत किया क्योंकि उससे जुड़े लोगों की योग्यता, कर्मठता और चरित्र शुद्धता से वे परिचित थे, पर पार्टी की वैचारिक दिशा से वे पूर्ण सहमत नहीं थे। समाजवाद को समझाने के लिए जे.पी.ने 'समाजवाद क्यों' नामक पुस्तिका लिखी, डॉ. सम्पूर्णानन्द ने बहुत कुछ लिखा और आचार्य

नरेन्द्रदेव समाजवाद की रुपरेखा जनता को समझाने लगे। काँग्रेस अधिवेशन के अवसर पर ही काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का अधिवेशन करना तय हुआ। जे.पी. इस नवगठित पार्टी के प्रधान सचिव और मीनू मसानी संयुक्त सचिव हुए। यह पार्टी संगठनात्मक दृष्टि से काँग्रेस का ही अंग रही। इसके विधान में यह व्यवस्था तय हुई कि जो अखिल भारतीय काँग्रेस का सदस्य होगा, वही काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का सदस्य होगा। इस प्रकार काँग्रेस में आंतरिक बदलाव का अनुभव किया जाने लगा।

अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी पार्टी का प्रथम खुला अधिवेशन 21 व 22 अक्टूबर 1934 को बॉम्बे में हुआ। इस पार्टी का पटना सम्मलेन एक प्रारंभिक स्थल था। वस्तुत: नियमित कांग्रेस ने समाजवादी पार्टी का रूप बॉम्बे सम्मलेन में ही ग्रहण किया। इस सम्मलेन की अध्यक्षता संपूर्णानंद ने की। सभी दिग्गज समाजवादी नेता- सम्पूर्णानन्द, डॉ लोहिया, अच्युत पटवर्धन आदि शामिल हुए। कम्युनिस्ट पार्टी ने सम्मेलन का जोरदार विरोध किया। भारत की सम्पूर्ण स्वतंत्रता का उदघोष किया गया। विधायी संशोधनों से अधिक जन संघर्ष पर बल दिया गया। जे.पी. के उग्र विचारों और स्पष्ट नीति निर्धारण ने समाजवादी आंदोलन को दिशा दी। गांधीजी ने कहा कि "समाजवाद के बारे में जो जे.पी. नहीं जानते, वह कोई नहीं जानता।" जे.पी. की रचना 'समाजवाद क्यों?'ने उन्हें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति दिलाई। इस समय तक जे.पी. पर मार्क्सवाद का काफी प्रभाव था और लोकतांत्रिक व्यवस्था की खामियों की वे खुलकर आलोचना करते थे। जे.पी. के अनुसार, चुनाव में धन तंत्र की और सामाजिक दृष्टि से शक्ति-सम्पन्न वर्ग की बड़ी भूमिका के कारण, सामान्य नागरिक के लिए बैलेट बॉक्स के माध्यम से अपने सही विचारों को प्रकट कर पाना कठिन काम है।

मार्क्सवाद के प्रशंसक होते हुए भी भारतीय ग्राम व्यवस्था और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के वे प्रबल पक्षधर थे। भारतीय गांवों को सहयोगपरक आर्थिक इकाई के रूप में विकसित करने के वे आग्रही थे। वे भारत के गाँव और नगर दोनों की स्वरूप-संरचना बदलना चाहते थे। रुसी प्रयोग को भारत के यथार्थ के संबंध में प्रयोग करना चाहते थे। कृषि और सहकारिता के क्षेत्र में वे जोर जबरदस्ती के खिलाफ थे, परंतु वे यथास्थितिवादी नहीं, मूलतः परिवर्तनगामी थे। तब वे राजनीति के माध्यम से राज-सत्ता-परिवर्तन और समाजवादी राज्यसत्ता के माध्यम से सम्पूर्ण सामाजिक-परिवर्तन के आग्रही थे(श्रीवास्तव, 2002, पृ. 32)। इस अधिवेशन के द्वारा पार्टी की संविधान निर्मात्री समिति द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव स्वीकार किया गया तथा पार्टी का लक्ष्य स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ 'समाजवादी राज्य' की स्थापना निर्धारित किया गया। अधिवेशन के द्वारा प्रचार सह समिति तथा मजदूर संगठन सह समिति नामक दो समितियों का गठन किया गया जिनका लक्ष्य पार्टी के कार्यक्रम को प्रभावशाली बनाना था।

1935 में जे.पी.ने कांग्रेस समाजवादी पक्ष का घोषणापत्र प्रकाशित किया- 'समाजवाद क्यों'। इस लेख में गाँधी जी की कार्यपद्धति की आलोचना भी की गयी। इसके कारण वे समाजवादी दल के सबसे प्रबल प्रवक्ता बन गए। 'समाजवाद क्यों' विषमता और सामाजिक अन्याय का ऐतिहासिक विरोधपत्र था। इसमें चार महत्त्वपूर्ण निबंध हैं-

- समाजवाद का आधार
- कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी क्या है?
- विकल्प
- उपाय और तरीके

इन लेखों में जे.पी. ने सी.एस.पी. के विषय में जानकारी के साथ ही मार्क्स के सिद्धांतों की निकटता का भी उल्लेख किया। वे अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर सोवियत संघ की विचारधारा से प्रभावित हुए और उनका विचार था कि उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक अधिकार कभी नहीं रहना चाहिए। इस बात की पंडित नेहरु ने भी सहमति दी थी। जे.पी. समाजवाद की दिशा में तीव्रता से चल रहे थे। कांग्रेस का शीर्ष नेतृत्व समाजवादियों की गतिविधियों से संतुष्ट नहीं था। किन्तु देश में समाजवाद ऐतिहासिक शक्ति के रूप में उभर रहा था। पार्टी के प्रधानमन्त्री का भार हमेशा ही जयप्रकाश के कन्धों पर ही रहा और वही इसके नीति-रीति के प्रधान संचालक रहे। (सिंह, 2016, पृ. 52)

4.17 कांग्रेस समाजवादी दल का कार्यक्रम

बम्बई अधिवेशन के अनुसार दल के विस्तृत कार्यकमों की जो रूपरेखा तैयार की गयी उन्हें मुख्य रूप से निम्न रूप में अध्ययन किया जा सकता है-

उद्देश्य- कांग्रेस समाजवादी पार्टी के उद्देश्य के अंतर्गत निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातें निहित थी-

- उत्पादक समूह को समस्त अधिकार का हस्तांतरण
- देश के आर्थिक जीवन का विकास
- प्रमुख उद्योगों जैसे- लौह, वस्त्र, जूट, रेल, खान, बैंक इत्यादि का समाजीकरण
- उत्पादन, विनियम एवम् वितरण हेतु सहकारी समितियों का संगठन और प्रोत्साहन
- विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिकार
- राजाओं और जमीदारों का अंत
- किसानों की भूमि का पुनर्विभाजन
- किसानों और मजदूरों के ऋण की माफ़ी
- काम पाने का अधिकार अथवा राज्य द्वारा जीवन भत्ता
- व्यस्क मताधिकार का व्यावसायिक आधार पर प्रयोग
- राष्ट्रीय आय का आवश्यकता के अनुसार वितरण
- लिंग के आधार पर भेद-भाव का अंत
- राज्य द्वारा सहयोग मूलक और सहकारी खेती के लिए प्रोत्साहन और अभ्युन्नति के प्रयत्न
- हर एक को योग्यता के अनुसार काम

- राज्य के द्वारा धर्म के आधार पर भेद-भाव का अंत

इसके अतिरिक्त पार्टी के कार्यों की योजनाओं तथा तात्कालिक मांगो पर भी जयप्रकाश नारायण ने देश के विभिन्न भागों में दौरा कर अपने विचार व्यक्त किये। 'हमारे कार्यक्रम की इन बातों का सीधा-सादा अर्थ यह है कि हम व्यक्तिगत धन के उस भूत को दफ़न कर देना चाहते हैं जिस के चलते ही हमारा धन अशांति और गंदगी का अखाड़ा बन गया है, इस भूत को ख़त्म कर देने के बाद हम चाहते हैं कि इस धन को अच्छी तरह चलाने के लिए एक सुंदर आर्थिक योजना बना लें और उसे काम में लाने के लिए सब मिल-जुल कर काम करें।'(सिंह, 2016, पृ. 54)

इस लक्ष्य और कार्यक्रम तक पहुँचने के लिए पार्टी ने इस तरह काम करना तय किया-

- कांग्रेस के अन्दर इस दृष्टि से काम करना कि उसे साम्राज्य विरोधी मोर्चा बनाया जा सके।
- किसान सभाओं और मजदूर संघों का संगठन करना और जहाँ कहीं ऐसे संघ कायम हों, उनमें इस उद्देश्य से शामिल होना कि किसानों और मजदूरों की रोजमर्रा की आर्थिक और राजनीतिक लड़ाइयों को तीव्र करने और उनमें हिस्सा लेने और जनता के वर्ग संघर्ष को मजबूत बनाने के लिए जन आन्दोलन तैयार करने की स्थिति पैदा हो।
- युवक संघ, महिला संघ, स्वयं संघ, आदि में भाग लेना और संगठित करना जिससे वे पार्टी के कार्यक्रम के समर्थक बनाए जा सकें।
- सभी साम्राज्यवादी मुद्दों का सक्रिय विरोध और इस प्रकार राष्ट्रीय संग्राम को मजबूत बनाने के लिए उपयोग करना।
- अंग्रेजी सरकार के साथ किसी भी मंजिल पर विधान संम्बन्धी समस्या पर समझौता करने में शामिल होने से इनकार करना।
- राज्य शक्ति पर अधिकार हो जाने पर भारतीय राज्य के विधान को नियमित रूप से तैयार करने की गरज से मजदूरों, किसानों और दूसरे शोषित वर्गों के प्रतिनिधियों की स्थानीय समितियों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों की एक विधान परिषद बुलाना (सिंह, 2016, पृष्ठ सं. 54)।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी का बम्बई अधिवेशन समाजवादी दृष्टिकोण से अत्यधिक सराहनीय था। कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने अपने लक्ष्यों और कार्यक्रम को बम्बई अधिवेशन में 15 बिन्दुओं में विभक्त कर स्पष्ट रूप से घोषित किया जो मार्क्सवादी ढंग से भारत में समाजवाद लाने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था। कांग्रेस समाजवादी पार्टी का यह स्वरूप मुख्य रूप से जे.पी. के प्रयासों का परिणाम था।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रारंभिक दिनों के इतिहास पर दृष्टि डालने से ऐसा दिखाई देता है कि सी.एस.पी. के विकास में जे.पी. ने अकेले महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। जिस समय सी.एस.पी. का जन्म हुआ उस समय हिन्दुस्तान में तीन अखिल भारतीय मजदूर संस्थाएं थी-

- इंडियन ट्रेड यूनियन फेडरेशन

- ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस
- रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस

पार्टी ने तीनों को मिलाकर एक 'अखिल भारतीय मजदूर संघ' की स्थापना की। (सिंह, 2016, पृ. 56)

इस प्रकार देखते हैं कि बुनियादी तौर पर जे. पी. स्वराज और समाजवाद के सेनानी थे जिसकी आवाज़ उनकी पार्टी की नीतियों तथा वक्तव्यों और कृत्यों से प्रतिध्वनित होती है। कांग्रेस समाजवादी पार्टी लेनिन और गाँधी के बीच का रास्ता थी। सी.एस.पी. अपने प्रारंभिक वर्षों तक स्पष्ट रूप से प्रतिबद्ध मार्क्सवादी सिद्धांत पर आधारित रहा। प्रारंभ में स्वयं जे.पी. कट्टर मार्क्सवादी थे। 1936 में अपनी पुस्तक 'व्हाई सोशलिज्म' में जे.पी. ने सी.एस.पी. की ओर से यह स्पष्ट विचार व्यक्त किया कि "समाजवाद का एक और एकमात्र सिद्धांत मार्क्सवाद है"। सी.एस.पी. के प्रचारतंत्र ने सम्पूर्ण देश में समाजवादी विचार की लहर पैदा कर दी। विचारों के आदान-प्रदान के क्रम से गाँधी जी भी यह स्वीकार करने लगे थे कि हृदय परिवर्तन तथा ट्रस्टीशिप के सिद्धांतों के द्वारा समाजवाद नहीं लाया जा सकता। महात्मा गाँधी भी समाजवादियों के सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रमों की महत्ता को स्वीकार करने लगे थे। फलत: 1939 के त्रिपुरा कांग्रेस के आते-आते स्पष्ट रूप से समाजवादी भी स्वतंत्रता आन्दोलन में गाँधी के नेतृत्व को स्वीकार करने के लिए तत्पर हो चले। (सिंह, 2016, पृ. 59)

गांधीवादियों ने जे.पी. द्वारा प्रस्तुत समाजवादियों के राष्ट्रीय मांगपत्र का समर्थन किया। समाजवादियों की राष्ट्रीय मांग के अनुसार यह प्रस्ताव रखा गया था कि बिना किसी पूर्व चेतावनी के कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जोरदार असहयोग आन्दोलन चलाना चाहिए। गाँधी, कांग्रेस और सी.एस.पी. के बीच पैदा होने वाली इस समझदारी के पीछे जे.पी. का गाँधी के साथ उन्मुक्त और स्पष्ट वार्ता तथा संपर्क का महत्त्वपूर्ण योगदान था। गाँधी और समाजवादियों के बीच की समझदारी कोई अस्थायी तालमेल नहीं था। मार्च 1940 में रामगढ़ के कांग्रेस अधिवेशन में समाजवादियों की ओर से जे.पी. ने जो विस्तृत प्रस्ताव का मसौदा प्रस्तुत किया था, उसका उद्देश्य कांग्रेस के लक्ष्यों की प्राप्ति करना तथा समाजवादी भारत की एक रूपरेखा प्रस्तुत करना था। इस मसौदे की मुख्य धाराओं में ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन, प्रिंसली राज्यों का अंत, वृहत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, मजदूरों का प्रबंध तंत्र में प्रतिनिधित्व तथा सभी नागरिकों में एक समानता का सिद्धांत लागू करना प्रमुख था।

जे. पी. के प्रस्ताव पर व्यापक रूप से त्रिपुरी अधिवेशन में विचार नहीं हुआ। यद्यपि जे. पी. द्वारा प्रस्तुत विचार का महत्त्वपूर्ण समाजवादी प्रस्ताव गाँधी द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इसके पश्चात् भारत छोड़ो प्रस्ताव अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी द्वारा पारित किया गया जिसमें भारत से ब्रिटिश शासन के अविलम्ब अंत की बात कही गयी थी। इस भारत छोड़ो आन्दोलन के प्रस्ताव में जे.पी. द्वारा प्रस्तुत सी.एस.पी के मसौदे का अधिकांश अंश स्वीकार कर लिया गया था। सी.एस.पी. की सीधी कार्यवाही तथा ज़ोरदार असहयोग आन्दोलन छेड़ने की बात दोहराई गयी थी। साथ ही ब्रिटिश शासन की समाप्ति के साथ जो सरकार बनेगी वह खेतों, कल कारखानों तथा ऐसी जगहों पर कार्यरत मजदूरों के कल्याण हेतु कार्य

करेगी । सिद्धांत रूप से इस प्रस्ताव द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया कि इन्हीं लोगों को सभी अधिकार और शक्तियां हस्तांतरित कर दी जाएगी। अत: जैसे ही आन्दोलन की शुरुआत हुई, समाजवादियों ने अपनी पार्टी को कांग्रेस से अलग संगठन के रूप में समाप्त कर दिया तथा कांग्रेसजन के साथ एक राष्ट्रवादी के रूप में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। (सिंह, 2016, पृ. 68)

4.18 भारत छोड़ो आन्दोलन में जयप्रकाश नारायण की क्रान्तिकारी भूमिका

जहाँ तक द्वितीय विश्व युद्ध में भारत की सहभागिता का सवाल था, गांधीजी के विचार जयप्रकाश के समान ही सुस्पष्ट थे- "किसी भी कीमत पर भारत को इस लड़ाई में हिस्सा नहीं लेना है।" पता नहीं कैसे गांधीजी का उन दिनों जे. पी. से ऐसा विचार साम्य हो गया था कि उन्होंने भी जुलाई 1942 तक यह कहना शुरू कर दिया था कि "मैं अब और प्रतीक्षा नहीं कर सकता। मेरी सहनशीलता सीमा पार कर गयी है। हम आग की लपटों से घिरे हुए हैं और कुछ खतरे उठाकर भी मुझे जनता से कहना ही पड़ेगा कि वह गुलामी की जंजीरों को तोड़ने के लिए तैयार हो जाए।" इस वक्तव्य को पढ़कर जे. पी. का उत्साह और बढ़ गया। गांधीजी ने 8 अगस्त को आधी रात में अपने भाषण को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा, "आज मैं आपको एक मन्त्र दे रहा हूँ, छोटा सा 'मन्त्र'- करो या मरो। हम चाहे भारत को आज़ाद करवा कर रहेंगे या मौत को गले लगाएंगे।" गांधी के इस आह्वान को 'भारत छोड़ो आंदोलन का नाम मिला'। (श्रीवास्तव, 2002, पृ. 44)

अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी ने 8 अगस्त 1942 को भारत छोडो आन्दोलन का प्रस्ताव पारित किया। भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रस्ताव देश की जन भावना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हो सकती है। किन्तु भारत छोड़ो आन्दोलन के विचार तथा उसके मार्गदर्शन के सिद्धांत की रूपरेखा समाजवादियों के मस्तिष्क की ही उपज थी। भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रस्ताव पारित होने के बाद कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं को जब कैद कर लिया तो आन्दोलन को दिशा और गति देने वाले अधिकाँश नेता या तो समाजवादी थे अथवा समाजवादी विचारधारा के पोषक थे। (सिंह, 2016, पृ. 69) आंदोलन के दौरान जे.पी. हजारीबाग जेल में थे। 8 नवम्बर, 1942 को वे जेल से कूदकर निकलने में सफल हो गए। उस दिन दीवाली थी। दीवाली और जयप्रकाश का ऐसा सम्बन्ध बन गया है कि जब-जब भारत में दीवाली मनायी जाएगी, प्रकाश-पर्व आयोजित होगा और जयप्रकाश की याद आएगी ही। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में उस दिन एक नया अध्याय जुड़ा। जेल से भागे जे.पी. अब आंदोलन के सबसे बड़े हीरो थे। ऐलन और वेंडी स्कार्फ के शब्दों में- "काँग्रेस के बड़े नेता जेलों में बंद थे, अब जे.पी. ही भारत के सबसे बड़े राष्ट्रीय व्यक्तित्व थे, सबसे बड़े 'हीरो'।" सन 1942- 47 में जे.पी. की जो छवि बनी थी, उसे दिनकरजी के इन शब्दों में देखा जा सकता है- "कहते हैं उसको जयप्रकाश, जो नहीं मरण से डरता है, ज्वाला को बुझते देख कुंड में, स्वयं कूद जो पड़ता है।"(एलन एंड वेंडी, 1975, पृ. 104)

लाहौर से जे.पी. को गिरफ्तार कर लाहौर किला जेल यातना-गृह में डाल दिया गया, यहाँ उन्हें कड़ी यातनायें दीं गयी। 11 महीनों तक लाहौर जेल में वह धधकते रहे, उबलते रहे किन्तु न झुके और न टूटे। गाँधी जी 1944 में रिहा हो गए थे और काँग्रेस के अनेक वरिष्ठ नेता 1945 तक एक-एक कर जेल से बाहर आ गए थे। जनवरी 1945 में जे.पी. और लोहिया को लाहौर से आगरा सेन्ट्रल जेल भेज दिया गया। गाँधीजी के हस्तक्षेप से 12 अप्रेल, 1946 को जे.पी. और लोहिया को छोड़ दिया गया। 21 अप्रेल, 1946 को बिहारवासियों ने पटना के गाँधी मैदान में उनका अभूतपूर्व स्वागत किया। उस ऐतिहासिक सभा का प्रारंभ 'दिनकर' जी के ओजस्वी काव्य पाठ से हुआ। जे.पी. पर लिखी गई दिनकर की यह कविता उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में एक है-

सेनानी! करो प्रयास अभय,

भावी इतिहास तुम्हारा है।

ये नखत अमा के बुझते हैं,

सारा आकाश तुम्हारा है।

उस दिन जे.पी. का भाषण ऐतिहासिक था। लाखों की भीड़ के सामने उन्होंने काँग्रेस की कटु आलोचना की। उन्होंने कहा- "काँग्रेस नेतृत्व अब संघर्ष के लिए तैयार नहीं है। उसका मानना है कि संघर्ष का युग 1942 में समाप्त हो गया। अब वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ समझौता करना चाहता है लेकिन क्रान्तिकारी शक्तियाँ ऐसा नहीं होने देंगी। काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी उस संघर्ष का आरम्भ नहीं कर सकती। अकेले काँग्रेस ही यह काम कर सकती है। एक बार यदि काँग्रेस संघर्ष प्रारंभ करती है, तो काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी इसे एक क्रांति में बदल सकती है। यदि काँग्रेस संघर्ष टालना चाहती है तो काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी उसे छोड़ देगी और भारतीय सोशलिस्ट पार्टी बना लेगी। लेकिन हम कम्युनिस्टों का साथ कभी नहीं लेंगे। कम्युनिस्ट केवल अपनी पार्टी के बारे में सोचते हैं, जिसके दस्ते के रूप में वे काम करते हैं। हम ब्रिटिश कैबिनेट मिशन का स्वागत नहीं करते। काँग्रेस के नेता- गाँधीजी, जवाहरलाल नेहरूजी, सरदार पटेल मानते हैं कि वार्ता से स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है, लेकिन मैं नहीं मानता। अशोक मेहता, डॉ.लोहिया और हमारे साथी यह मानते हैं कि साम्राज्यवादी शक्तियां अपने द्वारा शोषित उन कॉलोनियों को नहीं छोड़ेंगी, जो उनके लिए सम्पत्ति के स्रोत हैं। हमें अपने को उस क्रांति के लिए तैयार करना है जिसे कोई रोक नहीं सकता।"(श्रीवास्तव, 2002, पृ. 59)

भारत छोड़ो आन्दोलन के क्रम में जे.पी. ने अपने समाजवादी साथियों के साथ उग्र रूप से प्रशासन को पंगु बनाने का कार्यक्रम चलाया। अरुणा आसफ अली, राम मनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन इत्यादि ने अपने संघर्ष का रूप कांग्रेस से भिन्न रखते हुए तेज़ी से कार्यक्रम चलाया जिसे समाजवादी तकनीक कहा गया। कांग्रेस समाजवादी दल के प्रणेता जे.पी. का यह विश्वास था कि स्वतंत्रता आन्दोलन को जन आन्दोलन का रूप देने के लिए गाँधी का सहयोग अपेक्षित था। इसीलिए इस आन्दोलन को जन आन्दोलन

का रूप देने में सफलता मिली। उन्होंने गाँधीवादी समाजवाद को अपना लक्ष्य बनाकर कार्य करने का निर्णय लिया। इसके पश्चात नेहरु और गाँधी के समर्थन पर समाजवादियों को कांग्रेस में महत्त्वपूर्ण दायित्व देने का भी गाँधी के द्वारा प्रयास किया गया। तदुपरांत कांग्रेस समाजवादी दल के नेताओं ने गाँधी को प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात या तो कांग्रेस को समाप्त कर दिया जाना चाहिए अथवा कांग्रेस को एक उदार या मजदूर दल के रूप में संगठित हो जाना चाहिए। भारत के विभाजन के सम्बन्ध में भी जे.पी. और गाँधी का विचार एक था। दोनों ने भारत विभाजन की सहमति का विरोध किया। (सिंह, 2016, पृ. 72)

अब समाजवादियों को काँग्रेस में रहना कष्टदायक और असुविधाजनक लगने लगा था, अलग समाजवादी पार्टी बनाने की आवाज उठने लगी थी। जे.पी. ने अपने और समाजवादियों के काँग्रेस से अलग होने की मंशा गांधीजी को बता दी थी। गाँधी के बाद पटेल ही संगठन के बड़े नेता थे। उन्होंने यह नियम बनवा दिया कि "ऐसा व्यक्ति जो किसी ऐसे दल का सदस्य हो, जिसका अलग संविधान हो, वह काँग्रेस का सदस्य नहीं बन सकता।" पटेल का निशाना जे.पी. और उनके समाजवादी दल थे, जिसका स्वतंत्र विधान था। मार्च 1948 में सोशलिस्ट पार्टी ने अपने नासिक अधिवेशन में काँग्रेस से पूर्ण विच्छेद का प्रस्ताव पास कर दिया। कानपुर अधिवेशन में समाजवादियों ने अपनी सोशलिस्ट पार्टी से 'काँग्रेस' शब्द हटाने का निर्णय ले लिया था। जे.पी.काँग्रेस से दूर हो गए और गाँधी के निकट हो गए।

वस्तुत: गाँधी का दृष्टिकोण था कि राजनीतिक स्वतंत्रता के पश्चात देश में आर्थिक मुक्ति और सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए संग्राम को अभी और चलाना होगा। कांग्रेस समाजवादियों ने सत्य और अहिंसा के मार्ग को अपनाया था। उसके पीछे उनका यह मंतव्य था कि शान्तिपूर्ण एवं पूर्णतया लोकतान्त्रिक ढंग से सामाजिक परिवर्तन लाया जा सके। जे. पी. ने अपने दल के महासचिव के रूप में सर्वप्रथम अपने मूल्यों पर आधारित नवीन जीवन प्रणाली की स्थापना, अपने दल का लक्ष्य घोषित किया। जे.पी. ने मार्क्सवाद को समाजवादी क्रांति का एक विज्ञान स्वीकार करते हुए रचनात्मक कार्यों में विश्वास, नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता एवं राजनीति में शुद्ध मार्ग के अनुसरण की महत्ता पर बल दिया। इस प्रकार जयप्रकाश के नेतृत्व में समाजवादियों ने कांग्रेस से अलग होकर स्वतन्त्र समाजवादी दल का संगठन किया और धीरे-धीरे जे.पी. प्रजातान्त्रिक समाजवाद के पथ पर चल पड़े। (सिंह, 2016, पृ. 80)

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्रता के ऊषा काल में जे.पी., अखिल भारतीय कांग्रेस में एक कट्टर मार्क्सवादी के रूप में प्रकट हुए। एक सच्चे राष्ट्रभक्त एवं पक्के समाजवादी के रूप में चलते हुए भारत में समाजवादी आन्दोलन की महती आवश्यकता को परखा, पहचाना। इस प्रकार समान विचार वाले राष्ट्रभक्तों को लेकर जे. पी. ने कांग्रेस के साथ रहते हुए कांग्रेस समाजवादी दल का संगठन किया।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अभिप्राय, जे.पी. की दृष्टि में, सत्ता का अधिग्रहण नहीं बल्कि जन क्रांति द्वारा समाजवादी भारत का निर्माण करना तथा मानवीय मूल्यों की प्रतिस्थापना करना था। अपने इन्हीं लक्ष्यों से अभिभूत होकर जयप्रकाश समाजवादी आन्दोलन और सामाजिक क्रांति के लिए सतत प्रयत्नशील रहे।

तत्कालीन कांग्रेस जिस सत्ता की राजनीति को प्राप्त करने के लिए तीव्र गति से बढ़ रही थी उसे जयप्रकाश स्वीकार करने में असमर्थ थे। अत: उन्हें अपने दल को कांग्रेस से अलग करना पड़ा लेकिन इतना निर्विवाद है कि भारत में समाजवादी आन्दोलन के लिए जयप्रकाश नींव के पत्थर थे। भारतीय समाजवाद को आगे बढ़ाने और उस विचारधारा से कांग्रेस जनों में भी सुधार लाने का कार्य जयप्रकाश ने किया। समाजवाद की इस लहर को राष्ट्रीय आन्दोलन में जयप्रकाश ने पैदा किया तथा मजदूरों, किसानों एवं निम्न स्तर के लोगों के उत्थान के लिए कार्य किया। जयप्रकाश जी का जो स्वर स्वतंत्रता काल में अनुगुंजित हुआ, वह भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता के इतिहास में उनका बहुमूल्य योगदान है।

नासिक अधिवेशन ने समाजवादियों के मन का भ्रम साफ कर दिया, यह तय हो गया कि नेहरु सरकार में शामिल नहीं होना है और किसानों, शहर के कामगारों के बीच जाकर काम करना है। कुछ दिनों के बाद उत्तरप्रदेश में विधानसभाओं के उपचुनाव में सोशलिस्ट पार्टी कूद पड़ी। चुनाव परिणाम निराशाजनक रहे, आचार्य नरेन्द्रदेव तक हार गए। जे.पी. ने सारे दक्षिण भारत का दौरा कर पार्टी का संगठनात्मक ढाँचा तैयार किया और 1949 के सम्मेलन में उन्होंने सोशलिस्ट पार्टी को 'गरीबों की पार्टी' और काँग्रेस को 'धनिकों की पार्टी' कहा। जे.पी.के अनुसार समाजवादी लोकतंत्र हमारे जीवन का मिशन होना होना चाहिए, हमारे साधन लोकतांत्रिक हों, तरीके शांतिपूर्ण हों और दृष्टिकोण रचनात्मक होने चाहिए। 1950 से जे.पी. अपने समाजवादी दल के साथियों से अलग दिशा में सोचने लगे थे। सत्ता की राजनीति निरर्थक लगने लगी थी। जे.पी. की सोच समाजवादी राज्य की जगह समाजवादी समाज बनाना था। दल के कार्यकर्ताओं ने इसे भ्रामक और अस्पष्ट कहा। बहुमत भावी चुनावों में भाग लेना चाहता था। जे.पी. समाजवादी दल के समानधर्मी दलों के साथ मिलकर काँग्रेस के कुशासन का विरोध करना चाहते थे। कृपलानी के नेतृत्व में काँग्रेस से निकले कार्यकर्ताओं द्वारा निर्मित डेमोक्रेटिक काँग्रेस जो बाद में किसान मजदूर पार्टी बनी, से जे.पी. ने सम्पर्क कर प्रजा समाजवादी दल बनाया। दल के सभी प्रमुख नेता चाहते थे कि जे.पी भी चुनाव लड़ें। लेकिन जे.पी. तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि यदि सभी बड़े नेता संसद या विधान सभा में चले जाएँ तो जनाधार नहीं बनेगा। काँग्रेस और उसके नेताओं के प्रति उनका मन अच्छा नहीं था। उन्हें यह महसूस हुआ कि चुनावों में नीचता, स्वार्थपरता और क्षुद्रता अपनी सभी सीमाओं को लाँघ जाती है और यह चुनाव व्यवस्था भारी छल प्रपंच, झूठ और बेईमानी पर आधारित है। पचमढ़ी सम्मेलन में उन्होंने विनोबा भावे के 'भूदान आंदोलन' की भूरि-भूरि प्रशंसा की और समाजवादी पार्टी को सहयोग करने की सलाह दी।

4.19 सर्वोदय और जयप्रकाश नारायण

दलीय राजनीति से मोहभंग के बाद जे.पी. का ध्यान विनोबा की ओर गया जो आन्ध्र के पोचमपल्ली से जमीन मांगते-मांगते आधा भारत पैदल घूम चुके थे। वे लोगों को समझा रहे थे कि अब राजनीतिक दलों द्वारा भारत में नए समाज का निर्माण संभव नहीं है। वे किसी प्रकार की हिंसा और रक्तपात के बगैर भूमिहीनों के लिए जमीन मांग रहे थे तथा लोगों का हृदय परिवर्तन कर अहिंसा के द्वारा सामाजिक

क्रांति की भूमिका तैयार कर रहे थे। अपने क्रांतिदर्शन को उन्होंने 'सर्वोदय' का नाम दिया, जो गांधीवाद का ही नया संस्करण था। विनोबा ने भारतीय सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन के एक पवित्र शब्द 'दान' को भू से जोड़ कर उसे यज्ञ के रूप में महिमामंडित किया। विनोबा से जे.पी. तभी प्रभावित हुये जब उन्होंने 30 जनवरी,1950 को देश के सामने सर्वोदय प्लान रखा। भूदान से ऊपर ग्रामदान का प्रयोग देश में सुर्खियों में रहा। जे.पी. ने पचमढ़ी सम्मेलन, अप्रेल 1952 में ही कह दिया था कि विनोबा गांधीवाद की क्रांतिकारी शक्ति के एक स्फुलिंग है और उनका कार्य समाजवाद लाने का ही प्रयास है। इसलिए उन्होंने अपने को 'भूदान यज्ञ' से जोड़ लिया। इसके बाद वह न केवल भूदान के कार्यकर्ता रहे अपितु सम्पूर्ण सर्वोदय आंदोलन के श्रेष्ठ प्रवक्ता बन गए। अपने भाषण में देश दुनिया को बताया कि सर्वोदय समाजवाद का उदात्त रूप है। वह पूरे विश्वास के साथ कहते थे कि भारत की भूमि समस्या के हल के लिए भूदान से श्रेष्ठतर कोई व्यवहार नहीं हो सकता। उनके शब्दों में " मैंने काफी सोच-विचार कर देखा, गांधीजी के बताए हुए समाज का निर्माण करने के लिए सर्वोदय से अच्छा और कोई मार्ग है ही नहीं। इसलिए मैं इस काम में आया हूँ। स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के जिस प्रकाश पुंज ने मेरा जीवन पथ आलोकित किया था और जिसने मुझे लोकतांत्रिक समाजवाद तक पहुँचाया था, वही मुझे इस मोड़ पर ले आया। मुझे दुःख इस बात का है कि मैं अपनी जीवन यात्रा के इस बिंदु तक तब तक नहीं पहुँचा, जब गाँधी हमारे साथ थे।" (नारायण, 1954, पृ. 26)

4 दिसम्बर 1953 को जे.पी. ने नेहरूजी को पत्र लिखकर संविधान संशोधन करने और 14 बिदुओं पर उनका ध्यान दिलाया। अगर इन बिन्दुओं के आधार पर संशोधन और सत्ता की नीतियों में उचित परिवर्तन नहीं होते हैं तो नेहरु का प्रधानमंत्री बने रहने का कोई औचित्य नहीं है। साथ ही उनका सरकार में शामिल होने का कोई मतलब नहीं है। जे.पी. द्वारा सुझाये गए बिन्दुओं का मूल समाज में फैली विषमताओं को दूर कर वास्तविक समाजवादी राष्ट्र की पुनर्रचना करना था। सामाजिक परिवर्तन की सारी समस्याओं को दूर किया जाये, विधायिका के दूसरे सदन को समाप्त करना,विधि एवं न्यायिक प्रक्रियाओं में सुधार हो, सत्ता का विकेंद्रीकरण किया जाय, प्रशासकीय प्रांतों का पुनर्गठन हो, भूमि का पुर्नवितरण हो, बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो, लघु उद्योगों को बढ़ावा दिया जावे और स्वदेशी भावना का सभी क्षेत्रों में प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए। नेहरु ने 17 मार्च को जवाब में लिखा 'यद्यपि मैं आपकी कई बातों से सहमत हूँ किन्तु संवैधानिक परिवर्तन करा पाना मेरे लिए संभव नहीं है और इतनी सारी चीजें एक साथ कर पाना असंभव है।' इस वजह से नेहरु से उनकी दूरी बढ़ती गयी। समाजवादी पार्टी और नेहरु से निराश होकर उन्होंने अपना जीवन भूदान को दान कर दिया। रुसी क्रांति से प्रभावित भारतीय समाजवाद का प्रणेता, गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत को राजनीतिक हथियार मानने से इनकार करने वाला नेता, आजाद दस्ते का संस्थापक, भूचाल, ज्वाला और बवंडर मचाने वाला जे.पी. आज विनोबा के चरणों में था। इस घटना को भारतीय राजनीति की बड़ी भारी 'ट्रेजडी' के रूप में देखा गया। उन्हें लगने लगा था कि राजनीति की सीमायें हैं, उसके आधार पर सम्पूर्ण समाज को न तो एकताबद्ध किया जा सकता है और न लाभान्वित किया जा सकता है। अत: उन्हें विनोबा की लोकनीति की अवधारणा, दलीय राजनीति से ऊपर उठकर

मनुष्य और समाज का भला करने के लिए आकर्षक लगने लगी। गांधीजी ने अपने जीवन की संध्यावेला में राजनीति की सीमायें स्पष्ट कर दीं थीं पर वे उस समय गांधीजी को समझने में चूक गए। गांधीजी द्वारा चलाया गया आंदोलन भी दलीय आंदोलन न होकर जन आंदोलन था, उसमें राजनीति नहीं लोकनीति थी और गांधीजी जननायक थे।

'समाजवाद से सर्वोदय की ओर' में जे.पी. ने लिखा है "गांधीजी का स्वशासन के लिए दलविहीन रचनात्मक दृष्टिकोण मुझे एक विकल्प के रूप में दिखाई पड़ रहा था। मार्क्सवाद की राज्यविहीनता की परिकल्पना मुझे आज भी सही लगती है और गांधीजी भी यही मानते थे कि सर्वश्रेष्ठ सरकार वही होती है, जो कम से कम शासन करती है। इस दिशा में मुझे सर्वोदय का मार्ग सही लगा कि आम नागरिकों को इस प्रकार संगठित किया जाय और सत्ता का ऐसा विकेंद्रीकरण हो कि बिना राज्य और सरकार के बहुत दूर तक उनका काम चल सके। मनुष्य प्रकृति और संस्कृति का उत्पाद है और उसके संतुलित विकास के लिए दोनों का समन्वय आवश्यक है। इसलिए गांधीजी ग्राम जीवन को आदर्श मानते थे, क्योंकि वही प्रकृति और संस्कृति का उचित तथा संतुलित संबंध है जो औद्योगिक महानगरों में संभव नहीं।....मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि गांधीजी के जीवन काल में मैं यह नहीं समझ पाया कि अहिंसात्मक माध्यमों से कैसे सामाजिक क्रांति हो सकती है। पर मैंने उसे देखा है भूदान आंदोलन के रूप में।"(श्रीवास्तव, 2002, पृ. 80)

"मुझे लगता है कि यदि विनोबा के रास्ते पर चलने वाले कुछ और मजबूत लोग मिल जाएं और राजनीतिक आंदोलनों के लिए जितना प्रयत्न किया जाता है, उतना ही इस सर्वोदय आंदोलन के लिए किया जाय, तो बहुत जल्दी ठोस परिणाम आ सकते हैं।.....यह क्रांति सुंदर क्रांति है, औरों से भिन्न।.....यह एक नई तकनीक है, जिसका अनुभव संसार ने पहले कभी नहीं किया था। नए विचारों को बराबर संदेह और आशंका के साथ देखा जाता रहा है, पर हम भारतवासी इन विचारों और तरीकों से राष्ट्रीय स्वाधीनता का संग्राम लड़ चुके हैं।.....वस्तुतः विनोबा के विचार राष्ट्रपिता के विचारों के ही विस्तार हैं।" (श्रीवास्तव, 2002, पृ. 81)

दलीय राजनीति छोड़कर सर्वोदय में आने के बाद वह भाषा, सम्प्रदाय, जाति, दल, वर्ग या समूह से ऊपर उठकर मानव कल्याण और विश्व कल्याण के बारे में सोचने लगे थे। 'जय जगत' सर्वोदय का नारा बन गया था। विनोबा के सूत्र वाक्य के प्रकाश में जे.पी. राष्ट्र और क्षेत्र से ऊपर उठकर मनुष्य और उसके भविष्य की चिंता करने लगे। पश्चिम को शांति पथ समझाना, अपने समय की अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में एक सजग प्रहरी की भूमिका निभाना और उदार एवं निष्पक्ष भाव से विश्व समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त सुझाव देना उनके मुख्य उद्देश्य थे। (नारायण, जे. पी., 2012, पृ. 55-57) 1954 से 1974 के बीच शायद ही कोई ऐसी राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय समस्या होगी जिसका अपनी इच्छा या दूसरों के अनुरोध पर उन्होंने रास्ता न बताया हो। दादा धर्माधिकारी के शब्दों में "यह कहना गलत नहीं होगा कि विनोबा के तत्त्वाधान में ही उनका 'उपनयन' हुआ और 'लोकनायक' के रूप में द्विजत्व प्राप्त हुआ"। जे.पी. के अनुसार "मैं तो अनुभव करता हूँ कि विनोबा का आंदोलन मानव-निर्माण और मानवीय

क्रांति का एक महान प्रयास है।.....और इसलिए दुनिया की निगाहें इस पर लगी हुई हैं.....यह काम यहाँ सफल हो, तो दुनिया को नया मार्ग मिले, अपने स्वयं के कल्याण के लिए, मानव समाज के तथा दुनिया के कल्याण के लिए हम इस काम को जितनी तेजी से हो, आगे बढ़ाएं"। (नारायण, जे. पी., 2012, पृ. 61) इस प्रकार जे.पी.विश्व की तरफ देख रहे थे और विश्व जे.पी. की तरफ देख रहा था।

4.20 लोकनायक जे.पी. और बिहार आंदोलन

आंदोलन 18 मार्च 1974 को क्रांति भूमि बिहार से प्रारंभ हुआ, उसे कई नामों से जाना जाता है- सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन, छात्र युवा जनांदोलन, युवा क्रांति, छात्र आंदोलन, दूसरी आजादी की लड़ाई आदि। लेकिन जे.पी. इसे बिहार आंदोलन ही कहते हैं क्योंकि यह बिहार से शुरू हुआ था। इस आंदोलन के तीन स्पष्ट चरण हैं:-

4.20.1 18 मार्च, 1974 से 4 मार्च, 1975 तक

प्रथम चरण का आंदोलन छात्र आंदोलन था। इसमें जे.पी. का समर्थन, परामर्श और आंशिक नेतृत्व था तथा इसकी कमान छात्रों के हाथ में थी। जे.पी. की अनुपस्थिति में कई छात्रेतर नागरिक वर्गों का मुखर, प्रत्यक्ष समर्थन और सहयोग इस आंदोलन को मिला। ग्रामीण क्षेत्रों में इसका प्रवेश हुआ। कई अर्थों में यह 'बिहार आंदोलन' बन गया। यह सब जे.पी. के जुड़ाव के कारण हुआ। बांग्लादेश के युद्ध में मिली सफलता ने इंदिराजी को उन्मुक्त कर दिया था। काँग्रेस अब इंदिरा काँग्रेस बन गयी थी और राज्यों की सरकारें धीरे-धीरे लोकतांत्रिक प्रक्रिया से विमुख हो रही थी। पूरे देश में महंगाई, भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा था और जन अधिकारों पर सरकारी प्रहार हो रहा था। सरकार संसद के माध्यम से संविधान में अपने अनुकूल परिवर्तन कर रही थी। दिसम्बर 1973 में जे.पी. ने सभी सांसदों को एक पत्र लिखा कि नागरिकों के मौलिक अधिकारों, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, राजनीतिक और प्रशासनिक भ्रष्टाचार में कमी लाने की दिशा में सोचें। छात्रों से 'यूथ फॉर डेमोक्रेसी' आंदोलन चलाने के लिए पत्र लिखा और लोकतंत्र की रक्षा के लिए प्रोत्साहित किया। इसमें उन्होंने चुनाव पद्धति में भ्रष्टाचार और बाहुबल के उपयोग, धन, झूठ और उसके दुष्परिणामों के बारे में चर्चा की- पैसे के बल पर चुने प्रतिनिधि गरीबों का भला नहीं कर सकते, खर्चीली चुनाव पद्धति से कभी भी आम आदमी चुनकर नहीं आ सकता। 1 फरवरी 1974 को जे.पी. को पटना कालेज के प्रांगण में आमंत्रित किया गया, उन्होंने देश की विषम परिस्थितियों व असंतोष पर कहा कि 'देशभर में परिवर्तन के लिए बेचैनी है और 1942 जैसा दृश्य लग रहा है।' धीरे-धीरे छात्र जे.पी. की ओर तथा जे.पी. छात्रों की ओर आने लगे। जे.पी. छात्र समुदाय से सहज संवाद स्थापित कर लेते थे, उनके विश्वसनीय दोस्त बन जाते थे। यह विशेषता अन्य किसी राजनेता में नहीं थी। (श्रीवास्तव, 2002, पृ. 113) जनवरी 1974 से ही गुजरात के छात्रों ने महंगाई, भ्रष्टाचार और मैस शुल्क बढ़ाने के विरुद्ध व्यापक आंदोलन चला रखा था। वहाँ भी जे.पी. की मांग हो रही थी। छात्रों को समझाया कि आप केवल छात्र हितों की ही बातें न करें बल्कि देश की राजनीति, भ्रष्टाचार और बेरोजगारी, चुनाव पद्धति की तरफ अपना ध्यान आकृष्ट करें। वे क्रांति के समय भी साहित्य से अपना संबंध रखते थे। वे क्रांतिकारियों से साहित्य की

बातें करते और साहित्यकारों से क्रांति की। गुजरात के छात्रों का आंदोलन 'नव निर्माण आंदोलन' था। जे.पी. ने छात्रों को समझाया कि जब तक चुनाव प्रक्रिया सही नहीं होगी, तब तक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। इस आंदोलन से उन्हें यह विश्वास हो गया था कि नौजवान ही परिवर्तन के संवाहक हो सकते हैं और यदि उनके साथ लोकशक्ति भी जुड़ जाये तो किसी भी सत्ता को चुनौती दी जा सकती है और उसे पलटा जा सकता है। गैर-वामपंथी प्रतिनिधियों ने 'बिहार प्रदेश छात्र- संघर्ष समिति' का गठन किया और अपनी आठ-सूत्री मांगों को लेकर संघर्ष छेड़ दिया। जिनमें एक मांग जमाखोरी, कालाबाजारी और महंगाई पर कठोरता से रोक की थी। शेष मांगे शिक्षा, बेरोजगारी और छात्र-संघों से संबंधित थीं। 18 मार्च 1974 को छात्र आंदोलन प्रारंभ हुआ, जिसका अंत इस देश में तानाशाही की समाप्ति के रुप में हुआ। ऐसी परिस्थिति में जे.पी. का मूकदर्शक बना रहना उचित नहीं था इसलिए उन्होंने अस्वस्थता के बावजूद इस आंदोलन को अपना समर्थन घोषित किया। 5 अप्रेल को पटना की महिलाओं ने 'नारी मंडल' के तत्वाधान में एक विशाल जुलूस निकाला। पटना में पहली बार एक सामाजिक समस्या के लिए महिलाओं को सड़कों पर देखा गया। जे.पी. आंदोलन की यह सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि नारी शक्ति को जगाया, संगठित किया और संघर्ष के लिए मैदान में उतार दिया। बाद में जे.पी. ने अपने भाषणों, लेखों में इस बात का प्रसन्नता के साथ उल्लेख किया। अंतत: जे.पी. ने आंदोलन में कूदने का मन बना लिया और 8 अप्रेल वाले जुलूस में उन्होंने सभी वर्गों के नागरिकों से भाग लेने का अनुरोध किया। इस जुलूस में सर्वोदय कार्यकर्ता, नौजवान छात्रों के साथ महिलाएं, डॉक्टर, वकील, साहित्यकार, कलाकार और आंदोलन समर्थक राजनीतिक दलों एवं स्वयंसेवी संगठनों के लोग भी शामिल हुए। सबके हाथों में तख्तियां थी, जिस पर लिखा था- 'हमला चाहे जैसा होगा, हाथ हमारा नहीं उठेगा'। 8 अप्रेल 1974 जे.पी. के पुनर्जन्म के रुप में था। इसी सभा में मंच से पहली बार जे.पी. को लोकनायक कहा गया था। (श्रीवास्तव, 2002, पृ. 123)

21 अप्रेल को जे.पी. इलाज के लिए वेल्लोर चले गए और जाते समय अपनी अनुपस्थिति में आंदोलन के संचालन के लिए चार सप्ताह के लिए कार्यक्रम दे गए। प्रथम सप्ताह में संघर्ष के विभिन्न अंगों को सुदृढ़ करना, दूसरे सप्ताह में मंत्रिमंडल से त्यागपत्र और विधानसभा के विघटन के लिए आवाज उठाना, तीसरे सप्ताह में नेताओं और प्रशासकों के परिवारों से मिलकर उनसे भ्रष्टाचार के विरुद्ध 12 घंटे के अनशन के लिए अनुरोध करना और उनके माध्यम से बुजुर्गों से भ्रष्टाचार त्यागने के लिए निवेदन करना, चतुर्थ सप्ताह में शिक्षा प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन व शिक्षा को श्रम एवं कौशल से जोड़ने के लिए वातावरण तैयार करना और 5 जून के प्रथम दो दिनों में आंदोलन की समीक्षा और भावी कार्यक्रम पर विचार-विमर्श। वेल्लोर अस्पताल से जे.पी. ने 14 मई और 22 मई को दो वक्तव्य दिए। 14 मई को कहा "बहत्तर के चुनाव के उपरांत बनी सरकार बिहार की प्रमुख समस्या का समाधान करने में पूर्णत: विफल रही है। अत: यह आप सब के हित में होगा कि आप विधान सभा से इस्तीफा दे दें।" 22 मई के अपने वक्तव्य में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा " यदि ऐसा नहीं होता तो जनता का लोकतंत्र पर से विश्वास उठ जाएगा और तानाशाही आ जाएगी। गुजरात और बिहार के आंदोलन को अवैधानिक कहा जा सकता है पर वे अलोकतांत्रिक नहीं हैं। जब सारे वैधानिक तरीके और प्रस्थापित लोकतांत्रिक संस्थाएं जनता की इच्छाओं के अनुरूप न रह जायें

तो जनता असंवैधानिक किन्तु शक्तिशाली लोकतांत्रिक पद्धतियों का सहारा लेकर सत्ता को अपनी इच्छा के अनुरूप मोड़ देकर नया रूप दे, यही सर्वथा उचित है।" (श्रीवास्तव, 2002, पृ. 127)

श्रीमती इंदिरा गाँधी ने अपने विश्वसनीय सहयोगियों को निर्देश दिया कि यह आंदोलन केवल मुख्यमंत्री गफूर को हटाने या बिहार विधानसभा के विघटन के लिए नहीं है बल्कि इसका दूरगामी उद्देश्य है- श्रीमती गाँधी को सत्ता से हटाना, काँग्रेस को पूर्ण रूप से ध्वस्त करना। इसलिए अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सभी संतुष्ट और असंतुष्ट कांग्रेसियों को एकजुट होकर संघर्ष करना चाहिए। जे.पी.के 2 जून को वेल्लोर से लौटने के बाद तय हुआ कि विधानसभा के विघटन के लिए जो हस्ताक्षर अभियान चलाया था, वह 23 लाख हस्ताक्षरों का बंडल जे.पी. राज्यपाल को सौंपकर गाँधी मैदान में विशाल जन सभा को सम्बोधित करेंगे। उस दिन 5 जून को सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने साफ किया कि यह मात्र आंदोलन नहीं 'सम्पूर्ण क्रांति' की शुरूआत है, यह लम्बी लड़ाई है जिसके दूरगामी परिणाम होंगे। उस समय तक जे.पी. को भी सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा स्पष्ट नहीं थी लेकिन उन्होंने इशारा कर दिया था कि जो होनेवाला है, वह किसी पार्टी का अनुसरण नहीं होगा। यह सम्पूर्ण क्रांति केवल मंत्रिमंडल के चेहरे बदलने के लिए नहीं है। उन्होंने कहा कि इस संघर्ष का उद्देश्य है, जनता का शासन स्थापित करना, नया बिहार बनाना और अंततः नये भारत का निर्माण करना। श्रीवास्तव, 2002, पृ. 131)

हम चाहें तो 5 जून 1974 को 'सम्पूर्ण क्रांति दिवस' कह सकते हैं। 18 मार्च तक जो आंदोलन चला उसमें मुख्य नेतृत्व छात्रों का था और वह बिहार तक सीमित था। यह एक तरह से छात्र आंदोलन था। 5 जून को यह 'जन- आंदोलन' बन गया। इसमें मुख्य नेतृत्व जे.पी. का था और छात्रों के अतिरिक्त बड़ी संख्या में समाज के अन्य लोग भी जुड़े थे। इसका विस्तार बिहार के बाहर होने लग गया था। जे.पी. ने पहले छात्र आंदोलन को जन-आंदोलन के रूप में परिवर्तित किया और फिर उसे 'क्रांति'का रूप दे दिया। सम्पूर्ण क्रांति के बार-बार उल्लेख ने पत्रकारों, राजनेताओं, बुद्धिजीवियों और आम आदमी के मन में उत्सुकता जगाई, दूसरी ओर आरोपों, प्रत्यारोपों, विवादों और भ्रमों को भी जन्म दिया। जे.पी. 5 जून से अंतिम समय तक सम्पूर्ण क्रांति की व्याख्या करते रहे। भ्रमों को दूर करने का प्रयत्न करते रहे और क्रांति की इस परिकल्पना को मूर्त रूप देने के लिए लगातार प्रयत्नशील रहे। इस सम्पूर्ण क्रांति के उद्देश्य बड़े दूरगामी थे। उनके अनुसार क्रांति के प्रमुख उद्देश्य थे- भारतीय लोकतंत्र को वास्तविक व सुदृढ़ बनाना, जनता का राज कायम करना, समाज से अन्याय और शोषण को दूर करना, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, नैतिक क्रांति करना, नया बिहार बनाना और अंततोगत्वा नये भारत का निर्माण करना । (सिंह, 2016, पृ. 316) सम्पूर्ण क्रांति उनके लिए दोहरी क्रांति थी- व्यक्ति और सामाजिक संरचना में स्पष्ट बदलाव लाना उनका प्रमुख उद्देश्य था(नारायण, 2015, पृ. 6)। बाद में अपने एक लेख में सम्पूर्ण क्रांति विषयक अपनी परिकल्पना की मौलिकता और अधूरेपन को रेखांकित करते हुए लिखा –'सम्पूर्ण क्रांति की मेरी कल्पना किसी बने बनाए ढांचे में नहीं समा सकती। किसी एक व्यक्ति के पास सारी समस्याओं का हल नहीं हो सकता है।' (प्रक्रिया, जनवरी, 1978)

4.20.1.1 जे.पी. की सम्पूर्ण क्रांति- परिकल्पना

जे.पी. के अनुसार हर क्रांति 'अपनी किताब' स्वयं लिखती है। नई क्रांति पुरानी मान्यताओं और सिद्धांतों पर नहीं चलती। सम्पूर्ण क्रांति की संकल्पना को स्पष्ट करने के लिए टुकड़े- टुकड़े में एक पुस्तक लिखी, एक नए 'क्रांति शास्त्र' की रचना की। 5 जून के बाद के अपने संभाषणों, प्रेस वक्तव्यों, साक्षात्कारों, निबन्धों, भाषणों और जेल डायरी में विभिन्न अंतरालों में जब-तब जो विचार 'सम्पूर्ण क्रांति' के सम्बंध में व्यक्त किये, वे ही उस अधूरी 'किताब' की लाइनें हैं, अनुच्छेद हैं, परिच्छेद हैं, जो किताब उनके समय पूर्ण नहीं हुई। किताब तो पूरी तब हुई होती जब क्रांति पूरी हुई होती। उनका कहना था, पहले जो क्रांतिया हुई हैं वे मुख्यतः राजनीतिक क्रांतियां थी, उनका ध्यान राज्य व्यवस्था, अर्थव्यवस्था पर केन्द्रित था, समाज परिवर्तन या व्यक्ति परिवर्तन पर नहीं। मार्क्सवाद, गांधीवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद, सर्वोदय सब में गुजरने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि राजनीति व्यक्ति- जीवन या समाज-जीवन का एक अंग है, महत्त्वपूर्ण अंग है परन्तु सर्वस्व नहीं है,सम्पूर्ण नहीं है। वे सम्पूर्ण मनुष्य में परिवर्तन चाहते थे, सम्पूर्ण विश्व को बदलना चाहते थे। अत: उनकी सम्पूर्ण क्रांति को बिहार आंदोलन के रूप में देखना या इंदिरा हटाओ अभियान के रूप में देखना, जे.पी. के साथ बड़ा अन्याय होगा। केवल व्यवस्था परिवर्तन नहीं प्रक्रिया परिवर्तन पर भी उनका जोर था। वे इसकी तुलना पर्वतारोहण से करते थे "एक पर्वत पर आप चढ़ जायें, तो उससे भी ऊंचे पर्वत जो नीचे से नहीं दिखाई देते थे, दिखाई पड़ने लगेंगे और उससे ऊपर चढ़ेंगे तो उससे भी ऊँचा पर्वत दिखेगा।"(नारायण, जे. पी. 2015, पृ. 57)

विश्व के बदलते हुए मानवीय मूल्यों में कभी व्यवस्था का अंत होता है तो कभी स्थापित मूल्यों का। भारत में स्वतंत्रता के उपरान्त प्रजातंत्र के श्रेष्ठ आदर्शों को स्वीकार किया लेकिन यहाँ श्रेष्ठता सैद्धांतिक धरातल पर खड़ी रही। व्यक्ति की आवश्यकताएं उसके बहिर्मुखी वातावरण ने पूरी नहीं कीं। आर्थिक असमानताओं का एक साम्राज्य स्थापित दिखाई देने लगा। इन परिस्थितियों में क्रांति की आवश्यकता होती है। जे. पी. जी ने कहा, "आज बहुत जगह क्रांति की आवश्यकता अनुभव हो रही है, लेकिन क्रांति अहिंसा द्वारा हो तब इसके प्रभाव अधिक उपयोगी और स्थायी दिखाई देते हैं।"(सिंह एंड सिंह, 2016, पृ. 240)

जयप्रकाश ने देश के जनमानस को समझ लिया था। उसके आक्रोश की अनुभूति उन्हें थी, लेकिन प्रजातंत्र के समर्थक प्रजातंत्रीय सरकार ने पुलिस और सेना के माध्यम से इस क्रांति के सिपाहियों का मनोबल गिराने का आह्वान किया। जयप्रकाश ने पुलिस और सेना के लोगों से प्रार्थना करते हुए कहा, "पुलिस के सिपाहियों से, इन छोटे अफसरों से मैं यह नहीं कहता कि ऊपर वालों का हुक्म न मानो, ज़रूर मानो, परन्तु जैसे गाँधी जी ने कहा था कि जिस हुक्म को अंतर्रात्मा कहे कि वह अनुचित और अन्यायपूर्ण है, उसको कभी भी न मानो। इसके मायने यह नहीं है कि मैं पुलिस को बगावत सिखा रहा हूँ, मैं तो केवल उन्हें कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का ज्ञान करा रहा हूँ।"(श्रीवास्तव, 2002, पृ. 158)

श्रीमती इंदिरा गाँधी ने जयप्रकाश नारायण पर सेना को भड़काने का आरोप लगाया और उन्हें ऐसे विचारों के लिए प्रताड़ित किया।

जयप्रकाश नारायण और पूर्ण क्रांति

आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारों में, जे.पी.की 'सम्पूर्ण क्रांति' की अवधारणा एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह उनके जीवन के सर्वोदय काल के अनुभवों का स्पष्ट चिंतन है। यह तात्कालिक भारत के सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक हालातों की भी प्रतिक्रिया है। इस अध्याय के दो उद्देश्य हैं-

- सम्पूर्ण क्रांति के सन्दर्भ में ऐतिहासिक व राजनीतिक विश्लेषण
- इस सन्दर्भ में जे.पी. के स्वयं के विचार

जे.पी., सर्वोदय आन्दोलन की रणनीति व इसके परिणामों से असंतुष्ट थे। नक्सली आन्दोलन के सन्दर्भ में वे केन्द्रीय व राज्य सरकारों की नीतियों से भी असंतुष्ट थे। 1954 में जे.आर.डी. टाटा द्वारा दान की गयी ज़मीन पर उन्होंने सोखोदेवरा में एक आश्रम स्थापित किया। गांधीजी की तरह जे.पी. ने भी इस आश्रम को प्रयोगों की एक श्रंखला के रूप में प्रयुक्त किया। उनका उद्देश्य था, सर्वोदय के सार के रूप में आध्यात्मिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के मध्य सामंजस्य बढ़ाना। आश्रम के सदस्य आध्यात्मिक शक्ति तथा सामाजिक कार्यों का क्रियात्मक प्रशिक्षण लेकर मज़बूत होंगे तथा इस प्रकार गांधीजी के आदर्शों के अनुरूप समाज का पुनर्निर्माण करेंगे(एलन एंड वेंडी, 1975, पृ. 333)। इस प्रकार सोखोदेवरा उनके लिए जोशपूर्ण मानवी प्रयोगशाला थी परन्तु सैद्धांतिक अनुमति तथा क्रियात्मकता के बीच आश्रम में विवाद प्रारम्भ हो गए। उनके जीवनी लेखकों- एलन एंड वेंडी स्कार्फ ने अनेक उदाहरण देकर यह बताया है कि छोटे-छोटे मुद्दों पर आश्रम में विवाद होने लगे तथा जे.पी. ने अंतर्वैयक्तिक समस्याओं को दूर करने हेतु कोई व्यावहारिक उपाय नहीं दिया। उन्हें समझ आ गया कि लोगों के मूल्यों और अवधारणाओं को बदलने हेतु बड़े संघर्ष की आवश्यकता है। इसी बीच विनोबा भावे की नीतियों से उनका बढ़ता मतभेद तथा सर्वोदय आन्दोलन की कमजोरियों से वे अभिभूत हो उठे। अब भारतीय समाज में व्यापक परिवर्तन हेतु उन्होंने नई रणनीति बनाई। अब उन्होंने सहमति, प्रेम और त्याग की भावना को समाज हेतु आवश्यक बताया, निम्न स्तर पर विकेंद्रीकरण, अहिंसा में विश्वास तथा नैतिक और भौतिक उन्नति पर बल दिया। जे.पी. और विनोबा भावे दोनों ने ही राजनीति को शक्ति पर आधारित न मानकर सहमति पर आधारित माना जहाँ लोगों की अधिकतम सहभागिता हो। भूदान और ग्रामदान योजनाओं को गति देने हेतु उन्होंने सर्वसेवा संघ तथा शांति सेना जैसे संगठन बनाये।

भूदान और ग्रामदान आन्दोलनों में आने वाली कठिनाइयों के मद्देनज़र उन्होंने यह निर्णय किया कि सर्वोदय कार्यकर्ताओं की सभा में विनोबा भावे के नेतृत्व में एक छोटे से दल द्वारा 'राजनीति में आध्यात्मीकरण' पर बल दिया जाना चाहिए। वहीं दूसरी ओर बहुमत जे.पी. के साथ था जिन्होंने 'सर्वोदय का राजनीतिकरण' पर बल दिया। (दासगुप्ता, 1997, पृ. 106)

यदि सर्वोदय उनका उद्देश्य था तो सम्पूर्ण क्रांति इसे पाने का साधन थी। इस क्रांति द्वारा वे अहिंसा और जन शिक्षा के माध्यम से समाज के हर क्षेत्र में परिवर्तन लाना चाहते थे। उन्होंने यह देखा था कि किस प्रकार भूदान आन्दोलन को नौकरशाहों द्वारा पंगु बनाया गया। दिसंबर 1973 में उन्होंने युवा शक्ति हेतु अपील की। अप्रैल 1974 में उन्होंने लोकतंत्र हेतु नागरिकों का दल बनाया। इस समय उन्होंने अनुभव किया कि अब इस कार्यक्रम को शहरी क्षेत्रों में फ़ैलाने की आवश्यकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में वे चाहते थे कि एक बहुमत दल राजनीतिक ताकत का दुरूपयोग न करे। आज़ादी का दुरूपयोग तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध विरोध हेतु एक संगठन की आवश्यकता महसूस की। उन्होंने राजनेताओं को सलाह दी कि वे सिद्धांतों पर संघ बनाये, अवसरवादिता पर नहीं।

यह जे.पी. की सम्पूर्ण क्रांति का ही प्रभाव था कि पहले बढ़ी फीस के विरोध में गुजरात के विद्यार्थियों ने आन्दोलन किया। इसके बाद शैक्षिक सुधारों के लिए बिहार के विद्यार्थियों ने आन्दोलन किया। धीरे-धीरे इन आंदोलनों ने एक व्यापक रूप धारण कर लिया, जिनके उद्देश्य थे भ्रष्टाचार की समाप्ति, बेरोज़गारी को कम करना, कीमतों को कम करना तथा अन्य सामाजिक मुद्दे।

अब यह आन्दोलन जे.पी. के नेतृत्व में दिल्ली पहुँच गया जहाँ इसने शीघ्र ही केंद्र सरकार की अलोकतांत्रिक नीतियों के खिलाफ रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप 25 जून 1975 की मध्य रात्रि आंतरिक आपातकाल लागू कर दिया गया तथा जे.पी. तथा अन्य विरोधी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। स्वास्थ्य कारणों से उन्हें 15 नवम्बर 1975 को छोड़ दिया गया। आम चुनावों की घोषणा के साथ ही जे.पी. के नेतृत्व में जनता पार्टी का गठन हुआ। आज़ादी के बाद पहली बार कांग्रेस पार्टी को हार का सामना करना पड़ा।

सम्पूर्ण क्रांति का दर्शन गांधीजी के लेखों और भाषणों में पाया जाता है जहाँ वे व्यक्तिगत नैतिक चरित्र तथा भौतिकवादी स्थितियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाना चाहते थे। (गांगुली, 1973, पृ. 145-261)

विनोबा भावे ने इस क्रांति के विचार को विस्तार दिया जिसके द्वारा वे भूदान द्वारा तीन स्तरीय क्रांति चाहते थे।

- लोगों का हृदय परिवर्तन
- उनके रहन-सहन में परिवर्तन
- सामाजिक ढांचे में परिवर्तन (टंडन, 1981, पृ. 91)

जे.पी. की सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा भूदान और ग्रामदान को अहिंसात्मक क्रांति द्वारा विस्तार देना था। वे इस आन्दोलन को सामाजिक न्याय हेतु जन आन्दोलन बनाना चाहते थे। विनोबा जी की विशिष्टता उनकी आध्यात्मिक गहराई थी, जे.पी. की ताकत उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सामाजिक विज्ञान का ज्ञान और सामाजिक आंदोलनों का इतिहास था। वर्तमान सत्तागत ढाँचे और सामाजिक-आर्थिक

स्थितियों की गुत्थी को सुलझाने हेतु सम्पूर्ण क्रांति आवश्यक थी। इस क्रांति ने सर्वोदय आन्दोलन की कमियों को दूर करने का काम किया।

विनोबा भावे की रणनीति, कोमल अनुनय पर आधारित थी। अनेक भूमिपतियों ने भूमि देने का वादा किया लेकिन जब इन वादों का भुगतान करके मुक्त करने का समय आया तब अनेक समस्याएँ आई। जे.पी. ने यह निष्कर्ष निकाला कि अनुनय की बजाय अधिक आक्रामक नीति हो जिसमें युवा और गैर-राजनीतिज्ञ नागरिक हो। उन्होंने अनेक अवसरों पर विनोबा भावे की इस बात के लिए आलोचना की कि उन्होंने कोई प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं किया। इस प्रकार सम्पूर्ण क्रांति, सर्वोदय आन्दोलन से उबारने का प्रयास था। (ओस्टेगार्ड, 1985, पृ. 404)

सम्पूर्ण क्रांति के तीन मुख्य बिंदु थे-

- लोकसत्ता का निर्माण और संगठन
- आम जीवन के सभी पक्षों में क्रान्तिकारी बदलाव
- निम्न स्तर पर लोकशासन का विश्वास(ओस्टेगार्ड, 1985, पृ. 117)

जे.पी. की सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा के मुख्य बिंदु थे-

- यह अहिंसा पर आधारित है। उन्होंने माना कि प्रारम्भ में उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध हिंसा की वकालत की। परन्तु बाद में उन्होंने अहिंसा के महत्त्व को महसूस किया। उन्होंने बताया कि हिंसा से हिंसा फैलती है। उन्होंने इस विचार का खंडन किया कि हिंसक क्रांति से निश्चित परिणाम प्राप्त होते हैं। इनका विश्वास था कि राजनीतिक हिंसा क्रांतिकारी तथा प्रतिक्रियावादी हो सकती है। फासीवाद इसका उदाहरण है।
- उनकी अवधारणा की दूसरी विशेषता थी कि राज्य के लोकतांत्रिक ढांचे को बनाये रखना सम्पूर्ण क्रांति समाज के लोकतान्त्रिक ढांचे तथा लोगों के जीवन के लोकतांत्रिक तरीकों को नष्ट करने वाली नहीं हो। (नारायण, 1977, पृ. 33) लोकतंत्र की कार्यप्रणाली का मतलब केवल चुनाव, विधायी योजना और प्रशासन ही नहीं है। इसमें लोगों की प्रत्यक्ष भागीदारी होती है। इसमें नागरिक अवज्ञा, असहयोग तथा शांतिपूर्ण विरोध है। संक्षेप में हम इसे सत्याग्रह भी कह सकते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि बिहार आन्दोलन का उद्देश्य तथा सम्पूर्ण क्रांति का मतलब सरकार को हटाना नहीं था बल्कि विपक्षी सरकार को तैयार रखना था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जे.पी. यह सोचते थे कि आन्दोलन या संघर्ष का मतलब हमेशा सरकार के विरुद्ध नहीं होता।
- व्यक्तिगत और सामाजिक ढाँचे में आंतरिक बदलाव- मनुष्य और समाज का बदलाव निम्न सात क्रांतियों के मेल से संभव है-
  - राजनीतिक
  - सामाजिक

- आर्थिक
- सांस्कृतिक
- बौद्धिक
- शैक्षिक
- आध्यात्मिक

जीवन इन सात पक्षों का मेल है और जीवन में परिवर्तन तभी होगा जब इन सातों क्षेत्रों में सम्पूर्ण क्रांति होगी। (दास, 2005, पृ. 335) इन सभी क्षेत्रों में क्रांति कुछ विशिष्ट समाज की परिस्थितियों के अनुरूप होगी। यह जे.पी. की महानता है कि उन्होंने भावी पीढ़ी के लिए किसी सख्त अवधारणा को निर्देशित नहीं किया। इसलिए सम्पूर्ण क्रांति के सन्दर्भ में उन्होंने बताया कि यह समय, स्थान और सत्ता शक्तियों की आवश्यकता पर निर्भर है। (ब्रह्मानन्द, 1978, पृ. 197) जिसके भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं। यद्यपि उन्होंने इन सात क्रांतियों का विस्तार से वर्णन नहीं किया लेकिन हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वे वास्तव में क्या चाहते थे।

- राजनीतिक क्रांति

लोकनायक की राजनीति, सत्ता की राजनीति की बजाय लोकनीति थी। वे सत्ता का गाँव के स्तर तक विकेंद्रीकरण चाहते थे। जनता सरकार की कल्पना से उनका आशय राजनीतिक व्यवस्था से नहीं बल्कि एक जीवन शैली की कल्पना से था। सम्पूर्ण क्रांति के मूल में जनता की शक्ति उनका लक्ष्य था। उनका मुख्य कार्य लोकतंत्र की बुनियाद को मजबूत करना और स्थायी प्रहरी के रूप में बनी रहने वाली लोक-संस्थाएं और परम्पराएं खड़ी करना था। ग्राम, खंड और जिला स्तर की स्वायत्तशासी संस्थाएँ ही हमारे लोकतंत्र को मजबूत बना सकेंगी। (नारायण, जे.पी. 2015, पृ. 39-40)

वे चाहते थे कि लोकसमितियों के माध्यम से उम्मीदवारों का चयन किया जाय और राज्य सत्ता पर अंकुश हो। लोक समितियों को गाँव-स्तर और प्रशासनिक-स्तर अन्याय और गलतियों के खिलाफ संघर्ष करना होगा। जात-पात, वर्ग-भेद, ज्यादती और शोषण के विरुद्ध ये समितियां बराबर संघर्ष करती रहेंगी। कोई मामला कोर्ट-कचहरी में न जाये, ऊँच-नीच, छुआ- छूत, भेद-भाव का अंत, तिलक-दहेज समाप्त हो, हरिजनों,मुसलमानों और महिलाओं के साथ समान व्यवहार, ये सब कार्य लोक समितियों द्वारा होंगे। लोकनायक के अनुसार " लोक समितियों को शोषित और दलितों के लिए काम करना है, लोकतंत्रीय मूल्यों को भी आगे बढ़ाने का काम करना है। हमारे कार्यकर्त्ता सम्पूर्ण क्रांति को समझाने का प्रयत्न करते रहें। इस तरह हर हालत में लोक समितियों का एक ही उद्देश्य होना चाहिए 'सम्पूर्ण क्रांति'।"(नारायण, जे.पी. 2015, पृ. 48-49)

- सामाजिक क्रांति

इस क्रांति के अंतर्गत उन्होंने सर्वप्रथम जातिवाद पर प्रहार किया। उनके अनुसार जातिवाद को मिटाना वर्ग को मिटाने से अधिक महत्त्वपूर्ण है। दलितों और अस्पृश्यता को लेकर उच्च जातियों के व्यवहार से वे खिन्न थे। उनका कहना था कि मनुष्य की श्रेष्ठता या नीचता का निर्धारण जाति-गोत्र की बजाय चरित्र के आधार पर होना चाहिए। उन्होंने जातीय चिह्नों का बहिष्कार और अंतरजातीय विवाह को प्रोत्साहित किया। उन्होंने नई पीढ़ी को संबोधित करते हुए कहा "घर-घर में युवक और युवतियां विद्रोह का नारा बुलंद करें। इसके लिए युवकों को प्रह्लाद की तरह अपने अभिभावकों के विरुद्ध भी सत्याग्रह के लिए तैयार होना पड़ेगा, उसके बिना 'सम्पूर्ण क्रांति' मात्र नारा बनकर रह जाएगी।" (नारायण, जे.पी. 2015, पृ. 29)

- आर्थिक क्रान्ति

लोकनायक को भूदान आंदोलन का पर्याप्त अनुभव था इसलिए उन्होंने भूमि सुधार कानूनों पर ध्यान दिया। खाते में भूमि चाहे किसी हरिजन के नाम हो, कब्जा किसी सवर्ण के हाथ में होता है। देश को खेतीहर क्रांति की जरूरत है। नई व्यवस्था के अनुसार जमीन पर स्वामित्व गाँव का होना चाहिए और कब्जा जोतने वाले का होना चाहिए। भूमि मिल्कियत की जगह जीविका का साधन होनी चाहिए। व्यापार-उद्योग के क्षेत्र में वे गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धांत के हिमायती थे। प्रत्येक आदमी बुद्धि, श्रम और धन का मालिक नहीं बल्कि ट्रस्टी है।

वे सरकारी और निजी पूंजीवाद के विरुद्ध थे, तथा ऐसी आर्थिक संरचना चाहते थे जिसमें शक्ति और पूँजी का विकेंद्रीकरण हो, सादगी हो और सहकार हो। वे फैक्ट्री की बजाय हस्तनिर्मित उत्पाद पर जोर देते थे। बड़े उद्योग शक्ति के केन्द्रण, नागरिकों के बीच संघर्ष, साम्राज्यवाद और युद्ध की ओर ले जाते हैं। विज्ञान का उपयोग मानवीय और सुख-शांति के लिए होना चाहिए। (सिंह एंड सिंह, 2016, पृ. 247)

- सांस्कृतिक क्रांति

लोकनायक का सांस्कृतिक क्रांति से मतलब मनुष्य के जीवन मूल्यों में ऐसी क्रांति से है जो उसे सुख-शांति से जीने दे और साथ ही उसके पड़ोसियों को भी। मानव के सांस्कृतिक विकास के लिए वे ज्ञान से अधिक कर्म पर बल देते थे। मानव के विकास के लिए वे सौन्दर्यबोध और सृजनात्मकता को आवश्यक मानते थे। मनुष्य में सहिष्णुता, विनम्रता, सत्यान्वेष्ण, कर्तव्यबोध और करुणा के स्वधर्म की अपेक्षा करते थे। (श्रीवास्तव, 2002, पृ. 144)

- बौद्धिक क्रांति

लोकनायक केवल स्थूल भौतिक आवश्यकताओं के आग्रही नहीं थे। मनुष्य के विचार तत्व या बुद्धि तत्व और सूक्ष्म तत्व का भी उनके लिए बड़ा महत्त्व था। उनको पता था, मनुष्य का आंतरिक

परिवर्तन वैचारिक माध्यम से ही हो सकता है। इस सन्दर्भ में वे बर्ट्रेंड रसेल का उदाहरण देते थे-"अंततः विचार शक्ति किसी भी अन्य मानवीय शक्ति से बड़ी होती है।" मनुष्य और समाज की जड़ता को समाप्त करने के लिए वैचारिक -बौद्धिक क्रांति आवश्यक है। (श्रीवास्तव, 2002, पृ. 142)

- शैक्षिक क्रांति

लोकनायक ने अपनी सम्पूर्ण क्रांति की परिकल्पना में शैक्षिक क्रांति के तत्व पर विशेष ध्यान दिया। जे.पी. के अनुसार हमारी शिक्षा पद्धति भारतीय यथार्थ और दृष्टिकोण से जुड़ी हुई नहीं है। स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात वह हमारी आवश्यकताओं, वित्तीय वास्तविकताओं और पारम्परिक जीवन मूल्यों से कटी रही। वह राष्ट्रीय विकास नीति से नहीं जुड़ पाई। प्राथमिक शिक्षा और ग्रामीण युवाओं की उसमें घोर उपेक्षा हुई। पाठ्यक्रम प्रासंगिक और जीवन के अनुभवों पर आधारित होने चाहिए। जिस किसी भी काम के लिए आदमी चाहिए, उसी काम के अनुसार योग्यता की परख होनी चाहिए, न कि उपाधियों या अंकों के आधार पर नौकरी दी जाए । शिक्षण और प्रशिक्षण में आवश्यकता और समय के अनुसार परिवर्तन होना चाहिए। वर्तमान शिक्षा के असंतोषजनक और दोषपूर्ण होने के कारण उन्हें लगता था कि विद्यार्थियों का भविष्य अंधकारमय है। इसलिए उन्होंने मौजूदा शिक्षा के बहिष्कार का आह्वान किया, वे चाहते थे कि विद्यार्थी एक वर्ष पढ़ाई छोड़कर समाज के पुर्ननिर्माण में लग जायें। उनके अनुसार 'चिप्पीकारी करने से कुछ नहीं होगा, यदि रूप वही रहा, ढाँचा वही रहा, तो वर्तमान सड़ी हुई व्यर्थ की शिक्षा पद्धति के विरुद्ध जेहाद बोलना होगा'। (नारायण, जे.पी. 2015, पृ. 31)

- आध्यात्मिक क्रांति

पूर्व क्रांति विचारकों ने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्रांतियों की चर्चा तो अपने-अपने ढंग से बहुत की है परन्तु नैतिक-आध्यात्मिक क्रांति की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। जे.पी.ने अपनी सम्पूर्ण क्रांति की परिकल्पना में उसे आवश्यक घटक के रूप में माना, क्योंकि मनुष्य और आत्मा दोनों बुद्धिपरक हैं, वह पशु नहीं है, जिसमें आध्यात्मिक और बौद्धिक भूख नहीं होती, सौन्दर्यबोध नहीं होता। मनुष्य की आध्यात्मिक और भौतिक दोनों तरह की आवश्यकतायें पूरी होनी चाहिए। लोकनायक जानते थे कि तृष्णा, इच्छा, अत्यधिक धन संचय और अधिक सामग्री संग्रह की वृति के कारण आर्थिक और सामाजिक संग्रह होते हैं। उपभोगवादी और भौतिकतावादी दृष्टि पर यदि अंकुश न लगाया जाये तो क्रांति के बाद शांति नहीं हो सकती। शांति के बिना मनुष्य जीवन अपूर्ण है।

राजनीतिक क्षेत्र में वे केन्द्रीयकरण के विरोधी थे। गांधीजी ने भी विकेंद्रीकरण की वकालत की थी। आर्थिक आधार पर सम्पूर्ण क्रांति मार्क्स के शोषण मुक्त समाज पर आधारित थी। समानता और सामाजिक न्याय के कारण जे.पी. समाजवाद से आकर्षित थे परन्तु वे भौतिक उन्नति के साथ-साथ नैतिक विकास को भी आवश्यक मानते थे। वृहद स्तर पर औद्योगीकरण के स्थान पर उन्होंने लघु उद्योग तथा श्रम आधारित प्रतिष्ठानों का समर्थन किया। वे आर्थिक विकेंद्रीकरण के साथ ही क्षेत्रीय विकास में भी सामंजस्य

चाहते थे। 1974 से 1979 के बीच उन्होंने सामाजिक रिवाजों और संस्थानों पर अधिक बल दिया। उन्होंने जातिप्रथा और दहेज प्रथा के खिलाफ कार्य किया। उन्होंने सांस्कृतिक पुनरुत्थान की वकालत की जो स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो।

(1) उनके अनुसार सम्पूर्ण क्रांति एक स्थायी क्रांति थी। यह हमेशा ज़ारी रहेगी तथा यह हमारी निजी तथा सामाजिक जीवन को परिवर्तित करती रहेगी। क्रांति न अवकाश जानती है, न ठहराव जानती है। (प्रसाद, 1980, पृ. 369) यह तात्कालित समाज की आवश्यकताओं के अनुसार अपने आप को बदलती रहती है।

(2) विद्यार्थियों को नेतृत्व सौंपना- वे मानते थे कि विद्यार्थी क्रांति का नेतृत्व बेहतर कर सकते हैं क्योंकि वे सत्ता राजनीति से प्रभावित नहीं होते। वे स्वबलिदान की भावना से प्रेरित होकर समाज की भलाई के लिए काम करना चाहते हैं। 1974- 75 में जे.पी. ने छात्र- युवा संघर्ष वाहिनी बनायी। यद्यपि वे राजनीतिक दलों को दूर रखना चाहते थे पर बाद में उन्होंने महसूस किया कि यह असंभव था। दुर्भाग्यवश जे.पी. का आदर्शवादी मूल्यांकन जो उन्होंने विरोधी दलों के लिए किया था, चुनाव में जनता पार्टी की जीत के साथ ही चूर-चूर हो गया। राजनेता संकीर्ण निजी हितों के लिए लड़ते रहे।

(3) वर्गसंघर्ष और सम्पूर्ण क्रांति में अंतर- उन्होंने लिखा है कि सर्वोदय आन्दोलन के समय वर्ग संगठन, वर्ग संघर्ष ने हिंसा को बढ़ावा दिया। (दास, 2005, पृ. 63-67) सर्वोदय वर्ग संघर्ष का निषेध करता है। सर्वोदय नेताओं ने समाज के समृद्ध व्यक्तियों का हृदय परिवर्तन करने का प्रयास किया। विनोबा भावे ने कभी भी समाज और सरकार के अधिकृत लाभों के विरुद्ध संघर्ष का समर्थन नहीं किया। वे महसूस करते थे कि आज़ादी के बाद एक सामाजिक क्रांति द्वारा लोगों की चेतना में परिवर्तन होगा। जे. पी. के विचार विनोबा से भिन्न थे। वास्तव में विचारों की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति वंचित तबके के लिए नहीं थी। अमीरों के दृष्टिकोण में परिवर्तन से गरीबी दूर नहीं हो सकती। जे.पी. ने महसूस किया कि भारत का श्रमिक वर्ग क्रांतिकारी वर्ग नहीं था। (प्रसाद, 1980, पृ. 273) उन्होंने विद्यार्थियों को नेतृत्व करने हेतु प्रेरित किया ताकि वे समाज के कमज़ोर तबके के अगुआ बन सके। राजनीतिक ताकत केवल एक हाथ से दूसरे हाथ में चली जाती है तथा आम आदमी इस सत्ता संघर्ष में प्यादा बन कर रह जाता है।

सम्पूर्ण क्रांति लोकशक्ति की अंतिम अभिव्यक्ति थी जिसमें आम आदमी सत्ता के दुरूपयोग के विरुद्ध मुखर होकर विद्रोह करने के लिए खड़ा हो जाता है। संक्षेप में जे.पी. की सम्पूर्ण क्रांति तीन कारणों से महत्त्वपूर्ण है-

- राजनीतिक और सामाजिक क्रांति, नैतिक और शैक्षिक क्रांति के साथ चलनी चाहिए
- क्रांति में समाज के सभी वर्गों के लोग शामिल हों
- जे.पी. आन्दोलन ने भारत की तात्कालिक दलीय व्यवस्था को चुनौती दी तथा गठबंधन सरकारों के लिए मार्ग प्रशस्त किया

(4) जे.पी. की सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा पारस्परिक सम्मान, विश्वास और सहयोग की नयी राजनीति पर आधारित थी। यद्यपि उन्होंने इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं दिया कि क्या सुदृढ़ संगठन के बिना देशव्यापी संघर्ष हो सकता है? दूसरा प्रश्न, क्या कॉलेज और विश्वविद्यालयों के छात्र आन्दोलन के नेता बने रहें? सत्ता प्राप्ति के बाद जनता पार्टी ने आन्दोलन के दीर्घकालीन उद्देश्यों को भुला दिया। वे शीघ्र ही एक कटु सत्ता संघर्ष में शामिल हो गए।

जे. पी. की सम्पूर्ण क्रांति का उद्देश्य देश में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन में दीर्घकालीन परिवर्तनों द्वारा एक नए व्यक्ति और नयी चेतना का निर्माण करना था। इसकी सफलता दल और चुनावी राजनीति के संघर्ष में मूल्यांकित नहीं की जा सकती।

4.20.2 5 जून, 1975 से 25 जून, 1975

द्वितीय चरण में, 5 जून के बाद यह आंदोलन 'सम्पूर्ण क्रांति'के प्रयास में परिवर्तित हो गया। अब आंदोलन की बागडोर जे.पी. ने उत्साहपूर्वक संभाली और इसमें उन्होंने केवल छात्र ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण युवा शक्ति को जोड़ने का कार्य किया। उन्होंने युवा शक्ति को ही गाड़ी का इंजन बनाया और स्वयं इंजन चालक और गार्ड की भूमिका निबाहते रहे। तब तक काँग्रेस और साम्यवादी दलों को छोड़कर जन संघर्ष समितियों के माध्यम से सभी राजनीतिक दल, समाज सेवा निर्दलीय संगठन और विविध क्षेत्रों के अनुभवी और जागरूक व्यक्ति भी व्यक्तिश: इस क्रांति से जुड़ गए थे। आरम्भ में आंदोलन ज्वर प्रधान था परन्तु इस क्रांति में यह ज्वर से अधिक विस्तार और तड़पन से ज्यादा समर्पण की प्रधानता हो गई। अब आंदोलन का लक्ष्य तात्कालिक लाभ से हटकर बहुआयामी परिणाम और दूरगामी लक्ष्यों पर केन्द्रित किया किया। इस आंदोलन की व्यापकता ने सम्पूर्ण समाज को प्रभावित किया। जे.पी. ने अब तक मार्क्सवाद और सर्वोदय से जो ज्ञान प्राप्त किया, विभिन्न आंदोलनों से अनुभव प्राप्त करके जो सच्चाई ग्रहण की, उन सब के श्रेष्ठांश को लेकर उन्होंने 'सम्पूर्ण क्रांति' की सैद्धांतिक रचना की, जिसमें सत्ता परिवर्तन या राजनीतिक क्रांति एक प्रमुख आयाम था। (श्रीवास्तव, 2002, पृ.108)

4.20.3 26 जून, 1975 से मार्च, 1977

तृतीय चरण 25 जून की रात आपातकाल की घोषणा के बाद प्रारंभ हुआ। प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। संचार माध्यम के साधनों को सरकार ने अपने कब्जे में ले लिया। सारा देश नेतृत्व-विहीन, चिंतित और दिशाहीन हो गया। क्रांति की ज्वाला अन्तर्मुखी हो गई, सारी गतिविधियाँ भूमिगत हो गई, अत्याचार और दमन का भयंकर चक्र चला। साहसिक युवा और अनुशासित संगठन जान हथेली पर लेकर तरह-तरह के कार्यक्रम थोड़े-थोड़े अन्तराल पर बना रहे थे किन्तु आम जन के अंदर तानाशाही के खिलाफ आक्रोश की ज्वाला सुलग रही थी और धीरे-धीरे प्रति दिन के अनुभव से उसे उस 'आजादी' का अर्थ समझ में आने लगा, जिसे जे.पी. 'लोकतंत्र' के साथ जोड़कर समझाते आ रहे थे। अब प्रत्येक व्यक्ति को महसूस होने लगा कि यह आंदोलन नहीं, केवल स्वप्निल 'सम्पूर्ण क्रांति' का प्रयास

नहीं, यथार्थ में 'दूसरी आजादी' की लड़ाई है। जिस प्रकार अंग्रेजों के विरुद्ध आजादी की लड़ाई पराधीन भारत के नागरिकों को गौरव-वर्धक प्रतीत हुई,उसी प्रकार इस क्रांति में भाग लेना अपने आप में गौरवशाली था। बार-बार का दमन चक्र अंग्रेजी दमन चक्र से अधिक अमानवीय था और सामान्य जन के लिए भयावह था। यह दूसरी आजादी की लड़ाई पहली आजादी की लड़ाई की तुलना में अधिक महीन और सूक्ष्म थी। इस रोटी और आजादी की लड़ाई को ठीक से न समझ पाने के कारण इंटेलिजेंस के आधार पर श्रीमती इंदिरा गाँधी ने जनवरी 1977 में चुनाव की घोषणा कर दी और मार्च 1977 में सम्पन्न हुए लोकसभा चुनाव में तानाशाही ताकतों का सफाया हो गया। लोकतंत्र की वापसी हुई और सम्पूर्ण क्रांति का एक चरण पूरा हुआ पर अन्य क्रांतियां अधूरी रह गईं। (श्रीवास्तव, 2002, पृ. 109)

4.21 अरुणा रॉय आन्दोलन

शासन एवं प्रशासन में पारदर्शिता प्रत्येक समाज की प्रथम एवं अनिवार्य आवश्यकता है। प्रजातांत्रिक समाज में प्रत्येक शासन से यह अपेक्षा की जाती है कि शासन अपने प्रत्येक कार्य की जानकारी जनता को उपलब्ध कराए। लोकतंत्र में नीति निर्धारण और उसके क्रियान्वयन में लोगों की सीधी भागीदारी तभी हो सकती है जब सरकार खुली, पारदर्शी व जनहित के प्रति जवाबदेह हो। दिसंबर 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ में मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा नामक एक प्रपत्र के अनुच्छेद 19 में स्पष्ट उल्लेख किया था कि प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है। बिना किसी हस्तक्षेप के विचार निर्मित करना और उसे व्यक्त करना इस अधिकार में शामिल है। स्वीडन का संविधान सूचना की स्वतंत्रता प्रदान करने वाला विश्व का सबसे पहला संविधान है। (कृष्ण अयन, 1990, पृ. 12) संयुक्त राष्ट्र संगठन यूनेस्को के घोषणापत्र 1978 के अनुसार विचार, अभिव्यक्ति और सूचना के अधिकार को मानवाधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रता के अविभाज्य अंग के रूप में मान्यता प्रदान करनी होगी। (ओझा, मंगलानी, 2008, पृ.14)

सूचना शब्द लैटिन शब्द फार्मेशन/फॉर्म से उत्पन्न हुआ है, जिसका तात्पर्य कोई आकार देना या कोई प्रारूप बनाने से है। बेले के अनुसार "सूचना समाचारों, तथ्यों, आंकड़ो, प्रतिवेदनों, संहिताओं, न्यायिक निर्णयों, प्रस्तावों और इसी प्रकार की ऐसी चीज़ों से सम्बंधित होती है। कोई भी सूचना तब तक प्रभावी नहीं हो सकती जब तक कि उचित संचार माध्यम के द्वारा प्राप्तकर्ता तक न पहुंचे। अत: संचार सूचना को आधार प्रदान करता है। (ओझा, मंगलानी, 2008, पृ. 4) सूचना में राज्य या राज्य के किसी भी अभिकरण के मामलों से सम्बंधित कोई भी दस्तावेज़ शामिल है। (जैन एंड गुर्जर, 2006, पृ. 7) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 1(क) के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल अधिकार प्रदान किया है। इसके अंतर्गत प्रेस की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है। ब्रिटिश शासन काल के दौरान भारत में सूचना के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। अत: अंग्रेजों ने "ऑफिशियल सीक्रेसी एक्ट" द्वारा भारतीयों को सरकारी स्तर की जानकारी से वंचित कर दिया था। यह कानून सर्वप्रथम सन 1889 में अस्तित्व में आया था लेकिन इसमें परिवर्तन सन 1923 में कर दिया गया। अंग्रेजी शासन काल के समय गोपनीय कही जाने वाली सरकारी सूचनाएं जब भारतीय प्रेस में जाने लगीं तो ब्रिटिश शासकों ने इसे

गंभीरता से लिया और एक अधिसूचना ज़ारी कर दी जिससे सूचनाओं को गोपनीय रखा जा सके। 30 अगस्त, 1943 की इस अधिसूचना में लिखा गया कि भारत के सिविल और सैनिक अधिकारियों के बीच सरकारी दस्तावेजों को लेकर लगता है कि उच्च भ्रांतियां मौजूद हैं। इस अधिसूचना के माध्यम से उन्हें स्पष्ट आदेशित किया जा रहा है कि सरकार की आज्ञा के बिना सरकारी सूचनाएं न तो सार्वजानिक करेंगे और न ही ऐसे सूचनाएं किसी व्यक्ति विशेष को देंगे। (पाण्डेय, 2000, पृ. 47) इस निर्देश के बावजूद भी सरकारी सूचनाएं जनता तक पहुँचने लगी। अत: ब्रिटिश सरकार ने सन 1889 में पहला सरकारी गोपनीयता क़ानून बनाया और उसे लागू कर दिया गया। यह कानून भारत सहित सारे ब्रिटिश उपनिवेशों के लिए लागू कर दिया गया। इस कानून को लागू करने का मुख्य कारण था, ब्रिटिश विदेश विभाग के एक कर्मचारी मर्विन सैम ने 1878 में आंग्ल- रूस संधि का पूरा विवरण 'द ग्लोब' नामक अखबार में प्रकाशित कर दिया था। इससे ब्रिटिश सरकार की काफी आलोचना हुई और मर्विन को सरकारी दस्तावेजों की चोरी का अभियुक्त बनाया गया। उस समय ब्रिटेन में प्रचलित कानून में मर्विन द्वारा किये गए इस अपराध के लिए दंड का कोई प्रावधान नहीं था। (पाण्डेय, 2000, पृ. 49) यह कानून भारतीय प्रेस पर अंकुश लगाने में असफल रहा क्योंकि सिविल मामलों को इस कानून की सीमा से बाहर रखा गया था। सन 1889 के कानून में सन 1904 में संशोधन कर दिया गया जिसमें कहा गया कि इसमें सैनिक और नौसैनिक मामलों के साथ सिविल मामलों को भी कानून के दायरे में लाया जाएगा, न्यायिक अधिकारियों की आज्ञा के बिना गोपनीय सरकारी सूचनाओं को प्राप्त करने वाले व्यक्ति को दंड दिया जाएगा और इस श्रेणी में आने वाले अपराधों को संज्ञेय और गैर ज़मानती करके दंड के प्रावधानों को कठोर बना दिया गया। (जैन एंड गुर्जर, 2006, पृ. 393)

इस क़ानून के माध्यम से अंग्रेजों ने सूचना प्राप्त करने के अधिकार को पूरी तरह समाप्त कर दिया और भारतीय प्रेस पर शिकंजा कस दिया गया। सैय्यद मुहम्मद और आशुतोष मुखर्जी ने इस विधेयक का विरोध किया और इसे पुलिस राज कायम करने वाला विधेयक कहा और इसे जनता और सरकार दोनों के लिए विनाशकारी बताया। (पाण्डेय, 2000, पृ. 47) इस समय भारतीय राष्ट्रवादी कांग्रेस जनभावनाओं का प्रतिनिधित्व करने लगी थी। राजनीतिक पटल पर गाँधी का अभ्युदय आदि के कारण जन मानस जागरूक हो गया था। अत: सरकारी सूचनाओं को गोपनीय रखा जाना ज़रूरी हो गया था। रोलेट एक्ट और भारतीय सुरक्षा कानून जैसे निरंकुश प्रावधानों के खिलाफ भारतीय जनता का आक्रोश बढ़ता जा रहा था। इसी कारण सन 1923 का सरकारी गोपनीयता क़ानून अस्तित्व में आया। यह कानून पहले के कानूनों की तुलना में कठोर था। इस कानून की धारा 3 और 4 जासूसी रोकने से सम्बंधित थी। जबकि धारा 5 में राष्ट्र और राज्य की सुरक्षा के हित में और विदेशी ताकतों के लाभ के लिए की जाने वाली जासूसी को रोकने के प्रावधान थे। इस कानून की धारा 5 में उल्लेख था कि यदि सरकार जिस सूचना को गुप्त घोषित कर दे उसे लेने-देने और प्रकट करने को इस धारा में गंभीर अपराध घोषित किया गया था और दोषी व्यक्ति के लिए दंड का प्रावधान 3 वर्ष से लेकर 5 वर्ष का कारावास अथवा जुर्माना या दोनों हो सकता था। स्वयं आरोपी को ही यह सिद्ध करना पड़ता था कि वो दोषी नहीं है। (पाण्डेय, 2000, पृ. 393)

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में सन 1952 में पहला प्रेस आयोग गठित किया गया था। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1954 में प्रकाशित की जिसमें कहा गया कि जिन सरकारी सूचनाओं को सार्वजनिक किया जाना जनता के हित में है, उन्हें आपातकालीन अथवा युद्धकालीन परिस्थितियों का तर्क देकर गोपनीय नहीं रखा जा सकता है। (पाण्डेय, 2000, पृ. 53) सरकारी गोपनीयता कानून 1923 के अलावा अन्य क़ानून भी है जो सूचना की मूल अवधारणा के ही खिलाफ है जैसे भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा (1872)-123-124 सरकारी दस्तावेजों को सार्वजनिक करने पर रोक लगाती है। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा-21 के अनुसार कम्पनियाँ या उद्योग विशेष की सूचनाएं सार्वजनिक नहीं की जा सकती हैं। परमाणु उर्जा से सम्बंधित अधिनियम, 1962 की धारा 11 के अनुसार केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना प्राधिकृत व्यक्ति के अतिरिक्त किसी व्यक्ति को वर्तमान या प्रस्तावित आणविक ऊर्जा सम्बन्धी कोई भी जानकारी देना अपराध माना गया है। (ओझा, मंगलानी, 2008, पृ. 31)

भारत में सन 1967 से 1975 तक गोपनीयता बनाम पारदर्शिता की बहस पर विराम लगा रहा। इंदिरा गाँधी द्वारा लागू आपातकाल को विपक्षी दलों और भारतीय प्रेस ने सूचना की स्वतंत्रता पर आघात माना और विरोध किया। जनता पार्टी सरकार ने चुनावी घोषणापात्र में सूचना की स्वतंत्रता की मांग उठाई। जनता पार्टी की सरकार बनने पर चौधरी चरण सिंह गृहमंत्री बने। जनता पार्टी ने एक कार्यदल का गठन जनता तक सरकारी सूचनाओं को पहुंचाने हेतु किया लेकिन इस कार्यदल की राय सरकारी तंत्र को पारदर्शी बनाने हेतु नकारात्मक थी।

4.22 सूचना के अधिकार हेतु वैधानिक प्रयास

भारत में दूसरा प्रेस आयोग सन 1978 में गठित किया गया। सन 1982 में इसने अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें सरकारी गोपनीयता क़ानून 1923 की धारा 5 में संशोधन का सुझाव दिया गया तथा कहा कि जब तक शासकीय गोपनीय सूचनाएं किसी विदेशी शक्ति को प्रेषित नहीं की जाए या उसका इस तरह से इस्तेमाल नहीं किया जाए कि राज्य की सुरक्षा को हानि पहुंचे, तब तक कोई कार्य इस धारा के अधीन अपराध नहीं माना जाए। ऐसी सूचनाएं जो अपराध करने में सहायक हो, जिससे बंदियों को भागने में मदद मिले या जिनसे अपराध रोकने या उनका पता लगाने, अपराधियों को पकड़ने या उन पर मुकदमा चलाने में कठिनाइयों को बढ़ा सकती हो, ऐसी सूचनाओं को ही गोपनीय माना जाए। प्रेस परिषद् की सिफारिश का मुख्य उद्देश्य कार्यपालिका की मनमानी पर रोक लगाना एवं सरकार की जवाबदेहिता सुनिश्चित करना था। लेकिन केंद्र सरकार ने इन सिफारिशों पर कोई ठोस कार्यवाही नहीं की। (पाण्डेय, 2000, पृ. 61-62)

4.23 राजस्थान में सूचना के अधिकार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत की आज़ादी के 40 साल बाद 1987 में अलग-अलग क्षेत्रों से आये तीन व्यक्तियों ने राजस्थान के पहाड़ी इलाके के अकालग्रस्त गाँव देव डूंगरी में रुककर काम करने का फैसला किया। एक थीं अरुणा रॉय, जो भारतीय प्रशासनिक सेवा से त्याग पत्र देकर आई थीं। दूसरे थे शंकर सिंह, एक दूरदर्शी

स्थानीय व्यक्ति जिनके पास अपनी बात कहने की अपूर्व योग्यता थी और तीसरे थे निखिल डे, भारतीय वायुसेना के एयर मार्शल के पुत्र, जो हाल ही में अमेरिका के एक कॉलेज से पढ़ाई करके लौटे थे और वहां की जीवन शैली से रुष्ट थे। (भट्टाचार्जी, 1987) इन तीनों की पृष्ठभूमि भिन्न थी और तजुर्बे भी। अरुणा सात साल आईएएस की नौकरी में रह चुकी थी। उससे पहले वे दिल्ली के इन्द्रप्रस्थ कॉलेज फॉर वीमेन में अंग्रेजी पढ़ातीं थीं जहाँ वे स्वयं पढ़ी थीं। उन्होंने 1975 में प्रशासनिक सेवा से त्याग पत्र देकर एक स्वैच्छिक संगठन सोशल वर्क एंड रिसर्च सेंटर (एस.डब्ल्यू.आर.सी.) में काम शुरू किया। यह संगठन राजस्थान के अजमेर में ग्रामीण गरीबों के मध्य काम करता था। एस.डब्ल्यू.आर.सी में नौ साल व्यतीत करने के बाद अरुणा ने 1983 में इसे छोड़ दिया। वे एक गाँव में रहने लगी, जहाँ लोगों को उनके बुनियादी, राजनीतिक व लोकतांत्रिक अधिकार दिलाने में सहायता करने का काम उन्होंने शुरू किया। इन्हें अहसास हुआ कि गरीबों के मध्य रहने और उनके साथ काम करने तथा उन्हें सशक्त करने के औजार मुहैया कराने का उनका सपना साझा था। एक बात पर इनमें सहमति थी कि लोगों को लोकतांत्रिक संस्थाओं की भूमिका और बतौर नागरिक अपने अधिकारों के बारे में समझ पैदा करने की आवश्यकता है। दिमाग में यह भी स्पष्ट था कि संगठन और उसका ढांचा लोगों के साथ ही विकसित होगा, अलग से नहीं। भारत में पार्टी संगठन से बाहर रहकर किया जाने वाला ऐसा काम वास्तव में महात्मा गाँधी, जयप्रकाश नारायण जैसे लोगों की परंपरा से जुड़ता है। वे समझते थे कि सिर्फ शासक बदलते हैं, असल आज़ादी बदलाव में है। आज़ादी भूख से, छुआछूत से, गरीबी से और हिंसा से। इसके लिए आवश्यक है कि परंपरागत सामाजिक भेदभाव के व्यवहार को बदलने के लिए लगातार कार्यवाहियों का एक सिलसिला कायम हो। इनका मानना था कि लोगों को एकजुट करके ही डॉक्टर बी.आर. आंबेडकर के बनाए संवैधानिक अधिकारों को साकार किया जा सकता है। अंत में इन्होने तय किया कि देव डूंगरी में रहकर ही काम करना है। (रॉय, 2018, पृ. 40)

गरीबों को काम चाहिए था ताकि वे सम्मानजनक तरीके से जीवन जी सकें। उन्हें भत्तों में बराबरी चाहिए थी। उन्हें स्कूल, स्वास्थ्य और वे तमाम सुविधाएं चाहिए थीं जो दूसरों को आसानी से मिल जाती हैं। हर गरीब के साथ गैर बराबरी का व्यवहार होता था, चाहे सरकार हो या राजनीतिक तंत्र या फिर जातियों में बंटा हुआ समाज। ये गरीब समता और न्याय की एक दुनिया का सपना देखते थे। शंकर, अरुणा, निखिल ने इस सपने को पूरा करने का जो सफ़र शुरू किया, वह अब तक ज़ारी है। राजसमन्द का यह गाँव देव डूंगरी दिल्ली-मुंबई राजमार्ग पर स्थित एक छोटे से कस्बे भीम से 8 किलोमीटर दूर था। अपने जीवनकाल के लिए जिस न्यूनतम राशि की आवश्यकता थी, उसका जुगाड़ इन्होंने न्यूनतम भत्ते पर अपने अध्ययन के द्वारा कर लिया था। जिसका पर्यवेक्षण जयपुर की संस्था इंस्टिट्यूट फॉर डवलपमेंट स्टडीज कर रही थी। इस अध्ययन के साथ इन्होंने अपने आस-पास में निकलना शुरू किया और लोगों के साथ छोटी-छोटी बैठकें करने लगे। लोगों से व्यक्तिगत स्तर पर भी मिले। समुदाय के मध्य में रहना और उनकी रोजाना की जिंदगी का भागीदार बनना एक अहम काम था। इस समूह को मौका मिला कि कैसे रोजमर्रा की गतिविधियों में सहज ढंग से आवश्यक मुद्दों को उठाया जाये। लगातार ऐसे प्रयासों के द्वारा मूल्यों को चुनौती दी गई और इन्हें बदला गया। कुछ मुद्दे उठाए गए जिनसे विवाद भी हुआ और जिन पर बहस भी हुई, जैसे लैंगिक भूमिकायें,

अस्पृश्यता, सफाई और स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दे, सामाजिक लेनदेन के मानक , सम्मान और रस्मों –रिवाजों के बीच का अंतर, ये तमाम विषय बहसों को जन्म देते और कभी-कभार इन पर असहमति भी रहती। इसके चलते कभी-कभार हिंसक स्थिति भी पैदा हो जाती। फिर उसका समाधान किया जाता। (रॉय, 2018, पृ.44)

इस समूह ने 1987 में देव डूंगरी में रहना आरंभ किया था और उसी वर्ष राजस्थान सबसे बुरे सूखे का शिकार हुआ। 1987 में योजना आयोग ने सूखे के दौरान लोगों के हालात जानने के लिए अपनी टीम राजस्थान भेजी। टीम का नेतृत्व योजना के सदस्य डॉक्टर सी. एच. हनुमंत राव कर रहे थे। जब टीम पहुंची तो लोगों ने उससे काम की मांग की और कहा कि उनके नाम मस्टररोल में दर्ज किया जाए ताकि उन्हें सूखा राहत कार्य में हिस्सा मिल सके। टीम के लिए सबसे चौंकाने वाली सूचना तब आई जब एक महिला ने भोजन के बारे में पूछे जाने पर घास से बनी रोटी निकल कर दिखा दी। सूखे की अत्यंत विषम परिस्थितियों में ऐसा देखा गया है। इसके उदाहरण लोक इतिहास के पन्नों में दर्ज है (एम के एस एस डायरी)। हर कार्रवाई पर जनता की नजर रहती है। यह पूछा जा सकता है कि आखिर जानने के अधिकार के लिए ढेर सारी सूचनाओं की क्या आवश्यकता है। यह समझना प्रासंगिक है कि जिन लोगों का जीवन खुली हुई किताब जैसी था, उनका सन्दर्भ क्या है और यह मांग वास्तव में इस समझदारी से उत्पन्न हुई थी कि बुनियादी सूचना तक पहुँच अनिवार्य चीज है। गाँव के लोगों की सामान्य धारणा यह होती है कि शहरों के लोग आमतौर से शोषण करने और उनके भौतिक व इंसानी संसाधनों को छीनने के लिए आते हैं और अपने पीछे वित्तीय,भौतिक और भावनात्मक कूड़ा छोड़ जाते हैं, जिससे निपटने में वर्षों लग सकते हैं। ऐसे लोग ठेकेदार और खनन करने वाले हो सकते हैं जो यहाँ सस्ते श्रम का दोहन करने, जमीन खरीदने आते हैं और अपने पीछे सभी लोगों को कर्जदार, बीमार और बेकार छोड़ जाते हैं।

लोग पहले से ही खराब मानसून और लगातार पड़ने वाले सूखे से परेशान थे। इन चर्चाओं में लोगों की एक ही मांग होती थी काम की, जिसे वे सूखा कहते थे। सूखे में काम की अवधारणा वास्तव में औपनिवेशिक शासकों द्वारा पारित किये गए सूखा राहत कोड से पैदा हुई थी जिसके रास्ते 1878 में सूखा प्रभावित भारत में काम दिलाना आरंभ किया था। इसे 1898 और 1901 में संशोधित किया गया। सरकार काम चालू करने के लिए इस संहिता का इस्तेमाल करती थी। राजस्थान के तत्कालीन रजवाड़े अपने महल और किले वर्षा के पानी को संजोने वाली बावड़ियों और झीलों को बनवाने के लिए सूखा राहत कार्यक्रम का उपयोग करते थे। सूखा क़ानून के अंतर्गत पारिश्रमिक भी नहीं मिलता, बावजूद इसके कि न्यूनतम भत्ता अधिनियम 1948 अस्तित्व में था जिसके मुताबिक राज्य द्वारा तय किये गए न्यूनतम भत्ते से कम मजदूरी नहीं दी जा सकती। इसे 1983 के एक ऐतिहासिक निर्णय से सुप्रीम कोर्ट ने पलट दिया था। इस निर्णय के बाद किसी भी सरकारी काम में न्यूनतम भत्ते से कम भुगतान किया जाना मुमकिन नहीं रह गया। इससे कोई मतलब नहीं कि काम कौन दे रहा है और भुगतान कौन कर रहा है। यह अलग बात है कि इस क़ानून की व्याख्या बहुत बुरी हुई है और आज भी यह नियम से लागू नहीं है। सरकारी और निजी कामों में स्थिति यह बनी हुई है कि न्यूनतम भत्ते को ही अधिकतम भत्ते के रूप में बरता जाता है।

भीम और देव डूंगरी तहसील के कामगारों के बीच अब स्पष्ट था कि अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए वे देव डूंगरी समूह के साथ काम कर सकते हैं। लड़ाई भ्रष्ट और सामंती स्थानीय प्रशासन के साथ थी, तो सोहनगढ़ में भ्रष्ट प्रशासन के साथ मिलकर सामंती और दमनकारी सामाजिक ढाँचा ही अधिकारों के हनन में जुटा था।

राजस्थान सरकार ने एक कार्यक्रम आरंभ किया जिसका नाम था 'प्रशासन गाँव की ओर' (पी.जी.के.ओ.)। इसके तहत सरकारी बंजर भूमि के गरीबों में आवंटन और राजस्व सम्बन्धी अन्य मामलों से जुड़ी शिकायतों का समाधान गाँव में जाकर करने का तरीका अपनाया गया था। इस मामले में देव डूंगरी समूह का हस्तक्षेप दरअसल सरकार को उसके अपने कथित नियम कानूनों के सार्वजनिक स्वीकरण और क्रियान्वयन के लिए बाध्य करने का एक तरीका था। (पावर्टी अलिवियसन प्रोग्राम, 1991, पृ. 60) ये ऐसी प्रक्रियाएं थीं जिन्होंने जनता में यह समझदारी विकसित की कि सूचना की ताकत कितनी बड़ी होती है, जिसे अब तक सरकारी रेकॉर्डों और दफ्तरों में दबाये रखा गया था। आज़ाद भारत में सूचना पर अंग्रेजी राज जैसा ही नियंत्रण स्थापित है, यह बात लोगों के दिमाग में साफ़ हो गयी। इसने सामाजिक स्तर पर ताकतवर लोगों और नौकरशाही के बीच मिलीभगत को भी उघाड़ कर रख दिया था। इस प्रक्रिया ने लोगों को समूह की ताकत और अवैध सत्ता-केन्द्रों को समाप्त करने में उसकी क्षमता के बारे में अहसास कराया। इसने संगठन बनने का रास्ता खोला। सामूहिक कार्यवाही से जो एकजुटता और ताकत का भाव पैदा हुआ था, उसे आगे एक व्यवस्थित ढाँचे में पिरोया जाना था जो समय के साथ समूह की ऊर्जा को व्यवस्थित दिशा दे सके। एम. के. एस. एस. के बीज अब जड़ पकड़ चुके थे। लोग एक पारदर्शी प्रशासनिक तंत्र की आवश्यकता को समझने लगे थे और सूचना अब कोई अमूर्त चीज़ नहीं रह गयी थी। वह ज़मीन तक पहुँचने का एक ठोस साधन थी और उस न्यूनतम भत्ते तक भी, जो आज तक लोगों को प्राप्त नहीं था।

4.24 एम.के.एस.एस.का जन्म और उसकी समझ

सोहनगढ़ में भूमि संघर्ष की अनपेक्षित और असाधारण सफलता ने सामूहिक कार्यवाही की ताकत को उजागर कर दिया था। इसने लोगों में आशा जगाई और संगठन निर्माण की ओर बढ़ने को प्रेरित किया। 'कुछ नहीं बदलेगा' जैसे निस्सहाय कथन को इसने पलट कर रख दिया। अब ताकत की अभिव्यक्ति सकारात्मक शब्दों में हो रही थी। "हम अपना अधिकार जानते, नहीं किसी से भीख मांगते।" भूमि आवंटन के संघर्ष ने लोगों को तमाम दूसरी संभावनाओं पर विचार करने को प्रवृत्त किया। अब संगठन बनाने का समय आ गया था। संगठन कैसा होगा, उसका दायरा क्या होगा। उसके उद्देश्य क्या होंगे, इन सब विषय पर चर्चा के लिए देव डूंगरी में कई बैठकें हुई, हर मुद्दे पर बातचीत की गयी। यहाँ तक कि संगठन का नाम भी कई दौर के विचार-विमर्श के बाद ही तय हो सका। अंत में नाम पड़ा मजदूर किसान शक्ति संगठन (एम.के.एस.एस.) जिस पर सब सहमत हुए। अंत में जो लोगो तय हुआ, उसमें लैंगिक संतुलन बिलकुल साफ़ ज़ाहिर था- काले रंग में एक पुरुष की मुट्ठी जो कि प्रतीक थी संघर्ष का जबकि लाल रंग में एक स्त्री की

मुट्ठी जो परिवर्तन और इन्कलाब का प्रतीक थी। समग्र अर्थ यह निकलता था कि बदलाव की मांग की अगुवाई औरतें करेंगी। इस तरह संगठन ने आकार ग्रहण किया।

सोहनगढ़ भूमि संघर्ष अपनी प्रकृति में वास्तव में जन-जागरुकता अभियान था, जहाँ लोगों ने अनुभव से सीखा। "आप एक ऊँगली तोड़ सकते हो लेकिन मुट्ठी को नहीं" ऐसी कहावतें तो उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का हिस्सा बन चुकी थीं। सामूहिक ताकत की परम्परागत समझ अब कारगर वास्तविकता में बदल चुकी थी। यह संगठन किसी विचारधारात्मक या सैद्धांतिक चर्चा से नहीं निकला था। यह परस्पर सहमति के सिद्धांत और लोकतांत्रिक आदर्श की संहिता पर खड़ा हुआ था। गरीब लोगों की वंचित स्थितियाँ और उनके साथ होने वाला अन्याय तीखे राजनीतिक विश्लेषण का आधार बना बल्कि यूँ कहें कि संगठन का निर्माण ही दरअसल इस समझदारी के सूत्रीकरण के रूप में हुआ। ग्रामीण समुदाय बहुत व्यावहारिक होते हैं। उनकी समझदारी, ज्ञान और इनका सूचना तंत्र उनके दैनन्दिन जीवन के अनुभवों में पैबस्त होता है। संगठन बनने से एक काम यह हुआ कि अलग-अलग तजुर्बों को एक मंच पर आने का मौका मिला जिससे एक सामूहिक और तार्किक स्वर पैदा हुआ जिसे उपेक्षित करना या ख़ारिज करना असंभव था। एक जन संगठन को जनता की विचार-प्रक्रियाओं के आधार पर ही आगे बढ़ना चाहिए और उसे लोगों को समय देना चाहिए कि वे नए विचारों और प्रणालियों को अपने अंदर समाहित कर सकें। यह संगठन प्रत्येक कार्यवाही और प्रतिक्रिया पर विचार करते हुए आगे बढ़ा। इस तरह एक सुनियोजित और तार्किक परिवर्तन का यह वाहक बन सका।

संगठन बनने से पूर्व और बाद में की गई तमाम राजनीतिक कार्रवाइयों में एक कुशल संवादी के बतौर शंकर की प्रकृति-प्रदत्त नेमत बहुत काम आई। संगठन का राजनीतिक संदेश नुक्कड़ नाटकों, गीतों और नारों के रूप में बदल दिया जाता। शंकर की रंग- क्षमता के चलते संगठन को तीव्र और प्रभावी तरीके से अपनी बात लोगों तक पहुँचाने में सुविधा मिली। स्थानीय लोग और शोधार्थी खुद इन नाटकों में भूमिका अदा करते थे। ये सभी स्वेच्छा से अपना समय नाटकों के लिए निकालते और नाटक समाप्त होने के बाद बड़ी सहजता से विचार- विमर्श में डूब जाते थे। दीवार चित्र की पारम्परिक कला सहभागितापूर्ण अभ्यास थी। आज भी ऐसे चित्र दीवारों पर देखे जा सकते हैं। गाँवो में दीवार चित्र शहरों में सोशल मीडिया जैसी भूमिका निभाता है। आज भी गाँवों में दीवारों पर आपको लिखा मिल जाएगा, "भीम चलो भाई भीम चलो, 1 मई को भीम चलो"। यह नारा 1 मई को लगने वाले मेले की लोकप्रियता का साक्षी है। मई दिवस 1990 के जलसे से पहले जो परचा बांटा गया था, उसमें उस समय के कई ज्वलंत सवालों को उठाया गया था। अंतिम संकल्प में सभी सवालों को सामूहिक रूप से संबोधित करने और उनका जवाब खोजने की वचनबद्धता जताई गयी थी। ये दो मुट्ठियाँ हमें साथ लाती हैं। इन सभी सवालों के जवाब ढूंढने के लिए सारे मजदूर और किसानों को 1 मई को आने का निमंत्रण दिया जाता है जब भीम के पाटिया का चौड़ा में किसान शक्ति संगठन के गठन का ऐलान किया जाएगा। एम.के.एस.एस. का नारा बहुत सशक्त था जो न्याय, क्षमता और प्रतिष्ठा का आव्हान करता था:

न्याय समानता हो आधार,

ऐसा रचेंगे हम संसार।

नारे किसी महान विचार को कुछ शब्दों में समेट देते हैं। इसे बार-बार बोला जाता है, यह काफी तेज़ी से फैलता है। लोगों के दिमाग पर प्रभाव डालता है और उन्हें सोचने को मजबूर करता है।

मजदूर किसान शक्ति संगठन जिंदाबाद जिंदाबाद ;
जब तक भूखा इंसान रहेगा, धरती पर तूफ़ान रहेगा;
भ्रष्टाचार हाय-हाय!

जन अभियानों के प्रभावशाली गीत प्रत्येक क्षेत्र को अपील करते हैं। बाद में सूचना का अधिकार अभियान भी ऐसे गीतों की अपील, शब्दावली और लय के चलते लोकप्रिय हो सका। जिस वर्ष संगठन बना, उस वर्ष प्रवासी मजदूरों का गीत लोकप्रिय हुआ। गीत में एक मजदूर है जो बड़ी आशा के साथ घर-बार छोड़ता है लेकिन लौट कर जब वह आता है तो उसकी आशाएँ टूट चुकी होती हैं और स्वयं से पूछे गए प्रश्नों के जवाब उसके पास नहीं होते। एक बार फिर वहीं कहर- सूखा, भूख और गर्भवती बीवी। इन प्रश्नों के जवाब संगठन ने मजदूरों को उपलब्ध करवाए जिसकी परिणति 2005 में मनरेगा के रास्ते रोजगार गारंटी मिलने में हुई।

1 मई, 1990 को मजदूर किसान शक्ति संगठन का औपचारिक निर्माण कर दिया गया। संगठन ने अपना पहला संकल्प पारित किया। पारित संकल्प के मुताबिक मजदूरी हर कामगार का अधिकार है और यह सुनिश्चित करने का हरसंभव प्रयास किया जाएगा कि किसी को भी इससे कम भुगतान न होने पाए। दूसरा संकल्प कहता था कि संगठन के हर सदस्य को भ्रष्टाचार और बेईमानी से लड़ना है और कोई भी सदस्य निजी रूप से अब किसी को भी रिश्वत नहीं देगा। 1 मई, 1990 की बैठक के अंत में जो रैली निकाली वह भीम की गलियों से निकली और बाजार में एक जनसभा में परिवर्तित हो गई। यह गरीबों की पहली रैली थी जो भीम के अपेक्षाकृत सम्पन्न लोगों के मुँह पर घोषणा कर रही थी कि वे अब समता व न्याय के लिए संघर्ष करने को एकजुट हो रहे हैं। हजार लोगों से ज्यादा भीड़ के बीच एम के एस एस के गठन की घोषणा 1 मई 1990 को पूरे जोश- खरोश और हवा में लहराती बँधी मुट्ठियों के साथ की गई। उस दिन के बाद से आज तक पाटिया का चौड़ा में हर वर्ष 1 मई को मई मेला लगता है। 1990 में मई दिवस का पहला मेला भीम में दो संकल्पों के साथ खत्म हुआ- न्यूनतम भत्ते के संघर्ष का संकल्प और झूठ, पाखंड व असमानता के विरूद्ध जंग का संकल्प।

अरुणा और शंकर हाशिये के लोगों की जिंदगी में रोजगार और प्रतिष्ठा की अहमियत को समझते थे। 1968 से 1975 के बीच भारतीय प्रशासनिक सेवा में कार्यरत रहने के चलते अरुणा ने देखा था कि कैसे सर्वाधिक गरीब लोग सरकारी योजनाओं के दायरे से छूट जाते हैं। जयपुर और अजमेर के ग्रामीण इलाकों में 1975 से 1983 के बीच सैकड़ों पुरुषों और महिलाओं के साथ काम करने का उन्हें अनुभव था। अरुणा ने

उनकी शाश्वत गरीबी के कारणों को जानने का प्रयास किया था और उनकी प्राथमिकताओं को समझ लिया था कि लोगों को सिर्फ और सिर्फ तुरंत और सदा के लिए काम चाहिए। यहाँ लोगों की जिंदगी सिर्फ एक सवाल के इर्द-गिर्द घूमती थी, "सूखा राहत का काम कब शुरू होगा?"

एम.के.एस.एस. की प्राथमिकताएं मजदूरों और किसानों ने तय की थी। उनके लिए रोज़गार प्रमुख मुद्दा था जिसके सहारे भूख और गरीबी से बचा जा सके। सरकारी कार्यक्रमों में काम मिलना जीवन का रास्ता खोल सकता है- यह गरीबी, बेरोजगारी, कर्ज, भूख और गुलामी के दुश्चक्र को तोड़ सकता है। राजस्थान के तिलोनिया में 1985 में लगे महिला मेले में नौरती ने एक पोस्टर बनाया था जो इस वास्तविकता को बयां करता है। 1981 का मजदूरी संघर्ष इन्हीं के नेतृत्व में हुआ। इन्हीं के काम के आधार पर सुप्रीम कोर्ट में एक ऐतिहासिक याचिका न्यूनतम भत्ते पर दायर की गयी जिसमें अदालत ने सरकारी काम के बदले में बराबर भत्ते के अधिकार की स्थापना की जिसके बाद 1983 के सूखा राहत संहिता में गैर बराबर भत्ता ढांचे को समाप्त किया जा सका। (संजित रॉय बनाम राजस्थान सरकार, 1983)

नौरती अरुणा की गुरु हैं जिन्होंने उन्हें दलित औरतों व मजदूरों की राजनीति के गुर सिखाये थे। नौरती का इतिहास स्वतंत्र भारत में दलित औरत की सफलता का एक दुर्लभ दस्तावेज है। न्यूनतम आवश्यकताओं को पूर्ण करने में विकास कार्यक्रमों की प्रासंगिकता को कायम किया जा चुका था। यहाँ तक कि जहाँ कृषि कार्य पर लोगों का बुनियादी अस्तित्व टिका हो, वहाँ भी सूखे के मौसम में मौसमी रोजगार बहुत अहम होता है और उसका न होना एक दुस्वप्न से कम नहीं होता है। सीमांत किसान वह था जो मजदूरी करने के लिए हर वर्ष 6 महीने के लिए पलायन कर जाता है। यह भ्रष्ट व्यवस्था उसे अपने खोखले वादों का विश्वास दिला देती है। प्रधानमन्त्री सड़क योजना और बाद में जवाहर रोजगार योजना वर्ष में करीब 15 दिन का काम देते थे जिसके तहत केवल 10 फीसदी मजदूर ही आ पाते थे। इतने कम दिनों का रोजगार गरीबों के लिए काफी नहीं था। जो वास्तव में जरुरतमन्द और कमजोर थे, उन्हें तो भ्रष्ट नौकरशाही और अक्षमता के चलते 15 दिन का काम भी नहीं मिलता था। गरीब आदमी न्यूनतम मजदूरी की मांग कर रहा था जो उसका कानूनी हक था। मांग यह थी कि सरकार ऐसी प्रणाली बनाये जिससे लोगों को वास्तव में न्यूनतम मजदूरी मिल सके। निष्कर्ष के तौर पर कह सकते हैं कि मजदूरों को तंत्र की नाकामी की कीमत अदा न करनी पड़े और यदि काम का मापन न्याय या तर्क की कसौटी पर नहीं हो सकता तो आठ घंटे काम करने वाले को पूरा भुगतान किया जाए। अब एमकेएसएस मजदूरों की नियति पर एक विमर्श खड़ा करने की तैयारी में था कि कैसे राज्य सरकार ने अपनी जुबान पर कायम न रहकर धोखा दिया है। न तो उसने पर्यवेक्षण की प्रणाली मजबूत की है और न ही वैधानिक मजदूरी का ही भुगतान किया है। इस दिशा में पहला कदम ऐसे संगठनों के साथ एकजुटता कायम करना था जो न्यूनतम मजदूरी के मुद्दे पर काम कर रहे थे। ऐसे संगठनों की पहली बैठक भीम में ही हुई। इस मसले को नीति और वैधानिकता के दायरे में देखा जाना था। इसके अलावा समस्या के अकादमिक, आर्थिक और क़ानूनी ढाँचे पर भी एक उपयुक्त मंच पर बात की जानी थी। जयपुर के इंस्टिट्यूट ऑफ़ डेवलपमेंट स्टडीज (आई.डी.एस.) और उसके निदेशक वी.एस.व्यास ने अलग-अलग क्षेत्रों के ऐसे प्रतिष्ठित लोगों को जुटाकर एक कार्यशाला

आयोजित करने पर सहमति दी जो सम्मलेन के बाद सरकार के आला अफसरों से बात कर सके। नीति-निर्माताओं और अर्थशास्त्रियों के परिदृश्य में आने के बाद सारा जोर व्यवहार से विचार की ओर मुड़ गया और एम.के.एस.एस. भीम से निकलकर जयपुर पहुँच गया।

भूख हड़ताल ने जायज मजदूरी से वंचित मजदूरों की नियति के व्यवस्थागत विश्लेषण के रास्ते सरकारी प्रणालियों की पारदर्शिता पर उभरते हुए विमर्श में योगदान दिया। इस समस्या को हिस्सों में बांटकर कदम-दर-कदम जाँच करने की सलाह भी दी। एक स्तर पर तो नीतियों में ही गड़बड़ थी जिसकी परिणति मूल उद्देश्य की विरोधाभासी थी। दूसरे, इस प्रक्रिया की जाँच करने पर साफ़ हुआ कि कार्यक्रम के क्रियान्वयन में भ्रष्टाचार और चोरी इसलिए मुमकिन है क्योंकि प्रशासनिक तंत्र ही पारदर्शी नहीं है। ताकत का मनमाना उपयोग और भ्रष्टाचार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जिसके तहत प्रशासन लोगों की बुनियादी सेवाओं तक पहुँच को बाधित करता है। ताकत के मनमानेपन के चलते गाँव के गरीबों के लिए तय लाभ संपन्न लोगों तक पहुँच जाते हैं। ऐसे लाभों को प्राप्त करके ताकतवर और संपन्न लोगों के परिवार और समुदाय हमेशा नाजायज फायदा उठाते हैं। इस समझदारी ने सरकारी रेकॉर्डों के स्वैच्छिक उदघाटन की अहमियत को एक बार फिर से रेखांकित कर दिया था। सरकारी कागजात और वास्तविकता के बीच लगातार दिख रही दूरी पारदर्शिता की ज़रुरत पर जोर दे रही थी। इस तरह एम.के.एस.एस का हर संघर्ष वास्तव में पारदर्शिता की मांग के तर्क को और पुष्ट करता जा रहा था।

4.25 न्यूनतम मजदूरी को लेकर भीम में सम्मेलन

मजदूरों को न्याय दिलाने के लिए किये जा रहे प्रयास निष्फल हो रहे थे। इस बात को समझने के लिए यह विचार- विमर्श आवश्यक हो गया था। एम.के.एस.एस. ने 24 और 25 अक्टूबर 1990 को किसानों और मजदूरों का एक राज्य स्तरीय सम्मेलन का आयोजन करवाया। उस दिन जिन मुद्दों को कवर किया गया उसमें राज्य और देश के विभिन्न भागों में मजदूरी के भुगतान में एकरूपता की कमी का मसला शामिल था। सबकी एक ही मांग थी कि सरकार को न्यूनतम मजदूरी देनी ही चाहिए। दूसरा, गरीबों का प्राकृतिक संसाधनों के ऊपर पूरा अधिकार होना चाहिए और बिना संघर्ष के उन्हें यह अधिकार प्राप्त नहीं होगा। आखिर में वहां जुटे लोगों ने जोर दिया कि इस संघर्ष में कामयाबी हासिल करने के लिए किसानों और मजदूरों को आपस में एकता कायम करनी होगी। आई डी एस की एक रिपोर्ट कहती है:-

सम्मेलन का अंत कुछ संकल्पों के साथ हुआ जिसकी पुष्टि मजदूरों, उनके नुमाइंदो ने की। इस बात पर सहमति बनी की सरकार को सभी मजदूरों के लिए मजदूरी सुनिश्चित करनी चाहिए, मजदूरी या तो समय के आधार पर मिले या काम के टुकड़े के आधार पर, दोनों के आधार पर नहीं। अगर काम के टुकड़े के आधार पर मापी जाती है तो हर किसी के लिए निज काम के आधार पर भुगतान हो, सामूहिक आधार पर नहीं(आई डी एस,जयपुर रिपोर्ट)।

एम के एस एस की डायरी में दर्ज एक प्रविष्टी प्रश्न करती है:-

आखिर न्यूनतम मजदूरी का होना इतना अहम क्यों है? आखिर उद्योगपतियों और बड़े किसानों की ही तरह अमीर लोग इसे नापसंद क्यों करते हैं? अक्सर सरकारें और अदालतें भी इसके खिलाफ अपना मत क्यों रखती हैं?

न्यूनतम मजदूरी का मतलब है वह सबसे कम राशि जो किसी मजदूर को दी जा सकती है। आजादी के तुरंत बाद एक कानून 1948 में पारित किया गया जो कहता था कि इस न्यूनतम भत्ते की गारंटी तो मजदूर को होनी ही चाहिए। मजदूर एक आजाद देश का आजाद नागरिक होता है लेकिन परिस्थितियाँ चूँकि उसके नियंत्रण में नहीं होती लिहाजा वह वंचित हालत में पैदा होता है। एक बेहतर जिंदगी के फल चखने के लिए उन्हें न्यूनतम गारंटी के बगैर एक स्वतंत्र राष्ट्र में और ज्यादा शोषित नहीं किया जा सकता। पोषण जरूरतों के हिसाब से मजदूरी वास्तव में केवल जिंदा रहने पर गेहूँ और चावल आदि मुहैया करा सकता है। 1948 में यह राशि 3 रूपये थी जो 1987 तक बढ़कर 11 रूपये हो गई इसके बावजूद किसी मजदूर को काम नहीं मिलता है। हमारी चिंता दरअसल न्यूनतम मजदूरी नहीं, जिन्दा रहने लायक मजदूरी है (एमकेएसएस डायरी)। आप अगर एमकेएसएस के नजरिये से बराबर अधिकारों और सेवाओं तक पहुँच के मामले को न भी देखते हो तब भी यह तो अमानवीय है। दिलचस्प है कि अधिकतर विरोध उन लोगों की ओर से आता है जो धर्मभीरु हैं। हर धर्म दयालुता और धर्मार्थ कार्य की बात कहता है। इन लोगों के बच्चे भीख नहीं मांगते। वे ढाबों में और घरेलू नौकरों के बतौर सम्पन्न परिवारों में काम करते हैं। बेहद मामूली राशि के लिए ये 12 घंटे रोजाना काम करते हैं।

भीम सम्मलेन ने जयपुर में अर्थशास्त्रियों, वकीलों और नीति निर्माताओं के साथ एक और बैठक की ज़मीन तैयार कर दी थी। न्यूनतम भत्तों के भुगतान में पारदर्शिता और मनमानापन का अभाव सूचना के अधिकार सम्बंधी एमकेएसएस की मांग के साथ काफी हद तक ताल्लुक रखता है। मजदूरों द्वारा न्यूनतम भत्ते की प्रत्येक मांग का अनैतिक आधार पर नियोक्ता विरोध ही करेगा और निष्पक्ष भुगतान सम्पूर्ण पारदर्शिता पर ही निर्भर होगा। मजदूर अपनें लाभों को हासिल करने में पारदर्शिता के साथ समझौता नहीं कर सकते। मजदूरी दरअसल बीमारी, भूख और जरूरतों से सुरक्षा की न्यूनतम गारंटी है।

नवम्बर,1990 में आइ.डी.एस.,जयपुर ने आला सरकारी अफसरों, शिक्षाशास्त्रियों, क़ानूनी विशेषज्ञों, नीति निर्माताओं और स्वंयसेवी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को दो दिन के सम्मेलन के लिए निमंत्रण दिया ताकि सरकारी ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों में "न्यूनतम मजदूरी" के मसले पर खुली और विस्तृत बहस चलाई जा सके। काम के बारे में सूचना, लागू करने वाली एजेंसी का नाम, काम की अवधि, दिया जाने वाला रोजगार और भत्ता सभी कार्यस्थलों पर प्रमुखता से प्रदर्शित किया जाना चाहिए। ग्रामीण श्रम पर राष्ट्रीय आयोग से अनुरोध किया जाये कि वह न्यूनतम भत्तों पर अपनी सिफारिशों को अंतिम रूप देने से पहले राज्य से सरोकारी लोगों के समूह को आमंत्रित करे। काम के चुनाव और क्रियान्वयन में यह ध्यान रखा जाए कि ऐसे काम सामुदायिक परिसम्पत्तियों में बढ़ावा करने वाले हों। इस बैठक में मजदूरों की

मांगो को न केवल विविध क्षेत्रों से सार्वजनिक समर्थन दिलवाया बल्कि अगले संघर्षों में तुरंत मदद का रास्ता आसान किया(संजीत रॉय बनाम राजस्थान सरकार, 1983)।

एमकेएसएस को ऐसे मंचों की खोज थी जहाँ मुद्दे को सामने लाने और उसके महत्व को परिप्रेक्ष्य में रखने के लिए बातचीत और बहस को अंजाम दिया जा सके। सड़कों पर संघर्ष सत्याग्रह की सच्ची गाँधीवादी परम्परा और अहिंसक नागरिक अवमानना का अंग था लेकिन राज्य को देखने का नजरिया तो अम्बेडकर ने दिया था- एक ऐसी संस्था जिसे संवैधानिक वादों को पूरा करना है। राज्य, नीति- निर्माताओं और विचार निर्माताओं के साथ संलग्नता की धारणा यहीं से आकार लेना शुरू हुई।

इस अहम संवाद से बहुत कुछ सीखने को मिला। गरीब और हाशिये पर पड़ा आदमी प्रशासन, विकास व राजकाज तक न्यायपूर्ण व बराबर पहुँच बना सके, इसके लिए समाज के विभिन्न तबकों को साथ आकर सोचना होगा। लोकतांत्रिक विमर्श प्रभावकारी और सृजनात्मक भी हो सकता है और वह न्याय भी दिलवा सकता है, बशर्ते उसमें परस्पर सम्मान की भावना हो और लोकतांत्रिक व संवैधानिक वादों की अनुपालन निहित हो।

भीम में मजदूरों की सभा से निकली मांगें सूचना के अधिकार के साथ काम के अधिकार से भी ताल्लुक रखती थीं। पहली बार इन दोनों अधिकारों को एक साथ विमर्श की मेज पर रखा गया था। मजदूरों की मांग प्रतिष्ठित न्यायविद उपेन्द्र बख्शी के विचारों से मतलब रखती थी, जैसा कि 15 सितम्बर 1990 को 'इंडियन एक्सप्रेस' में प्रकाशित उनके लेख से प्रतीत होता है, जिसका विषय था "द मेकिंग ऑफ राइट टू वर्क"। 1990 में पहली भूख हड़ताल से मजदूर और एमकेएसएस के लोग काफी निराश हुए थे। 1991 में आयोजित दूसरी भूख हड़ताल थोड़ी कठिन थी, लेकिन लोगों के बीच लोकप्रिय रही। यह आज तक भीम की स्मृति में अंकित है। राजस्थान में एमकेएसएस की राजनीतिक भूमिका के लिहाज से यह एक निर्णायक मोड़ रहा। इस धरने ने एमकेएसएस को सिखाया कि मजदूरी भुगतान में न्याय के लिए सरकारी दस्तावेजों तक पहुँच बनाना कितना अहम काम है। इसी क्रम में भोजन और जीवन के अधिकार का महत्व भी समझ में आया। भूख हड़ताल ने दिखा दिया कि नीति को बदलने की आवश्यकता है और केवल एक केस इसका जवाब दे सकता है कि नीति क्यों और कैसे बदली जाय। अगर नीति बदलनी है तो वह तमाम कार्यस्थलों पर लाखों मजदूरों को सशक्त करेगी और उन्हें न्याय तक पहुँचाने में मदद करेगी। लोगों के साथ जैसी मनमानी और जैसा अन्याय हुआ है। उनका कदम-दर-कदम अभिलेखीकरण राजकार्य में पारदर्शिता की आवश्यकता पर समझदारी को विकसित करता है। जैसे-जैसे कुशासन का कुतर्क उघड़ता जाता है, वह हमारी दलील को ही ताकत देता है और भ्रष्ट व मनमानेपूर्ण तंत्र के पक्षपातपूर्ण रवैये को और प्रकाशित करता है। यह साफ हो जाता है कि समूचा तंत्र दरअसल मजदूर विरोधी मानसिकता से काम कर रहा था और वह नहीं चाहता था कि उसे कभी भी न्यूनतम मजदूरी मिल सके। अब पहले से और ज्यादा यह साफ़ हो चुका था कि सारे मसले के केंद्र में दरअसल सरकारी दस्तावेज ही है और मस्टर रोल का सार्वजनिक किया जाना ही भ्रष्टाचार को उघाड़ने की असल कुंजी है।

4.26 खुले और मुक्त बाजार के मिथक की सच्चाई

1990 के शुरू में एमकेएसएस के सामने दो मुद्दे थे पहला बौद्धिक सम्पदा अधिकार का मसला था, जो लोगों के परम्परागत और सामूहिक ज्ञान का पेटेंट करवाने की उन लोगों को छूट देता है जो नए कलेवर में प्रस्तुत करके उसका पेटेंट आवेदन करने में सक्षम होते हैं। दूसरा मुद्दा बहुपक्षीय वित्तीय संस्थानों द्वारा सरकारों को मिलने वाला अनुदान था, जो बिलकुल उसी तर्क पर आधारित था जिस पर कोई सूदखोर गरीब किसानों को कर्ज देता है। मामला बस अंतरराष्ट्रीय उधारी का था। ऐसे में देश उच्च ब्याज दरों पर केवल ब्याज ही चुका पाता है, मूलधन की वापसी नहीं होती। मुक्त बाजार की प्रकृति और एकाधिकार, दाम तय करने वाली ताकत, जनतांत्रिक अधिकारों के साथ बाजार का रिश्ता आदि के तमाम सवाल मजदूरों और छोटे किसानों के सन्दर्भ में उनके हित के लिए बेहद अहम थे। पहले तो मजदूर को उसके काम और मजदूरी में ठगा जाता, फिर जब पगार मिलती तो उसे बाजार लूट लेता। अक्सर ऐसी स्थिति में कामगार बंधुआ होने के कगार पर पहुँच जाता था। इन विचार- विमर्शों का निष्कर्ष यह था कि "हम बिचौलियों को हटा देंगे और बाजार में शोषण को समाप्त कर देंगें।" इसी के साथ यह तय पाया गया कि एमकेएसएस भीम में एक किराना की दुकान शुरू करेगा। इन दुकानों ने वास्तव में इस तर्क को चुनौती दी और गलत साबित किया कि बाजार कभी भी पारदर्शी नहीं हो सकता, क्योंकि वह मुनाफे पर आधारित होता है। एमकेएसएस को इसमें पारदर्शिता के कुछ अहम नुस्खे हाथ लगे। मजदूर स्टोर से दिखा दिया था कि कैसे एक छोटी दुकान मुक्त बाजार के मिथक को केवल पारदर्शिता के आधार पर और बढ़ी हुई कीमतों को उजागर करके ध्वस्त कर सकती है और यह दिखा सकती है कि कैसे बाजार अपने दोहनकारी लाभ के चलते नैतिकता को तिलांजलि दे देता है। ये दुकानें अपना सारा खर्च निकलती हैं और साथ ही एमकेएसएस के कार्यकर्त्ताओं की मदद भी करती हैं। मजदूर किसान किराना स्टोर महज दुकान नहीं है बल्कि एक आन्दोलन हो सकता है। पूरी अर्थव्यवस्था बाजार और बड़े कारोबारों की बात करती है। बड़ी कम्पनियों के लाभ के लिए बाजार काम करता है। आज बड़े कारोबारियों और कम्पनियों ने पूरे के पूरे देश का संचालन अपने हाथों में ले लिया है। सरकारों के नीति निर्माण में इनकी अहम भूमिका हो चली है। किसी कस्बे के व्यापार मंडल से लेकर विश्व व्यापर संगठन तक एक पूरा सिलसिला है जो छोटे से लेकर बड़े साम्राज्यों की सहायता कर रहा है। अमेरिका जैसे देश विशाल निगमों के हाथों की कठपुतलियाँ बनकर रह गए हैं। आज दुनिया की राजनीति को बड़ी पूँजी संचालित कर रही है। गरीब आदमी महज ग्राहक या उपभोक्ता बनकर रह गया है जबकि असली नियंत्रण निगमों के मालिकान और आला प्रबंधन के हाथों में है। कहीं से खरीदकर कहीं ओर बेचने वाले बिचौलिए छोटे बाज़ारों में इसी मंशा से संचालित होते हैं। वास्तव में वे मूल उत्पादकों से भी अधिक कमाते हैं। एमकेएसएस नियमों को तो टक्कर नहीं दे सकता लेकिन छोटे शहरों में वह व्यापार के एक छोटे से हिस्से को बेशक नियंत्रित कर सकता है। ऐसे कई प्रयास वाकई प्रभाव डाल सकते हैं। हमारी भाषा में एक कहावत है कि " बूंद बूंद से समुद्र बनता है"। हमें आर्थिक परिदृश्य में भी दखल देना होगा।

एमकेएसएस के इस प्रयास ने कुछ हद तक बाजार के मूल्य को नीचे लाने में सफलता प्राप्त की। चूँकि दूसरे खुदरा विक्रेताओं को अपना माल बेचने के लिए अपने लाभ में कटौती करनी पड़ी। इसका महंगाई पर प्रभाव पड़ा। भीम का मजदूर किसान किराना स्टोर यह सिद्ध करने की दिशा में अग्रणी प्रयास रहा कि कैसे ईमानदारी और संकल्प के साथ बनाई गई सतर्क योजना जमीनी स्तर पर मुद्रास्फीति को टक्कर देने और गुणवत्ता को सुधारने के काम आ सकता है। अब तक एमकेएसएस की भूमिका विरोध प्रदर्शन करने वाले और दबाव कायम करने वाले एक समूह की रही थी। अब चूँकि काम बदल गया था तो उनके हिसाब से सिद्धांत को भी दुबारा परिभाषित करने की जरूरत थी क्योंकि एमकेएसएस अब एक आर्थिक समूह के बतौर परम्परागत बाजार में दखल दे रहा था। यहाँ उसके खिलाफ वे तमाम ताकतें खड़ी थीं जो एक मुक्त- बाजार अर्थव्यवस्था में रहती हैं। किराना स्टोर न तो धर्मार्थ गतिविधि है, न ही वह स्वयं को त्याग या सेवा के उपक्रम के तौर पर देखता है। उसे आर्थिक रूप से टिकाऊ होने की दरकार है। यह स्टोर एक वैकल्पिक मूल्याधार को दर्शाता है कि कैसे उसके सहारे आर्थिक रिश्तों को नियंत्रित व संचालित किया जा सके और बाजार को न केवल लाभ के लिए उपयोग किया जाये बल्कि एक सक्षम और नैतिक सेवा प्रदाता के रूप में भी बरता जा सके। किराना स्टोर ने बाजार प्रणाली में एक नया सिद्धांत गढ़ा। आम समझदारी से इतर इसे पारदर्शिता और सामूहिकता के सिद्धांतों पर खड़ा किया गया जिन्हें बाजार के लिए ठीक नहीं माना जाता क्योंकि परम्परागत बाजार कई किस्म की गोपनीयताओं में बंधा होता है। इस समूची कवायद ने एक नैतिक कार्य के लिए सूचना के उपयोग की समग्र समझदारी में योगदान दिया। जिसने बाद में आर टी आई आन्दोलन को आकार देने का काम किया।

4.27 पारदर्शिता का सूत्रीकरण

एमकेएसएस के शुरूआती संघर्षों में एक शिक्षा यह मिली थी कि भूख हड़ताल और धरना बहुत प्रभावी तरीका नहीं है। अपनी दो बार की भूख हड़तालों 1990 और 1991 में पाया कि सरकार इसमें शामिल लोगों की नियति से पूरी तरह अभिन्न थी(सौम्या किदम्बी)। जाँच के बाद एमकेएसएस को स्पष्ट हो गया कि प्रभावशाली और ताकतवर व्यक्तियों द्वारा सत्ता के दुरूपयोग को सरकारी रिकॉर्ड के सहारे ही चुनौती दी जा सकती थी। सूचना की मांग करना, सवाल पूछने के अधिकार, समानता के अधिकार और जवाबदेही को स्थापित करने का एक प्रभावी तरीका था। इससे पहले तक लोग एक ऐसे तंत्र से जंग लड़ रहे थे जिसमें जाति, धर्म, लिंग और गरीबी के आधार पर उनके साथ भेदभाव किया जाता था। अब जाकर एक औजार हाथ लगा था जिसका उपयोग करके एक गरीब आदमी सूचना छुपाने वाली व्यवस्था से मूलभूत अधिकार के बतौर जवाबदेही की मांग कर सकता था। गरीब आदमी जब अधिकार मांगता है तो व्यवस्था उसका शिकार करती है और कभी-कभार उसके ऊपर झूठे क़ानूनी मुकदमे भी लाद देती है। व्यवस्था अच्छे से इस बात को समझती है कि असली ताकत है सूचना और उसे साझा करने से उसका स्वयं का नियंत्रण कम हो जाएगा। लोग भी अब इस बात को समझने लगे थे, लिहाजा प्रशासनिक तंत्र अपने लिए भारी खतरा महसूस कर रहा था। एमकेएसएस को दिल्ली में पर्यावरण पर काम करने वाले एक समूह ने

जनसुनवाई में आने का निमंत्रण भेजा था। देव डूंगरी में इस निमंत्रण पर बातचीत हुई थी। दिलचस्प तरीके से मामला जनसुनवाई के माध्यम पर केन्द्रित हो गया कि कैसे यह तरीका सूचनाओं को सार्वजनिक करवाने के काम में लाया जा सकता है। जनसुनवाई की कार्यवाही के लिए कुछ सूचना तो पास में होनी ही चाहिए – कम से कम कुछ कागजात तो जरूरी होंगे ही।

संघर्ष के शुरूआती वर्षो पर नीलाभ मिश्रा लिखते हैं:-

मध्य राजस्थान के गांवों में सरकारी काम पर लगे मजदूरों को जब पता लगा कि उन्हें मानक न्यूनतम मजदूरी नहीं मिल रही है और बढ़े हुए व्यय के बावजूद ग्रामीण अधिरचना या तो नहीं के बराबर है या बेहद खराब है, तब उन्होंने अपने ऊपर भत्ते के भुगतान या अधिरचना कार्यो के रूप में खर्च हुए पैसे के बहीखाते की प्रति मांगने का निर्णय किया। 1990 के दशक में कुछ इस तरह से एम.के.एस.एस. का सूचना का अधिकार अभियान शुरू हुआ। "हमारा पैसा हमारा हिसाब" नारे के साथ एम.के.एस.एस. ने मध्य राजस्थान के किसानों और ग्रामीण मजदूरों को साथ लेकर एक ऐसा आन्दोलन छेड़ा जिसका सीधा प्रभाव उन आलसी और भ्रष्ट कार्यप्रणाली पर हुआ जो देश के विकास की मशीनरी में एक महामारी है। (मिश्र, 2003)

इस भ्रष्ट व्यवस्था से न्याय मांगने की यही दुविधा थी जिसने जनसुनवाई के तरीके की खोज को प्रेरित किया, जहाँ मंच की ताकत जनता से आती है। दूसरे शब्दों में, सहभागितापूर्ण शासन की यात्रा सूचना की मांग से शुरू हो सकती है। (द प्रॉब्लम सेमिनार, 2004) इस बारे में हुई परिचर्चाएं बहुत अहम् थीं। विरोध के तरीकों में संरचनागत बदलाव तक लाने वाले विचारों और रणनीतियों में यह एक बड़ा प्रस्थान था। इसने भविष्य में संघर्ष और विरोध की रणनीतियों को रेखांकित करने का काम किया। यह सरकारी कार्यप्रणाली में भी संरचनागत परिवर्तनों के विकसित होने की एक शुरुआत थी।

4.28 एम.के.एस.एस.और जन सुनवाइयां

जन सुनवाइयों का पहला चरण तब हुआ था जब सूचना प्राप्त करने के लिए कानूनी अहर्ताएं प्राप्त नहीं थी। उस वक्त तमाम सूचनाएं अनौपचारिक रूप से प्राप्त की गयी थीं। पहली पांच जन सुनवाइयां निम्न थीं; कोट किराना (2 दिसंबर 1994), भीम (7 दिसंबर 1994), विजयपुरा (17 दिसंबर 1994), जवाजा (7 जनवरी 1995) और थाना (25 अप्रैल 1995)। ये सभी आयोजन बड़े नाटकीय रहे और जनता की प्रतिक्रिया काफी उत्साहजनक थी। जैसा कि बी. वी. नारायण रेड्डी स्मृति व्याख्यान में कहा गया था:-

इन पांच में से हर जन सुनवाई के बाद पारदर्शिता का दबाव बढ़ता जाता था और जन सुनवाइयों के बाद मुख्यमंत्री को ऑन द रिकॉर्ड यह बात कहनी पड़ी कि वे जनता को सूचना का अधिकार मुहैया कराएंगे और मांग के हिसाब से मस्टर रोल, बिल व वाउचर की फोटो प्रतियाँ जनता को उपलब्ध कराई जाएंगी (रेड्डी, 2000) जन सुनवाइयां काफी हद तक एम.के.एस.एस. के लिए एक प्रयोग ही रही हैं लेकिन इनके बुनियादी सिद्धांत बिलकुल स्पष्ट थे:-

जनसुनवाई की वैधता, ताकत और शुचिता किसी जज या पैनल से नहीं बल्कि जनता से तय होगी। जुटाव वास्तव में एक सुनवाई की शक्ल में ही होगा न कि किसी न्यायिक अथवा प्रतिरोधात्मक शक्ल में। सुनवाई की प्राथमिकताएं वहां जुटे समूह द्वारा उठाए जाने वाले सवालों से तय होगी।

4.29 जन सुनवाइयां: एक आलोचनात्मक समीक्षा

नीलाभ मिश्र लिखते हैं :

गाँव में श्रंखलाबद्ध जन सुनवाइयों ने भ्रष्टाचार से लड़ने और लोकसेवकों की जवाबदेही को सुनिश्चित करने में सूचना की ताकत को उजागर कर दिया था तथा सरकारी महकमें में सूचना साझा करने के प्रति विरोध का पर्दाफाश कर डाला था। यह मांग एक जनांदोलन का रूप ले चुकी थी। नतीजन, इस अधिकार को 1996 में राजस्थान पंचायती राज अधिनियम में शामिल कर लिया गया। उसके बाद से एम.के.एस.एस. और राजस्थान के गाँवों ने भ्रष्टाचार से लड़ने व अधिकारियों की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए श्रंखलाबद्ध जन सुनवाइयों के माध्यम से इन प्रावधानों का जबरदस्त दोहन किया है तथा लोगों को जनतांत्रिक शासन प्रक्रिया में भागीदार बनने को प्रवृत्त किया है। इस तजुर्बे से एक सबक तो मिला कि केवल जनता के आन्दोलन और दबाव से ही ये प्रावधान लागू हो सकते हैं। जन सुनवाइयों ने दिखाया है कि जब सूचना के अधिकार का सामूहिक इस्तेमाल किया जाए तो यह रिसाव को रोककर विकास पर असर डाल सकता है। इसमें वह क्षमता है कि पंचायती राज संस्थानों पर जनता का नियंत्रण यह सुनिश्चित कर सकेगा, खासकर तब जब कि लाभों को वार्ड सभा या सोशल ऑडिट जैसी प्रक्रियाओं के रास्ते संस्थागत किया जाए। (मिश्र, 2003)

एक जन सुनवाई कैसे आगे बढ़ती है? इसकी तैयारी में संगठन और गाँव वाले पंचायत में किये गए विकास कार्यों के बहीखाते की छाया प्रतियाँ हासिल करते हैं। इसके लिए वे राजस्थान पंचायती राज अधिनियम के नियम संख्या 321-328 में वर्णित अधिकारों का उपयोग करते हुए पंचायत राज स्तर पर मौजूद रिकार्डों को प्राप्त करते हैं। इसके बाद इन बहीखातों को संबंधित कार्य स्थलों का दौरा करके जाँचा जाता है, गांव वालों से बात की जाती है और विकास कार्यों में लगे मजदूरों से जानकारी ली जाती है। यह प्रक्रिया आमतौर से तमाम कुकृत्यों को सामने ला देती है, जिन्हें बाद में ग्रामीणों की सभा में सार्वजनिक किया जाता है। इसके बाद उन मजदूरों की गवाहियाँ होती हैं जो इन कामों में लगे थे। दूसरे गवाह भी लाये जाते हैं, इसके बाद जनता सवाल-जवाब करती है और पैनल पर बैठे लोग जवाब तलब करते हैं। कभी-कभार जब सरकारी अधिकारी मौजूद हों तो पहचानी गई गड़बड़ियों को दुरुस्त करने के प्रशासनिक और क़ानूनी रास्तों पर बात की जाती है। आम तौर से जन सुनवाइयों में जिस किस्म का भ्रष्टाचार सामने आता है उसमें खरीद के दाम को बढ़ाना, फर्जी मास्टर रोल, कम मजदूरी का भुगतान और विकास कार्य में श्रम-सामग्री अनुपात के साथ छेड़छाड़ शामिल होती है। जैसा कि हम देख रहे हैं, इस मॉडल को बड़ी आसानी से सोशल ऑडिट के रूप में संस्थागत किया जा सकता है। भले ही वार्ड सभाओं को अब सोशल ऑडिट

का अधिकार दे दिया हो, लेकिन एम.के.एस.एस. की जनसुनवाई में हमें जो चरण देखने को मिलते हैं, उन्हीं को एक संस्थागत सोशल ऑडिट की प्रक्रिया में बुनी जाने की ज़रुरत है। (मिश्र, 2003)

पंचायत चुनाव-प्रचार के दौरान मुख्यमंत्री भैरोसिंह को संकोचवश घोषणा करनी पड़ी कि वे जनता को सूचना का अधिकार देंगे। जवाजा की एक जनसभा में उन्होंने घोषणा की कि उनकी सरकार जनता को सरकारी रिकॉर्ड तक पहुँच देने के प्रति वचनबद्ध है। एशियन कॉलेज ऑफ़ जर्नलिज्म के दीक्षांत समारोह में अरुणा रॉय ने कहा था:-

जवाजा जन सुनवाई का हिस्सा रहे लोग उन्हें सुनने गए थे और बड़ी उम्मीद लेकर लौटे थे कि आज नहीं तो कल उन्हें रेकार्ड देखने के अधिकार मिल जाएंगे। भैरोंसिंह लगातार अपनी मंशा जाहिर कर रहे थे, जिनमें सबसे अहम् बयान असेंबली में सदन के समक्ष दिया गया था। इसे अजमेर से प्रकाशित होने वाले बड़े अख़बार 'दैनिक नवज्योति' ने अपने पहले पन्ने पर जगह दी थी। अभियान के लोगों ने उनके बयान वाली अख़बार की कतरन लेकर इसकी मांग करनी शुरू कर दी थी। (रॉय, 1995, पृ. 13)

5 अप्रैल 1995 मुख्यमंत्री भैरोंसिंह शेखावत द्वारा राज्य की असेंबली में सूचना के अधिकार पर घोषणा:-

मैं आज इस सदन में कह देना चाहता हूँ कि 1990 से 1995 तक पंचायतों में या ग्रामीण इलाकों में जितना भी विकास का काम हुआ है, यदि कोई उससे जुड़ी सूचना पंच, सरपंच या पंचायत से लेना चाहे तो छायाप्रति का शुल्क चुकाकर वह ऐसा कर सकता है। और हाँ, यदि कोई गड़बड़ी पकड़ी गयी तो उसकी जांच या तो राज्य सरकार करेगी या सरकार द्वारा गठित कोई एजेंसी। मुझे लगता है कि इससे बेहतर मौका अब नहीं आने वाला है। (द राइट टू नो, द राइट टू लिव, 1995, पृ. 106)

इस दौरान बैठकें होती रही। इनमें सबसे अहम ब्यावर में सूचना के अधिकार पर आयोजित राजस्थान राज्य स्तरीय बैठक रही। इस जनसभा में पीएमओ के पूर्व सचिव के.आर.वेणुगोपाल आये थे। इसमें दोहराया गया कि मुख्यमंत्री को अप्रेल 1995 में दिए गए अपने आश्वासन का सम्मान करना चाहिए। इस बैठक की खबर अख़बारों में खूब छपी और इसकी ओर तमाम लोगों का ध्यान गया। इनमे अशोक गहलोत भी एक थे जो बाद में राजस्थान के मुख्यमन्त्री बने। बाद के वर्षो में उन्होंने कहा कि पीएमओ का एक पूर्व सचिव अगर इस मुद्दे को समर्थन दे रहा है तो इससे उनकी निगाह में इसकी विश्वसनीयता काफी बढ़ जाती है। तमाम किस्म के प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा किये गए इन छोटे-छोटे हस्तक्षेपों ने ताकतवर लोगों की निगाह में इस विमर्श की अहमियत और विश्वसनीयता को मजबूती देने का काम किया। (रॉय, 2018, पृ. 146)

4.30 ब्यावर धरना: अप्रैल, 1996

एम.के.एस.एस. ने सरकार के जवाब का इंतज़ार करने का फैसला किया। देर शाम को सरकारी आदेश फैक्स से आया। आदेश में जनता को कागज़ात का मुआयना करने का अधिकार दिया गया था, प्रमाणित प्रति प्राप्त करने का नहीं। एम.के.एस.एस और धरनार्थी मुख्यमंत्री के वादे में कोई भी ढिलाई स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, सो उन्होंने साफ़ कर दिया कि प्रमाणित छायाप्रति के अधिकार से कुछ भी कम उन्हें मंज़ूर नहीं है। चांगगेट को धरना स्थल के रूप में चुनना सबसे बढ़िया फैसला रहा। धरना स्थल पर सी पी आई के लोकप्रिय नेता स्वामी कुमारानन्द की प्रतिमा थी। उससे कुछ दूरी पर गाँधी और अंबेडकर की मूर्ति थी। एम.के.एस.एस. के धरनों की एक विशिष्टता यह होती है कि उनमें बहुत विविधता पायी जाती है। एम.के.एस.एस. ने तय किया था कि इस धरने का हर अगला दिन अलग होगा और समाज के हर तबके के लोगों को अपने मुद्दे की ओर खींचने का प्रयास किया जाएगा। यह धरना एक ऐसा केंद्र बन गया था जहाँ बुद्धिजीवी, पत्रकार, एक्टिविस्ट सब के सब आन्दोलन को सशक्त करने के लिए बोलने, लिखने और गाने में एकजुट होते। इसकी खबर देश के दूसरे हिस्से में फैली तो कुछ प्रतिष्ठित लोगों का ध्यान इसने खीचा, जैसे पत्रकार निखिल चक्रवर्ती, प्रभाष जोशी, कुलदीप नैयर व भारत डोगरा और मेधा पाटकर, स्वामी अग्निवेश, खैरनार। ये लोग आर टी आई आंदोलन के साथ शुरू से ही खड़े रहे, जब यह ग्रामीण राजस्थान में छोटा सा संघर्ष था। जो लोग 9 अप्रेल की उस गर्म दोपहर ब्यावर में निखिल चक्रवर्ती के भाषण के वक्त मौजूद थे, उनके लिए यह भाषण एक नई सुबह की तरह था:-

"मुझे लगता है कि आपका संघर्ष ऐतिहासिक है। यह सूचना का अधिकार ऐतिहासिक और बेहद अहम है। न केवल आपके राज्य या क्षेत्र के लिए बल्कि पूरे देश के लिए। यह संघर्ष काफी बड़ा होगा। इसीलिए हम लोग दिल्ली से यहाँ आये हैं। अगले कुछ दिनों में हमें उम्मीद है कि हमारे जैसे और लोग इसमें आयेंगे। आप जानते हैं कि मैं काफी बूढा हो गया हूँ लेकिन बूढ़े होने के अपने फायदे होते हैं। इतनी लंबी जिंदगी में मैंने कई दौर और चरण देखे हैं। मैं उस दौर का गवाह हूँ जब इस देश के नेताओं के पास न तो सेना, पुलिस और न ही संचार का कोई माध्यम था, उसके बावजूद उनके भीतर यह ताकत थी कि वे लोगों को जोड़ सकते थे और दुनिया की सबसे बड़ी ताकत के खिलाफ जंग छेड़ सकते थे। इस ताकत के पीछे का रहस्य यह था कि उस वक्त के नेता कहते थे कि भारत के लोगों को यह जानने का अधिकार है कि ब्रिटिश शासक कितना लूट रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप लोगों ने कहा कि अब हम अपना राज खुद चलाएँगे और हमें यह लूट बर्दाश्त नहीं है। मैंने इतने बड़े धरने और इतने सारे लोगों को पहले भी देखा है, जब गांधीजी और दूसरे बड़े नेता छोटे शहरों-कस्बों में बैठक आयोजित करके उन्हें जन आंदोलन में बदल देते थे। अंग्रेजों को देश छोड़कर जाना ही पड़ा। पिछले 50 वर्षो में हमने जो देखा है, उसने हमें निराश ही किया है। जैसा कुलदीप जी ने कहा, पिछले 50 साल में हमने सपना देखा था कि देश गरीबी से आजाद हो जाएगा लेकिन यह दुखद है और वाकई शर्म की बात है कि गरीबी खत्म होने की बजाय इतना भ्रष्टाचार हो गया है कि सारा सरकारी पैसा चोरी में चला जाता है। कितने शर्म की बात है कि बिचौलिए सारे सरकारी

धन से अपनी जेबें भर रहे हैं। असल बात यह है कि यह रहस्य बना रहता है और कभी जनता के सामने खुल नहीं पाता। यह लूट इसी तरह जारी रहती है। सबसे दुखद पहलू इसका यह है कि मुट्ठी भर लोग जो पैसा डकार जा रहे हैं, वह इस देश के सबसे गरीब लोगों का हैं। इस किस्म के आंदोलन हमें राह दिखा सकते हैं। आज भले ही यह आंदोलन छोटा जान पड़ता हो लेकिन जब छोटे शहरों-कस्बों से उठे आन्दोलन एक जन आंदोलन का रूप ले लेंगे तो उन्हें कुचलना मुश्किल हो जाएगा। एक छोटी सी चिंगारी बड़ी लपट की शक्ल ले सकती है और आग फैलती ही जाती है। ऐसा साहस देखकर हमें भरोसा होता है कि हम एक नए भारत का निर्माण देख रहे हैं जहाँ जनता की सत्ता तैयार होती है। एक ऐसा भारत, जहाँ प्रशासन साफ-सुथरा होगा और लोग इसमें हिस्सेदारी करेंगे। मैं आपको बताना चाहता हूँ कि ब्यावर का यह आंदोलन केवल इस शहर के लिए नहीं बल्कि पूरे देश के लिए अहम है। यह हमारे लिए गर्व की बात है कि हम इस आन्दोलन की नींव का हिस्सा बन रहे हैं। हम लोग इतनी दूर से इस आंदोलन में इसलिए हिस्सा लेने आये हैं ताकि इसके बारे में हम जगह-जगह जाकर बात कर सकें और लिख सकें। हम पत्रकार लोग हैं। आज देश में आम चुनाव का माहौल है लेकिन इन चुनावों में बमुश्किल कोई ऊर्जा शेष है क्योंकि अंत में कुछ और लोग अपने ही जैसे लोगों की जगह ले लेंगे। असल चीज इस तरह के आंदोलन हैं जहाँ लोग खुद ही कह रहे हैं कि रास्ता वे ही निकालेंगे। फिर हम कह सकेंगे कि जब नए भारत के बीज बोये जा रहे थे तो हम उसके गवाह थे। हम भी वहाँ पत्रकार की हैसियत से गए थे और उसमें हमने हिस्सा लिया था। हम आपको और आपके इस आंदोलन को सलाम करते हैं और हमारा इतना ही कहना है कि इस संघर्ष को जारी रखें, हम आपके साथ हैं" (निखिल चक्रवर्ती, 1996)।

धरने में मेधा पाटकर का आना काफी अहम् रहा। वे भारत के तमाम आंदोलनों की ओर से एकजुटता और समर्थन का सन्देश लेकर आई थीं। एक प्रतिष्ठित एक्टिविस्ट के बतौर उनका समर्थन अनमोल था। उन्होंने कहा था:-

"वक्त आ गया है जब इस देश में बुनियादी बदलाव की ज़रुरत है। यह तभी संभव होगा जब देश के कुछ मुट्ठीभर नेताओं की जगह शहरों और गाँवों के लोग अपनी राजनीति करें। अन्यथा देश में मौजूद भ्रष्टाचार को साफ़ नहीं किया जा सकेगा। लोग जब हर कहीं सूचना की मांग करेंगे- गाँव में, ढाणी में, चौपाल पर, बाज़ार में तभी हम सूचना का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे। प्रशासन अच्छे से जानता है कि अगर तहसील में दबी सूचनाएं और कागज़ात जनता के हाथ में आ गए तो जनता न केवल बहीखाते के फर्जीवाड़े पर ऐतराज़ जताएगी बल्कि उसका विरोध भी करेगी।" (दैनिक नवज्योति, 22 अप्रेल, 1996)

दिल्ली में इस बीच प्रभाष जोशी, कुलदीप नैयर और निखिल चक्रवर्ती के लेखों से जनता में एक विमर्श खड़ा हो रहा था और लोग अपनी राय कायम कर रहे थे। प्रभाष जोशी ने लिखा:-

"जब कोई कारोबारी कुछ नया काम शुरू करता है तो वह हर शाम अपने मुनीम से बहीखाते का हिसाब लेता है। वह ऐसा इसलिए करता है कि क्योंकि उसकी जेब से पैसा लग रहा होता है। इन कामों में रोजगार पर लगी जनता को देश की जनता ने काम पर रखा है। तब आखिर इस देश के लोग देश की

सरकार से जवाबदेही की मांग क्यों नहीं कर सकते? जब एक मुनीम अपने मालिक को सारा हिसाब देने को बाध्य है, तो सरकार इस देश के आम लोगों को हिसाब क्यों न बताए? अगर सूचना के अधिकार के इस संघर्ष के साथ हर आदमी जुड़ जाएगा तो वह दिन दूर नहीं जब " कागजी राजकाज" वास्तव में "जनता का राजकाज" बन जाएगा"। (दैनिक नवज्योति, 22 अप्रेल, 1996)

अप्रेल 1996 में कुलदीप नैयर लिखते हैं:-

"पूरा देश भ्रष्टाचार में जकड़ा हुआ है। विकास के कामों के लिए स्वीकृत पैसा अक्सर अफसरों की जेब के हवाले हो जाता हैं। पुल और सड़कें केवल कागजों पर बनते हैं और वास्तव में ऊँचे रसूखदार और ताकतवर लोग पैसे डकार जाते हैं। यही वजह है कि देश को आजादी तो मिल गई है लेकिन आम आदमी की आर्थिक हालत अब तक नहीं सुधरी है। हम यदि देश के हालत को दरुस्त करना चाहते हैं तो सूचना का अधिकार जरूरी है"। (दैनिक नवज्योति, 22 अप्रेल,1996) अमेरिका ने आजादी मिलने के बाद पहले ही दिन अपना संविधान बदल डाला था जिसके तहत एक आम आदमी को सरकार से कोई भी सूचना मांगने का अधिकार दिया गया था। भारत- चीन की जंग में भारत हार गया। सरकार ने इस हार की पड़ताल करने के लिए कमेटी बनाई। जाँच तो हो गई लेकिन आज तक रिपोर्ट प्रकाशित नहीं की गई। (ब्यावर, 11 अप्रेल, 1996)

पत्रकारिता के इन स्तम्भों के समर्थन से मुद्दे को राजनीतिक और नैतिक विश्वसनीयता प्राप्त हुई। सुप्रीम कोर्ट के सभी फैसले इस ओर संकेत करते थे कि सूचना तक पहुँच का सवाल भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 से निकला है और यह जवाबदेह व सशक्त लोकतंत्र के लिए बुनियादी है।

1996 के ब्यावर धरने ने "जानने का अधिकार" की ज़रुरत को परिभाषित करने वाले तीन बुनियादी सिद्धांतों को स्पष्ट कर दिया। पहला था, बहीखातों और रेकॉर्डों में पारदर्शिता का अधिकार और जनता के प्रति सरकार की जवाबदेही। इस अधिकार को "हमारा पैसा, हमारा हिसाब" में सूत्रीकृत किया गया। दूसरा, इस अधिकार का एक कानूनी मसौदा बनाया जाना होगा और सार्वजनिक विमर्श के बाद जनता के द्वारा तैयार किया जाना होगा क्योंकि इस क़ानून की असल ज़रुरत जनता को ही है। तीसरी और सबसे अहम् पहचान, एक निर्वाचित सरकार की जनता के प्रति लोकतांत्रिक जवाबदेही की थी। वादों को निभाना इनकी बाध्यता थी, फिर चाहे वे वादे सदन में किये गए हों या चुनावी घोषणापत्र में शामिल हों। राजनीतिक सत्ता के ऊपर जवाबदेह बने रहने के इस निरंतर दबाव ने लोगों को लोकतंत्र में उनकी अपनी भागीदारी और व्यवस्था को अपने हिसाब से चलाने की अहमियत समझाने का काम किया है। (रॉय, 2018, पृ. 160)

ब्यावर में अभियान की अवधारणा विकसित हुई थी। यह महसूस किया गया था कि एक ऐसा क़ानून बने जो सरकारी गोपनीयता क़ानून को दरकिनार कर सके। उन 40 दिनों के दौरान अभियान और

संघर्ष में जनता का भरोसा और मजबूत हुआ। इसी धरने से सूचना के अधिकार के आन्दोलन का जन्म हुआ। जब देशभर के लोग एकजुटता और समर्थन के लिए बढ़कर आगे आए।

4.31 एन सी पी आर आइ: कानून के लिए एक राष्ट्रीय अभियान

ब्यावर के धरने ने आर टी आई अभियान को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिला दी थी। इसने एक मजबूत कानून की मांग के लिए राष्ट्रव्यापी अभियान की नींव भी रख दी थी। इस धरने ने हालाँकि एक ऐसे कानून की निर्णायक आवश्यकता को भी केंद्र में ला दिया जो आधिकारिक गोपनीयता कानून का अतिक्रमण कर सके और पारदर्शिता की गारंटी दे सके। आर टी आई कानून के मसौदे के सिद्धांतों को सभी जनसंघर्षों व जन अभियानों की मांगों का हिस्सा बनाए जाने की आवश्यकता थी। सूचना के जन अधिकार का राष्ट्रीय अभियान(एन सी पी आर आइ) दो उद्देश्यों के साथ गठित किया गया। पहला, कानून का मसौदा तैयार करना और दूसरा, इसके लिए एक राष्ट्रव्यापी अभियान चलाना। यह कानून व्यापक जन विमर्श और परामर्श के बाद बनाया जाना था। काफी तेजी से बदलते घटनाक्रम में तीन काम हुए। पहला, दो दिन का एक परामर्श मसूरी की आइ ए एस अकादमी में रखा गया। दूसरी एक बैठक प्रेस काउंसिल में जिसकी अध्यक्षता जस्टिस सावंत ने की। तीसरे, गाँधी शांति प्रतिष्ठान में एक बैठक हुई जहाँ एन सी पी आर आइ से जुड़े लोगों ने शिरकत की।

एम.के.एस.एस. के 1996 के धरने ने राजकाज में पारदर्शिता के सवाल को लोकप्रिय बना दिया था। यह वास्तव में बड़े पैमाने पर चलाया गया एक जन शिक्षण कार्यक्रम ही था जिसमें यह समझाया गया था कि केवल भ्रष्टाचार और सत्ता के मनमाने दुरूपयोग से लड़ने के लिए ही नहीं बल्कि लोकतांत्रिक संस्थाओं के परिचालन के लिए भी सूचना एक आवश्यक हथियार है जो नागरिकों को सशक्त करता है। कानूनों की अपनी सीमाएं होती हैं लेकिन उनके बगैर हमारे अधिकार न तो परिभाषित हो सकते हैं और न ही उन तक हम पहुँच सकते हैं। बगैर किसी कानूनी ढांचे के संवैधानिक अधिकारों को न्याय की अहर्ता में कभी भी तब्दील नहीं किया जा सकता। (रॉय, 2018, पृ. 162)

एन सी पी आर आइ की पहली बैठक दिल्ली में 1 अगस्त 1996 को बुलाई गई और प्रेस काउन्सिल ने 10 अगस्त 1996 को आर टी आइ कानून का मसौदा तैयार करने के लिए एक उच्च स्तरीय बैठक बुलाई। क़ानूनी विशेषज्ञता और कौशल से युक्त एक समूह ने मसौदा तैयार करने का काम किया। प्रेस काउन्सिल ने कई दौर के परामर्श और बैठकों का आयोजन किया लेकिन अंतिम दौर का मसौदा लेखन जस्टिस पी.बी.सावंत की अगुवाई में ही हुआ।

आर टी आइ का पतला सा ड्राफ्ट जस्टिस सावंत द्वारा 30 दिसम्बर, 1996 को प्रसारित किया गया और इसे प्रधानमंत्री एच. डी. देवेगौड़ा, उनकी केबिनेट, लोकसभा व राज्यसभा सांसदों और सभी राज्यों के मुख्यमंत्रियों को भेजा गया। जस्टिस सावंत ने एक प्रेस कॉन्फ्रेंस कर के कानून का मसौदा जारी किया। उस दिन सुशीला (एमकेएसएस) ने आर टी आइ के विचारों को काफी जोरदार ढंग से समझाया।

मीडिया ने उसका इंटरव्यू लिया। वे काफी हैरत में थे कि आखिर गाँव की एक नौजवान महिला कैसे इस कानून की पैरवी कर रही है। उसने हिंदी में कहा, "हमारा पैसा हमारा हिसाब"। उनकी यह दलील बुनियादी बात करती है और लोकतंत्र में सूचना तक पहुँच की अक्सर परतदार व विरोधाभासी समझ को तार-तार कर देती है। ये चार शब्द कई भारतीय व विदेशी भाषाओं में अनुवाद किये जाने चाहिए थे क्योंकि लोकतांत्रिक जवाबदेही और पारदर्शिता के समर्थन में यह सर्वाधिक स्पष्ट दलील है। एच.डी.देवेगौड़ा के नेतृत्व में यूनाइटेड फ्रंट की सरकार ने इसकी प्रतिक्रिया में एच.डी.शौरी की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित कर दी। बाद में एन सी पी आर आइ के तमाम मसौदे और संस्करण व तमाम अभियान इसी शुरूआती ड्राफ्ट पर आधारित रहे।

चूँकि जन सुनवाई सार्वजनिक स्थल पर रखी जाती थी, तो भ्रष्टाचार और दोहरेपन के खिलाफ जंग में यह अपने आप ही पारदर्शिता और जवाबदेही की निर्णायक भूमिका पर जोर देती थी। इसने एक बार फिर यह स्थापित कर दिया था कि लोगों की समझदारी इस मामले में बिलकुल ठीक है कि गोपनीयता हमेशा भ्रष्टाचार को पनपने का मौका देती है और भ्रष्टाचार उस आपूर्ति तंत्र को प्रभावित करता है जिसे दरअसल गरीबी को संबोधित करने के लिए बनाया गया था। एक औजार के तौर पर आर.टी.आई. की भूमिका को प्रत्येक जन सुनवाई में बुनियादी समझ के तौर पर समाहित किया जाता रहा। व्यवस्था में जो नैतिक तत्व थे, वे एक ऐसे कानून की ज़रुरत को समझने लगे थे जिससे सरकारों की कार्यप्रणाली को सिद्धांत आधारित होने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके। जानने का अधिकार अब प्रतीक रूप में जीने के अधिकार, आजीविका के अधिकार और अभिव्यक्ति के अधिकार के साथ जुड़ चुका था। (रॉय, 2018, पृ.174)

फरवरी 1997 में एम.के.एस.एस. राजस्थान के लोगों को आर.टी.आई. अभियान के सम्बन्ध में यह बताने के लिए निकल पड़ा कि गरीबों के वजूद के लिए पारदर्शिता और जवाबदेही की मांग क्यों ज़रूरी है। "हम जानेंगे, हम जीएंगे" और "हमारा पैसा, हमारा हिसाब" जैसे नारे जनता के साथ संवाद शुरू करने का माध्यम बने क्योंकि इन दो नारों में ही सारी मांगों का सार मौजूद था(एमकेएसएस डायरी)। आर.टी.आई. की मांग के पक्ष में फैलते जन समर्थन ने साबित कर दिया था कि लोगों को एक बार समझ में आ जाये तो उनका समर्थन ज़रूर मिलेगा। सरकार सत्ता और पैसे का इस्तेमाल कैसे कर रही है, इसे जानने के अधिकार को लोग अब मूलभूत लोकतांत्रिक अधिकार मानने लगे थे। एम.के.एस.एस. ने यह तय किया कि राज्य के हर प्रखंड में जाना है- अजमेर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, कोटा और जयपुर। काफी बातचीत के बाद यह तय हुआ कि एम.के.एस.एस. एक ट्रक से यात्रा करेगा। ट्रक यात्रा की शुरुआत पारदर्शिता और जवाबदेही के मुद्दों को लोकप्रिय बनाने की मंशा से हुई। आन्दोलन में लोगों को जोड़ने के लिए यात्राएं हमेशा से प्रभावशाली माध्यम रही हैं।

ब्यावर धरने के बाद मुख्यमंत्री के आश्वासन को लागू करने के लिए अरुण कुमार कमेटी बनाई गई । इस कमेटी का काम उन तरीकों की पड़ताल करना था जिससे जनता को सूचनाएँ उपलब्ध कराई जा सके।

इसने 30 अगस्त 1996 को अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंपी। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में पंचायत रिकॉर्डों में पारदर्शिता की निर्णायक जरूरत को अभिपुष्ट किया था लेकिन पारदर्शिता को कैसे क्रियागत किया जाये, यह दस्तावेज गोपनीय ही बना रहा। जयपुर में 26 मई 1997 से शुरू होने वाले प्रस्तावित धरने का एजेंडा कमेटी की रिपोर्ट को सार्वजनिक करने की मांग करना था। इसी में राजनीतिक वादों के प्रति जवाबदेही की मांग भी शामिल थी। मूल मांग यह थी कि पंचायतों के रिकॉर्ड को सार्वजनिक किया जाये और इन दस्तावेजों की छाया प्रतियाँ जनता को एक शुल्क के बदले मुहैया कराई जाएँ। यात्रा का अंत जयपुर में हुआ। यहाँ 53 दिन का ऐतिहासिक धरना आयोजित होना था। (रॉय, 2018, पृ. 183)

भारत में राजनीतिक प्रशिक्षण का सबसे अहम् हिस्सा जनता के बीच जाने का संकल्प होता है। आर.टी.आई. अभियान की कामयाबी दरअसल जनता के साथ जुड़ने की उसकी क्षमता में निहित थी। यात्रा केवल यात्रा नहीं थी बल्कि उसके भीतर तमाम आयाम समाहित थे- यह कार्यशालाओं व सेमिनारों की एक श्रंखला थी, जनता और विशिष्ट समूह के साथ बैठकों का एक सिलसिला था और साथ ही यह एक विरोध प्रदर्शन भी था जिसमें अधिकारियों को ज्ञापन सौंपे जाते थे। इस यात्रा ने एकाधिक किस्म की जनतांत्रिक कार्यवाहियों और शिक्षण को सफलतापूर्वक आपस में गूंथने का काम किया था ताकि लोकतंत्र को नैतिकता के आधार पर कार्यशील बनाया जा सके और जनता को सूचित चयन के औजारों से युक्त किया जा सके।

4.32 जयपुर धरना: मई – अगस्त, 1997

अपनी यात्रा में हजारों लोगों का समर्थन जुटाकर जब ये लोग लौटे तो जबरदस्त उर्जा और उत्साह से भरे थे। दिल्ली के इण्डिया गेट की तरह जयपुर में शाम को तफरीह करने की जगह स्टेच्यु सर्किल पर जब ये लोग इकट्ठा हुए, तो उनके चेहरे पर संकल्प झलक रहा था। एमकेएसएस पूरे एक वर्ष तक अरुण कुमार कमेटी की रिपोर्ट के नतीजे सार्वजनिक होने की प्रतीक्षा करता रहा था जो ब्यावर के पहले धरने की परिणति था। इसी पृष्ठभूमि में दूसरा लम्बा धरना शुरू हुआ। विडम्बना ही कहेंगे कि नागरिकों के लिए जानने के अधिकार की मांग को लेकर प्रदर्शन एक ऐसे समय में हो रहा था जब 1997 में भारत की आजादी की पचासवीं सालगिरह की ख़ुशी मनाने की तैयारियाँ चल रही थीं।

एमकेएसएस और एन सी पी आर आइ ने 26 मई, 1997 को अपना धरना शुरू किया। सरकार गोपनीयता के अपने पक्ष का बचाव औपनिवेशिक दौर के एक अप्रासंगिक कानून 'ऑफिशियल सीक्रेट एक्ट,' 1923 के आधार पर नहीं कर सकती थी। राजस्थान सरकार इस कानून का उपयोग किसी भी सूचना को छिपाने या दबाने में कर रही थी और कुछ मामलों में तो इस हद तक जा रही थी कि प्रकाशित सूचना तक को राज्य की सूचना का हवाला देकर उपलब्ध कराने से मना कर रही थी। मुख्यमंत्री ने वादा किया था कि 3 जून तक राजस्थान में पंचायत स्तर के कागजात की पड़ताल का आदेश कर दिया जाएगा। फिर 3 जून भी देखते-देखते गुजर गया। मुख्यमंत्री के आश्वासन के मुताबिक कोई आदेश नहीं आया और न ही

कमेटी की रिपोर्ट को सार्वजनिक किया गया। चार दिन बाद 7 जून को 'वादा खिलाफी दिवस'के नाम से एक धरना रखा गया। धरने में तमाम गणमान्य लोग शामिल हुए। बहरी सरकार के कान खोलने के लिए और उस तक विरोध की अपनी आवाज को पहुँचाने के लिए हजारों प्रदर्शनकारियों ने अपनी बाँह पर काली पट्टी बांध रखी थी।

इस धरने के समानांतर एम.के.एस.एस. ने सरकार के साथ विभिन्न स्तरों पर पैरोकारी, संवाद और बहस जारी रखी। "ये पंचायत हमारे आप की, नहीं किसी के बाप की" कुछ ऐसे नारे गढ़े गए जो धरने के पंडाल में धूम मचा देते थे। मसलन : ये पैसा हमारे आप का, नहीं किसी के बाप का..... ये देश हमारे आप का, नहीं किसी के बाप का.....ये सरकार हमारे आप की, नहीं किसी के बाप की.....। एक साथ ये नारे लगाने पर लगातार एक समझदारी बनती जाती थी कि निर्वाचित सरकार जनता की माई-बाप नहीं है बल्कि वह इस व्यवस्था का हिस्सा है जिसे सेवा प्रदान करने के लिए चुना गया है। जनता संप्रभु है। ये नारे एक बुनियादी तथ्य को रेखांकित करते थे कि बुनियादी ताकत तो जनता से सत्ता की ओर प्रवाहित होती है। नागरिक समाज और मीडिया की ओर से जो दबाव पड़ रहा था, राज्य सरकार ने उसकी प्रतिक्रिया देनी शुरू कर दी थी। राजनीतिक हलकों में और राज्य सरकार के बीच इस बात का अहसास हो चुका था कि वे अपने परम्परागत झूठ और फरेब की अदा से मुद्दे की और उपेक्षा नहीं कर सकते।

4.33 घोटाला रथ: राजनीतिक दोहरेपन और पाखण्ड का सच

घोटाला रथ यात्रा बहस को लोगों तक लेकर आई। भारत में आमतौर से सभी लोग भ्रष्टाचार और घोटालों में बहुत दिलचस्पी रखते हैं क्योंकि ये उनके निजी जीवन को प्रभावित करने वाली चीज़ें हैं। उनकी बुनियादी सेवाओं तक पहुँच भ्रष्टाचार के चलते बाधित होती है। इसलिए राजकाज पर यह व्यंग्य लोगों को बहुत भाया, उसकी प्रतिक्रिया सशक्त रही और आम लोगों की ज़िन्दगी में एक तीखी टिप्पणी की तरह इसने अपनी जगह बनायी। इससे भी अहम यह है कि यात्रा ने चीजों का एक विश्लेषण रखा और तार्किक समाधान भी मुहैया करवाया। इसके चलते गली-नुक्कड़ और सड़कों पर बहसें शुरू हो गयी। इसके अलावा इस रथ यात्रा ने समकालीन राजनीतिक रथ यात्राओं की एक आलोचना भी लोगों के बीच रखी। यह टिप्पणी दरअसल धर्म और राजनीति के आपसी खेल पर थी जिसका उपयोग बेहद सधे ढंग से कई राजनीतिक रथयात्राओं में किया गया था ताकि पारम्परिक सांस्कृतिक प्रतीकों का ताकत के बल पर दुरूपयोग करके वोट जुटाए जा सकें। आर. टी. आई. के अभियान में संचार और लोगों को एकजुट करने के इस तरीके की पहचान बहुमूल्य साबित हुई है। हमारी समग्र रणनीति को सहयोग करने में यह एक अहम् नुस्खे की तरह काम आया है। घोटाला रथ की खूबी यही थी कि वह कहीं भी रुक सकता था और एक झटके में जनता के साथ संवाद शुरू कर सकता था। इसी वजह से आर.टी.आई. अभियान की रणनीतियों में इसे एक विशिष्ट स्थान हासिल है। एमकेएसएस के धरने के 52 वें दिन सरकार ने अपनी हार मान ली, लेकिन इसने पंचायती राज अधिनियम की धारा 12 में संशोधन से जुड़ा छह माह पुराना एक आदेश दिखा दिया। इस संशोधन के मुताबिक जनता दो रूपये का शुल्क अदा करके चार दिनों के भीतर पंचायत का

रिकॉर्ड जाँच सकती है और फोटोकॉपी प्राप्त कर सकती है। आदेश पिछली तारीख में था और सरकार ने यह जानबूझकर दिखाने की कोशिश की कि उसने तो एमकेएसएस के धरने से पहले ही आदेश जारी कर दिया था। लोगों को यह बात नहीं मालूम है कि पंचायती राज विभाग में नियमों को बदलने के लिए एक आंतरिक प्रक्रिया चली थी। असल में 6 अप्रेल, 1996 को जब एमकेएसएस ब्यावर में धरना दे रहा था और उसने मुख्यमंत्री के वादे के मुताबिक दस्तावेजों की फोटोकॉपी की मांग उठाई थी तब मुख्य सचिव एम एल मेहता ने एक आदेश जरी कर उसे कागजात जाँचने का अधिकार दिया था। इसी आदेश को पंचायती राज अधिनियम में समाहित कर लिया गया जिसमें प्रति बनाने का भी अधिकार शामिल था। वास्तव में इस अधिसूचना को न तो सरकार के भीतर न ही बाहर लोगों ने देखा था। यह एक गुप्त कार्यवाही जैसा मामला था।

मौजूदा नियम पहले ही पंचायती राज की सूचना को चार दिनों में हासिल करने की छूट देते थे। इसे जब नए संशोधन के साथ मिलाकर पढ़ा गया तो यह अपने आप ही सार्वजनिक रूप से मौजूदा दस्तावेजों की प्रतियों पर लागू होता था। साफ तौर पर यह प्रशासनिक हेर-फेर था जिससे अजीब स्थिति पैदा हो गई थी। सरकार इसकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी और उसे अपने खोल से बाहर आना जरूरी था। सरकार ने न केवल कदम पीछे खींचे बल्कि उसने प्रदर्शनकारियों पर यह इल्जाम लगा दिया कि उन्हें अधिसूचना की जानकारी पहले से थी लेकिन राजनीतिक लाभ लेने के लिए उन्होंने जानबूझकर धरना दिया। अगर वाकई ऐसा पहले हुआ होता तो अधिसूचना कहीं ज्यादा सीमित रहती और अभियान को इतनी रियायत नहीं मिलती। धरने ने सरकार को बाध्य किया कि वह सरकारी कागजात की पहुँच का विस्तार करे और लोगों को चार दिन के भीतर प्रति मिल जाये।

राजस्थान के विधिक आयोग के प्रमुख जस्टिस वी.एस.दवे से मुख्यमंत्री ने एक सवाल पूछा, "सूचना के अधिकार पर धरनार्थियों की मांगें और उन्हें मस्टर रोल, बिल व वाउचर की प्रतियां दिए जाने पर आपकी राय क्या है?" जस्टिस ने काफी मजबूती से जवाब दिया था, "मैं धरने का समर्थन करता हूँ। आर.टी.आई. संविधान प्रदत्त अधिकार है और उसी में ही निहित है।" (अरुणा राय, निखिल डे के साथ हुई बातचीत पर आधारित, 11.06.2016)

पंचायती राज अधिनियम में संशोधन किया जा चुका था और अब स्थानीय स्तर पर सरकारी कागज़ात हासिल किये जा सकते थे। जो जंग 1994 में शुरू हुई थी वह आंशिक रूप से कामयाब हो चुकी थी। इस जीत के आलोक में भविष्य की लड़ाइयाँ साफ़ नज़र आ रही थी। तमिलनाडु ने अप्रैल 1997 में एक आर.टी.आई. विधेयक पारित किया गया था और गोवा ने भी ऐसा ही विधेयक 30 जुलाई 1997 को पास कर दिया गया था। यह अलग बात है कि जिस राज्य ने संघर्ष का आरम्भ किया वह आज भी संघर्षरत ही था और पंचायतीराज क़ानून में बदलाव करवा पाने भर की कामयाबी उसे हासिल हुई थी।

उस दौर को याद करते हुए कहा जा सकता है कि भारत का लोकतान्त्रिक ताना-बाना कम से कम पारदर्शिता व जवाबदेही के बारे में विचार करने में सक्षम था और दबाव में ही सही उसने इन दोनों मूल्यों को अपने राजकाज का हिस्सा बना डाला था।

यह आर.टी.आई. अभियान और आन्दोलन के एक चरण का अंत था। जयपुर के उन 53 दिनों ने मुद्दे को एक बार फिर केंद्र में ला दिया था। यह राजस्थान सहित दूसरे राज्य के लोगों के लिए राजनीतिक शिक्षण का एक पाठ था। मीडिया को यहाँ से रोज़ाना की खुराक मिल रही थी। 53 दिनों के इस धरने ने अभियान और जनता को पारदर्शिता व जवाबदेही की बुनियादी भूमिका के बारे में शिक्षित करने का काम किया कि कैसे ये मूल्य, नीति, क़ानून और राजकाज के सभी आयामों को प्रभावित कर सकते हैं। यहीं से असली आज़ादी और संप्रभुता के औजार के तौर पर आर.टी.आई. की मांग ने दोबारा जोर पकड़ा जिसे पहली बार निखिल चक्रवाती ने ब्यावर में स्वर दिया था और उसे असली आज़ादी की दूसरी जंग करार दिया। समकालीन भारत में यही मांग इन नारों की शक्ल में जनश्रुति और जनसंघर्षों का हिस्सा बन चुकी है: 'हम भूख से मांगें आजादी, भ्रष्टाचार से मांगें आजादी।'

4.34 राज्य के कानून और एन सी पी आर आइ

पारदर्शी और जवाबदेही की मांग ऐतिहासिक रूप से कोई नयी बात नहीं थी, न ही एम.के.एस.एस. वह पहला संगठन था जिसने इस मसले को उठाया। एम.के.एस.एस. का कुल योगदान इतना है कि उसने एक अबूझ मसले को आम मुहावरों में तब्दील कर दिया और इस मांग को अभियान के केंद्र में ला दिया। इसकी प्रेरणा और इसके गठन की प्रक्रिया दरअसल भ्रष्टाचार और सत्ता के मनमाने दुरूपयोग को लेकर आम लोगों की धारणा पर आधारित थी जो समाधान की तलाश में थे।

लाल बहादुर शास्त्री ने 1962 में भ्रष्टाचार को रोकने के लिए संथानम कमेटी बनायी थी और पचास के दशक की आयकर विवरण और निजी संपत्ति उदघाटन सम्बन्धी बहसों को नौकरशाही तक विस्तारित कर के दोबारा जिंदा कर दिया था। कमिटी ने सिफारिश की कि वे मामले जो नागरिकों के रोजमर्रा के जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं, उनमें सरकार को साफ़ फर्क बताना होगा कि कौनसी सूचना को गोपनीय माना जाये और नागरिकों को कौनसी सूचना मुफ्त में दी जाये। इसके बाद बिहार आन्दोलन और सम्पूर्ण क्रांति के संघर्ष के दौरान (1973-74) वरिष्ठ गांधीवादी, समाजवादी जयप्रकाश नारायण ने "रोज़मर्रा के जीवन और राजनीति से भ्रष्टाचार को समाप्त करने" का राष्ट्रव्यापी आह्वान किया। (बिपिन चंद्रा, 2003, पृ. 2) पहली बार भ्रष्टाचार और नाकारा सरकार का मुद्दा राष्ट्रीय एजेंडे पर आया। जल्द ही इंदिरा गाँधी ने इमरजेंसी लगा दी।

चुनावी गड़बड़ियों के सन्दर्भ में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी के निर्वाचन के खिलाफ लगी एक याचिका पर सुनवाई करते हुए जस्टिस के.के. मैथ्यू ने "अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मूलभूत अधिकार" को निम्न सन्दर्भों में व्याख्यायित किया था:

"इस देश के लोगों के पास हर सार्वजनिक कार्यवाही के बारे में जानने का अधिकार है, हर वह काम जो सार्वजनिक तरीके से लोकसेवकों द्वारा किया जाता है.....जानने का अधिकार अभिव्यक्ति की आज़ादी से ही निरक्त है।"

न्यायिक नियुक्तियों के एक मामले में सुप्रीम कोर्ट ने 1982 में एक बार फिर कहा:-

"एक मुक्त सरकार की अवधारणा जानने के अधिकार का सीधा परिणाम वह है जो कि अनुच्छेद 19(1)(ए) के अंतर्गत प्रदत्त स्वतंत्र अभिव्यक्ति की गारंटी में समाहित जान पड़ती है।"

सूचना के अधिकार की मांग सामाजिक न्याय व समता के लिए काम कर रहे सभी प्रगतिशील अभियानों की माँगों को हालाँकि आपस में जोड़ती थी लेकिन एन सी पी आर आइ ने ही अंत में इस मांग को सूत्रीकृत करने का काम किया और इसके इर्द-गिर्द आंदोलन खड़ा किया। 1990 में वी.पी.सिंह ने सयुक्त मोर्चा की सरकार के प्रधानमंत्री के बतौर सूचना के अधिकार पर जोर दिया और कानून निर्माण की प्रक्रिया को शुरू करवाया। क़ानून निर्माताओं और ज़मीनी संघर्षों ने सृजनात्मक तरीके से अपना संवाद जारी रखा। जनता एक क़ानून की ज़रुरत और उनकी शर्तों आदि की समझ तो रखती थी, लेकिन कानून का मसौदा तैयार करने के लिए विशेषज्ञता की ज़रुरत थी। इसके बावजूद एक समझदारी यह भी थी कि चूँकि क़ानून का इस्तेमाल अंतत: जनता को ही करना है, लिहाजा उसके निर्माण में उसे शामिल किया जाना चाहिए। इसको ऊर्जा और गति भी तो जनता से ही मिल रही थी। एम.के.एस.एस. ने इसलिए जनता तक कानून को ले जाने के उद्देश्य से धरनों और नुक्कड़ सभाओं का आयोजन किया। हर शहर में अभियान के लोग विशिष्ट समूहों से भी मिले- वकीलों से, अकादमिकों से, उन तमाम लोगों से जिनकी दिलचस्पी पारदर्शिता और भ्रष्टाचार के मुद्दों में थी। बिल मसौदे पर विस्तार से चर्चा हुई और उसके प्रावधानों में कई संशोधन किये गए। इसके बाद उसे विशेषज्ञ समूह को सौंप दिया गया, जिसने क़ानून निर्माण के लिए उसे कानूनी ढांचे के भीतर अवस्थित करने का काम किया।

एनसीपीआर का गठन 1996 में हुआ था, इसका प्राथमिक उद्देश्य कानून का मसौदा तैयार करना था। एनसीपीआरआइ का काम कानून को तैयार कर केंद्र और राज्यों में उसे पारित कराने के लिए उसकी पैरोकारी करना था। वह उन समूहों और जनसंघर्षों के प्रति भी वचनबद्ध था जो इस दिशा में काम कर रहे थे। 1996 के बाद से आर टी आई कानून तमिलनाडु(1996), गोवा(1997) और मध्यप्रदेश(1998) में बने। राजस्थान में 1998 के अंत में बनी कांग्रेसी सरकार ने अभियान से अनुरोध किया कि वह स्वयं कानून का मसौदा तैयार करके दे। अभियान ने प्रखंड मुख्यालय पर दो दिन बिताकर इस पर बहस की और बिल में संशोधन किया। बिल में केवल राज्य सरकार के विषयों का जिक्र था और अभियान की राय थी कि राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र में यह आता है कि वह इसे पास कर दे।

अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान आर.टी.आई. कानूनों की पैरवी कर रहे थे, सत्ता के गलियारों में 'पारदर्शिता' और 'जवाबदेही' पर खूब चर्चा होने लगी लेकिन सरकार के भीतर से पारदर्शिता पर उठने

वाली बहस का चरित्र बाहर के संघर्षों द्वारा उठायी जा रही जवाबदेही और पारदर्शिता की मांग से बिलकुल अलग थी। राज्य जहाँ नवउदारवादी सुशासन के एजेंडों को दोहरा रहा था, वहीं नागरिक समाज की मांग थी कि सूचना के अधिकार पर एक ठोस क़ानून बनाकर उसे संविधान में जगह दी जाए। एन.सी.पी.आर.आई. की स्थापना 1996 में हुई जिसके दो मुख्य उद्देश्य थे- एक सशक्त कानून बनाना और दूसरा सूचना व दस्तावेज लोगों तक पहुंचाना। जैसे ही यह आन्दोलन देशभर में फैला तो मुद्दे उठने लगे कि यह राज्य कानून बनेगा या राष्ट्रीय कानून बनेगा? जस्टिस सावंत और एन.सी.पी.आर.आई. के बनाए हुए ड्राफ्ट कानून ने यह कहा कि दोनों संभव हैं। जस्टिस सावंत ने प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री और सभी सांसदों को चिट्ठी के ज़रिये यह ड्राफ्ट पहुंचाया। कुल मिलकर राज्यों और केन्द्रीय क़ानून को लाने में विभिन्न अभियानों, आन्दोलनों, समूहों और व्यक्तियों का योगदान उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

4.35 राजस्थान का कानून अंतरिम सफलता

राज्य में 1999 में राज्य में नयी सरकार आ गयी। एम.के.एस.एस और एन.सी.पी.आर.आई. ने मुख्यमंत्री अशोक गहलोत से मुलाक़ात कर उन्हें आर.टी.आई. कानून बनाने की याद दिलाई। 26 मार्च को सरकार ने एक अधिसूचना ज़ारी कर मुख्य सचिव पी.एन.भंडारी की अध्यक्षता में कमेटी बनाकर सूचना के अधिकार का कानून व नियम बनाने का काम सौंपा। उन्होंने एन सी पी आर आइ से औपचारिक रूप से एक कार्यकारी आदेश का मसौदा लिखने को कहा था लेकिन अभियान ने तय किया कि इस मामले को जनता के बीच ले जाया जाये। यह यात्रा 19 अप्रेल को शुरू हुई और एन सी पी आर आइ (राजस्थान) समूचे राज्य में बैठकें रखने को राजी हो गया। जयपुर की बैठक के साथ यह अभियान मई में समाप्त हुआ, जब एन सी पी आर आइ(राजस्थान) ने एक ड्राफ्ट बिल तैयार किया और उसे प्रतिक्रिया व संज्ञान के लिए पी.एन.भंडारी कमेटी को सौपा।

कांग्रेस ने अपने चुनावी घोषणा पत्र के 16 वें बिंदु में उल्लेखित किया था कि प्रदेश में मानवाधिकार आयोग की स्थापना की जाएगी। काँग्रेस सरकार सूचना के अधिकार की सिफारिश करती है सरकार के विकास संबंधी कार्यों में पारदर्शिता के लिए जनता को सूचना का अधिकार प्रदान किया जाएगा। (मंगलानी एंड ओझा, 2008, पृ. 47) गहलोत सरकार ने सत्ता में आते ही राज्य मंत्रिमंडल की प्रथम बैठक में संपूर्ण विकास प्रभावी एवं चुस्त प्रशासन हेतु सरकार ने 15 प्राथमिकताओं में नवाँ स्थान सूचना के अधिकार को दिया। (राजस्थान सुजस, अक्टूबर- नवम्बर, 2000)

विभिन्न परामर्शों से मिली प्रतिक्रियाओं के आधार पर सूचना के अधिकार का एक नागरिक समाज मसौदा तैयार किया गया और कमेटी को सौंप दिया गया। कमेटी ने अपनी सिफारिशें नागरिकों के मसौदा विधेयक पर दी लेकिन उसका अंतिम मसौदा बहुत कमज़ोर था। एक बड़ी कमी यह थी कि उसमें सूचना न देने पर दंड के प्रावधान का अभाव था। इन सबके बावजूद इस क़ानून का गठन अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है, खासकर तब जबकि देश में ऐसा कोई कानून मौजूद नहीं है। एम.के.एस.एस. की अरुणा

रॉय कहती हैं, "यह अधिकार महज पड़ाव है, मंजिल नहीं। एम.के.एस.एस. और एन.सी.पी.आर.आई. आने वाले दिनों में क़ानून की पड़ताल करेंगे। वे सूचना हासिल करके इस क़ानून की ताकत और सीमाओं का पता करेंगे।" (उजाला छडी,10 मई, 2000) एन.सी.पी.आर.आई. के सदस्यों, प्रभास जोशी और अजीत भट्टाचार्य की ओर से दबाव डाले जाने पर ही विधेयक सदन के पटल पर रखा जा सका। राजस्थान सूचना का अधिकार अधिनियम 2000 आखिरकार 1 मई 2000 को गठित हुआ। राज्य शासन ने भारतीय गणतन्त्र की 51वीं वर्षगाँठ पर 26 जनवरी, 2001 को लागू कर दिया - जब इसके नियम तैयार कर लिए गए। अब आर.टी.आई. अभियान और एम.के.एस.एस. का काम नए आर.टी.आई. कानून का इस्तेमाल करना और उसका परीक्षण करना था।

राजस्थान सरकार ने सूचना का अधिकार अधिनियम सन 2000 लागू किया है। इस अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्न हैं-

इस अधिनियम का विस्तार संपूर्ण राजस्थान राज्य में है। राजस्थान सूचना का अधिकार अधिनियम की धारा 2 में सूचना तथा लोक निकायों को परिभाषित किया गया है। अधिनियम की धारा 3 में सूचना के अधिकार से तात्पर्य है, राज्य या लोक निकायों के अभिलेखों की प्रामाणिक प्रतिलिपियाँ प्राप्त कर राज्य एवं लोक निकायों के कार्यकलापों से संबंधित सूचना तक पहुँचने का अधिकार। धारा 4 में सूचना प्राप्त करने की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। धारा 5 में उन सूचनाओं का उल्लेख किया गया है जिनमें सूचना उपलब्ध कराना आवश्यक नहीं है। धारा 6-7 में अपील संबंधी प्रावधान हैं। राजस्थान सूचना का अधिकार अधिनियम 2000 की धारा 8 में सूचना प्राप्त करने हेतु दी जाने वाली फ़ीस का प्रावधान किया गया है। धारा 9 में कार्यालय के भारसाधक की बाध्यता समस्त अभिलेखों को सुरक्षित रखने की होगी। धारा 10 में संबंधित अधिकारी पर सूचना समयावधि में उपलब्ध नहीं कराने पर अनुशासनात्मक कार्यवाही की जायेगी। धारा 11 में सूचना के अधिकार को क्रियान्वित करने के लिए इस अधिनियम के अधीन उपबंधित उपचारों को लागू करने के लिए विधिक कार्यवाहियों का वर्जन रहेगा। (राजस्थान सूचना का अधिकार अधिनियम 2000)

4.36 जनावद जन सुनवाई

जनावाद सुनवाई जब चल रही थी उसी वक्त कानून की पड़ताल के लिए संसद में संयुक्त चयनित समिति की बैठक हो रही थी। 'फ्रंट लाइन' में प्रकाशित एक रिपोर्ट में अरुणा और निखिल याद करते हुए कहते हैं:-

सूचना के अधिकार के केन्द्रीय विधेयक पर जब संसद की संयुक्त चयनित समिति विचार कर रही है, ऐसे में ज़रूरी है कि उन राज्यों के अनुभवों को रेखांकित किया जाए जहाँ क़ानून पहले से लागू है। राजस्थान के राजसमन्द जिले की जनावद पंचायत का अनुभव नाटकीय तरीके से अपने समूचे विवरणों में इस बात को दर्शाता है कि यदि आम लोगों को वास्तव में इस क़ानून के तहत वास्तविक लाभ दिए जाने हैं

तो सूचना के अधिकार का क़ानून बहुत मजबूत और लागू किये जाने योग्य होना चाहिए। (फ्रंटलाइन, अप्रेल, 2002)

जनावद के अनुभवों ने आम नागरिकों को राजकाज समझने में मदद करके एक बुनियादी योगदान दिया। इसने पद के हिसाब से सम्मान का झूठा मुखौटा सार्वजनिक रूप से उघाड़ डाला और खुले में दिखाया कि भ्रष्टाचार कैसे होता है। इसने स्पष्ट तौर पर यह दर्शाया कि जनता की सहमति से संसद और विधान सभाओं में बनने वाले कानूनों और नियमों को जब एक भ्रष्ट तंत्र लागू करता है तो कैसे उसे तोड़-मरोड़कर निरर्थक बना देता है। यह घटनाक्रम पूरी तरह पारदर्शी और सहभागितापूर्ण था। इसने सार्वजनिक कार्यवाहियों के सन्दर्भ में दो सबक पेश किये। पहला, किसी कानून की निगरानी का काम जनता के हाथ में होना चाहिए। दूसरा, क़ानून का कार्यान्वयन या जैसा कि अरुणा व निखिल ने अपने एक लेख 'चेंजिंग अ राईट' में कहा है कि उसे इसी निरंतरता का हिस्सा होना चाहिए।

जनता के जानने का अधिकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 से जन्मा था। घोटालों को उजागर करने में लोगों के संकल्प को ताकत देने के लिए कानूनी अधिकार अनिवार्य था ताकि उनका अपनी ज़िन्दगी और भविष्य पर हक़ हो सके। एक ही समाधान था कि यह सुनिश्चित किया जाए कि ये प्रक्रियाएं जवाबदेह और पारदर्शी हों तथा लाभार्थियों की निगरानी तले हों। यह अपने आप में बुनियादी सेवा तक पहुँच के लोकतांत्रिक वादे को सुनिश्चित करेगा।

ये पंचायत हमारे आप की

नहीं किसी के बाप की।

ये पैसे हमारे आप के

नहीं किसी के बाप के।

ये दोनों नारे जनता से किया गया आह्वान थे कि राजनीतिक नुमाइंदों व नौकरशाहों के मनमाने व एकतरफा कब्जे और भ्रष्टाचार से राज्य व उसकी लोकतांत्रिक संस्थाओं को निकाल कर दुबारा उस पर अपना राज कायम करें। एम.के.एस.एस. को जब सरकारी सुनवाइयों में हिस्सा लेने और उस प्रक्रिया में संलग्न होने के लिए बुलाया गया तो इस न्योते को यही सोचकर स्वीकार किया गया कि एक सड़ चुके तंत्र में से जो कुछ भी संभव हो उसको निकाल कर बचा ले जाया जाए।

4.37 आर टी आइ कानून, 2005

एक राष्ट्रीय आर टी आइ कानून की मांग को भी इसी तर्ज पर राज्य और केन्द्रीय खाके के साथ मोलभाव करना था, भारतीय संघीय ढाँचे से जुड़े सवालों से निपटना था और साथ ही प्रत्येक राज्य के अपने कानून की ताकत और खामियों का इस्तेमाल भी करते जाना था ताकि अंत में एक सशक्त और

प्रभावी राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता को प्रदर्शित किया जा सके। जब जस्टिस सावंत ने प्रेस काउन्सिल के अध्यक्ष के बतौर कानून का मसौदा तैयार किया, उसके बाद इसे संसद और राज्यों के मुख्यमंत्रियों को भेजा गया। कुछ प्रगतिशील राज्यों ने अपने यहाँ कानून पास कर दिया। इनमें तमिलनाडू(1997), गोवा(1997) सबसे शुरुआती रहे। बाद में राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक ने 2000 में, दिल्ली ने 2001 में, असम ने 2002 और जम्मू व कश्मीर ने 2003 में इस कानून को पारित किया। राज्य स्तरीय अभियान का एक अहम नतीजा रहा, राजनीतिक शिक्षण, इसी तजुर्बे से एक राष्ट्रीय कानून की जरूरत का तर्क सामने आया। राज्य के कानूनों के इस्तेमाल के दौरान नागरिकों ने उनकी खामियों को संबोधित किया और यही से वे तत्व सामने आये जिन पर राष्ट्रीय कानून बनते वक्त समझौता नहीं किया जाना था। राज्य के कानूनों से सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों तरह के सबक मिले। केन्द्रीय आर टी आइ कानून को ड्राफ्ट करते वक्त इनसे मदद मिली।

राष्ट्रीय कानून पर बहस अलग-अलग क्षेत्रों से आ रहे स्वरों को साथ लेकर तेज हुई। शहरी विकास मंत्री रामजेठमलानी ने सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ के फैसले के हवाले से एक आदेश जारी किया कि नागरिकों को सरकार के हर काम की जानकारी पाने का अधिकार है। उन्होंने यह भी जोर देकर कहा था कि जो कुछ भी सांसदों को उपलब्ध है, वह नागरिकों को भी उपलब्ध होना चाहिए। (शेखर सिंह, नई दिल्ली, 29-05 -07) सुप्रीम कोर्ट में दायर याचिका का दबाव जब बढ़ने लगा, तो आनन- फानन में जून 2000 में बिल को संसद में पेश कर दिया गया। इसे दबाव में 2002 में एफ ओ आइ(फ्रीडम ऑफ़ इनफार्मेशन बिल) कानून के बतौर पास कर दिया गया लेकिन यह बेहद कमजोर एवं हल्का था। एफ ओ आइ कानून के विरोध की प्रतिक्रिया में ही यू पी ए सरकार ने अपने न्यूनतम साझा कार्यक्रम के तहत बेहतर कानून का वादा किया था। नौकरशाही के अड़ियल और दूसरे क्षेत्रों में आ रहे प्रतिरोध के बावजूद नागरिक समूहों द्वारा सतर्कता और पैरोकारी ने यह सुनिश्चित करने में मदद की कि जून 2005 में भारतीय संसद ने एक मजबूत आर टी आइ कानून पारित कर डाला। आर टी आइ कानून 2005, 12 अक्टूबर 2005 से प्रभाव में आया। तब से नागरिक देश के विभिन्न हिस्सों में इसका इस्तेमाल कर रहे हैं।

4.38 निष्कर्ष

भारतीय राजनीति में लोहिया एक अद्भुत घटना हैं। वे स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी नेता थे। उनका मातृभूमि के प्रति समर्पण गहरा था। वे समाजवाद को भारत के लिए आवश्यक मानते थे क्योंकि वे जानते थे कि जाति रहित व वर्ग रहित समाज हेतु सामान्य सम्बद्धता अति आवश्यक है। वे आंतरिक रूप से एक क्रान्तिकारी नेता, जन नेता थे। अमीरों की विलासता से इन्हें चिढ़ थी, न केवल यह विलासिता गलत थी बल्कि यह अक्षम्नीय बर्बादी थी जो राष्ट्र को आर्थिक विकास हेतु संसाधनों के वितरण को रोकता था। वे असमझौतावादी व वैयक्तिक थे, अनीश्वरवादी, कर्मयोगी, राजनीतिज्ञ, सांसद, समाजसुधारक, विचारक, विपक्ष के अनाधिकृत नेता, विश्लेषक, आलोचक, भारत में समाजवाद के विकास के प्रणेता थे। वे मार्क्स से अत्यंत प्रभावित थे, मार्क्स को लोकतांत्रिक मानते थे। परन्तु वे मार्क्स के सिद्धांतों को विकासशील देशों हेतु

उचित नहीं मानते थे। वे मानते थे कि मार्क्सवाद को रूस में लेनिन व स्टालिन ने व चीन में माओ ने दूषित किया।

तो क्या समाजवादी को साम्यवाद से लड़ना चाहिए? लोहिया ने देखा कि पूरे विश्व में समाजवादी आन्दोलन की सबसे बड़ी गलती यह रही कि वे साम्यवाद के आर्थिक उद्देश्यों व पश्चिम की उदारवादी परम्परा को जोड़ने का प्रयास करते रहे। इसके बजाय एक आन्तरिक समाजवादी दर्शन जो अपने आप में सहज व गतिक हो- जिसमें उधार के विचार न हों, की आवश्यकता थी और यही वास्तव में तात्कालिक समाजवादी विचारों में उनका मुख्य योगदान था। उनके अनुसार गाँधी जी के तीन मूल सिद्धांतों द्वारा ही समाजवाद गतिक हो सकता है- साधनों की पवित्रता, सत्याग्रह व राजनीतिक व आर्थिक सत्ता का हस्तांतरण। लोहिया का समाजवाद, पश्चिमी लोकतांत्रिक या साम्यवादी देशो में व्याप्त समाजवाद की नक़ल नहीं था। न ही यह तात्कालिक भारतीय समाजवाद के गठन व प्रभावों से प्रभावित था। उनके अनुसार समाजवाद, समानता व समृद्धि से मिलकर बना है। समानता से लोहिया का तात्पर्य था- किसी समाज में जीवन के सभी क्षेत्रों में अधिकतम समानता का स्तर प्राप्त करना। न केवल एक राष्ट्र अपितु राष्ट्रों के मध्य भी समानता हो। इसलिए उन्होंने सप्त क्रांति का सिद्धांत दिया।

लोहिया ने नियंत्रित साम्यवाद व मिश्रित अर्थव्यवस्था को नकारा। उनके अनुसार उत्पादन के सभी साधनों में समाजवाद होना चाहिए,जो भी श्रम को किराए पर लेता है। वृहद उत्पादन तकनीक के स्थान पर लघु-इकाई तकनीक होनी चाहिए क्योंकि वृहद उद्योग आर्थिक केन्द्रीकरण व बेरोज़गारी लाते हैं। राज्य चार मूल आधारों पर होना चाहिए- गाँव, जिला, प्रान्त व केंद्र । चारों एक कार्यकारी संघवाद में मिले होने चाहिए। उच्च जीवन स्तर, मर्यादित जीवन स्तर में बदलना चाहिए क्योंकि उच्च जीवन स्तर प्रत्यक्ष उपभोग वाले उच्च आय वर्ग में शामिल हो जाता है। अंत में वयस्क मताधिकार के आधार पर विश्व संसद का गठन हो जो विश्व सरकार बनाने हेतु प्रयासरत रहे।

हम एक बिंदु पर लोहिया से असहमत हो सकते हैं। लम्बे समय पर लघु-इकाई अनार्थिक हो सकती है- श्रम प्रधान तकनीक के कारण। इसे अंतरिम समय के लिए स्वीकार कर सकते हैं। लघु व वृहद इकाई एक- दूसरे के पूरक हैं। लोहिया की वृहद इकाइयों के प्रति घृणा सुदृढ़ अर्थव्यवस्था के लिए ठीक नहीं है। लोहिया के लिए समाजवाद न केवल एक अमूर्त सिद्धांत है अपितु अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध एक प्रेरणा है। वे भारत के लिए समाजवादी क्रांति को आवश्यक मानते थे इसलिए उन्होंने भारत के पुन: निर्माण हेतु चार पदीय समाजवादी कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

उनके अनुसार भारत की मूल आर्थिक समस्या का कारण कृषीय पुनर्निर्माण है जिसके लिए उन्होंने पांच महत्त्वपूर्ण उपाय बताये- अनुपयोगी भूमि का सुधार, कृषि भूमि का समान वितरण, साढ़े छ: एकड़ भूमि की राजस्व कर से मुक्ति, भोजन सेना का गठन व लघु सिंचाई योजनाएं। लोहिया आर्थिक विकास हेतु विदेशी सहायता पर निर्भर नहीं रहना चाहते थे। उपयोगतावादी वस्तुओं पर रोक व तीव्र विकास हेतु आलस्य व उनींदेपन पर रोक पर बल। सामाजिक समानता हेतु जाति, समुदाय व सार्वजानिक

जीवन के प्रथक्करण पर रोक, उच्च प्रशासन में 60 प्रतिशत सीटों पर एस.सी., बी.सी., आदिवासियों व महिलाओं का समर्थन। हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक, दोनों समुदायों से बाह्य आडम्बरों के उन्मूलन का आग्रह किया। आधिकारिक भाषा हेतु हिंदी को अंग्रेजी पर वरीयता दी। जब तक जन भाषा में जनशासन नहीं चलेगा तब तक देश में वास्तविक समाजवाद नहीं आएगा। मुफ्त, अनिवार्य व समान शिक्षा पर बल जो जाति, लिंग व रंग पर आधारित न हो।

विदेशी नीति के अंतर्गत, वे नेहरु की गुटनिरपेक्ष नीति के विरोधी थे, जो उनके अनुसार, अप्रभावी व आश्रित थी तथा देश को एक शांति समर्थक परन्तु मजबूत राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत करने में विफल रही। उन्होंने 'तृतीय दल' हेतु कार्य करने को कहा जो सुरक्षा, सामाजिक क्षमता व आर्थिक विकास लाये। उन्होंने उत्तरी सीमा की रक्षा हेतु स्पष्ट 'हिमालय नीति' बनाने को कहा।

यद्यपि भारत के पुर्ननिर्माण हेतु लोहिया के कार्यक्रम में विपुल सम्भावनाएं रहीं, तो भी यह समस्त समस्याओं का समाधान नहीं था। बहुत से लोग उनके अंग्रेजी को तुरंत हटाने, 60 प्रतिशत आरक्षण(पिछड़ों हेतु), जमीन के पुर्नवितरण कार्यक्रमों से असहमत होंगे। परन्तु समस्याओं के प्रति उनके सूक्ष्म विश्लेषण से, क्रांतिकारी भावना से व पुर्ननिर्माण कार्यक्रमों हेतु उनके साहस से सब सहमत होंगे। यदि भारत में समाजवाद के उनके कार्यक्रमों को लागू किया जाता तो अधिकतम समानता व समृद्धि को प्राप्त किया जा सकता था।

समाजवादी नेता के रूप में, लोहिया ने भारतीय राजनीति में अविस्मरणीय भूमिका अदा की। वे सी.एस.पी. के संस्थापकों में से एक थे। 1936 में साम्यवादियों के साथ समाजवादियों के संघ की निंदा करने वाले वे अकेले थे। आजादी के बाद जब काँग्रेस ने समाजवादियों के लिए यह शर्त रखी कि या तो वे अपनी पार्टी में जायें या काँग्रेसी बन जाएं, तब लोहिया व नरेन्द्र देव ने काँग्रेस से अलग होने के निर्णय का विरोध किया। परन्तु एक बार काँग्रेस से अलग हो जाने के बाद लोहिया चाहते थे कि समाजवादी आंदोलन इतना मजबूत हो कि वह काँग्रेस को सत्ता से अलग कर दे। इस प्रकार भारत में समाजवादी विचार व आन्दोलन में लोहिया का विशेष योगदान था।

प्रथम, आर्थिक विकास की रूपरेखा व सामाजिक उन्नति हेतु उन्होंने एक नया सामाजिक दर्शन प्रदान किया। जहाँ यूरोपीय समाजवाद पूँजीवाद से प्रभावित है वहीं भारत में समाजवाद राजनीतिक विश्वास व जनमूल्यों में परिवर्तन द्वारा ही संभव है। इसलिए उन्होंने पश्चिमी समाजवादियों की 'आर्थिक अवधारणा' को ख़ारिज कर दिया। नए समाज की अवधारणा, उनकी दो तरफ़ा थी- आर्थिक विकास के साथ-साथ उन सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन के व्यवस्थित प्रयास किये जाएं जो आधुनिकता के खिलाफ थीं।

द्वितीय, समाजवाद को जनता की अपील के एक आभामंडल के रूप में बताया। उनके पास जटिल राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याओं हेतु वह उत्तर थे जो उन्होंने गहन विचार के पश्चात् प्राप्त किये थे। अन्याय के खिलाफ उनके दो गैर पारंपरिक साधन थे- बंद व घेरा डालो। उनका 'फावड़ा, जेल व वोट'

का सूत्र नयी राजनीति का आगाज़ था। अमेरिका में भी लोहिया के विचार प्रचलित होने लगे। जातिवाद व एशिया में युद्ध के खिलाफ हज़ारों अमेरिकी खड़े हुए व जेल गए।

तृतीय, लोहिया प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने यह पाया कि पश्चिमी पूँजीवाद व साम्यवाद आपसी साम्यता की प्रक्रिया में चल रहे हैं। जब लोहिया जीवित थे, कुछ चालाक व्यक्तियों ने उनके समदूरस्थ के सिद्धांत को तोड़ मरोड़ कर उनका उपहास किया। परन्तु हाल ही में दीर्घ अवधि के लाभों व उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु पूँजीवाद व साम्यवाद के मेल ने लोहिया को सही साबित कर दिया है। अंत में लोहिया का यह एकछत्र योगदान था कि वे जनता के सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक प्रश्नों पर चुप नहीं रहे। वे जनता की तकलीफों हेतु लगातार आन्दोलन करते रहे। उस समय सामाजिक सिद्धांतों के अनुरूप विकास का होना उनके अथक प्रयासों का परिणाम था।

इन असंख्य कार्यों के बावजूद उन पर अनेक अभियोग लगे। आलोचकों के अनुसार उनमें प्रणालीगत मौलिकता व सैद्धांतिक परिपक्वता का अभाव था। उन्होंने समाजवाद का कोई मौलिक सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया। निश्चित ही हम लोहिया में वह प्रणालीगत मौलिकता का अभाव पाते हैं जो हम हीगल, ग्रीन, मार्क्स व बुकानिन में पाते हैं। यह भी सत्य है कि लोहिया का आर्थिक कार्यक्रम पूर्ण नहीं है तथा इसे सम्पूर्ण विकासशील विश्व हेतु प्रयुक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि सभी देश एक ही प्रतिमान पर नहीं हो सकते जैसा कि लोहिया ने माना था। परन्तु एक सिद्धांतवादी के रूप में लोहिया का मूल्यांकन करने से पूर्व हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि लोहिया एक राजनेता थे जो सत्ता द्वारा काम निकालना चाहते थे। विचारक लोहिया पर राजनीतिक नेता लोहिया का बंधन था।

राजनीतिक कार्यक्षेत्र में उन्हें कांग्रेस व साम्यवादियों की छद्म शत्रुता को बरदाश्त करना था इसलिए लोहिया पर किसी निर्णय से पहले(एक राजनीतिक विचारक के रूप में) हमें उस माहौल के बारे में सोचना होगा जिसमें वे रहे थे। उन पर दूसरा आरोप यह है कि वे किसी भी समस्या को संक्षिप्त करके एक तस्वीर रूप में उसका हल बताते थे जो बौद्धिक रहस्यात्मकता लिए होता था। इसके उदाहरण हैं- समान-असंबद्धता, चार स्तरीय राज्य, भोजन सेना, बी.सी. हेतु 60 प्रतिशत सीट। हम इस आलोचना का भी आसानी से खंडन कर सकते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लोहिया मूल रूप से एक समाजवादी नेता थे। उनका मुख्य उद्देश्य(जीवन में) देश में समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाना था। वे जानते थे कि पुस्तकों में समाजवाद भारत के आम व्यक्ति को विस्तार रूप नहीं देता है(पहुँच नहीं है)। इसलिए उन्होंने कुछ ऐसी अवधारणाएँ विकसित की जिससे आम व्यक्ति आसानी से समाजवाद को समझ सके। निश्चित ही ये अवधारणाएँ रहस्यात्मक प्रतीत होती थीं तथा बौद्धिक वर्ग को प्रसन्नता प्रदान करने में असफल रहीं थीं परन्तु मिल- श्रमिक व पान- बीड़ी दुकानदार व किसान इस अवधारणा को समझ गए। आलोचक यह भी कहते हैं कि लोहिया के राजनीतिक सूत्र नकारात्मक थे। किसे और क्यों नष्ट करना है, इसके स्थान पर क्या लाना है, लम्बी अवधि के सुधार अव्यवस्था लेकर आते हैं जिससे निष्क्रियता आती है। 'अंग्रेजी हटाओ, बंद, घेरा डालो, कांग्रेस से मुक्ति' ऐसे उदाहरण हैं जो आलोचक उनके विरुद्ध देते हैं।

आलोचकों ने जो नकारात्मकता देखी है, लोहिया के समर्थकों के लिए वही सकारात्मक योगदान है। लोहिया ने असंख्य सामाजिक व राजनीतिक संस्थानों की आलोचना की है परन्तु पुराने ढाँचे को गिराने से पहले उन्होंने यह बताया कि नया कैसे बनाया जाये। यदि उन्होंने अंग्रेजी को हटाने को कहा तो उसके पीछे तर्क यह था कि यदि देश के प्रशासन को ईमानदार व प्रभावी बनाना है व शैक्षणिक क्षेत्रों को पूर्ण करना है तो इसमें सबसे बड़ी बाधा विदेशी भाषा है। वे जानते थे कि सामाजिक ढाँचे की वास्तविक क्रांति को हिंसा रोकती है। यदि वे "बंद व घेरा डालें" की खोज नहीं करते तो प्रतिद्वंदी नक्सली हिंसा व बम द्वारा भारत में अन्याय का विरोध करते। उनकी कांग्रेस से मुक्ति की अवधारणा भी निर्माणकारी थी, नकारात्मक नहीं। उन्होंने महसूस किया कि जीवन के ढांचे में तब तक मूल बदलाव नहीं आ पायेंगे जब तक ऐसा संगठन अस्तित्व में रहेगा, जो अपने अस्तित्व में दूसरों पर निर्भर रहा हो। वे कांग्रेस को सत्ता से बाहर करके इसका अंत नहीं करना चाहते थे बल्कि ये एक साधन का अंत था। उन्होंने वादा किया कि यदि कांग्रेस समाजवाद को स्वीकार कर लेती है तो वे अपनी मूल पार्टी को बंद कर देंगे।

दुर्भाग्य से, लोहिया की मृत्यु जल्दी हो गयी तथा उनके साथियों ने बिना लोहिया के दर्शन व दृष्टिकोण को समझे उनके काँग्रेस मुक्त भारत के सिद्धांत को गलत सन्दर्भ में प्रस्तुत किया। अंत में लोहिया समाजवादी दलों में एकता न होने देने के लिए उत्तरदायी थे तथा भारत में समाजवादी ताकतों के बीच एकता के मार्ग में उन्होंने बाधाएँ उत्पन्न की। उनके पक्ष में यह कहा जाता है कि वे समझौतावादी नहीं थे। उनका विश्वास था कि सिद्धांतों का बलिदान करने की अपेक्षा मर जाना बेहतर है क्योंकि मृत्यु व्यर्थ नहीं जाएगी, नव-विकास लाएगी। चूँकि उन्होंने कभी अपने कारणों का वर्णन नहीं किया, अपने तर्कों से सदैव संतुष्ट रहे। उन्हें क्रुद्ध, अनुशासनहीन, चिड़चिड़े व विकृत जैसे अलंकारों से नवाजा गया।

यदि हम लोहिया के अतीत का अध्ययन करें तो अनेक पूर्वाग्रह समाप्त हो जायेंगे। हम जानते हैं कि लोहिया ने जे.पी.व मेहता के 1948 में काँग्रेस से अलग होने के निर्णय का विरोध किया था। परन्तु एक अनुशासित सदस्य की तरह उन्होंने दल के निर्णय को स्वीकार किया। एक अनुशासित नेता की तरह वे जानते थे कि संगठन की नीतियों को उचित सम्मान मिलना चाहिए। जब पी.एस. पी. की कार्यकारिणी ने निहत्थे नागरिकों पर गोलीबारी न करने का निर्णय किया व त्रावणकोर-कोचीन की थानू पिल्लई सरकार ने पुलिस कार्यवाही का समर्थन किया, लोहिया का पिल्लई सरकार का त्यागपत्र मांगना अनुशासनहीन था? बिहार के मिली-जुली सरकार के अवसरवादी नेता बी.पी.मंडल के प्रति उनका दृष्टिकोण यह सिद्ध करता है कि लोहिया सदैव अनुशासन, सिद्धांतों व वायदों के साथ रहे। वे सामान्य मानदंड से इतर थे क्योंकि वे जानते थे कि अशिक्षित भारतीयों का बहुमत सत्ता- राजनीति की जटिलताओं को, कृत्रिम शहरी भाषा व तरीकों को नहीं समझ पायेगा। उन्होंने सदैव अपने मस्तिष्क में दल के हितों को सर्वोपरि रखा। आजादी के बाद के भारत में व्याप्त भ्रष्ट राजनीति को समझाने के लिए उन्होंने नाटकीय रूपों व संस्कृत भाषा का प्रयोग किया।

समाजवादी आन्दोलन को कमज़ोर करने में लोहिया की बजाय दूसरे ज्यादा ज़िम्मेदार थे। कांग्रेस से अलगाव के आठ साल से कम समय में ही जे.पी. सर्वोदय आन्दोलन में शामिल हो गए, नरेंद्र देव की मृत्यु हो गयी, अशोक मेहता जिन्होंने कांग्रेस की तुलना धर्मशाला से की थी तथा जिन्होंने पूँजीवाद व साम्यवाद को प्रश्रय दिया, आकस्मिक रूप से बदल गए। उन्होंने कांग्रेस के साथ सहयोग करने की बात करना शुरू कर दिया। लोहिया असमझौतावादी थे। वे सिद्धांतों के समर्थक थे, व्यक्तित्व के नहीं। उनकी कमजोरी यही थी कि वे अवसरवादी नहीं थे। उन्होंने मीडिया से भी नाराजगी ज़ाहिर की जिन्होंने उन पर समाजवाद व अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन का लेबल लगाया तथा वे भारत के नायक-पूजा करने वाले लोगों से भी नाराज़ थे। इस हेतु उन्होंने अपारंपरिक तरीके से नेहरु की आलोचना की। उनकी असफलता, उनके निजी लक्ष्य का परिणाम नहीं थी बल्कि उस वातावरण की मांग थी, जहाँ एक तरफ समाज का अतिवादी रूप बदलना था, वहीं दूसरी तरफ अचुनौतिपूर्ण ढंग से सत्ता को बनाए रखने हेतु भद्दे प्रयास को आज्ञा देना था।

संक्षेप में अनेक सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक समस्याओं को हल करने में लोहिया ने अनेक तार्किक व दार्शनिक हल प्रदान किये। भारत में समाजवाद को लोकप्रिय बनाया। आलोचक कुछ भी कहें, भारत में समाजवाद रुपी आकाशगंगा में उनके महत्त्वपूर्ण स्थान से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

जे.पी., गांधीजी के सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता और सरलता से प्रभावित हुए। वे प्रारंभ में मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण गांधीजी की आलोचना करते थे। 1947 के आते उनका झुकाव गांधीजी की ओर हो गया। जे.पी. की विचारधारा में समय-समय पर कई मोड़ आये। विचारों में स्थायित्व का अभाव होने के कारण वे निरंतर बदलते रहे। उनका समाजवादी चिंतन मार्क्सवाद से आरंभ हुआ जिसमें उन्होंने मार्क्सवाद के सिद्धात में विश्वास व्यक्त किया। कालांतर में उनके विचार लोकतांत्रिक समाजवाद की ओर झुके। अंत में गांधीवाद पर आ गए। जे.पी. ने सर्वोदय को समाजवाद का सबसे शुद्ध और यथार्थ स्वरूप बताया। उन्होंने सर्वोदय को केवल समाजवाद की वैकल्पिक पद्धति ही नहीं माना बल्कि नवीन मानवीय संस्कृति का आरंभ माना। उन्होंने सर्वोदय को लोक समाजवाद की स्थापना और मानव की समस्त समस्याओं से मुक्ति का समाधान बताया। नवीन सामाजिक दर्शन के लिए उन्होंने गाँधीवादी सिद्धांत में पूर्ण आस्था व्यक्त की।

आधुनिक भारतीय विचारकों में जयप्रकाश नारायण का अग्रणी स्थान है। भारतीय राजनीति में एक तूफ़ान लाने में उन्होंने अहम् भूमिका अदा की जो इतिहास में अभूतपूर्व है। कांग्रेस के तीस वर्ष के एकछत्र शासन को समाप्त कर जनता सरकार लाने में लोकनायक जयप्रकाश की भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण थी। वर्षों से जयप्रकाश सक्रिय राजनीति से दूर थे तथापि इस दिशा में उनकी जागरूकता निरंतर बनी रही, जो 1974 से निरंतर बढ़ती गयी और आपातकाल की समाप्ति के बाद रचनात्मक रूप में 'पूर्ण क्रांति' बन गयी।

उन्होंने सम्पूर्ण क्रांति के सिद्धांत को विकसित किया। जेल डायरी में स्पष्ट किया कि सम्पूर्ण क्रांति सात क्रांतियों का मिश्रण है- सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैचारिक, शैक्षिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक। जे.पी की सम्पूर्ण क्रांति सर्वोदय समाज और दल विहीन प्रजातंत्र सिद्धांत का एक विस्तार है। यहाँ पर उन्होंने नैतिक और सांस्कृतिक घटकों पर जोर दिया। विकेंद्रीकृत राजनीति और अर्थव्यवस्था जनता को निर्णय निर्धारण प्रक्रिया में भागेदारी बनाएगी। स्वायत्त सरकार सर्वश्रेष्ठ सरकार है, जहाँ जनता अपना शासन स्वयं सम्भालती है।

जयप्रकाश कहते थे कि जनता का राज लाना है तो जनता को आर्थिक, भौतिक और सामाजिक स्वतंत्रता दिलानी होगी। जब थोड़े से लोगों के पास ढेर सारी संपत्ति हो और बाकी लोगों में इतनी गरीबी हो तो जनता का राज नहीं हो सकता। जब गरीबी, बेकारी, शोषण ख़त्म होगा और जनता स्वयं अपने कामों में हिस्सा लेने लगेगी, तब यह लोकशाही सही अर्थ में जनता का राज है, ऐसा कहा जा सकेगा। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में जयप्रकाश के विचारों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है-

राज्य के अस्तित्व में बने रहने के औचित्य के सन्दर्भ में जयप्रकाश की दृष्टि में राज्य मात्र एक साधन है। इसी कारण वह राज्य को समाजवाद की स्थापना का प्रमुख उपकरण मानते थे। उदारवादियों की भांति उन्होंने समाज को राज्य से प्रमुख एवं प्रधान माना है। व्यक्तिवादियों की भांति वे व्यक्ति को अपने में परिपूर्ण नहीं मानते। उसे सामाजिक प्राणी मानते थे। समुदाय को वे सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। समुदाय एक सहकारी समाज है। उनका लोक स्वराज्य सामुदायिक व्यवस्था प्रधान है।

मौलिक अधिकारों के तीव्र पक्षधर होने के कारण उन्होंने स्वतंत्रता को सदैव जीवन का आकाशदीप माना। अधिकारों एवं स्वतंत्रता के लिए कोई सौदा करने को वह कभी तैयार नहीं थे। वे फासीवाद एवं अधिनायकत्व के विरोधी थे। समानता को वे स्वाभाविक मानते थे, इसलिए वे आर्थिक विषमताओं के मूलत: विरोधी थे। अपने जीवन में उन्होंने धर्म निरपेक्षता का तीव्रतम प्रतिपादन किया। जयप्रकाश नारायण भारतीय संविधान के कटु आलोचक हैं। संविधान सभा को वे अप्रतिनिधित्वपूर्ण संस्था मानते थे। न्यायपालिका की स्वतंत्रता को उन्होंने लोकतंत्रीय शासन की एक अनिवार्य विशेषता स्वीकार किया है। भारतीय संघवाद पर विचार करते हुए उन्होंने छोटे राज्यों की स्थापना का समर्थन किया था।

1974 का जे.पी. आन्दोलन विगत चार दशक में भारत का सबसे बड़ा राजनीतिक भूचाल था, जिसमें जनता का जागरण अद्वितीय था। जिसके कारण लगभग 100 वर्षों की संस्था कांग्रेस को उस समय इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिया गया था। जब इंदिरा जी जैसी दुर्गा-शक्ति संपन्न व्यक्तित्व को भूलुंठित कर दिया गया। ऐसा चुनाव विश्व में आज तक देखा भी नहीं गया और शायद भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति भी नहीं होगी। बिहार, उत्तर प्रदेश आदि कई प्रान्तों में सबसे बड़े एवं सत्ताधारी दल को लोकसभा में एक भी सीट नहीं मिली एवं विपक्ष को चुनाव लड़ने वालों का कोई संगठन एवं साधन की ज़रुरत नहीं पड़ी। यह लोकतंत्र का एक चमत्कार ही था। वस्तुत: वह चुनाव नहीं जनता का पर्व था।

लेकिन इस सत्ता परिवर्तन को ही जे.पी. आन्दोलन का अभीष्ट मान लेना उसके साथ अन्याय है। जे.पी. आन्दोलन वस्तुत: एक सांस्कृतिक क्रान्ति था। सत्ता परिवर्तन तो एक तात्कालिक किन्तु अनिवार्य प्रयोजन था। दीर्घ काल से एक छत्र शासन में भ्रष्टाचार इतना अधिक हो गया था और उस दल का आंतरिक लोकतंत्र इतना निर्मूल हो चुका था कि उसको सत्ता में टिकने के लिए निरंकुश सत्ता के उपकरण के रूप में आपातकाल की घोषणा करनी पड़ी। इस प्रकार की निरंकुश सत्ता को ऐसा मुंहतोड़ उत्तर नहीं मिलता तो संभवत: भारत में लोकतंत्र का भविष्य धूमिल हो जाता। इस दृष्टि से जे.पी. आन्दोलन केवल वर्तमान ही नहीं भविष्य के लिए भी प्रासंगिक बना।

डॉक्टर राम मनोहर लोहिया ने कांग्रेस के सर्वाधिकार को समाप्त करने के लिए गैर कांग्रेसवाद का 1974 में प्रयोग किया। लेकिन उन्होंने प्राय: सभी धड़ों एवं घटकों को अलग-अलग रहने दिया। जे.पी. ने लोकतंत्र के स्वास्थ्य के लिए प्रमुख राष्ट्रवादी राजनीतिक दलों का रसायन बनाकर अद्भुत एकता बनाई। लोकदल, जनसंघ, संगठन कांग्रेस एवं भारतीय क्रांति दल आदि सभी दलों का जनता पार्टी में आत्मसात करा कर जनसंघ को भी राष्ट्र की प्रमुख धारा में ले आये। सभी दलों को समान संघर्ष में दीक्षित कर समाज परिवर्तन का उन्हें मुख्य उपकरण बना दिया। यह एक असाधारण राजनीतिक घटना है। आज भाजपा को धकेलकर पूर्णत: एवं स्पष्ट रूप से "हिन्दुत्ववादी" बना देने से राष्ट्रीय एकता क्षीण हुई है, चाहे हम उसे कितनी ही गालियाँ दे दें। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तक में काफी परिवर्तन आया था। यह भी एक अभूतपूर्व राजनीतिक सफलता थी।

राजनीतिक उपलब्धियों के बावजूद सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति की तरफ भी शायद स्वाधीनता के बाद प्रभावकारी ढंग से सर्वप्रथम प्रयास जे.पी. आन्दोलन में हुआ। साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए तो कुछ कहना ही नहीं, जातिवाद पर भी जे.पी. आन्दोलन ने प्रहार किया था। यही नहीं दहेज़ विरोधी आन्दोलन, नारी की असमानता आदि बातों को भी उजागर किया। यही नहीं आन्दोलन के दौरान सामाजिक, सांस्कृतिक, पुनर्जागरण के अनेकानेक कार्यक्रमों को रखा गया। शिक्षा व्यवस्था में भी परिवर्तन की तरफ लोगों का ध्यान खींचा गया, यद्यपि प्रभावकारी ढंग से बहुत कुछ नहीं हो सका। हाँ, निरक्षरता निवारण के लिए, "प्रत्येक व्यक्ति एक को साक्षर करे" का नारा काफी लोकप्रिय हुआ। भ्रष्टाचार निवारण भी एक प्रमुख मुद्दा था ही, यद्यपि इस पर ज्यादा तफसील से काम नहीं हो सका। इन विषयों में सफलता दो चार वर्षों में नहीं दशकों में मिलती है। किन्तु उधर ध्यान खींचना भी सफलता की दिशा में ही एक ठोस प्रयास माना जाएगा।

जे.पी. आन्दोलन की सर्वाधिक सफलता जनता की चेतना को जगाना था। इसका प्रत्यक्ष प्रदर्शन 1974 से ही हम बार-बार देख रहे हैं। 1977 में तो हमने अपूर्व लोकचेतना एवं लोक शक्ति का प्रदर्शन देखा ही, फिर जब लोगों ने जनता पार्टी को स्वार्थवश छोड़ दिया तो तुरंत 1980 में उसे ऐसा मज़ा चखाया कि छठी के दूध की याद हो आई। फिर 1985 में भी जनता ने कांग्रेस को ही दिल खोल कर वोट दिया क्योंकि तब तक भी इनके टुकड़ों को होश नहीं आया। लेकिन 1989 में जब जनता दल बना और एक राष्ट्रीय

विकल्प की संभावना हुई तो उन्होंने काम-चलाऊ मत दिया। जनता का यह एक संतुलित एवं न्यायपूर्ण एवं जागरूक निर्णय है। सतत जागरूकता ही लोकतंत्र का मूल्य है। यह जे. पी. ने भारतीय जनमानस को सिखाया।

असल में जे.पी. आन्दोलन की सफलता-असफलता को हम जनता पार्टी एवं जनता दल आदि की असफलताओं से आंकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि जनता पार्टी की सरकार में भी जे.पी. के सपनों को साकार करने की पूरी निष्ठा का अभाव रहा। जे.पी. के आर्थिक एवं राजनीतिक क्रांतिवाद को वे आत्मसात नहीं कर सके। लेकिन लोकतंत्र की बहाली के लिए कम से कम समय में जनता सरकार ने जो कुछ किया वह इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। कांग्रेस काल में विधायिका ही नहीं कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को भी अत्यंत पंगु बना दिया गया था।

जनसंचार के साधनों एवं शिक्षण संस्थाओं की स्वायत्ता के साथ भी अन्याय हुए। असल में जिस दल में आंतरिक लोकतंत्र न रहेगा, उससे बाहर भी लोकतंत्र की ज्यादा उम्मीद भी नहीं की जा सकती है। असल में पार्टी के अन्दर विरोध का स्थान नहीं है एवं व्यक्ति पूजा की पराकाष्ठा है। कांग्रेस की इस राजनीतिक संस्कृति का सहना सचमुच घातक है। जनता संस्कृति में आंतरिक लोकतंत्र एवं विरोध, प्रतिरोध की आवश्यकता अधिक है जिसका दुष्परिणाम हम इसके सतत विखंडन में देखते हैं। जे.पी. आन्दोलन की विरासत जितनी तात्कालिक रही, उससे अधिक दूरगामी रही है। यहाँ हमें एक 'समाजवादी राष्ट्रवाद' एवं 'गतिशील लोकतंत्र' का सपना मिला जो भारत के भविष्य के लिए प्रासंगिक है। आज देश को हिन्दू-मुस्लिम कट्टरवाद और सिख कट्टरवाद दोनों कमज़ोर कर रहे हैं। जे.पी. आन्दोलन ने हिन्दू-मुसलमान और सिख तीनों को जोड़ा। इसी तरह जे.पी.आन्दोलन "लोकतंत्र की वापसी करके औपचारिक लोकतंत्र" तक संतुष्ट नहीं रहा बल्कि उसने लोगों का ध्यान सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र की तरफ भी खींचा। आज जो काम के अधिकार या सामाजिक न्याय की अनुगूंज सुनाई पड़ती है, उसके पीछे जे.पी. आन्दोलन की निष्ठा है। सबसे बड़ी बात कि जे.पी. ने जनांदोलनों को सत्य एवं अहिंसा पर चलाने की जो सफल कोशिश की, उससे राजनीति को एक नैतिक आयाम मिला। आज इसी पर आघात होने के कारण हिंसा और आतंकवाद एवं अन्तर्वाद की राजनीति देश के लिए खतरा सिद्ध हो रही है।

अंत:करण आत्मा का प्रकाश है जो कि हमारे मानसिक ह्रदय की वीथिका में निरन्तरता से प्रज्वलित रहता है। यह उतना ही असली है जितनी जिन्दगी। जब भी न्यायोचितता के विरोध में कोई विचार जन्म लेता है या उसके खिलाफ कोई कार्य किया जाता है, प्रतिरोध में अपनी आवाज को गुन्ज़ाती है। अंत:करण सत्य का एक रूप है जिसे हमारे आनुवांशिक प्रवृत्ति में अपने कर्मों के ज्ञान और अच्छे-बुरे के बारे में भावना स्वरूप प्रतिस्थापित किया गया है।

केवल साहसी और गुणी व्यक्ति ही अंत:करण के यन्त्र का उपयोग करने की क्षमता रखते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही अपनी अंतरात्मा की आवाज को सुनने की क्षमता रखते हैं। दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति में यह विशेषता नहीं होती है। पापकर्म अथवा भ्रष्टाचार द्वारा उसके अंत:करण के संवेदनशील गुण नष्ट कर दिए

जाते हैं, इसलिए वह सही और गलत में विभेद करने में अक्षम हो जाता है। सरकारों, संस्थाओं, व्यापारिक प्रतिष्ठानों और प्रमुख संगठनों द्वारा उनके इस गुण तत्व के स्वत: उपयोग की योग्यता का विकास करना चाहिए। पवित्र अंत:करण को काम में लेने की बुद्धि उन्हें स्वाधीनता का आनंद लेने के लिए प्रेरित करेगी। जैसे ही एक बार अंत:करण निर्मल होगा, इससे खुली पुस्तक बनने में और सभी दावेदारों को उपलब्ध सूचना देने में कोई दिक्कत नहीं आयेगी। 13 अक्टूबर, 2005 का दिन आज़ादी के बाद की ऐतिहासिक घटना का साक्षी बना। उस दिन ब्यावर और उसके आस-पास के लोग यहाँ सूचना का अधिकार अधिनियम के लिए चले आन्दोलन में ब्यावर के आम औ'खास की भूमिका को लेकर गौरवान्वित महसूस कर रहे थे।

धरने-आन्दोलन ब्यावर के लिए नई बात नहीं थे, लेकिन यह धरना अलग ही तरह का था। रोटी, कपड़ा और मकान की मांग करने के बजाए ये आन्दोलनकारी सूचना के अधिकार की मांग कर रहे थे। ये लोग विकास कार्यों पर होने वाले खर्चों का प्रामाणिक विवरण चाहते थे। यह मांग सबसे पहले आस-पास के गांवों में उठी। ब्यावर और समूचे भारत के लिए, गाँव वालों की ओर से उठने वाली मांगों से यह आश्चर्यजनक रूप से अलग थी। शायद ही तब किसी को पता था कि सूचना के अधिकार का यह धरना राष्ट्रव्यापी आन्दोलन में बदल जाएगा। ब्यावर के लोगों को समझने में थोड़ी देर लगी कि आन्दोलनकारियों की मांग शासन व्यवस्था में सहभागिता का प्रभावी उपकरण बन सकती है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि गरीबों को स्वतंत्रता और जनतंत्र जैसी चीज़ों से क्या मतलब, उन्हें तो केवल भोजन चाहिए। अंतर केवल यह है कि गरीब इस सत्यता को औरों से बेहतर तरीके से जानते हैं। साथ ही उन्हें यह भी मालूम है कि उन्हें एक ऐसे मंच की जरूरत है जहाँ से वे इन बुनियादी जरूरतों के अभाव का विरोध कर सकें। वास्तव में निर्धन लोग ही प्रजातंत्र का असली महत्त्व जानते हैं। उन्हें इस बात का भी पता है कि शताब्दियों से उनके पास जितनी ताकत थी, उससे कहीं ज्यादा राजनीतिक शक्ति उन्हें पांच वर्षों में एक बार मतदान के अधिकार से मिलती है। इन्हीं लोगों ने संविधान में उल्लेखित एक-एक स्वतंत्रता के लिए लड़ाई लड़ी है। उन्हें यह भी मालूम है कि उच्च वर्ग की आवाज़ किसी भी व्यवस्था में सुनी जायेगी लेकिन गरीब और वंचितों को अपने दुखड़े सुनाने का हक़ केवल प्रजातंत्र में ही मिल सकता है।

राजस्थान के ग्रामीण हलकों में कहावत भी है कि या तो जैक हो या चैक हो। ऐसी ही कहानियों ने पागलपन,अनुदारता तथा कष्टों से मुक्ति के लिए आम लोगों के आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय बना दिया। अपने उद्देश्य की साफ़-साफ़ समझ तथा समस्याओं की पहचान के कारण उनके विचार सीधे अमल में आते गए। एम.के.एस.एस. गरीब किसानों, मजदूरों, स्त्री-पुरुषों का गैर दलीय राजनीतिक संगठन है, जिनमें से अनेक कभी स्कूल भी नहीं गए, इसके बावजूद उनके प्रयासों से सूचना के अधिकार की मांग सशक्त रूप से न केवल उठी बल्कि उन्होंने इसे अकादमिक बहस के दायरे से निकाल, आम लोगों की चर्चा का विषय बना दिया। संगठन को पारदर्शिता तथा सूचना के अधिकार के महत्त्व की समझ, एक सरकार समर्थित रोज़गार कार्यक्रम में संवैधानिक न्यूनतम मजदूरी के भुगतान के लिए संघर्ष करने के क्रम में आई। जब भी मजदूर न्यूनतम मजदूरी की मांग करते,उन्हें बताया जाता कि दस्तावेजों के अनुसार उन्होंने

अभी अपना काम पूरा नहीं किया है। एम.के.एस.एस. जब उनसे रेकॉर्ड दिखाने की बात करता तो सरकारी दस्तावेजों की गोपनीयता के नाम पर उन्हें इन्कार कर दिया जाता था।

इस तरह न्यूनतम मजदूरी की छोटी सी मांग सूचना के अधिकार आन्दोलन का आधार बनी। ब्यावर में अप्रेल 1996 में जब यह आन्दोलन आरम्भ हुआ उन्हीं दिनों देश में संसदीय चुनाव प्रचार आरम्भ हो गया था। इससे नागरिकों को भारत में राजनीति के उस दुश्चक्र का भी पता चल गया था जिसमें उन्हें अयोग्य उम्मीदवारों में से किसी एक को चुनने के लिए मजबूर होना था। इस चुनाव प्रचार के दौरान ब्यावर में जनतंत्र पर बहस हुई तथा उसे पुनर्परिभाषित किया गया। धरने में शामिल लोगों को यह बात धीरे धीरे समझ में आने लगी कि सवाल करने और उनके जवाब मांगने के अधिकार का सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से इस्तेमाल कर वे नियंत्रण अभिजन से लेकर आमजन के हाथ में सौंप सकते हैं। शासन में भागीदारी की दिशा में यह पहला कदम था। इससे वंचितों और दलितों की आजीविका के अधिकार तथा जनतांत्रिक व्यवस्था में स्वशासन के अधिकार की पुष्टि निहित थी। गरीब धीरे-धीरे यह महसूस करने लगे कि सूचना का अधिकार आन्दोलन का उनके जीवन और आजीविका से गहरा सम्बन्ध है। इसका प्रमाण संघर्ष के दौरान निकले इस नारे से स्वत: ही मिल जाता है-'सूचना का अधिकार, हमारे जीवन का अधिकार।'

यह संघर्ष एक दूसरी आज़ादी के संघर्ष जैसा था। स्वतंत्रता आन्दोलन के नेताओं ने हमें बताया था कि किस तरह हमारी धन-दौलत विदेशी शासक लूट कर के ले जा रहे थे। यह आन्दोलन हमें वह मार्ग दिखता है जिससे देशी शासकों की लूट का खुलासा किया जा सके। इस आन्दोलन के ज़रिए आम लोगों को व्यवस्था की खामियों को दूर करने के लिए सशक्त बनाया जा सकता है। नागरिकों और कार्यकर्ताओं को अब यह ज्ञात होने लगा था कि भारत में जनतंत्र का ही अपहरण कर लिया गया है। इसका सबसे गंभीर पहलू यह है कि शासक वर्ग निरंतर आमजन से दूर होता जा रहा है। शासकों की आंतरिक जवाबदेही केवल एक-दूसरे के प्रति है। दशकों से नागरिकों के सम्मुख नियमित आधार पर गरीबी उन्मूलन,जनवितरण प्रणाली, आरक्षण, राज्यों के गठन, शिक्षा और स्वास्थ्य, अधकचरे भूमिसुधार के नाम पर थोथी बयानबाजी आदि जैसे अंतहीन कार्यक्रम परोसे जा रहे हैं।

तात्कालिक रूप से 1996 में ब्यावर धरने के फलस्वरूप यह मांग प्रबल हुई कि नागरिकों को स्थाई स्वशासी निकायों के दस्तावेजों की प्रमाणित प्रति उपलब्ध करने के लिए पंचायती राज्य अधिनियम में संशोधन किया जाये। खास तौर से इसमें खर्चे संबंधी बिल और शासन के समस्त क्षेत्रों को सूचना का अधिकार देने के लिए एक व्यापक अधिनियम बनाने की मांग की गई। सूचना का अधिकार आन्दोलन की छोटी सफलता को अधिकाधिक पारदर्शिता हासिल करने का उपकरण बनाया गया। सरकारी दस्तावेजों तक पहुँचने के जनता के प्रयासों को काफी विरोध झेलना पड़ा। किन्तु प्रतिरोध का सकारात्मक असर हुआ, अधिक से अधिक लोगों को इसे वैधानिक अधिकार की जरुरत और उसकी सम्भावना समझ में आने लगी। राजस्थान में इस अधिकार को पारित करने में कुछ वर्ष और लग गए। उस कानून में अनेक कमियां

थीं और एक तरह से यह कानून दंतहीन था। इस कानून का पारित होना भर ही अपने में जनता की विजय था। आखिरकार लोक कार्य के बारे में सूचना मांगने पर उसे असंभव, अव्यवहारिक और अकल्पनीय मानने वाली व्यवस्था ने एक व्यापक वैधानिक अधिकार को स्वीकार कर लिया था।

सूचना के अधिकार का एक दूसरा पहलू भी था जिससे इसका नैसर्गिक विकास संभव हुआ। विभिन्न सरकारी दस्तावेजों तक पहुँच के अधिकार में अनेक जनतांत्रिक सिद्धांतों की शक्ति निहित थी। इसके साथ-साथ एक ऐसे मंच की तलाश भी जारी थी जिससे इसकी व्यावहारिकता को प्रदर्शित किया जा सके और स्वशासन के प्रकल्पों को सांस्थानिक स्वरुप प्रदान किया जा सके। ऐसे ही समाधान के रूप में जन सुनवाई का उदय हुआ। जहाँ कोई भी व्यक्ति परोक्ष विषय पर अपनी राय जाहिर कर सकता है। जन सुनवाई में सूचना का विश्लेषण कर अनेक कुकृत्यों का खुलासा किया गया। इससे शोषितों में अपनी व्यथा सार्वजनिक करने की हिम्मत आई। दस्तावेजों के ब्यौरे में उनके प्रमाण उपलब्ध थे। जन-सुनवाइयों का बहुआयामी असर हुआ और सूचना के अधिकार की बदौलत शक्ति संतुलन में परिवर्तन आया। जनसुनवाई की वजह से न सिर्फ सूचना तक पहुँच पाने का महत्त्व उजागर हुआ बल्कि नागरिकों द्वारा नियंत्रित एक ऐसे मंच, जहाँ उक्त सूचना का इस्तेमाल हो सके, की आवश्यकता भी पुष्ट हुई। इस प्रकार कानून बनाकर सूचना के अधिकार का सांस्थानिक स्वरुप प्रदान करने के साथ-साथ जन-सुनवाइयों को सांस्थानिक रूप प्रदान करने के लिए भी संघर्ष चलाया गया। जन लेखा परीक्षा, जिसे पंचायती राज अधिनियम में सामाजिक लेखा परीक्षा का नाम दिया गया, को कानूनी स्वीकृति प्रदान की गई। इस कानूनी प्रावधान में स्थानीय शासन के समस्त क्रिया-कलापों की जाँच का अधिकार भी शामिल था।

राजस्थान का कानून हालाँकि भारत में ऐसा पहला कानून है, लेकिन इसमें दंड का प्रावधान नहीं है। दोषी अधिकारियों के खिलाफ लोक सेवा आचरण विनियम के तहत ही कार्यवाही की जा सकती है। लेकिन यह विनियम तो स्वयं काफी बदनाम और कठिन है। अत: सूचना का अधिकार अधिनियम की कमियों की वजह से राष्ट्रीय कानून के स्वरूप को लेकर नागरिकों की जागरूकता और बढ़ी तथा जिन राज्यों में यह कानून पास हो चुका था वहां उन्होंने इसके लिए अपनी मांग तेज कर दी। जो भी कानून बनाए गए थे उनसे यह प्रकट हुआ कि न केवल श्रमिकों हेतु धन प्रयोग के निर्धारित नीतिगत उद्देश्यों की अवहेलना की जा रही थी, बल्कि उनका इस्तेमाल भ्रष्ट आचरण पर पर्दा डालने के लिए भी किया जा रहा था। अब सरपंच वह कार्य कर रहे हैं जो उन्हें काफी पहले कर लेना चाहिए था। अब वे पहले ही स्पष्ट कर रहे हैं कि दस्तावेजों में कोई हेरफेर नहीं करेंगे। साथ ही, सरकार पर भी नीतिगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अधिक प्रगतिशील और समर्पित दृष्टिकोण अपनाने हेतु दबाव बनाया जा रहा है। जैसे-जैसे नागरिक तथा उनके संगठन लेखा परीक्षा, आय-आंकड़ों तथा विभिन्न जाँच रिपोर्टों की प्रतियों की मांग कर रहे हैं, वैसे ही केंद्र सरकार की एजेंसियों को भी उन्हीं सवालों से रूबरू होना पड़ रहा है जिन सवालों से पंचायत राज संगठनों को होना पड़ा था।

सूचना के अधिकार का दूसरा पहलू भी है। यह सूचना के प्रयोगकर्ता को भी पारदर्शिता तथा जवाबदेही का समान मानक अपनाने के लिए बाध्य करता है। राजस्थान के सूचना के अधिकार की मांग जब प्रबल हुई तो राजनीतिक व्यवस्था ने अपने अनेक मंचों से नागरिक संगठनों तथा स्वयंसेवी संस्थाओं से अपने लेखों का खुलासा करने की मांग की। निश्चय ही इससे एक स्वस्थ परंपरा की शुरुआत हुई और पारदर्शिता बैठकें आयोजित की जाने लगी जिनमें स्वयंसेवी संगठन अपने कार्यक्षेत्र के लोगों के सम्मुख अपने लेखों का विवरण रखने लगे। भविष्य में इसकी परिणति वार्ड सभा एवं ग्राम सभा के जरिए स्वयंसेवी संगठनों के लेखे वृहत्तर समुदाय के सम्मुख रखने में हो सकती है । पारदर्शिता बैठकों के फलस्वरूप लोग कोष प्राप्त करने या न प्राप्त करने वाले दोनों तरह के संगठनों की गतिविधियों की योजना बनाने, उनके क्रियान्वयन और देखरेख में और अधिक रुचि ले पाएंगे।

इस आन्दोलन ने हमेशा यह स्वीकार किया कि उसकी ताकत अन्य आन्दोलन के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध में निहित है। इस सहकारिता से ही इसे रचनात्मकता और ताकत मिलेगी। आज अनेक नागरिक संगठन अपने संघर्ष में सूचना के अधिकार को हथियार के रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं। उदाहरण के रूप में, राजस्थान के महिला आन्दोलन ने इसका प्रयोग महिलाओं के खिलाफ अत्याचार के मामलों में हुई प्रगति जानने के लिए किया। देश भर में अनेक नागरिक स्वातंत्र्य और मानवाधिकार समूह भी अब पुलिस और जेल प्रशासन में पारदर्शिता एवं जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए सूचना के अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं। कारखानों और बांधों के द्वारा उजड़े लोग, राशन डीलर के द्वारा हक़ नकारे गए लोग, प्रदूषण फ़ैलाने वाले उद्योगों से प्रभावित लोग, अपने खेतों और घरों से उजड़े वनवासी, ये सभी अपने अधिकार सुनिश्चित करने के लिए सूचना के अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं। अधिकतर मामलों में अब भी निश्चित समय सीमा अथवा अपेक्षित तरीके से सूचना उपलब्ध नहीं कराई जा रही है। लेकिन अब लोगों को मांगी गई सूचना देने से एकदम इंकार कर देना लगभग असंभव हो गया है। जैसे-जैसे विभिन्न आन्दोलनकारी समूह अपने प्रश्नों को धारदार बनाते जाएँगे, वैसे-वैसे व्यवस्था उन्हें सूचनाएं देने के लिए विवश होगी। आशा है कि जनतंत्र को अपने लिए अधिक अर्थपूर्ण बनाने हेतु लोगों द्वारा अधिक जानकारियां मांग कर जनतान्त्रिक ढाँचों को परिवर्तित करने की प्रक्रिया बढ़ती ही जाएगी। राष्ट्रीय अधिनियम के कठोर प्रावधानों के फलस्वरूप अब शासन के उन हिस्सों तक पहुँच पाना भी संभव हो सकेगा, जो अभी तक सर्वथा अगम्य थे।

अब ऐसे अनेक प्रकरण हैं जिनमें व्यक्तियों ने सत्ता केन्द्रों की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए सूचना के अधिकार का उपयोग किया। जवाजा में प्राथमिक विद्यालय के अध्यापकों की नियुक्ति के तरीकों से असंतुष्ट आवेदकों ने भी सूचना के अधिकार का इस्तेमाल करते हुए साक्षात्कार संबंधी प्रपत्र दिखाने की मांग की, जिनके आधार पर चयन किया गया था। महाराष्ट्र में अन्ना हजारे के नेतृत्व में चले आन्दोलन के फलस्वरूप वहां देश का सर्वोत्तम राज्य स्तरीय अधिनियम पारित हुआ। राष्ट्रीय अधिनियम के अनेक मुद्दों पर इसे ही मॉडल बनाया गया है। केन्द्रीय अधिनियम के प्रभावी हो जाने के बाद अनेक राज्य अपने अपने कानून वापस ले रहे हैं। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि केन्द्रीय अधिनियम को स्वरुप प्रदान करने में राज्य के

अनुभवों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। राष्ट्रीय कानून पास करने और उनके विनियम तैयार करने के क्रम में संगठनों और समान विचारधारा वाले लोगों का प्रभावशाली और बड़ा नेटवर्क तैयार हो गया है। कार्मिक विभाग द्वारा फाइलों पर की गई टिप्पणियों को सूचना के अधिकार अधिनियम के दायरे से बाहर रखने के प्रयासों के मद्देनज़र आने वाले समय में इस नेटवर्क की परीक्षा होगी। संगठनों से बाहर लोगों के बढ़ते जागरूकता स्तर और उनकी मांग से लोकसभा में इस मुद्दे के जोर पकड़ने के आसार हैं।

भारत में सूचना के अधिकार का प्रभाव काफी दूर तक प्रक्षेपित हुआ है। सामाजिक लेखा परीक्षण तथा जन-सुनवाइयों द्वारा सूचना के अधिकार को सांस्थानिक स्वरुप मिलने, कुछ मामलों में शानदार कार्यवाही होने और इस तथ्य के प्रकाश में कि सूचना के अधिकार से कोई भी व्यक्ति किसी भी अधिकारी के गलत कार्यों की जांच स्वयं प्रपत्रों की जाँच द्वारा कर सकता है, मौजूदा भ्रष्टाचार के माहौल पर विस्मयकारी और नाटकीय असर हुआ है। उदहारण के तौर पर राजस्थान में 2001-2002 के दौरान 600 करोड़ रूपए के सूखा राहत कार्यक्रम में भ्रष्टाचार का स्तर कम रहने में सूचना के अधिकार अभियान के योगदान को सबने स्वीकार किया है। इस आन्दोलन से विकास तेज़ और उसकी प्राथमिकताओं की वास्तविक जाँच को भी बल मिला है। पहली बार ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज से जुड़े नीतिगत बन्धनों को समाप्त करने के उद्देश्य से निपटाया जा रहा है। सूचना के अधिकार से व्यक्तिगत शिकायतों के निपटारे में मदद तो मिलती ही है, इससे बड़ा परिवर्तन तभी संभव है जब एक अकेला प्रश्न पूरे समुदाय का प्रश्न बन जाए और इस तरह जन आन्दोलन का हिस्सा बने।

यह अभियान अनेक विवादास्पद मुद्दों पर ध्यान खींच चुका है। जैसे-जैसे पारदर्शी शासनतंत्र को समाज स्वीकार करता जाएगा, अन्य मामले बहस का मुद्दा बनते रहेंगे। मौजूदा कानून और इसके क्रियान्वयन में पहली चुनौती यह है कि इसमें व्याप्त कमियों को कैसे दूर किया जाए? जिन राज्यों में राज्य स्तरीय कानून मौजूद रहेगा, यहाँ यह चुनौती रहेगी कि उनका उपयोग वैधानिक स्थिति में सुधार के लिए हो न कि उन्हें दिग्भ्रमित तथा कुंद करने के अवसर के रूप में। इसका एक अनुपूरक यह हो सकता है कि सूचनाएँ हासिल कर लेने तथा उन्हें संम्बद्ध अधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत कर देने के बाद भी उनकी निष्क्रियता बनी रहने पर विरोध किया जाए। इसके लिए निश्चित रूप से औपचारिक न्याय की प्रक्रिया को जनता के प्रति जवाबदेह बनाना होगा अथवा उसे बदल देना होगा क्योंकि अब तक इसे शक्तिशाली लोगों की रक्षा और परिवर्तनकारियों के दमन के लिए प्रयोग किया जाता रहा है। 1998 के शुरुआत में एम.के.एस.एस. ने जन सुनवाई की प्रक्रिया शुरू की थी। राजस्थान में पंचायती राज कानून में संशोधन के बाद सरपंचों और कर्मचारियों के सम्मुख भ्रष्टाचार के सबूत प्रस्तुत किये जाने पर उन्हें सार्वजनिक रूप से माफी मांगनी पड़ी। यही नहीं, उन्होंने गबन की गई पूरी राशि भी पंचायत को वापस की। हालाँकि नागरिक संगठनों द्वारा आयोजित जनसुनवाइयों की वैधता और गुनहगारों के गुनाह तय करने के अधिकार पर सरकारी अधिकारियों द्वारा सवाल उठाए गए। लेकिन ये सवाल वैध थे, इसलिए अभियान की ओर से वार्ड सभाओं और ग्राम सभाओं की लोक लेखा परीक्षा को सांस्थानिक स्वरूप प्रदान किये जाने की मांग की गई।

सूचना को जनता तक पहुँचने की प्रक्रिया को अवरुद्ध करने की मौलिक वजह अधिकारियों की ज़ाहिर अनिच्छा है। परिवर्तनकारी प्रावधानों को पारित कर देना, लेकिन उनको अमल में लाने की अनिच्छा यहाँ के शासक वर्ग का स्वभाव रहा है। उदाहरण के लिए, पूरे राजस्थान में वार्ड सभाओं में आयोजित बैठकों में पारित संकल्पों में से बहुत थोड़े पर ही सरकारी मशीनरी ने निगाह डाली या कार्यवाही की। फलत: इन संकल्पों की विश्वसनीयता समाप्त होने का खतरा पैदा हो गया। स्वाभाविक रूप से इनमें लोगों की रूचि कम होगी और अधिकारी लोग यह कहेंगे कि लोग इस जनमंच की उपेक्षा करते हैं। पारदर्शिता और जवाबदेही आज के समय में फैशनेबल शब्द हैं जिन्हें पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों इस्तेमाल करते हैं, लेकिन पारदर्शिता और भ्रष्टाचार विरोधी बहस में यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रश्न करने वाला ही उत्तर का मापदंड तय करता है। जब सभी पक्ष के लोगों की भाषा समान होगी तभी कार्यवाही सही निष्कर्ष तक पहुंचेगी। इसलिए सूचना का अधिकार अभियान को वंचितों और गरीबों की जन- कार्यवाही पर जोर डालते रहना होगा ताकि जवाबदेही और पारदर्शिता की बहस में उनके अस्तित्व के बुनियादी सवाल को न दबा दिया जाए।

सूचना के अधिकार आन्दोलन से लोगों में सहभागी लोकतंत्र के लिए जरूरी संस्कृति, संस्था और सिद्धांत निर्मित करने के लिए प्रयास करने की आशा जगी है। सूचना का अधिकार अंतत: शासन में समान भागीदारी की मांग है। साथ ही, यह किसी के भी द्वारा सत्ता के गलत इस्तेमाल पर अंकुश भी लगाता है। जनतांत्रिक व्यवस्था में इसकी वैधता से परिवर्तन और सशक्तिकरण के लिए संघर्ष को अपने क्षितिज को और व्यापक करने की संभावना बनती है। अधिकार के प्रयोग करने वाले को भी जवाबदेह बनाने की इसकी क्षमता से उक्त सशक्तता और वैधता प्राप्त होती है। एक आन्दोलन के रूप में यह मुद्दा सैद्धांतिक, व्यावहारिक तथा नैतिक दृष्टि से जैसे-जैसे बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे इसकी नई परतें खुलेंगी और नए प्रश्न खड़े किये जाएँगे। ये ही इसकी सम्भावना और चुनौतियाँ हैं। सूचना के प्रयोग की नई संभावनाएं पैदा हो रहीं हैं। आने वाले समय में इसके रचनात्मक उपयोग का दायरा व्यापक करते रहना ही अभियान की सबसे बड़ी चुनौती होगी।

केन्द्रीय सूचना आयोग नागरिक समाज को सूचना दिलाने के अंतिम विकल्प के रूप में अपनी भूमिका निभा रहा है। इस अभियान ने सभी नागरिकों और नागरिक समाज से जुड़े सभी प्रबुद्ध महानुभावों को सरकार और सूचना आयोग के साथ विचार-विमर्श का अवसर दिया है ताकि वे सामाजिक मुद्दों और मसलों पर चर्चा करें और अपने सुझावों से अवगत कराएँ।

❑❑❑❑❑

पंचम अध्याय

अन्ना आन्दोलन : - अन्ना हजारे

- अरविन्द केजरीवाल

5.1 प्रस्तावना

भारतीय गाँवों के प्रमुख नायक चाहे जो किसी बड़े निर्दलीय राजनीतिक आन्दोलन में हों या जिनसे ग्रामीण भारत की रुचि का पता चलता हो, ऐसे ज्यादातर लोग शहरों से ही आते हैं। हाल ही के दशकों में इस तरह के नायकों का आना गाँवों से भी शुरू हुआ है। (आशुतोष, 2012, पृ. 7) अंग्रेजों की कलुषित दासता से भारत को मुक्ति दिलाने के लिए राष्ट्रपिता के रूप में गांधी अवतरित हुए; कांग्रेस के वर्चस्व को तोड़ने का काम डॉक्टर राममनोहर लोहिया ने 1967 में किया; देश को आपातकालीन अंधेरगर्दी से छुटकारा दिलाने हेतु लोकनायक जयप्रकाश नारायण प्रकाशवान हुए तो सन 1991 ई. से देश के नागरिकों को भ्रष्टाचार से मुक्ति दिलाने के लिए अन्ना हजारे का अवतरण हुआ। (रिजवी, 2012, पृ. 4)

अन्ना राजनीति में उसी भाषा और तर्ज का उपयोग करते हैं जिससे समाज की मुख्य धारा नाराज होती हैं और जिसमें कुछ लोग महसूस करते हैं कि उनका अनाधिकृत प्रवेश हो चुका है। अन्ना का मतलब है कि वे भारतीयों के अलग-अलग वर्गों के लिए एक अलग व्यक्तित्व हैं। हम यह मानने के लिए मजबूर हैं कि वे अपने प्रशंसकों और निंदकों की रचना हैं। भारत के कई लोग उनकी तरह के व्यक्तित्व का बेसब्री से इंतजार कर रहे थे जो कि उन्हें संचालित करने के लिए एक मसले को उठाये। भ्रष्टाचार ने भारत में अति सम्पन्न वर्ग और मध्य वर्ग को ही नहीं छुआ है,बल्कि इसने शहरी मलिन बस्तियों में रहने वालों और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों पर भी अपना प्रभाव डाला है। उनके पास भी इस समस्या पर अपने अनुसार देखने और अपने तरीके का उपयोग करने का अधिकार है। अन्ना के जनसंवाद में निष्कपटता और अति सरलता का समावेश पाया जाता है जिसका पिछले तीन दशकों में भारतीय राजनीति से विलोप हो गया है। यह भारतीय राजनीति को मूल भाषा का एक महत्त्वपूर्ण संकेत प्रदान करता है। राजनेताओं और राजनीति के प्रति पनपे अविश्वास से होती तकलीफ अब दुनिया की लोकतंत्रीय राजनीति का एक हिस्सा बनती जा रही है। (आशुतोष, 2012, पृ. 9)

अन्ना के अधिकतर व्यर्थ की राजनीति विरोधी बयान उनके स्वयं के अनुभवों से आते हैं। वे अपने समय के परिचायक और अपनी अनुभूतियों के व्यक्ति है। वे चारों तरफ फैले भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद पर आम नागरिक की बैचेनी और नाराजगी का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे शायद इस तगड़े संशयवाद,चतुराई और जीवन-सुरक्षा के लिए युद्ध की भावना को भूल रहे हैं,जिसने भारतीय मतदाताओं को जन्म दिया है। भारत में लोकतांत्रिक प्रणाली की वैधानिकता एक महत्त्व रखती है, समाज के निचले स्तर के लिए मत का अधिकार पूरी तरह से ठीक-ठाक तो नहीं है पर उनकी राजनीतिक सामर्थ्य को सुरक्षित रखने एवं उनके

सामाजिक संचालन को बनाये रखने का साधन अवश्य हैं। लोकतांत्रिक राजनीति हमारे समाज की गति को बनाये रखने का प्रमुख बल है। (आशुतोष, 2012, पृ. 10)

भारतीय लोकतंत्र ने अन्ना को यह भी सिखा दिया है कि लोकतान्त्रिक राजनीति में यदि कोई उद्दंड विद्यार्थी है तो उसे राजनीति की कला का दूसरा पाठ भी पढ़ना होगा। ऐसा सोचते हुए कि सभी दुश्मन हमारे चरणों में गिर जायेंगे, जिन्दा रहते हुए भारतीय राजनीति में एक दिन निकाल लेना एक बहादुरी से बेहतर माना जाता है। भ्रष्टाचार एक उन्नत और सफल संयुक्त उपक्रम है जो कि बहुत ही विश्वसनीयता और आज्ञाकारिता के साथ एक अदृश्य नियमावली का अनुसरण करता है। लोकपाल बिल पर विचार चालीस सालों से संसद में धूल खा रहा है। गठबंधन वाली सरकारों में से एक तो भ्रष्टाचार के मुद्दे पर ही सत्ता में आई थी। इनमें किसी ने भी इस समस्या को संजीदगी से नहीं लिया बल्कि ये सभी वित्तीय संस्थाओं और व्यापारिक घरानों के साथ मिलकर चोरी में सहयोगी रहे। भारतीय लोकतंत्र की ऊर्जा और जोश काफी हद तक चोरी और लूट पर निर्भर है। भ्रष्टाचार एक संगठित और भारतीय लोकतंत्र में अच्छी तरह भीतर तक घुसा हुआ पूर्ण विकसित सिद्धांत बन चुका है। बहुत स्पष्टता से कहा जाये तो रोजमर्रा की राजनीति की कठोर वास्तविकताओं के बावजूद राजनीतिक नैतिकता की जगह अभी बची हुई है। (आशुतोष, 2012, पृ. 12)

5.2 अन्ना हजारे का व्यक्तित्व एवं नेतृत्व

भ्रष्टाचार के खिलाफ आन्दोलन में आम आदमी को जोड़ने वाले सामाजिक कार्यकर्ता अन्ना हजारे का मूल नाम किशन बापट बाबू राव हजारे है। अन्ना का जन्म 15 जून,1937 को महाराष्ट्र के अहमद नगर जिले के छोटे से गाँव भिंगर में हुआ था। माता-पिता की बड़ी संतान होने के कारण उन्हें अन्ना पुकारा जाता है। पारिवारिक परिवेश में बड़े को अन्ना कहा गया है। सन 1952 में अन्ना के पिता ने अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया और वे अपने पुश्तैनी गाँव सिद्धि लौट आए। (ठाकुर एवम राणा, 2012, पृ. 11) चिंतन और मनन की स्वभावगत खूबियाँ होने के कारण वे जहाँ अपनी ज़िम्मेदारी को पूरी गंभीरता से महसूस करते थे, वहीं इस बात की आशा करना भी चाह करते थे कि समाज के दूसरे लोग भी अपनी-अपनी ज़िम्मेदारी का निर्वाह करें। अन्याय, अत्याचार, शोषण और भ्रष्टाचार होते वे नहीं देख सकते थे। उनके मन का आक्रोश फूट पड़ता था। (रिजवी, 2012, पृ. 11-12)

अन्ना हजारे ने भारतीय सेना में एक वाहन चालक के रूप में अपनी सेवा प्रारम्भ की। उन्होंने अपना खाली समय स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी और आचार्य विनोबा भावे की किताबों में बिताया। सन 1965 में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया। 12 नवम्बर 1965 को पकिस्तान ने भारतीय अड्डे पर हमला कर दिया और उस हमले में हजारे के सभी साथी शहीद हो गए। उनकी आधिकारिक जीवनी के अनुसार, हजारे का मानना है कि वह, उनके जीवन में परिवर्तन लानेवाला एक मोड़ था क्योंकि इससे उन्हें जीवन का एक उद्देश्य मिला। स्वामी विवेकानंद के उपदेशों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। यही वह विशेष

क्षण था, जब 26 वर्षीय हजारे ने अपना जीवन मानव जाति की सेवा में समर्पित करने का व्रत लिया। तब तक सेना में उन्होंने केवल 3 वर्ष पूरे किये थे। अत: आत्म निर्भर रहने के उद्देश्य से वे और 12 वर्ष तक सेना की नौकरी में बने रहे। (ठाकुर एवं राणा, 2012, पृ. 12) सेना से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेने के बाद हजारे सन 1975 में रालेगण सिद्धि गाँव लौट आये। उस समय गाँव की हालत बड़ी दयनीय और भयंकर थी। आरंभ में उन्होंने गाँव के युवाओं को इकठ्ठा करके 'तरुण मंडल' नामक एक संगठन बनाया। उन्होंने पानी का उचित वितरण सुनिश्चित करने के लिए वाटर सप्लाई एसोसिएशन का गठन करने में भी सहायता की, आज यहाँ ग्रामीण विकास कार्यक्रम का व्यावहारिक प्रशिक्षण लेने के लिए देशभर के प्रशिक्षार्थी आते हैं जिनकी संख्या हज़ारों में पहुँच जाती है। (रघुवंशी, 1995, पृ. 44)

आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के अगले चरण के रूप में अन्ना हजारे और युवक समूह ने शराबखोरी का मुद्दा उठाने का निर्णय किया। चूँकि ये संकल्प मंदिर में उठाये गए थे, इसलिए इन्हें एक तरह से धार्मिक वचनबद्धता की मान्यता मिल गयी। शराब बनाने के अड्डे मालिकों ने स्वेच्छा से बंद कर दिए। जो लोग नहीं माने, उन्हें सामाजिक दबाव के आगे झुकना पड़ा, जब युवक समूह ने उनके शराब के अड्डों को तोड़-फोड़ डाला। गाँव से शराब हटाने के साथ-साथ तम्बाकू, सिगरेट और बीड़ी की बिक्री पर भी रोक लगाने का फैसला किया गया। (ठाकुर एवं राणा, 2012, पृ. 13-15)

अन्ना ने 1975 में अपना जीवन सामाजिक उद्देश्य के लिए समर्पित करने का प्रण लिया। उनका मानना था कि उदारता की शुरुआत घर से होती है। उन्होंने गाँव के निवासियों को नहरों, छोटे-छोटे रोक-बांधों और आस- पास की पहाड़ियों में रिसन- तालाबों का निर्माण करने हेतु 'श्रमदान' करने के लिए प्रोत्साहित किया। ऐसे प्रयासों से, जिनके कारण गाँव में पानी की कमी थी,वह समस्या हल हुई और सिंचाई संभव हो सकी। (त्रिपाठी, 2012, पृ. 18)

रालेगण सिद्धि में 'वाटरशेड विकास कार्यक्रम' की सफलता के बाद हजारे ने यह कार्यक्रम पड़ोस के गाँवों में भी दोहराया। इसके परिणाम काफी उत्साहवर्धक रहे। अब यही परियोजना महाराष्ट्र के 80-85 गाँवों में चलाई जा रही है। भारत सरकार हजारे के इस 'वाटरशेड विकास कार्यक्रम' को समझने और देश के अन्य गाँवों में इसे कार्यान्वित करने के उद्देश्य से यहाँ एक प्रशिक्षण केंद्र खोलने की योजना बना रही है। 30 जुलाई 2010 को केन्द्रीय मंत्री सी. पी. जोशी ने अपने विभाग के सचिवों तथा अन्य पदाधिकारियों के साथ रालेगण सिद्धि का दौरा किया और यह जानने समझने की कोशिश की कि हजारे ने मजबूत ग्रामीण नेतृत्व का निर्माण करके अपनी ही शैली में किस तरह के जल विभाजक विकास, संरक्षण और लोक शक्ति की संकल्पना को साकार किया है। (रघुवंशी, 1995, पृ. 17)

पानी बचाकर खेती कर आत्मनिर्भर बनाना, गाँवों में पूर्ण शराबबंदी कराकर उन्होंने गाँव में शिक्षा की आदर्श व्यवस्था स्थापित की और प्रत्येक व्यक्ति को, बालक- बालिका और महिला को शिक्षित करने का मिशन चलाया। यह बात कम रोचक और विस्मयजनक नहीं थी कि रालेगण सिद्धि में आने के 10 वर्षों के अन्दर उन्होंने रालेगण सिद्धि को न केवल भारत का आदर्श गाँव बल्कि विश्व-भर के लिए एक आदर्श

गाँव बना दिया। एक ऐसा आदर्श गाँव जिसे देखने के लिए देश और दुनिया के हज़ारों लोग वहां आते रहते हैं। कुछ लोगों ने तो बाकायदा इस गाँव पर रिसर्च करके डाक्ट्रेट की डिग्रियां भी हासिल की। एक गाँव को सम्पूर्ण रूप से साक्षर, आत्म निर्भर बना देना, अन्ना हजारे की जल संसाधन जुटाने के बाद की दूसरी क्रान्ति थी। रालेगण ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है। अब यह दुनिया के आदर्श गाँवों में शुमार है। (ठाकुर एवं राणा, 2012,पृ. 15-16)

रालेगण में यह जो बदलाव आया है, इससे उन्हें आत्म संतोष हुआ है। गांधीजी सोचते थे कि देश को बदलने से पहले गाँव को बदलने की आवश्यकता है, और गाँव बदलने के लिए गाँव के आदमी को बदलना होगा। यह परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। जब तक आदमी की सोच नहीं बदलती तब तक बदलाव नहीं आ सकता। अन्ना ने 1975 ई. में अपने सामाजिक जीवन की शुरुआत की थी। 1990 ई. तक अन्ना हजारे की पहचान एक सामाजिक कार्यकर्ता की थी। (त्रिपाठी, 2012, पृ. 17)

अन्ना को सही रूप में जानने के लिए पहले अन्ना की सोच और व्यक्तित्व को जानना ज़रूरी है। उनका व्यक्तित्व गांधीवादी है। वे स्वामी विवेकानंद को अपने जीवन का प्रेरणास्रोत मानते हैं। वे विनोबा भावे और लाल बहादुर शास्त्री को आदर्श रूप में स्वीकार करते हैं। (ठाकुर एवं राणा, 2012, पृ. 12) अन्ना इंसानियत को सबसे ऊपर मानते हैं। उनकी नज़रों में धर्म और सम्प्रदाय, छोटा या बड़ा, ऊँच-नीच कोई मायने नहीं रखते हैं। वे सबको मनुष्य मात्र रूप में देखते हैं। इंसान-इंसान में कोई फर्क नहीं देखते। गाँवों की तरक्की में देश की तरक्की मानते हैं।अन्ना का जीवन संघर्ष समाज के बदलाव के लिए है। एक आदमी के या देश के सौ या हज़ार आदमी के खुशहाल होने से पूरा देश तो खुशहाल नहीं हो जाता। गरीब और गरीब होते जाते हैं। खुशहाली तो वह होगी जब देश के हर आदमी का आर्थिक स्तर सुधरे। अन्ना कहते हैं- "आर्थिक ऊंच-नीच स्वाभाविक है पर इतना नहीं कि कोई अरबपति है, तो दूसरा दो वक्त की रोटी को तरसता है। यह सामाजिक न्याय नहीं हुआ।" अन्ना कहते हैं- "रालेगण में आइए और देखिये कि आर्थिक विषमता की खाई कैसे भरती है। बगैर रालेगण आए आप इस परिवर्तन को महसूस नहीं कर सकते। यहाँ आर्थिक विषमता नहीं है तभी तो लोग घरों में ताले नहीं लगाते।" (रिजवी, 2012, पृ. 47)

बेईमानी का एक रूप भ्रष्टाचार भी है। अपने काम के प्रति ईमानदार न होना भी एक प्रकार की बेईमानी है। अन्ना के विचार में ये जो सरकारी, अर्द्ध सरकारी दफ्तरों में लोग नौकरी करते हैं, वे अपने कर्त्तव्य के प्रति ईमानदार नहीं हैं। यदि वे ईमानदारी से ऑफिस में पूरे घंटे काम करें, तो कोई काम, कोई फाइल पेंडिंग नहीं रहेगी। सब काम सुचारू रूप से हों। किसी को ज़रुरत न पड़े कि अपने काम कराने के लिए ऑफिसों के चक्कर लगाए तथा काम कराने के लिए पैसे देने की आवश्यकता पड़े। वह स्वच्छ मन और बदले हुए विचार के साथ नौकरी करने आता है। पर कुछ समय बाद ही उसका मन, उसकी आत्मा कलुषित हो जाती है। यदि वह पूर्ण मन के साथ ही अपनी कर्त्तव्य निष्ठा पर डटा रहे, तो औरों को बदल सकता था पर वह खुद ही औरों के रंग में रंग जाता है। वे महात्मा गाँधी के अनुयायी थे जिन्होंने सत्य,

अहिंसा का रास्ता अपनाया और देश को अंग्रेजों से खाली करा भारत को आज़ाद कराया। (रिजवी, 2012, पृ. 49)

स्वतंत्रता संघर्ष के प्रमुख नेता सी.राजगोपालाचारी ने अपनी पुस्तक 'हाउ टू सेव इंडियन डेमोक्रेसी फ्रॉम मनी पॉवर' में लिखा है कि "गांधीजी राजनीति का आध्यात्मीकरण करना चाहते थे।" उनके विचार से गांधी को पूरा विश्वास था कि हम राजनीति और नैतिकता को अलग नहीं रख सकते। (एन.विट्ठल, करप्शन इन इंडिया, पृ. 52) गांधीजी सच्चाई और विश्वसनीयता अर्थात निजी ईमानदारी पर आधारित राजनीति का पुर्ननिर्माण चाहते थे। गांधीजी जिस व्यक्तिगत ईमानदारी की बात करते थे वह सार्वजनिक और निजी दोनों ही जगहों से समाप्त होने लगी थी। श्रीमती इंदिरा गांधी के आने के साथ राजनीति और देश के राष्ट्रीय चरित्र में बदलाव आया। भारतीय राज्य सत्ता के केन्द्रीयकरण की वजह से बहुत अधिक परेशान थे। (गुप्ते, 1992, पृ. 377) राजनीतिक कार्यकर्ताओं की जगह राजनीतिक चमचों ने ले ली और इन राजनीतिक चापलूसों ने सत्ता के सभी ढाँचों को हथिया लिया। अन्ना के अनशन की ही तरह जयप्रकाश का आन्दोलन भी भारतीय लोकतंत्र की योजनाबद्ध असफलता की एक प्रतिक्रिया थी। (आशुतोष, 2012, पृ. 36) बिपिन चन्द्र ने अपनी पुस्तक 'इंडिया आफ्टर इंडिपेंडेंस: 1947-2000' में लिखा है "सरकार की सुधार करने की काबलियत को समाज के अधिकतर क्षेत्रों में बढ़ते भ्रष्टाचार के द्वारा कमजोर कर दिया गया था और यह सभी को पता है कि शासन करने वाली पार्टी का उच्च वर्ग इसमें शामिल था।" (चंद्रा, 2000, पृ. 247)

दूसरी ओर अन्ना हैं, जो आज देश में परिवर्तन की, दूसरी आज़ादी के अगुवा बने हैं। लाखों लोग उनके साथ हैं। पर नेतृत्व के लिए इंसान के स्वयं के चरित्र और व्यक्तित्व का साफ़ सुथरा होना आवश्यक है। उसमें त्याग की भावना हो। अन्ना साफ़ सुथरी छवि के व्यक्ति हैं। उनके पास निवास के लिए कोई घर नहीं है। भगवान् के घर में (मंदिर प्रांगण के एक कक्ष) सोते हैं। सादा जीवन, सादे वस्त्र (गांधीवादी वेशभूषा) धारण करते हैं। (रिजवी, 2012, पृ. 49)

दिल्ली के रामलीला मैदान के मंच से अन्ना की पुकार 'स्वतंत्रता के दूसरे संघर्ष' की तरह ही जे.पी. ने भी सम्पूर्ण क्रांति का बिगुल बजाया था। विपिन चंद्रा के अनुसार "यह एक ऐसी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष था जो हर किसी को भ्रष्ट होने के लिए मजबूर करती है।" (चंद्रा, 2000, पृ. 248) संजय गांधी इस व्यवस्था के प्रतीक बन चुके थे। भारतीय लोकतंत्र को ठीक होना अभी शेष था कि तभी उन्होंने अपने तानाशाही रवैये और भ्रष्ट राजनीतिक व्यवहार के बावजूद देश में आपातकाल की घोषणा कर दी तथा चुनाव करवा दिए। जिसका परिणाम यह हुआ कि केंद्र में बिना काँग्रेस वाली सरकार बनी। यह नई सरकार जनता पार्टी की थी जो अपने अंतर्विरोधों की वजह से लम्बे समय तक नहीं चली। राजीव गांधी देश की बेहतरी के लिए कुछ करना चाहते थे। देश में तकनीकि क्रांति का रास्ता खोला लेकिन बोफोर्स कांड में शामिल होने के आरोपों से बच नहीं सके। वी.पी. सिंह ने सत्ता के उच्च स्तर पर भ्रष्टाचार के खिलाफ जोरदार अभियान चलाया था। शहरी मध्य वर्ग अन्ना की तरह उनके प्रति दीवाना था। भ्रष्टाचार के

खिलाफ उनका अभियान जे.पी. के आन्दोलन की तरह प्रभावशाली था। जिस तरह 1977 में श्रीमती इंदिरा गाँधी हारीं, उसी तरह 1989 में राजीव गांधी चुनाव हार गए। माँ और बेटे दोनों के लिए भ्रष्टाचार ही हार का कारण बना। जिन्होंने भी उनकी जगह ली, वे अपने पहले वालों से और भी अधिक बुरे निकले। भारतीय राजनीति इस समय अशांत दौर से गुजर रही थी। वर्ष 1990 में तत्कालीन प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव ने संसदीय व्यवस्था में पहली बार घटिया दाँव-पेंच खेले जो कि राज्यों में रोजमर्रा की चीज हो गई है। इसलिए टीम अन्ना की यह मांग गलत नहीं थी कि संसद सदस्यों को उनके कार्यों के लिए उत्तरदायी बनाया जाये। टीम अन्ना की इस मांग का समर्थन करना चाहिए कि सी बी आई को सरकारी नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए। एक के बाद एक आने वाली सरकारों के साथ भ्रष्टाचार भी मजबूत से मजबूत होता गया। जे.पी. और वी.पी. सिंह जो गलती कर चुके थे वह गलती अन्ना ने नहीं दोहराई। उन्होंने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि वे सरकार बदलने नहीं आये बल्कि वे तो व्यवस्था परिवर्तन चाहते हैं। अन्ना अनशन के रचयिता अरविन्द केजरीवाल ने कहा कि इस राष्ट्रीय बीमारी का इलाज होना चाहिए। (आशुतोष, 2012, पृ. 37-40)

वे देशवासियों के लिए भ्रष्टाचार मिटाने वाले ऐसे मसीहा के रूप में सामने आए जो देश में भ्रष्टाचार मुक्त समाज का निर्माण कर देंगे, ऐसा जनता का विश्वास है। अन्ना ने इस दिशा में वर्षों तक अथक प्रयास किया है। जो कहा, कर के दिखाया, तब जाकर लोगों को विश्वास हुआ। अन्ना के समय-समय पर दिए गए साक्षात्कारों का सार भ्रष्टाचार मिटाने की प्रबल आशा के रूप में सामने आता है। उनके साक्षात्कारों का सार निम्न प्रकार है-"अगर थोड़ी सी कोशिश की जाए तो यह संभव है, बदलाव आ सकता है, अवश्य आ सकता है। इसके लिए दृढ इच्छा शक्ति होनी चाहिए। मेरा मानना है 99 प्रतिशत लोग घोर चारित्रिक पतन में, भ्रष्टाचार में फंसे हैं पर 1 प्रतिशत तो बचे हुए हैं। यह 1 प्रतिशत ही देश का भाग्य बदल देंगे। जैसा कि मैं अनुभव कर रहा हूँ कि बुराई बढ़ रही है। मैंने चार हज़ार युवकों को पत्र लिखा। मैंने उन्हें लिखा कि युवा शक्ति ही राष्ट्र शक्ति है। दुनिया के कई देशों का कायापलट युवकों ने किया है। वियतनाम को युवकों ने ही बनाया। जापान को ज्वालामुखी की आग से उठाकर खड़ा करने में युवकों का बड़ा योगदान रहा है। मैं यह सोच रहा हूँ कि भारत गाँवों में बसा राष्ट्र है और उसके लिए मैं ग्रामीण विकास का अभियान चलाना चाहता हूँ। क्या आप इस तरह के अभियान में मेरे साथ आने को तैयार है? यदि हाँ, तो इसके लिए आप लोग हमारे रालेगण सिद्धि स्थित प्रशिक्षण केंद्र में आयें। आपको सवेरे 5 बजे उठना होगा। दौड़, व्यायाम, पी.टी., योगा आदि करना होगा। इसके लिए मन से तैयार होना होगा। एक घंटे के लिए आपको अपने हाथ में झाड़ू लेनी होगी। गांधीजी और विनोबा ने हमें बताया है कि झाड़ू में कितनी ताकत होती है। झाड़ू से दुनिया के बड़े-बड़े काम आसान हो गए हैं। जिन-जिन देशों में श्रम की प्रतिष्ठा हुई है, उनका नक्शा बदल गया है। हमारे यहाँ श्रम की प्रतिष्ठा नहीं है।" (रिजवी, 2012, पृ. 49-51)

अन्ना की देश को खड़ा करने की सोच आदर्श सोच है। वे यह दिखाना चाहते हैं कि भौगोलिक स्थितियां कैसी भी हों, सामाजिक स्तर कैसा भी हो परन्तु लीडरशिप साफ़-सुथरी हो तो बदलाव लाया जा सकता है।

5.3 भ्रष्टाचार विरोधी जन आन्दोलन

अन्ना एक गाँव से बढ़कर देश के हर गाँव की बात सोचने लगे थे। उनकी सोच विस्तृत हो गयी थी। इस विस्तृत सोच के साथ उन्होंने प्रदेश की राजनीति को देखा और अनुभव किया कि राज्य हो या केंद्र, हर सरकार में भ्रष्टाचार व्यापक रूप से अपनी पकड़ बनाए हुए है। गाँव से कस्बा, कस्बे से शहर, जिला, प्रदेश और केंद्र की राजनीति पर विचार करने वाले अन्ना ने भ्रष्टाचार को नीचे से ऊपर की ओर मिटाने में जुड़ना अपना कर्त्तव्य समझा।

रालेगण सिद्धि को आदर्श गाँव के रूप में स्थापित करने के बाद अन्ना हजारे सामाजिक सुधार की डगर पर उतर पड़े। उन्होंने भ्रष्टाचार विरोधी जन आन्दोलन के मंच से 1991 में 42 फॉरेस्ट अफसरों के विरुद्ध आन्दोलन का मोर्चा खोल दिया। यह आन्दोलन अन्ना हजारे का प्रथम जन आन्दोलन था। इस जन आन्दोलन से अन्ना हजारे का कद बहुत ऊंचा हो गया। उनकी पहचान प्रांतीय और राष्ट्रीय स्तर पर हो गयी। अभी तक उन्हें ग्राम सुधारक के रूप में जाना जाता था। फॉरेस्ट अफसरों के भ्रष्टाचार के खिलाफ सशक्त आवाज़ उठाने के बाद वे समाज सुधारक जन नेता के रूप में पहचाने जाने लगे।

रालेगण सिद्धि को देश और विश्व में लगातार पहचान देने के कारण अन्ना की लोकप्रियता में तेज़ी से बढ़ोतरी हुई। लेकिन भ्रष्टाचार विरोधी सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में उनकी पहचान 1995 ई. में बनी, जब उन्होंने महाराष्ट्र राज्य के तीन मंत्रियों शशिकांत सुथार, महादेव रविशंकर और बबनराव घोलाप के भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज़ उठाई। अन्ना ने लिखा कि उपरोक्त तीन मंत्रियों को मंत्री पद से न हटाया गया, तो वे गांधीवादी तरीके से अनशन पर बैठ जाएंगे। जब अन्ना ने महाराष्ट्र सूबे के तीन मंत्रियों पर भ्रष्टाचार की उंगली उठाई तथा उनके विरुद्ध अनशन पर बैठने का ऐलान किया तो प्रदेश की सरकार सन्नाटे में आ गयी। अन्ना के साथ विशाल जनमत आ खड़ा हुआ था। हज़ारों-हज़ारों की संख्या में लोग अन्ना के साथ आकर नारे लगा रहे थे-

"अन्ना नहीं आंधी है, यह आज के गाँधी हैं.....।"

अन्ना पर अवमानना का मुकदमा कर दिया। अन्ना अदालत में सबूत नहीं पेश कर पाए, जिसके बाद अदालत ने उन्हें तीन महीने की जेल की सज़ा सुनाई। अन्ना को जेल भेज दिया गया पर चौबीस घंटे के अन्दर ही राज्य सरकार पर इतना भारी दबाव पड़ा कि एक दिन की सज़ा के बाद ही उन्हें जेल से बाहर कर दिया गया। (ठाकुर एवं राणा, 2012, पृ. 23)

सन 2003 ई. आते-आते यह बात देश के सामने स्पष्ट हो गयी कि अन्ना हजारे की विचारधारा गांधीवादी है। वे किसी राजनीतिक विचारधारा से कतई बंधे हुए नहीं हैं। उनकी विचारधारा आम हिन्दुस्तानी की विचारधारा है। अन्ना की विचारधारा कुछ भिन्न प्रकार की है। इन्हें देखने के बाद बेहतर तरीके से जाना जा सकता है कि वे किस प्रकार के व्यक्ति हैं-

"मौजूदा राजनीति के भरोसे न रहें, एक पार्टी आती है, दूसरी जाती है, दूसरी से आशा लगाते हैं पर तीसरी भी वैसी ही निकलती है। दुर्भाग्य है कि हम उसी तरह की चीज़ों से काम चलाने के लिए मजबूर हैं। हमें मौजूदा राजनीति का विकल्प देना चाहिए।"

एक अन्य स्थान पर युवाओं पर भरोसा करते हुए अन्ना कहते हैं-

"युवाओं पर भरोसा कीजिये। परिवार में बचपन से उनमें संस्कार भरिए। जीवन का अर्थ, समाज के प्रति कर्त्तव्य तथा ज़िम्मेदारी यदि आप नहीं मानते, तो संतानों से आपकी उम्मीद सही नहीं है।"

चुनावी राजनीति पर अन्ना का विचार है-

"राजनीति में युवा चुनकर आ रहे हैं, मगर घरानाशाही में बदलाव नहीं आयेगा। जो युवक अपने चरित्र और कर्मठता से चुनकर आएँगे तो बदलाव लाएंगे। ऐसे लोगों को आगे लाने का रास्ता बनाएं।"

उन्होंने सरकार के मंत्रियों के विरुद्ध आवाज़ उठाकर साबित किया कि वे हर उस सरकार के खिलाफ हैं जो भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती हो, हर उस व्यक्ति के विरुद्ध हैं जिसकी संलिप्तता भ्रष्टाचार में होती हो। (रिजवी, 2012, पृ. 61-63)

महात्मा गाँधी के बाद अन्ना हजारे दूसरे व्यक्ति हैं, जिन्होंने भूख हड़ताल और आमरण अनशन को सबसे ज़्यादा बार आंदोलन के रूप में इस्तेमाल किया है। बेईमानी और भ्रष्टाचार मिटाने के फार्मूले का विचार अन्ना ने महाराष्ट्र में चलाये गए अपने प्रथम जन आन्दोलन के बाद प्रकट किये थे।

इसमें दो - तीन बातों पर ध्यान देना होगा-

1. एक भ्रष्टाचार विरोधी जन संगठन बनाना होगा। यदि कोई मंत्री, विधायक, राजनेता, अधिकारी भ्रष्टाचार करते हैं तो उनकी जांच करने की मांग उठायी जाए।
2. मांग पूरी न हो तो उसके खिलाफ अभियान चलाया जाए और व्यवस्था को मजबूर किया जाए कि उस भ्रष्ट व्यक्ति के खिलाफ कठोर कार्यवाही की जाए।

3. मंत्रियों, अफसरों को भ्रष्टाचार के मामले में घर बैठा दिया जाता है। इससे भ्रष्टाचार कम नहीं होगा, इसलिए व्यवस्था को बदलना होगा।

व्यवस्था को बदलने के लिए उन्होंने 'राईट टू इनफार्मेशन' यानि 'सूचना का अधिकार' का रास्ता चुना। इसमें देश का प्रत्येक नागरिक सूचना का अधिकार पा लेता है तो समझ लीजिये कि किसी भी विकास कार्यक्रम में होने वाले भ्रष्टाचार पर न केवल अंकुश लगेगा बल्कि इस पूरी योजना को पारदर्शी स्वरूप मिल जाएगा। (रिजवी, 2012, पृ. 63-64)

अन्ना ने 1995 से 2003 तक सूचना के अधिकार के लिए आन्दोलन चलाया। पहला आन्दोलन 1997 में आज़ाद मैदान, मुम्बई में आयोजित किया गया। राज्य सरकार केवल वादे कर रही थी। विधान

सभा के अनेक सत्रों में भी सरकार अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं कर सकी। अन्ना को बहुत बार आन्दोलन करने पड़े, धरनों पर बैठना पड़ा, मोर्चों, मौन व्रत और उपवास का सहारा लेना पड़ा। अंतत: अन्ना हजारे 'करो या मरो' के उत्साह के साथ 9 अगस्त 2003 को आज़ाद मैदान, मुंबई में आमरण अनशन पर बैठ गए। अनशन के 12वें दिन महाराष्ट्र सरकार ने बिल पर भारत के राष्ट्रपति के हस्ताक्षर करा लिए और महाराष्ट्र में सूचना का अधिकार क़ानून बना दिया। बाद में 'राईट टू इनफार्मेशन एक्ट' का वही मसौदा 'नेशनल राईट टू इनफार्मेशन एक्ट' 2005 का आधार बना। सूचना के अधिकार पर क़ानून बनाना लोकतंत्र को सुदृढ़ करने की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम है। इस अधिनियम के कारण प्रशासन में पारदर्शिता आई है। अब एक साधारण आदमी नाममात्र का शुल्क देकर सूचना प्राप्त कर सकता है। इससे सुशासन और स्वस्थ लोकतंत्र का मार्ग प्रशस्त हुआ है। अगर इस क़ानून की जानकारी हर गाँव और हर घर तक पहुँच जाए तो यह क़ानून 80-85 प्रतिशत तक भ्रष्टाचार समाप्त कर सकता है। अब सूचना के अधिकार सम्बन्धी कानून के कारण गरीब ग्रामीणों को विकास प्रक्रिया में अपना उचित हिस्सा मिलने लगा है। यह क़ानून बन जाने के बाद परियोजना कार्यों की गुणवत्ता में सुधार आने लगा है। (ठाकुर एवं राणा, 2012, पृ. 28)

सत्ता के गलियारों में भ्रष्टाचार जन्म लेता है और दिल्ली, भारत की राजधानी इस सूची में बहुत ऊपर है। भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए लोगों को जुड़ना होगा। लेकिन यह भी सच है कि हम उस दिशा में चल पड़े हैं। भारत के मुख्य चुनाव आयुक्त टी. एन. शेषन ने इस दिशा में काफी साहसपूर्ण कदम उठाया था। निर्मल छवि वाले लोगों को राजनीति में प्रवेश करना चाहिए। लोग प्राय: अन्ना हजारे से पूछते हैं कि इन दिनों भ्रष्टाचार इतनी चर्चा में क्यों है? अन्ना जवाब देते हैं- हर चीज़ की एक सीमा होती है। लोगों ने बहुत सहन कर लिया है और अब उनका धैर्य जवाब दे गया है। आम आदमी का जीना दूभर हो चुका है। मैं समझता हूँ कि हमें एक और स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने की आवश्यकता है और इस संघर्ष में हिस्सा लेने वालों को उसी प्रकार जेल जाने तथा अपने जीवन का त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए, जिस प्रकार उन्होंने अंग्रेजों को बाहर करने के लिए संघर्ष किया था। (ठाकुर एवं राणा, 2012, पृ. 33)

अन्ना अनशन के रचनाकार अरविन्द केजरीवाल ने कहा कि कॉमनवेल्थ गेम्स घोटालों की हर खबर ने उन्हें सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि इस राष्ट्रीय बीमारी का स्थाई हल ढूंढना ही होगा। इस भावना के साथ 8 अगस्त 2010 को देश के कुछ विशिष्ट नागरिक इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में एकत्रित हुए और इस समस्या का समाधान ढूँढने की उम्मीद से इस मसले पर चर्चा की। संतोष हेगड़े, शेखर सिंह, प्रशांत भूषण, निखिल डे, शांति भूषण, जे.एम. लिंगदोह आदि ने मिलकर इस मसौदे को तैयार करने की कोशिश की थी। लोकपाल विधेयक इस समस्या के समाधान के रूप में देखा गया। 19 सितम्बर 2010 को अरुणा रॉय के नेतृत्व में नेशनल काउन्सिल फॉर पीपल्स राइट टू इन्फोर्मेशन(एन.सी.पी.आर.आई.) ने भ्रष्टाचार से निपटने के लिए एक उपसमिति बनाने और व्हिसिल ब्लोअर बिल के प्रस्ताव पर चर्चा की। अरविन्द को विश्वास था कि सरकार के साथ साझा करके यह काम नहीं हो सकेगा। इसके लिए एक आन्दोलन की जरूरत है। (आशुतोष, 2012, पृ. 40-41)

5.4 अन्ना और लोकपाल

सामाजिक कार्यकर्ता अन्ना हजारे द्वारा भ्रष्टाचार विरोधी क़ानून के लिए किए गए आमरण अनशन ने लोगों की सूझ-बूझ को झकझोर कर रख दिया है। भारत में जिस व्यापक सामूहिक विरोध को उसने जन्म दिया है, उसका दूसरा उदाहरण हाल के दिनों में नहीं मिलेगा। लोकपाल बनाम जनलोकपाल बिल पर अन्ना द्वारा राजधानी दिल्ली में दो बार जन आन्दोलन किया गया। ऐसा करके उन्होंने राष्ट्रीय ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है। देश में जन-जन में अपनी पहचान बनायी है। भ्रष्टाचार से ग्रस्त देश की जनता के मन में आशा ही नहीं, विश्वास बन गया था कि देश में ऐसी गैर राजनीतिक शख्सियत मौजूद है जो ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर तक भ्रष्टाचार से देश को मुक्त कराएगा। महात्मा गाँधी के स्वराज आन्दोलन और जयप्रकाश नारायण के परिवर्तन आन्दोलन के बाद, अन्ना हजारे ऐसे राष्ट्रनायक नेता हैं जो करोड़ों लोगों को अपने साथ राष्ट्र के मसले पर जोड़ सकते हैं। अन्ना हजारे के शब्दों में 'यह आजादी की दूसरी लड़ाई है।' इसमें कोई संदेह नहीं है कि भ्रष्टाचार को खत्म करने हेतु एक प्रभावी आवाज़ की आवश्यकता थी जो अपने एक आव्हान पर दिल्ली की सड़कों को जन सैलाब से भर दे। क़ानून व्यवस्था संभालने वाली पुलिस के हाथों में हथियार की बात तो दूर, डंडे तक न हों। पुलिस केवल मूकदर्शक बनी क़ानून व्यवस्था संभालती रहे और पूर्ण अहिंसक तरीके से आन्दोलन चले। (रिजवी, 2012, पृ. 89-90)

5.5 लोकपाल की अवधारणा

लोकपाल विधेयक अवधारणा एकदम से उभर कर आई कोई नई अवधारणा नहीं थी। सन 1968 में पहली बार इस विधेयक को चौथी लोक सभा में पेश किया गया। लोकसभा में यह विधेयक 1969 ई. में पारित भी हो गया लेकिन राज्यसभा में जाकर अटका रह गया। इस बीच लोकसभा के भंग हो जाने के कारण यह विधेयक पहली बार में ही समाप्त हो गया। इस विधेयक को 1971 ई., 1977 ई., 1985 ई., 1989 ई., 1996 ई., 1998 ई., 2001 ई., 2005 ई. और 2008 ई. में संसद में पेश किया जाता रहा लेकिन हर बार इसे किसी न किसी वजह से चर्चा से टाला जाता रहा।

हर बार पेश किये जाने के बाद इस विधेयक में सुधार के लिए या तो इसे किसी संयुक्त संसदीय समिति के पास या फिर गृह मंत्रालय के विभागीय स्थायी समिति के पास भेजा गया और जब तक सरकार इस विधेयक पर कोई निर्णय ले पाती, सदन भंग हो जाता। अन्ना को मजबूरन जन आन्दोलन का सहारा लेना पड़ा। इस विषय को 1968 से 2011 ई. तक यानी 43 साल तक लटकाए रखा गया। ऐसे में जन आन्दोलन के अलावा कोई और रास्ता बचता ही न था।

लोकपाल की परिकल्पना 'ओम्बुड़समैन' की स्थापना के बाद दुनिया भर में की जाने लगी। 'ओम्बुड़समैन' एक स्वीडिश शब्द है जिसका अर्थ है- विधायिका द्वारा नियुक्त एक ऐसा अधिकारी जो प्रशासकीय और न्यायिक प्रक्रियाओं से सम्बंधित शिकायतों का निपटारा करे। स्वीडन में 'ओम्बुड़समैन'

की स्थापना 1809 ई. में कर दी गयी थी। उसके बाद कई देशों में अधिकारी वर्ग के रवैये से लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा के लिए इस तरह की संस्था की आवश्यकता महसूस की गयी।

भारत में साठ के दशक की शुरुआत से ही अर्थात आज़ादी के एक दशक के बाद ही प्रशासनिक ढाँचे में भ्रष्टाचार ने जड़ जमाना आरम्भ कर दिया था। उस समय ही 'ओम्बुड़समैन' की आवश्यकता महसूस की गयी।

मोरारजी देसाई की अध्यक्षता में 5 जनवरी, 1966 ई. को प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया गया। इस आयोग ने अपनी सिफारिशों में एक द्विस्तरीय प्रणाली (प्रशासनिक और न्यायिक प्रक्रिया निपटाने वाली संस्था) के गठन की वकालत की। इस द्विस्तरीय प्रणाली के तहत केंद्र में एक लोकपाल और राज्यों में लोकायुक्तों की स्थापना पर जोर दिया था।

सरकार की लचर नीति के कारण, 2004 ई. में प्रधानमन्त्री डॉक्टर मनमोहन सिंह द्वारा लोकपाल बिल बनाने का वादा करने के बाद भी, कोई कार्यवाही आगे न बढ़ पायी। दूसरे कार्यकाल के लिए प्रधानमन्त्री बन जाने के बाद भी जब सरकार इस मसले पर आँखें मूँद रही थी, तब 2010 ई. में देश के प्रबुद्ध लोगों की चेतना ने उन्हें झकझोर डाला। वे इस विषय को जनता के बीच लाने, जनता का आन्दोलन बनाने की नीति बनाने बैठ गए।

इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार इतनी गहरी जड़ें जमा चुका था कि देश का हर नागरिक, हर वर्ग ऊबा हुआ था। वह अपने कन्धों पर लादे भ्रष्टाचार के राक्षस को उतार फेंकने को छटपटा रहा था। नेतृत्व मिलते ही सड़कों पर आन्दोलन और प्रदर्शन के लिए उतरने के लिए तत्पर था। लेकिन 2010 ई. में यह बात भी सामने आ चुकी थी कि जिस लोकपाल को सरकार ने पेश करने की मंशा बना रखी है, उसका मसौदा इतना लचर है कि उसके अनेक छेदों में से महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठे नेतागण, अफसर, मंत्री, प्रधानमन्त्री निकल कर बाहर होंगे। प्रबुद्ध वर्ग चाह रहा था कि ऐसा विधेयक बने जिसमें किसी के बाहर निकलने की संभावना कम से कम हो। इसके लिए प्रबुद्ध वर्ग ने एक अपना मसौदा तैयार किया; इसका नाम रखा गया – जन लोकपाल। अब बहस चल निकली कि सदन के पटल पर लोकपाल बिल रखा जाए या जन लोकपाल बिल।

लोग सरकारी विधेयक (लोकपाल) को भ्रष्टाचार को मिटाने में नाकाफी मानते हुए उसका विरोध करने लगे। लोकपाल और जन लोकपाल बिल पर बहस तेज होते ही मशहूर समाजवादी व गांधीवादी नेता अन्ना हजारे ने उसमें अपना दखल देने की आवश्यकता समझी व देश की जनता की आवाज़ बनकर, रहनुमा बनकर जन लोकपाल के समर्थन में आगे आ गए। अन्ना ने जन लोकपाल विधेयक का पक्षधर बनते ही इस बात को देखा और महसूस किया कि जनता पूरी तरह से भ्रष्टाचार के मुद्दे से आजिज़ आ चुकी है। कॉमनवेल्थ खेलों के आयोजन और 2जी स्पेक्ट्रम घोटालों का मीडिया में लगातार खुलासा हो रहा था। लेकिन सरकार कोई कार्यवाही नहीं कर रही थी। अदालत से जुड़े भ्रष्टाचार के प्रकरणों के उजागर होने पर

देश की जनता को निराशा भी हुई। प्रबुद्ध लोगों ने भ्रष्टाचार से लड़ने की शक्ति को समेटा और इस मुद्दे पर गंभीरता से विचार किया। जस्टिस संतोष हेगड़े, प्रशांत भूषण और अरविन्द केजरीवाल द्वारा बनाया गया यह विधेयक, लोगों द्वारा वेबसाइट पर दी गयी प्रतिक्रिया और जनता के साथ विचार विमर्श के बाद तैयार किया गया। इस बिल को सुप्रीम कोर्ट के प्रसिद्ध एडवोकेट शांतिभूषण व जे. एम. लिंगदोह, किरण बेदी आदि ने भारी समर्थन दिया। अन्ना हजारे का समर्थन पाते ही जन लोकपाल आन्दोलन में पूरी तरह से जान पड़ गयी। अन्ना हजारे के समर्थन को भारी समर्थन का नाम दिया गया। (ठाकुर एवं राणा, 2012, पृ. 79-80)

5.6 अरविंद केजरीवाल

प्रारम्भिक जीवन-इनका जन्म 16 जून 1968 में हरियाणा के हिसार में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा कैम्पस स्कूल हिसार में हुई। इन्होनें आई.आई.टी.खड़गपुर से बी.टेक.1989 में किया। स्नातक के बाद 'टाटा स्टील्स' में कार्य किया। कुछ समय मदर टेरेसा के साथ कलकत्ता में सामाजिक कार्य किया। 1995 में बतौर आई.आर.एस.एडिशनल कमिश्नर इन्कमटैक्स दिल्ली रहे। 2006 में इन्होने नौकरी त्यागकर 'परिवर्तन' नाम से एक एन.जी.ओ.बना लिया, जिसका उद्देश्य न्याय के लिए जंग और उत्तरदायी व पारदर्शी शासन के लिए 'नागरिक आन्दोलन' था। दिसम्बर 2006 में केजरीवाल ने मनीष सिसोदिया और अभिनन्दन सेखरी के साथ मिलकर पब्लिक कोर्स रिसर्च फाउन्डेशन बनाया जो स्थानीय स्वशासन व आर.टी.आई. के अभियान से सम्बद्ध था।

इन्होने सामाजिक कार्यकर्ता अरुणा रॉय के साथ आर.टी. आई.विधेयक लाने का अभियान चलाया। 2005 में यह संसद द्वारा पारित होकर कानून बना। इस कानून के साथ समय-समय पर छेड़छाड़ करने का प्रयास किया गया। परन्तु एन.जी.ओ.के पुरजोर विरोध के कारण आर.टी.आई.एक्ट अपने मूल स्वरूप में बना हुआ है। ये एन.जी.ओ.आज भी आर.टी.आई. के अधिकार के प्रयोग के लिए लोगों में जागरूकता लाने का कार्य कर रहे हैं। जनलोकपाल बिल को बनाने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। (महावर, 2014, पृ. 31-32)

1 दिसंबर, 2010 को जन लोकपाल बिल की एक-एक प्रति प्रधानमन्त्री एवं सभी राज्यों के मुख्यमंत्रियों के पास भेजी गयी। 5 अप्रैल 2011 तक सरकार का कोई जवाब नहीं मिला। इस बीच दिसंबर 2010 से 5 अप्रैल, 2011 तक देश में जनजागरण अभियान चलता रहा। अन्ना और अन्ना टीम जिन्होंने जनलोकपाल बिल का मसौदा बनाया था, अपनी बहसों से, बयानों से, इस बात को जनता तक पहुंचाती रही कि इसका पास होना कितना आवश्यक है तथा सरकार है कि नींद से जाग नहीं रही है।

5.7 जन लोकपाल बिल

1. इस क़ानून के अंतर्गत, केंद्र में लोकपाल और राज्यों में लोकायुक्त का गठन होगा।
2. यह संस्था निर्वाचन आयोग और सुप्रीम कोर्ट की तरह सरकार से स्वतन्त्र होगी। कोई भी नेता या जांच अधिकारी जांच प्रक्रिया को प्रभावित नहीं कर पाएगा।
3. भ्रष्टाचार के खिलाफ कई सालों तक मुकदमे लंबित नहीं रहेंगे। किसी भी मुकदमे की जांच एक साल के अन्दर पूरी होगी। ट्रायल अगले एक साल में पूरा होगा और भ्रष्ट नेता, अधिकारी या जज को दो साल के भीतर जेल भेजा जाएगा।
4. अपराध सिद्ध होने पर भ्रष्टाचारियों से सरकार को हुए घाटे को वसूल किया जाएगा।
5. यदि किसी नागरिक का काम समय से नहीं होता है तो लोकपाल दोषी अफसर पर जुर्माना लगाएगा और वह जुर्माना शिकायतकर्ता को मुआवजे के रूप में मिलेगा।
6. अगर आपका राशन कार्ड, मतदाता पहचान पत्र, पासपोर्ट आदि तय सीमा के भीतर नहीं बनता है या पुलिस आपकी शिकायत दर्ज नहीं करती है तो आप इसकी शिकायत लोकपाल से कर सकते हैं और उसे यह काम एक महीने के भीतर करना होगा।

आप किसी भी प्रकार के भ्रष्टाचार की शिकायत लोकपाल से कर सकते हैं जैसे-

- सरकारी राशन की कालाबाजारी
- सड़क बनाने में गुणवत्ता की कमी
- पंचायत निधि का दुरूपयोग

7. लोकपाल के सदस्यों का चयन जजों, नागरिकों और संवैधानिक संरचनाओं द्वारा किया जाएगा, न कि नेताओं द्वारा। इसकी नियुक्ति पारदर्शी तरीके से और जनता की भागीदारी से होगी।
8. लोकपाल/लोकायुक्तों का काम काज पूरी तरह पारदर्शी होगा। लोकपाल के पास किसी कर्मचारी के खिलाफ शिकायत आने पर वह उसकी जांच अधिकतम दो महीने में पूरी कर लेगा तथा जांच सही पाए जाने पर उसे बर्खास्त कर दिया जाएगा।
9. सी.वी.सी., विजिलेंस विभाग, सी.बी.आई. का भ्रष्टाचार निरोध विभाग का लोकपाल में विलय कर दिया जाएगा। लोकपाल को किसी जज, नेता या अफसर के खिलाफ जांच करने व मुकदमा चलाने के लिए पूर्ण शांति और उचित व्यवस्था भी करनी होगी। (ठाकुर एवं राणा, 2012, पृ.111-112)

जनलोकपाल आने के बाद इस बात का पूरा विश्वास किया जा रहा था कि इसके आने से भ्रष्टाचारियों के मन में डर पैदा होगा, भ्रष्टाचार पहले से कम होगा या फिर पूरी तरह से ख़त्म हो जाएगा। जन लोकपाल के उपबंध, सरकारी विधेयक की तुलना में अधिक प्रभावी और प्रासंगिक हैं। सरकारी लोकपाल विधेयक का अधिकार क्षेत्र केवल राजनेताओं तक सीमित है। सरकारी अधिकारियों के लिए सतर्कता आयुक्त जैसी संस्थाएं हैं जो आज तक पूरी तरह से प्रभावहीन साबित होती रही हैं। सरकारी रूप से न्यायपालिका में भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए कोई संस्था नहीं है।

देखा गया है कि जनता के लिए राजनेता के भ्रष्टाचार, सरकारी कर्मचारियों की रिश्वतखोरी और न्यायधीशों की बेईमानी में कोई अंतर नहीं रह गया है। कुछ वर्ष पूर्व तक न्यायधीशों पर उँगली उठाते हुए लोग डरा करते थे क्योंकि न्यायपालिका भ्रष्टाचार मुक्त समझी जाती थी। लोगों को न्याय पर भरोसा था। इसलिए न्यायालय से होने वाले निर्णयों को लोग सराहते थे, स्वीकारते थे कि न्यायपालिका, कार्यपालिका से पूरी तरह मुक्त है। सरकार का इस पर कोई हस्तक्षेप या दबाव नहीं है, वह स्वतन्त्र रहकर कार्य करती है। पिछले कुछ वर्षों में कुछ ऐसे मामले उजागर हुए हैं कि कतिपय न्यायाधीश भी भ्रष्टाचार के दलदल में फंसे नज़र आये हैं।

इंडिया अगेंस्ट करप्शन-ए-119 कौशाम्बी, गाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश द्वारा जन-जन तक सन्देश पहुंचाने का कार्यक्रम चलाया गया। कहा गया कि अन्ना हजारे ने सरकार को चेतावनी दी है कि भ्रष्टाचार के खिलाफ जन लोकपाल बिल के तर्ज पर एक सख्त क़ानून पास करे ताकि भ्रष्टाचारी को कड़ी सज़ा मिले। लोकपाल विधेयक को नाकाफ़ी तथा अर्थहीन मानकर अन्ना हजारे ने जनलोकपाल विधेयक को अत्यंत उपयोगी व अत्यंत प्रभावशाली माना। वे सरकारी लोकपाल को मानने को बिलकुल तैयार नहीं थे। सरकार चाहती थी-

1. लोकपाल की नियुक्ति उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, दोनों सदनों के नेता और विपक्ष के नेता के साथ गृहमंत्री और क़ानून मंत्री करें।
2. उपराष्ट्रपति को छोड़ बाकी लोग लोकपाल की जांच के दायरे में न आयें। इसके विपरीत अन्ना हजारे चाहते हैं कि जन लोकपाल बिल में लोकपाल को अपनी तरफ से प्रधानमन्त्री सहित तमाम लोगों, मंत्रियों और अफसरों के खिलाफ शिकायतों की जांच का अधिकार हो। अन्ना चाहते हैं कि जनलोकपाल जनता से आई शिकायतों को पूरा करता है; सरकारी लोकपाल नहीं।
3. अन्ना चाहते हैं कि लोकपाल की भूमिका सिर्फ सिफारिश करने तक ही सीमित न रहे बल्कि वह जांच पूरी करने के बाद मामले को अदालत तक ले जाए। सरकारी लोकपाल नहीं जन लोकपाल इस ज़रुरत को पूरा करता है।

जन लोकपाल सारी जांच रिपोर्ट की प्रक्रिया को पारदर्शी होने पर जोर देता है। जो भी कोई चाहे, रिपोर्ट को देखने का उसका अधिकार है। (त्रिपाठी, 2012, पृ. 122)

5.8 जनलोकपाल के लिए आन्दोलन की कार्यवाही

अन्ना टीम ने सरकार के पास जन लोकपाल का मसौदा भेज दिया था पर मार्च 2011 बीत जाने के बाद केन्द्रीय सरकार (यू.पी.ए.) सरकारी लोकपाल बिल सदन में पेश कर पास करवाने पर अड़ी हुई थी। देश की जनता जन लोकपाल विधेयक के उन उपबंधों का स्वागत करने के लिए आतुर थी, जिसमें लोकपाल की नियुक्ति की प्रक्रिया को पारदर्शी बनाने की बात की गयी है और समाज में अच्छी साख रखने वाले किसी भी व्यक्ति को उस पद का पात्र माना गया है।

5.9 सरकारी लोकपाल विधेयक और जन लोकपाल विधेयक की गठन प्रक्रिया में अंतर

सरकारी लोकपाल और जनलोकपाल विधेयक की गठन प्रक्रिया में और काम करने के तरीके में बहुत बड़ा अंतर है। अब तक के सरकारी विधेयकों को देखते हुए लोकपाल के लिए ज़रूरी था कि वह सुप्रीम कोर्ट का न्यायाधीश रह चुका व्यक्ति हो। उसकी नियुक्ति प्रक्रिया भी संतोषजनक नहीं थी। उसकी नियुक्ति मंत्रियों, दोनों सदनों के अध्यक्षों और नेता प्रतिपक्ष की एक समिति की अनुशंसा पर की जानी थी। अन्ना टीम के अनुसार चयन को केवल सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों तक सीमित कर देने के कई नुकसान हैं। उससे उस पद के लिए उपयुक्त व्यक्ति की तलाश का दायरा बहुत सीमित हो जाता है। लोकपाल जैसे पदधारक के लिए सत्यनिष्ठ का गुण सबसे महत्त्वपूर्ण है। सत्यनिष्ठ व्यक्तियों के मामले में न्यायपालिका या किसी भी संस्था का एकाधिकार नहीं हो सकता। इसलिए योग्य व्यक्ति की तलाश करते समय पूरे समाज के अच्छे लोगों को मौका मिलना चाहिए; ऐसा जन लोकपाल बिल की प्रक्रिया में है।

जन लोकपाल नियुक्ति की प्रक्रिया को पारदर्शी बनाता है। वास्तव में देखा जाए तो सरकारी लोकपाल के मुकाबले अन्ना के जन लोकपाल को देश की जनता का जबरदस्त समर्थन मिलना, यह मौजूदा सरकारी व्यवस्था की नाकामी की प्रतिक्रिया है। जन लोकपाल बिल के माध्यम से ऐसी संस्था की परिकल्पना की गयी है जो एक स्वतन्त्र तथा एक अलग निकाय हो, जिसके पास जांच करने के व्यापक अधिकार हों। अपनी मर्जी से भ्रष्टाचार की जांच के प्रकरण को चुनने का उसके पास अधिकार हो। उसका अपना पूर्ण कालिक स्टाफ हो। उसकी जांच के निष्कर्ष और संस्तुति को सरकार मानने को बाध्य हो। कोई भी नेता या सरकारी अधिकारी जन लोकपाल की जांच की प्रक्रिया को प्रभावित नहीं कर पाए।

सी.बी.आई. और सी.वी.सी. बेशक आम लोगों के लिए ऐसी निष्ठा की संस्थाएं हैं, जिनके हाथ में जांच जाने के बाद संतुष्ट हुआ जा सकता है कि कार्यवाही होकर रहेगी। पर उस पर चूँकि उसी विभाग से सम्बंधित उच्च अधिकारियों का अंकुश रहता है, अत: प्रबुद्ध वर्ग समझता है कि वे निष्पक्ष नहीं रह सकते। उसे स्वतन्त्र कार्य करने देने की आवश्यकता है। जन लोकपाल उपर्युक्त दोनों विभागों के चुने हुए लोगों को अपने साथ जोड़ना चाहता है। इन्हें स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देने की शक्ति प्रदान करना चाहता है।

जन लोकपाल का यह भी प्रस्ताव है कि यह विजिलेंस विंग के अधिकारियों से उन अधिकारियों की जांच नहीं करवाएगा जो उनके मूल विभाग से सम्बंधित हैं। इस विजिलेंस विंग के पास सिर्फ नौकरशाहों के खिलाफ जुर्माना लगाने का अधिकार होगा। नेताओं और न्यायधीशों के खिलाफ विजिलेंस विभाग कोई कार्यवाही नहीं करेगा। इन लोगों की जाँच भ्रष्टाचार निरोधक क़ानून के तहत लोकपाल की जांच शाखा करेगी। यदि कोई मामला बनता है तो केस सामान्य कोर्ट में चलेंगे। (त्रिपाठी, 2012, पृ. 122-125)

अरविन्द केजरीवाल ने जनवरी 2011 के प्रथम सप्ताह में 30 जनवरी को दिल्ली के रामलीला मैदान में प्रस्तावित भ्रष्टाचार रैली की सफलता के लिए मीटिंग बुलाई। मीटिंग का समय हुआ तो लोगों की

उपस्थिति नगण्य रही। लोगों की उदासीनता को देखते हुए बैठक में यह तय किया गया कि 5 अप्रैल को जंतर-मंतर को आन्दोलन स्थली के रूप में बदल दिया जाए। यह भी तय किया गया कि लोगों को फेसबुक के जरिये आन्दोलन से जोड़ा जाए। फेसबुक से लोगों को जोड़ने में आशातीत सफलता मिली।

30 जनवरी को दिल्ली सहित देश के सैकड़ों शहरों में लोग भ्रष्टाचार के खिलाफ सड़कों पर उतर पड़े। इस दिन की सफलता ने ही 5 अप्रैल के कार्यक्रम की पुख्ता नींव रखी। अन्ना हजारे अपने रालेगण सिद्धि से आन्दोलन को सफल बनने के लिए निकल पड़े। महंगाई और भ्रष्टाचार से ग्रस्त लोग भी बिना कहे, अपने-अपने घरों से निकल पड़े। 5 अप्रैल, 2011 को दिल्ली में भारी भीड़ जुटेगी, इस बात की इलेक्ट्रोनिक मीडिया से लेकर सरकार की खुफिया एजेंसिया भी रिपोर्ट देने लगीं। (द हिंदुस्तान टाइम्स, 5 अप्रेल, 2011)

अरविन्द के अनुसार "अन्ना एक कमज़ोर लोकपाल विधेयक बनाने की सरकारी कोशिश के खिलाफ थे और चाहते थे कि नागरिक समाज के सदस्यों से मिलकर एक मजबूत लोकपाल विधेयक का मसौदा तैयार करना चाहिए।" (आशुतोष, 2012, पृ. 43) इंडिया अगेंस्ट करप्शन के तकनीकी सदस्यों ने सोशल मीडिया का मजबूत नेटवर्क तैयार कर लिया था। पिछले अनुभवों के आधार पर टीम अन्ना के सीनियर सदस्यों ने सन्देश काफी परामर्श और चर्चा के बाद फेसबुक, ट्वीटर एवं एस.एम.एस. पर भेजे गए। साथ ही साथ यह भी तय हुआ कि सन्देश सीधे, सरल और भावनात्मक होने चाहिए। दिल्ली के आस-पास के कॉलेजों के छात्रों से संपर्क कर उन्हें यह समझाने की कोशिश की- क्यों जन लोकपाल की ज़रुरत है और क्यों सरकारी लोकपाल विधेयक भ्रष्टाचार को पूरी तरह से समाप्त करने और इसे दूर करने में असक्षम है।

5 अप्रैल को सुबह जब अन्ना जंतर-मंतर पर पहुंचे तब बिना जुबान और बिना पहचान वाले आम आदमी और औरतें मौजूदा राजनीतिक भ्रष्टाचार के खिलाफ विरोध में अपनी आवाज़ बुलंद करने के लिए तैयार हो गए। अन्दर ही अन्दर तो यह विरोध एक लम्बे समय से चल रहा था, पर उस दिन से इसने स्थूल रूप लेना शुरू कर दिया था। हर कोई अन्ना बन चिल्ला रहा था- "मैं भी अन्ना, तू भी अन्ना, हम सब अन्ना।

दोपहर में अनशन शुरू करने से पहले अन्ना ने एक छोटा सा भाषण दिया। उन्होंने कहा उनका यह अनशन भ्रष्टाचार के खिलाफ है। यह अहिंसक और शांतिपूर्वक रहेगा। उनकी लड़ाई एक मजबूत जन लोकपाल के लिए है और वे चाहते हैं कि सरकार विधेयक का मसौदा तैयार करने वाली कमेटी में नागरिक समाज के सदस्यों को भी शामिल करे। उन्होंने कहा कि संसद अब सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर रही है और भ्रष्ट राजनेता सारी लोकतांत्रिक व्यवस्था को बर्बाद कर रहे हैं। विरोध प्रदर्शनकारियों ने संयोजकों को साफ़-साफ़ बता दिया था कि यह विरोध भ्रष्ट राजनेताओं के खिलाफ है इसलिए उन्हें अपने गंदे खेल के लिए इस मंच का इस्तेमाल नहीं करने दिया जाएगा। इस तरह से इस आन्दोलन ने राजनीति विरोधी तमगा हासिल कर लिया था।

सेंटर फॉर पॉलिसी के अध्यक्ष प्रताप भानु मेहता ने लाइव मिंट की रिपोर्ट के अनुसार बताया "इस तरह के तरीके बहुत ही ख़ास परिस्थिति में इस्तेमाल किये जाने चाहिए और मुझे ऐसा नहीं लगता है कि ये वे परिस्थितियां हैं।" (वेबसाइट बिजनेस न्यूज पेपर, द मिंट, 7 अप्रैल, 2011)

अन्ना के दूसरे अनशन के बाद 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' के पूर्व सम्पादक गौतम अधिकारी ने लिखा- "अनशनों और हड़तालों का इस्तेमाल हमारे महान नेता (गांधीजी) ने साम्राज्यवाद के खिलाफ किया था। क्या संवैधानिक लोकतांत्रिक गणतंत्र में उन्हें विरोध का प्राथमिक तरीका बना रहना चाहिए?" (टाइम्स ऑफ इंडिया, 10 सितंबर, 2011)

रवींद्रनाथ टैगोर ने अनुसूचित जतियों को एक अलग निर्वाचन दर्जा देने के सवाल पर गांधीजी के आमरण अनशन पर अपने विद्यार्थियों से कहा था- ' जिस तरह से सूर्य ग्रहण में एक छाया सूर्य को ढक लेती है, वैसे ही भारत को एक काली छाया ढक रही है। सारे देश के लोग बेचैनी की एक हृदय- विदारक पीड़ा से गुजर रहे हैं...महात्मजी, जिन्होंने अपने समर्पित जीवन से भारत को अपना समझा है और परम आत्म-बलिदान की प्रतिज्ञा की शुरुआत की है।' (फिशर, 2010, पृ. 389)

अन्ना का जवाब था कि आप केवल उस व्यवस्था, व्यक्ति या व्यक्तियों के खिलाफ अनशन कर सकते हैं जो आपको सुने, न कि उनके खिलाफ जिन पर आपके प्रयासों का कोई असर नहीं हो रहा है; जैसे तानाशाह या सम्राट। उनके अनुसार गांधीजी ने भी यही कहा था। अन्ना की राय में- यह तरीका पूरी तरह से लोकतांत्रिक, न्यायोचित और गांधीवादी था। अपने भाषणों में अन्ना अपने समर्थकों को हमेशा कहते थे कि " हिंसा का सहारा मत लेना, क्योंकि शासक तुमसे बहुत अधिक शक्तिशाली हैं। वे तुम्हें थोड़ी ही देर में कुचल डालेंगे।" उनके अनुसार, आम आदमी के पास अहिंसा ही एकमात्र हथियार है। लुई फिशर ने अपनी किताब में लिखा है- " गांधीजी एक विलक्षण कलाकार थे। वे व्यक्ति के हृदय के अंदर के तारों को झनझना देते थे। " (फिशर, 2010, पृ. 401) उनके अनुसार, गांधीजी के पास व्यक्तियों के दिलों तक संवाद पहुंचाने की अद्भुत क्षमता थी। अन्ना का अनशन भी लोगों के साथ-साथ लोकतांत्रिक सरकार तक अपनी बात पहुंचाने का प्रयास था।

इस आन्दोलन में युवा, बुज़ुर्ग, स्त्री-पुरुष, स्कूल के बच्चे और पेशेवर इंजीनियर, डॉक्टर, बड़े व्यवसायी शामिल थे। यह जंगल की आग की तरह बड़े शहर से छोटे शहरों की ओर फ़ैल रही थी। दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, हैदराबाद, लखनऊ, अहमदाबाद, बैंगलोर और चंडीगढ़ इस आन्दोलन के स्नायु-तंत्र के रूप में उभरकर आये तो छोटे शहर जैसे मथुरा, जम्मू, जयपुर, कानपुर, खड़गपुर, भोपाल, पटियाला, अयोध्या, संगरूर, अम्बाला, जालंधर, जलगांव, अहमदनगर आदि इनकी धमनियां थी। मुम्बई के आज़ाद मैदान में मेधा पाटेकर ने अपनी ज़िम्मेदारी संभाली हुई थी तो भोपाल में आर.टी.आई. एक्टिविस्ट शेहला मसूद इस आन्दोलन की नेतृत्व कर रही थीं।

इस आन्दोलन के दौरान अन्ना टोपी व तिरंगे ने भिखारियों को एक रोजगार दे दिया था और आम आदमी को देशभक्ति की एक भावना दे दी। साथ ही उन्हें यह भी महसूस कराया जैसे उनका इस आन्दोलन और राष्ट्र निर्माण में कुछ दांव पर लगा है और वे कुछ महान कार्य कर रहे हैं। इसे नवसक्रियवाद का रूप भी कहा जा सकता है। विशेषतौर से उन युवाओं के लिए जिन्होंने पहले न तो किसी जन आन्दोलन को देखा है और न ही उसमें भाग लिया है। भारत के युवा नागरिक ने स्वतंत्रता संघर्ष की या जे.पी. आन्दोलन की महिमामयी कहानियां सुनी हैं, पर उनका हिस्सा बनने का उन्हें कभी अवसर नहीं मिला। (आशुतोष, 2012,पृ. 56-57)

श्री श्री रविशंकर "इंडिया अगेंस्ट करप्शन" अभियान को स्थापित करने वाले सदस्यों में से एक थे। वे और उनके संगठन, 'आर्ट ऑफ़ लिविंग' इस आन्दोलन के अभिन्न अंग थे। बाबा रामदेव भ्रष्टाचार विरोधी अभियान के चेहरे के रूप में उभरे थे। वे पहले से ही काले धन और भ्रष्टाचार जैसे मुद्दे को सक्रियता से उठाते रहे हैं।

8 अप्रैल को नए सिरे से बातचीत की तैयारी हुई। उसी दिन शाम को संयुक्त ड्राफ्टिंग कमेटी के दस सदस्य तैयार हो गए। 5 सदस्य टीम अन्ना से और दूसरे 5 सदस्य सरकार की तरफ से वरिष्ठ मंत्री थे। प्रणब मुखर्जी अध्यक्ष और शांति भूषण उपाध्यक्ष बनाये गए। चौथे दिन रात तक आन्दोलन के समर्थन में बहुत तेज़ी आ चुकी थी। चाहे जंतर-मंतर हो या मुम्बई का आज़ाद मैदान या हैदराबाद में चार मीनार, अन्ना नए भारतीयों के लिए एक प्रतिमूर्ति बन चुके थे। उनकी आँखों में वे ऐसे नए महात्मा थे जो इस सड़ी-गली भारतीय व्यवस्था में सुधार कर देंगे।

अन्तत: सरकार नरम पड़ी और सरकारी गजट में नोटिफिकेशन जारी करके सरकार ने इस समस्या से बाहर निकलने का रास्ता निकाला। अन्ना का 98 घंटे का उपवास समाप्त हो गया। टीम अन्ना यह अच्छी तरह से जानती थी कि उपवास समाप्त हुआ है पर लड़ाई में अभी आधी जीत हुई है। यह लड़ाई सरकार के व्यवहार के खिलाफ एवं एक आम आदमी की उस मानसिकता के खिलाफ है जिसने भ्रष्टाचार को जिंदगी का एक सामान्य हिस्सा बना लिया है। अपना उपवास तोड़ते ही अन्ना ने सरकार को चेतावनी दे दी कि यदि 15 अगस्त तक यह बिल क़ानून नहीं बना तो वह अगले आन्दोलन के लिए बाध्य होंगे। लड़ाई अभी ज़ारी थी। (आशुतोष, 2012, पृ. 63-64)

अप्रैल और मई के मास में टीम अन्ना की साख को समाप्त करने के लिए जबरदस्त मुहीम छेड़ी गयी। यह सारी कोशिश उन लोगों को ड्राफ्टिंग कमेटी छोड़ देने हेतु उत्तेजित करने के लिए की गयी थी ताकि सरकार उनसे मुक्ति पा ले और बिल की ड्राफ्टिंग अपनी इच्छा से कर ले। लेकिन सरकार को इसमें सफलता नहीं मिली। 16 अप्रैल 2011 को संयुक्त ड्राफ्टिंग कमेटी की पहली मीटिंग हुई। नागरिक समाज के सदस्यों ने इस पूरी प्रक्रिया को लाइव टेलीकास्ट करने की मांग की थी। सरकार ने स्पष्ट रूप से इनकार कर दिया किन्तु ऑडियो रिकॉर्डिंग के लिए तैयार हो गयी।

बाबा रामदेव इस मामले में अपने आप को बड़े स्तर पर स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। वर्ष 2010 में अरविन्द और उनकी टीम ने उनसे संपर्क किया तब वे इस भ्रष्टाचार विरोधी अभियान में कुछ ज्यादा ही अपना सहयोग देना चाहते थे। आखिरकार 4 जून 2011 को रामलीला मैदान में अनशन पर बैठ ही गए। अन्ना का अनशन 7 जंतर मंतर पर खुले असमान के नीचे फुटपाथ पर हुआ था तो वहीं बाबा रामदेव का अनशन फाइव स्टार सुविधा के साथ था। एक तथाकथित योगी, जिसे हिन्दू परंपरा में श्रद्धा से देखा जाता है, वह 50 हज़ार से अधिक समर्पित धार्मिक अनुयायियों के साथ और भी दृढतापूर्वक यह निश्चय कर चुका था कि जब तक सरकार उनकी मांगें नहीं मानेगी, वह आमरण अनशन करेंगे। यह अन्ना वाली भीड़ नहीं थी। यह धार्मिक मानसिकता वाले लोगों की भीड़ थी; यह अत्यंत खतरनाक होती है।

बाबा रामदेव ने एक बहुत बड़ी गलती कर दी थी। उन्होंने पुलिस से बचकर भागने का इरादा किया था। वे अपने भागने को बार-बार यह कहकर सही साबित करना चाह रहे थे कि पुलिस उन्हें मार डालना चाहती थी। किसी ने भी उन पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने इतना महत्त्वपूर्ण सबक भी नहीं सीखा था कि सत्याग्रही अपने जीवन के लिए नहीं डरते। सच्चे गांधीवादी न तो जेल जाने से डरते हैं और न ही लाठियों की मार से। नमक सत्याग्रह के दौरान पुलिस सत्याग्रहियों को लाठियों से मारती और जब वे अपनी जगह पर गिर जाते तो उनकी जगह दूसरे सत्याग्रही ले लेते। बाबा रामदेव अपना नैतिक बल खो चुके थे। दूरदर्शन ने ही उन्हें बनाया और दूरदर्शन ने ही उन्हें समाप्त भी कर दिया। पार्टी का यह मानना था कि राजनीति में हो रही अराजकता, अव्यवस्था और भयादोहन को बचाने के लिए अदा की जाने वाली यह सबसे कम कीमत थी। (आशुतोष, 2012, पृ. 83)

सरकार ने यह पूरी तरह तय कर रखा था कि वे अन्ना को अनिश्चितकालीन अनशन पर नहीं बैठने देगी। जून के तीसरे सप्ताह में हुई अंतिम संयुक्त ड्राफ्टिंग कमेटी की मीटिंग के बाद अरविन्द ने घोषणा की थी कि लोकपाल बिल के दो ड्राफ्ट केबिनेट के समक्ष रखे जाएंगे जिनमें एक ड्राफ्ट सरकार की तरफ से होगा और दूसरा नागरिक समाज की तरफ से होगा। सरकार ने यह वादा किया कि 30 जून तक लोकपाल बिल तैयार हो जाएगा और फिर यह संसद में पेश किया जाएगा। अन्ना ने चेतावानी दे दी थी, यदि सरकार मजबूत लोकपाल बिल 15 अगस्त तक संसद में पारित नहीं करती है तब वे फिर से अपना अनशन शुरू कर देंगे।

सरकार और टीम अन्ना के बीच टकराव साफ़ नज़र आ रहा था। जंतर-मंतर के अनशन के बाद ही से अन्ना का कद समकालीन भारत में बहुत ही ऊंचा हो गया था। वे आम आदमी के लिए प्रशंसा की एक प्रतिमूर्ति बन चुके थे। उनकी भूमिका एक व्हिसिल ब्लोअर की है और वे लोक सेवकों जिनमें मंत्री जी भी शामिल हैं, भ्रष्टाचार को ख़त्म करने के लिए कार्य करते आ रहे हैं।

15 अगस्त को सुबह प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने लाल किले की प्राचीर से अपने भाषण में अन्ना को इस वास्तविकता से परिचित कराने का प्रयास किया कि क़ानून बनाने की ताकत सिर्फ संसद के पास होती है। अन्ना अपने उपवास से पहले शाम को एक प्रेस वार्ता को संबोधित करना चाहते थे। अन्ना श्रद्धा-

सुमन समर्पित करने बापू की समाधि राजघाट पर जाने वाले थे। अन्ना बापू की समाधि के सामने हरी घास के मैदान में बैठे थे। अन्ना ठीक 6:45 बजे उठे और कांस्टीट्यूशन क्लब पर प्रेस वार्ता के लिए चल दिए।

अन्ना की राजघाट यात्रा से लोगों तक एक बहुत बड़ा सन्देश पहुंचा था कि अन्ना गाँधी के प्रबल समर्थक हैं और अन्ना महात्मा गाँधी के रास्ते पर चल रहे हैं। वे भी भ्रष्टाचार के खिलाफ संघर्ष में अहिंसा, सच्चाई और शांति के प्रयोग कर रहे हैं। लेकिन कांग्रेस पार्टी जिस पर ऐतिहासिक रूप से गाँधी जी की विरासत को आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी है, वह महात्मा गाँधी की शिक्षाओं को भूलती और भ्रष्टाचारियों की अनदेखी करती नजर आ रही थी। लड़ाई का मंच तैयार था और जिसका गवाह अब इतिहास को बनना था। (आशुतोष, 2012, पृ. 89)

5.10 16 अगस्त: उपवास का प्रथम दिन

अन्ना जे.पी. पार्क जाने के लिए अड़े हुए थे। दिल्ली पुलिस टीम अन्ना के प्लान को असफल करने के लिए तैयार थी। अन्ना, अरविन्द व मनीष को रोक लिया गया। अन्ना राजघाट जाने के लिए लिफ्ट से उतर रहे थे तभी उन्हें रोक लिया गया। अन्ना द्वारा महात्मा गाँधी को श्रद्धा अर्पित करने के उनके मौलिक अधिकार से रोका गया। अन्ना ने कहा यह संविधान के खिलाफ है और पिछले बीस सालों के उनके संघर्ष के दौरान ऐसा कभी नहीं हुआ।

अन्ना इस स्थिति का सामना करने के लिए अपना मन बना चुके थे। यह स्थिति उनके भविष्य के संकल्प और उनकी दृढ़ता का संकेत थी। अन्ना और उनकी टीम को अनशन पर बैठने की अनुमति नहीं दी गयी थी तथा जे.पी.पार्क और इसके आस-पास के इलाके में धारा 144 लागू कर दी गयी। अन्ना को रोक दिए जाने से लोग बहुत गुस्से में थे। वे उनके साथ जेल भी जाने को तैयार थे। स्टेडियम को आन्दोलनकारियों के लिए एक अस्थायी जेल में बदल दिया गया दिया गया।

इस घटना ने सरकार को चौतरफा राजनीतिक दबाव में ला दिया। सरकार की गलत रणनीति और गिरफ्तारी ने वापस उसी पर चोट कर दी थी। अब यह स्पष्ट था कि सरकार बचाव की मुद्रा में थी। अन्ना और दूसरे लोग औपचारिक रूप से गिरफ्तार कर लिए गए। उन्हें सी.आर.पी.सी. की धरा 107 और 151 के तहत शांति भंग करने एवं सरकारी नौकरों को उनकी ड्यूटी न करने के आरोप में अभियुक्त बनाया गया। उन सभी लोगों ने ज़मानत पत्र पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। उन्हें तिहाड़ जेल भेज दिया गया। आम आदमी के लिए यह समझना मुश्किल हो रहा था कि अन्ना ने ऐसा कौनसा अपराध किया था कि उन्हें खूंखार अपराधियों के साथ तिहाड़ जेल में बंद कर दिया गया था। आम आदमी की आँखों में सरकार अन्ना को उन लोगों के भ्रष्टाचार से लड़ने से रोक रही थी, जिनके खिलाफ अन्ना ने युद्ध छेड़ रखा था। दिन समाप्त होते-होते एक मजबूत सरकार को रालेगण सिद्धि के एक विनम्र व्यक्ति ने झुका ही दिया था। (आई. बी. एन. 7)

5.11 17 अगस्त: उपवास का दूसरा दिन

22 जुलाई, 1975 को इंदिरा गाँधी ने कहा था, " राष्ट्र के जीवन काल में कभी ऐसा भी वक्त आता है, जब कठोर निर्णय लेने पड़ते हैं।" 36 सालों के बाद मनमोहन सिंह ने अन्ना को गिरफ्तार कर के यह निर्णय दोहराया लेकिन श्रीमती इंदिरा गाँधी ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आलोचना के बावजूद अपना निर्णय नहीं बदला परन्तु मनमोहन सिंह की सरकार एक दिन भी दृढ़ नहीं रह सकी। कुछ ही घंटों बाद उन्हें अपना इरादा बदलना पड़ा। अन्ना ने कहा कि वे तब तक जेल से नहीं हटेंगे जब तक सरकार उन्हें बिना शर्त विरोध प्रदर्शन करने की अनुमति लिखकर प्रदान नहीं कर देती। आई.बी.एन. की खबर के अनुसार पुलिस उन लोगों को सात दिनों के लिए रामलीला मैदान पर विरोध प्रदर्शन की अनुमति देने और प्रतिदिन के आधार पर इसे बढ़ाने के लिए तैयार थी। लेकिन अन्ना किसी भी शर्त को मानने के लिए तैयार नहीं थे। एडवोकेट प्रशांत भूषण ने घोषणा कर दी कि अन्ना बिना किसी शर्त के बाहर आने को तैयार हैं और यदि पुलिस उन्हें नहीं सुनती है तब वे जेल में ही अपना अनशन जारी रखेंगे। उन्होंने लोगों से इंडिया गेट पर शाम 4 बजे इकठ्ठा होने के लिए कहा। इंडिया गेट पर भारी भीड़ मौजूदा सत्ता को एक राजनीतिक सन्देश दे रही थी। यह भीड़ राजनीतिक सत्ता से आवेशित थी। उसका विरोध राजनेताओं से था। यह भीड़ किसी पार्टी का मुद्दा लेकर नहीं चल रही थी। उनके पास केवल राष्ट्रीय ध्वज था। वे भारत को बदलना चाहते थे; न कि सिर्फ उपद्रव करना। अन्ना तो संयोग से ही इसका हिस्सा बन गए थे। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह का मानना था कि अन्ना आन्दोलन भारतीय लोकतंत्र के मूल सिद्धांत यानि कानून बनाने के अर्थात इसके संसदीय प्राधिकार को चुनौती दे रहा था। उन्होंने इस बात का भी संकेत दिया कि अन्ना और उनकी टीम उन ताकतों के हाथ में खेल रही है जो भारत के आर्थिक विकास की विरोधी हैं। मानामोहन सिंह ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "जहाँ तक मुझे लगता है कि श्री अन्ना हजारे इन सिद्धांतों पर सवाल उठा रहे हैं और संसद पर अपना जन लोकपाल थोपने के अधिकार का दावा कर रहे हैं।" उन्होंने यह भी कहा- " मैं मानता हूँ कि श्री अन्ना हजारे एक मजबूत और प्रभावशाली लोकपाल को स्थापित करने के अपने अभियान में ऊंचे आदर्शों से प्रेरित हो सकते हैं, फिर भी संसद पर विधेयक के अपने मसौदे को थोपने का उन्होंने जो रास्ता इख्तियार किया है उस पर पूरी तरह से विचार नहीं किया है और उसका हमारी संसदीय लोकतंत्र पर गलत असर पड़ सकता है।" प्रधानमन्त्री का आक्रमण बहुत ही तीखा था। उन्होंने कहा, "वे लोग जिन्हें यकीन है कि उनकी आवाज़ और केवल उन्हीं की आवाज़ 1.2 अरब लोगों की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, तब उन्हें इस स्थिति पर विचार करना चाहिए। उन्हें जनता के चुने गए उन प्रतिनिधियों को संसद में वह काम करने देना चाहिए, जिसके लिए वे चुने गए हैं।" टीम अन्ना और नागरिक समाज के सदस्यों पर ये अब तक का सबसे तीखा हमला था। (आशुतोष, 2012, पृ. 106)

बुकर पुरस्कार विजेता अरुंधती राय ने लिखा है "जनता जिसका मतलब केवल यही है कि वे दर्शक, जो कि 74 साल के एक बुजुर्ग का तमाशा देखने के लिए इकठ्ठा हुए है कि यदि उसका जनलोकपाल विधेयक संसद में पारित नहीं किया गया तो वह भूख से अपने प्राण त्याग देगा। जनता, जो कि हजारों में है

और टीवी चैनलों के माध्यम से जो करोड़ों में तब्दील हो जाती है, जिस तरह से ईसा ने भूखों को खिलाने के लिए मछलियों और डबल रोटी की संख्या को बढ़ा दिया था। हमें बताया गया कि करोड़ों आवाजों का कहना है 'इंडिया अन्ना है'।" (द हिन्दू, 21अगस्त, 2011)

इतिहासकार और सामाजिक समीक्षक रामचंद्र गुहा ने अन्ना के बारे में लिखा, "हजारे कभी रालेगण सिद्धि गाँव की समझदार आवाज़ थे पर अब वह राष्ट्र के उद्धारकर्ता के रूप में दिखना चाहते हैं। (द टेलीग्राफ, 27 अगस्त, 2011) गुहा ने केवल अन्ना की समझदारी का ही मज़ाक नहीं उड़ाया बल्कि इस आन्दोलन के लिए लोगों के समर्थन पर भी सवाल उठाए। उनकी नज़र में तो यह आन्दोलन संसदीय लोकतंत्र को एक चुनौती ही था। आर.टी.आई. एक्टिविस्ट और नेशनल एडवाइज़री काउंसिल की अरुणा रॉय ने और बढ़ चढ़कर 'इंडियन एक्सप्रेस' के मुख्य सम्पादक शेखर गुप्ता ने कहा, "भारत के इतिहास में यह बहुत ही रोचक समय है, क्योंकि यह चुनौती हमारे विचारों पर है, हम जो कुछ सोचते हैं उस पर है। यह चुनौती हमारे भविष्य पर है, यह चुनौती लोगों की आवाज़ पर है और यह चुनौती वैधानिक प्रक्रियाओं पर भी है। (द टेलीग्राफ, 27 अगस्त, 2011)

प्रधानमन्त्री और बुद्धिजीवी वर्ग के महत्त्वपूर्ण सदस्य इस बात को भूल रहे थे कि इस व्यवस्था में हर जगह भ्रष्टाचार बुरी तरह से फैला हुआ है और आम आदमी को सम्मान के साथ नहीं जीने दे रहा है। इन लोगों ने इस सच्चाई को भी महसूस नहीं किया कि यह एक वास्तविक जन आन्दोलन था और यह आन्दोलन बिना किसी कारण के पैदा नहीं हो सकता था। इस स्थिति में अरविन्द बिलकुल सही थे कि भ्रष्टाचार के खिलाफ नाराजगी ही इसके मूल में थी। (द हिन्दू, 31 अगस्त, 2011) उड़ीसा के एम.पी. बैजयंत 'जय' पांडा ने भी यह माना कि इस आन्दोलन के एक बड़े वर्ग को जनलोकपाल बिल के बारे में पता नहीं है और न ही वे इसके अंतर को ही समझ पा रहे हैं। फिर भी उन सभी का यह मानना है कि इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार मौजूद है और वे इसे और अधिक बर्दाश्त नहीं करेंगे। इसलिए वे इस जनलोकपाल और अन्ना का समर्थन कर रहे हैं। (इंडियन एक्सप्रेस, 5 सितम्बर, 2011) वरिष्ठ पत्रकार सी. जी. वर्गीज़ ने लिखा है कि "आखिरकार यह बहुत ही अच्छा हुआ कि लोग अन्ना हजारे, जिन्होंने भ्रष्टाचार के मूल विषय को उठाया है, के चारों तरफ संचालित हो गए हैं और लोग एक नागरिक के रूप में अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए उत्साहित भी हैं। साथ ही साथ यह सरकार और संसद सदस्यों, जिन्होंने महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर जनता से झूठ बोला है, के लिए चेतावनी भी है।" (नयी दुनिया, 31 अगस्त, 2011)

प्रधानमन्त्री ने इस समस्या को संसद में एक कानूनी पहलू से देखा है, जबकि यह एक राजनीतिक समस्या है। अन्ना और उसकी टीम इस सामाजिक संकट का राजनीतिक समाधान ढूँढने की कोशिश कर रही थी। आशुतोष वार्ष्णेय ब्राउन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर हैं। सरकार के बारे में वार्ष्णेय का आकलन सही है- "जब सरकार तर्क करती है, तब यह केवल इसके कानूनी पहलू पर ही यकीन करती है.....यह आन्दोलन कानूनी नहीं बल्कि राजनीतिक है।" (इंडियन एक्सप्रेस, 7 सितम्बर, 2011)

प्रधानमन्त्री ने बहुत ही चतुराई से इस बात की ओर इशारा किया कि इस आन्दोलन के पीछे अदृश्य विदेशी ताकतें हैं। एक दिन पहले ही अमेरिका ने भारत सरकार के लिए अपना वक्तव्य दिया था कि इसे लोकतांत्रिक विरोधों के लिए अधिक प्रतिक्रियात्मक होना चाहिए। मनमोहन सिंह ने इंदिरा गाँधी के उस भाषण की याद दिला दी जो उन्होंने 26 जून, 1975 को ऑल इंडिया रेडियो पर प्रसारित किया था। श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपने मंत्रालय के सहकर्मियों को यह बताकर आश्चर्यचकित कर दिया कि आपातकाल लागू हो चुका है और वे कैबिनेट के इस प्रस्ताव को अपना समर्थन दें। राष्ट्र के नाम संबोधन में श्रीमती गांधी ने कहा कि जब से उन्होंने भारत के आम आदमी और औरतों के लाभ के लिए कुछ खास तरक्की-पसंद कदम उठाए हैं, इसके खिलाफ एक गहरी साजिश रची जा रही है। (फ्रैंक, 2007, पृ. 381) श्रीमती इंदिरा गाँधी ने इस बात का दावा किया था कि उन्हें चारों तरफ से घेर लिया गया था- दक्षिणपंथी, वामपंथी, हिन्दू अतिवादी, आतंकवादी और ऐसे ही अनेक तत्व देश की क़ानून व्यवस्था को नष्ट करने पर तुले हुए थे। सारे शत्रु अलग-अलग थे, पर इन सबका नेतृत्व फासिस्ट जे.पी. आंदोलन के द्वारा हो रहा था और जिनके पीछे 'विदेशी हाथ' था। मेरे अनुसार आन्दोलन से लोगों का ध्यान भटकाने और बेकार की बहस में उन्हें उलझाने का यह एक नाटक है।

5.12 18 अगस्त: उपवास का तीसरा दिन

18 अगस्त की सुबह अरविन्द ने यह घोषणा कर दी थी कि टीम अन्ना और दिल्ली पुलिस के बीच समझौता हो चुका है और दिल्ली पुलिस ने बिना किसी शर्त के रामलीला मैदान पर 15 दिनों के अनशन की अनुमति दे दी है। यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी। रामलीला मैदान अभी आन्दोलनकारियों के लिए तैयार नहीं हुआ था। अब यह तय हुआ कि अन्ना अपनी अगली रात तिहाड़ में ही गुजारेंगे और रामलीला मैदान अगले दिन पहुंचेंगे। अन्ना ने एक राजनीतिक बयान दिया, "मुझे लोगों की ऊर्जा ने इस बात का यकीन दिला दिया है कि लोकपाल बिल नहीं रुकेगा। यदि यह 15 दिन में नहीं आया, तो मैं अपना अनशन 7 दिन और बढ़ा दूंगा।" अंत में अन्ना ने यह स्पष्ट कर दिया कि "यदि मैं इस काम को करता हुआ मर भी जाऊं, तब भी मुझे इस बात की ख़ुशी होगी कि मैं समाज के काम आया।" (आशुतोष, 2012, पृ. 114)

कुछ लोगों को अन्ना के इस बयान से भी समस्या है कि "भगत सिंह, सुखदेव व राजगुरु को मत भूलो, जिन्होंने फाँसी के फंदे पर चढ़ने से पहले भी नारे लगाए थे।" वे कहते हैं कि अन्ना गांधीवादी होने और अहिंसा की बात करते हैं, परन्तु प्रशंसा उन लोगों की करते हैं जिन्होंने हिंसा का सहारा लिया। यहाँ समस्या अन्ना के साथ नहीं है, यह समस्या उन लोगों के साथ है जो अभी भी बदले नहीं हैं। वार्ष्णेय ने इसे बहुत ही सारगर्भित तरीके से कहा है "नए पलों का सामना करने के लिए अभी तक सरकार ने पुरानी राजनीति से इकट्ठे किये गए सिद्धांतों का उपयोग किया है। इसे पुराने ढाँचे से नहीं समझा जा सकता। इसलिए सरकार और राजनीतिज्ञों के लिए एक नयी राजनीतिक कल्पना ही इसका बेहतर तरीका है।" (इंडियन एक्सप्रेस, 7 सितम्बर, 2011)

5.13 19 अगस्त: उपवास का चौथा दिन

हम राजनीति, समाज और देश की राष्ट्रीय चेतना से भ्रष्टाचार को बाहर देखना चाहते हैं। जब तक यह रोग हमारे बीच में है और यह देश को मारता रहेगा, तब तक हम स्वाभिमानी नागरिक नहीं हो सकते।

अन्ना इस अभियान को बिलकुल ही ज़मीन पर ले आते हैं। वे कहते हैं, "यह दूसरा स्वतंत्रता संघर्ष है। वे लोग जिन्होंने स्वतंत्रता के संघर्ष को सिर्फ किताबों में जाना है, मैं उन्हें इस बड़े अभियान में भागीदार बनने के लिए आमंत्रित करता हूँ।"

यह दुनिया भले ही न बदली हो, पर अब लोगों की उम्मीद यही है कि कुछ भी असंभव नहीं है। अन्ना ने हमेशा अहिंसा की बात कही है और उन्होंने खुद को एक गांधीवादी होने का दावा किया है। इसलिए इस तरह के सवाल उठाये गए कि भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु के चित्र वहां क्यों लगाए गए जबकि वे लोग तो हिंसा को मानने वाले थे। इसका जवाब बहुत आसान है। वे लोग स्वतंत्रता के संघर्ष में अलग रास्ते को मानने वाले थे परन्तु वे सभी एक ही अभियान का हिस्सा थे और उन्होंने भी अपने महान त्याग से लोगों को प्रेरित किया था। विचारधाराओं के भिन्न होने के बावजूद गांधीजी और भगत सिंह शत्रु नहीं थे बल्कि एक ही यात्रा के सहयात्री थे।

अन्ना जेल से बाहर निकले और उन्होंने जोर से नारा लगाया- 'भारत माता की जय! वन्दे मातरम्!' उन्होंने लोगों से अहिंसक बने रहने और यातायात बाधित न करने की अपील की। अन्ना तिहाड़ जेल से राजघाट की ओर चल पड़े। वे राजघाट में आधा घंटा रुके और फिर अपनी मंजिल की ओर चल पड़े। रामलीला मैदान उनकी प्रतीक्षा कर रहा था।

अन्ना ने कहा कि 30 अगस्त तक जब तक संसद जन लोकपाल बिल पारित नहीं करेगी तब तक वे अपना अनशन समाप्त नहीं करेंगे। अन्ना को यह नहीं करना चाहिए था क्योंकि यह उनकी रणनीति का हिस्सा नहीं था। रामचंद्र गुहा ने लिखा- "अन्ना की समझदारी गाँव के मुखिया की तरह ही है।" (द टेलीग्राफ, 27 अगस्त, 2011) अनुभवी पत्रकार सम्पादक और संसद सदस्य एच.के.दुआ ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में लिखा कि "संसद में 30 अगस्त तक जनलोकपाल बिल पारित करने की मांग ने संसद सदस्यों को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि संसद के अधिकार और संविधान खतरे में हैं।" (हिंदुस्तान, 31 अगस्त, 2011) इस घटना से यह पता चलता है कि अन्ना भी एक इंसान हैं और उनमें भी कमजोरियां हैं। इनफ़ोसिस के मालिक नारायण मूर्ति जिन्होंने अन्ना के आन्दोलन और अन्ना दोनों में ही विश्वास था, उन्होंने कहा, "हम यह नहीं कह सकते कि वे अलोकतांत्रिक हैं, क्योंकि नेहरु ने करीब 50 साल पहले अगस्त 1962 में ही कहा था कि लोकतंत्र केवल संसद में ऊपर बैठे लोगों के लिए नहीं है। लोकतंत्र निचले स्तर पर लोगों को मजबूत बनाने के लिए है। इसलिए इसे अलोकतांत्रिक कहना ठीक नहीं है।" (इंडियन एक्सप्रेस, 2 सितम्बर, 2011)

प्रख्यात शिक्षाविद सुनील खिलनानी ने 27 अगस्त, 2011 को 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में लिखा है कि जो लोग सड़कों पर उतरे थे, वह भीड़ किसी ऐतिहासिक नजीर की भीड़ नहीं थी, बल्कि वे मध्यम वर्ग के लोग थे। राजनीतिक विश्लेषक योगेन्द्र यादव ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बताया कि इस भीड़ में सिर्फ शहरी और संपन्न वर्ग के लोग ही शामिल नहीं थे। उनके अनुसार इसमें स्व-नियंत्रित और स्व-प्रेरित लोगों की संख्या बहुत अधिक थी। उनकी राय में इस आन्दोलन में हर तबके के लोग शामिल थे। रामलीला मैदान में मौजूद लोग ईमानदारी के भूखे और भ्रष्टाचार से नाराज़ थे।

कुछ भी हो अन्ना के आन्दोलन ने युवा लड़कों और लड़कियों में एक आशा जगा दी थी, जो कि पारंपरिक सत्ता के ढाँचे और राजनीतिक दलों ने उनसे छीन ली थी। इस आन्दोलन में आई भीड़ को कई दिनों तक 24*7 की स्थिति में बनाये रखना आश्चर्यजनक था। इसमें एक प्रतिबद्धता, उद्देश्य की ईमानदारी व नैतिक बल की आवश्यकता थी और यही इस आन्दोलन की विशेषता थी।

5.14 20 अगस्त: उपवास का पाँचवा दिन

लोग सब कुछ जानना चाहते थे, वे सब अपना विरोध जताना चाहते थे। उनकी चाहत थी कि उन्हें सुना जाए, पर आर्थिक सुधारों के बेसुरेपन और कॉर्पोरेट की ऊंची आवाज़ में वे आवाजों के साथ अकेले छोड़ दिए गए थे। अन्ना में उन्हें अपने शब्द मिल गए थे, उन शब्दों को एक स्पर्श मिल गया था; एक आशा भरा स्पर्श, एक ऐसी आशा कि यह व्यवस्था बदलेगी। उद्देश्य की ईमानदारी और संगीत की शुद्धता इस आन्दोलन की सफलता के दो महत्त्वपूर्ण तत्व थे। संगीत ने लोगों को लय में और मंच पर जो कुछ हो रहा था, उसमें व्यस्त कर रखा था- लोकपाल, लोकपाल, पास करो जन लोकपाल। यह गीत आन्दोलन गीत बन चुका था। आन्दोलन के जोश और उसके वातावरण की पवित्रता को ध्यान में रखते हुए भक्ति संगीत का चयन किया गया। सर्वधर्म प्रार्थना सभा के गीत गाँधी के साथ इस आन्दोलन को जोड़ने के लिए खासतौर से चुने गए थे।

रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीता राम।

ईश्वर अल्लाह तेरो नाम, सबको सन्मति दे भगवान।

यह गीत गांधीजी की सर्वधर्म प्रार्थना में प्रतिदिन गाया जाता था। अन्ना के पीछे मंच पर लगी तस्वीर और इस गीत से पूरा माहौल गांधीमय हो रहा था। साथ ही यह वातावरण की सात्विकता व पवित्रता को भी बढ़ा रहे थे। ऐसा महसूस हो रहा था कि गाँधी भी पास में हैं। इस तरह के भक्ति संगीत मन की स्थिरता के लिए अच्छे थे पर लोगों को उत्साहित, ऊर्जा-संपन्न और आन्दोलन पर केन्द्रित करने के लिए गीतों की भी उपयोगिता थी। जिन गीतों से सामाजिक सन्देश मिलता है, उन्हीं गीतों को प्राथमिकता दी गयी।

20 अगस्त तक रामलीला मैदान एक दूसरा तहरीर चौक बन चुका था। ये विद्रोही लोग लोकतंत्र को मजबूत करना चाहते थे। संसद की स्थायी समिति ने लोकपाल बिल पर एक विज्ञापन ज़ारी किया। जिसमें लोकपाल बिल पर लोगों की राय 15 दिनों के भीतर मांगी गयी थी। टीम अन्ना को यह विज्ञापन ठीक नहीं लगा। इसमें इस बात का इशारा था कि लोकपाल पर केवल उन्हीं लोगों की अकेली राय मायने नहीं रखती। नागरिक समाज के अन्य लोगों की भी राय आवश्यक थी। यह सब एक-दो दिनों में संभव नहीं था। अरविन्द केजरीवाल ने अपनी प्रतिक्रिया में कहा, "जब सरकार का विधेयक किसी काम का नहीं है, तब इस पर राय माँगना बेकार है।"

प्रधानमन्त्री की तरफ से संकेत मिला कि सरकार बातचीत करने के लिए तैयार है पर 30 अगस्त की अंतिम सीमा मान्य नहीं है। टीम अन्ना की तरफ से अरविन्द ने प्रतिक्रया व्यक्त करते हुए कहा, "हम बात करने के लिए तैयार हैं, पर यह केवल सरकार बता सकती है कि वह किससे, कब और कहाँ बात करेगी?" बातें भले ही दूर हों पर दोनों पक्ष संवाद की बात कर रहे थे।

5.15 21 अगस्त : उपवास का छठा दिन

सरकार और टीम अन्ना के बीच बातचीत का दौर चल रहा था लेकिन किसी के द्वारा इसकी पुष्टि नहीं की गयी। यह सब अन्ना की ताजा-तरीन चेतावनी के सन्दर्भ में हो रहा था कि यदि जन लोकपाल बिल 30 अगस्त तक नहीं पारित होता है तब देश ऐसे आन्दोलन को देखेगा, जैसा इसने पहले कभी नहीं देखा होगा। अन्ना ने अपने उपवास के छठे दिन आन्दोलन को तेज़ करने की घोषणा की कि अपने क्षेत्र के सांसद के पास जाओ और उन्हें लोकपाल विधेयक के लिए राज़ी करो। उन्होंने घेराव की बातचीत नहीं की। यह सब गांधीवादी तरीके से करने की बात थी। सरकार इसी से घबरा गयी और पुलिस बल का सहारा लेना पड़ा। केन्द्रीय मंत्रियों को अन्ना के समर्थकों का क्रोध झेलना पड़ा। सरकार के लिए सन्देश स्पष्ट था कि यदि इसने अब जनता की नहीं सुनी तो गंभीर परिणाम होंगे।

20 अगस्त को जामा मस्जिद के शाही इमाम सैयद अहमद बुखारी ने कहा कि अन्ना का आन्दोलन इस्लाम विरोधी है और मुसलमानों को इसमें हिस्सा नहीं लेना चाहिए। शाही इमाम ने कहा, "इस्लाम राष्ट्र या भूमि पूजा को सही नहीं मानता।" (टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 22अगस्त, 2011) पहले दिन से ही अन्ना के आन्दोलन को हिन्दू साम्प्रदायिक तत्वों के द्वारा आश्रय देने और आर.एस.एस. द्वारा समर्थन प्राप्त होने का दोषी ठहराया जा रहा था।

रामचंद्र गुहा ने घुमा-फिराकर इस बात के संकेत दिए हैं कि अन्ना आन्दोलन के पीछे आर.एस.एस. का दिमाग था। जे.पी. की समकक्षता का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा, "इतिहास से हमें पता चलता है कि जे.पी. और अन्ना की समानता उतनी सुखद नहीं है जितनी कि हमें महसूस होती है। जनसंघ के वारिसों के मौजूदा संगठन भ्रष्टाचार के खिलाफ आन्दोलन में सक्रिय भूमिका अदा कर रहे हैं ।"

(हिंदुस्तान टाइम्स, 23अगस्त, 2011) आन्दोलन के नेताओं ने यह महसूस किया कि भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन, एक उच्च वर्ग व उच्च जाति के लोगों का विरोध दिखाने की कोशिश की गयी थी।

बुखारी का जनलोकपाल विरोधी बयान बहुत मायने नहीं रखता था क्योंकि उन्हीं के समुदाय के दूसरे नेताओं ने उनकी बात का समर्थन नहीं किया था। दिल्ली में फतहपुरी मस्जिद के शाही इमाम मुफ़्ती मुकर्रम, जो सुन्नी इस्लाम की बरेलवी शाखा से हैं, ने बुखारी के बयान को सिरे से नकार दिया और कहा कि इस्लाम का अन्ना के आन्दोलन से कुछ भी लेना-देना नहीं है। चूँकि यह आन्दोलन एक अच्छे काम के लिए हो रहा है इसलिए मैं अपने भाइयों से अपील करूँगा कि वे इसमें बढ़चढ़ कर भाग लें (यूरेशिया रिव्यु, 23 सितम्बर, 2011)। दारुल उलूम देवबंद के मुहातमिम मुफ़्ती अब्दुल कासिम नोमानी ने खुलकर कहा, " भ्रष्टाचार एक संजीदा मुद्दा है और इसका सम्बन्ध हम सभी से है लेकिन देवबंद एक धार्मिक संस्था है और जो राजनीतिक मामलों में नहीं पड़ती है।" (www.milligazette.com, 27अगस्त, 2011) यानि मुसलामानों की दो संस्थाओं ने अन्ना के आन्दोलन को एक साम्प्रदायिक मुद्दा नहीं बताया था।

इसलिए इसमें सच्चाई नहीं है कि पूरे मुस्लिम समुदाय ने इस आन्दोलन का बहिष्कार किया था लेकिन यह भी सच है कि मुसलमानों के एक वर्ग ने अन्ना के आन्दोलन में भाग नहीं लिया था। इससे यह सिद्ध होता है कि कुछ धर्म निरपेक्ष बुद्धिजीवी अभी भी दुनिया को अपनी पुरानी मानसिकता से ही देख रहे हैं। उन्हें खुद को बदलने की आवश्यकता है क्योंकि आज भारतीय समाज तेज़ी से बदल रहा है। यह महसूस किया जाता है कि टीम अन्ना ने अल्पसंख्यक समुदाय को इस आन्दोलन से जोड़ने का प्रयास नहीं किया था। उन्होंने सोचा कि भ्रष्टाचार वह मुद्दा है जो सभी पर प्रभाव डालता है। इसमें धर्म मायने नहीं रखता और आन्दोलन को सभी से समर्थन मिलेगा, पर उन्होंने समाज की जटिलता पर ध्यान नहीं दिया। इस तरह से आन्दोलन को आगे भी साम्प्रदायिक बनाने का प्रयास हो सकता है; इस खतरे से इनकार नहीं किया जा सकता।

5.16 22 अगस्त: उपवास का सातवाँ दिन

यदि कोई यह कहता है कि यह एक जन आन्दोलन नहीं था तो वह सच्चाई से कोसों दूर है। अन्ना ने अपनी बात सिद्ध कर दी है। लोग उनके साथ हैं। वे वहां किसी बाध्यता से नहीं, स्वयं ही आ रहे हैं। अब आन्दोलन अपने संजीदा दौर में पहुँच गया था। शीघ्र ही समाधान ढूँढने की ज़रुरत थी। रामलील मैदान में लोगों का आना कम नहीं हुआ था और दिनभर यह भीड़ बढ़ती ही जा रही थी।

पी. चिदंबरम और कपिल सिब्बल बहुत ही काबिल वकील और योग्य कैबिनेट मंत्री थे परन्तु बदकिस्मती से यह मुद्दा कानूनी नहीं था और लोगों ने इसे मुक़दमे की तरह लड़ा था। वकील मुक़दमे तो जीत सकते हैं, पर राजनीतिक लड़ाइयाँ हार जाते हैं। वकीलों के बारे में एक कहावत है। "केस तो जितवा देगा,लेकिन घर भी बिकवा देगा।" (आशुतोष, 2012, पृ. 150)

अब सरकार का नेतृत्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के हाथ में था लेकिन राजनीति में उनकी समझ पर हमेशा गंभीर सवाल उठते रहे हैं। वे एक सफल नौकरशाह रहे हैं, भारत को भविष्य का सुपर पावर बनाने में उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। वे एक महान अर्थशास्त्री हैं, परन्तु राजनीति उनका विषय नहीं रहा। वे यह नहीं देख सके कि इस मुद्दे का समाधान नौकरशाही से न होकर राजनीतिक ढंग से निकालने की आवश्यकता है। सरकार यह तय न कर पायी थी कि अन्ना के साथ क्या किया जाए। हर व्यक्ति उनके स्वास्थ्य को लेकर परेशान था। वातावरण में एक तरह का तनाव था, पर किसी समाधान के चिह्न दिखाई नहीं दे रहे थे।

5.17 23 अगस्त: उपवास का आठवां दिन

प्रधानमंत्री ने अन्ना को एक पत्र लिखा –"मैं यह मानता हूँ कि इस देश में भ्रष्टाचार की महाविपत्ति को यदि पूरी तरह से तो नहीं परंतु सार्थक रूप से कम करने के मामले में आपके और हमारे उद्देश्य समान हैं। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि हमारे रास्ते और तरीके भिन्न हों, पर मुझे विश्वास है कि यह मतभेद ही बढ़ा चढ़ा कर बताए जा रहें हैं।" टीम अन्ना की मांग संसद से सरकारी लोकपाल बिल की वापसी और जन लोकपाल बिल का प्रस्तुतीकरण थी। प्रधानमन्त्री ने अपने पत्र में किसी बात का वादा नहीं किया। उन्होंने लिखा था, " हम किसी से भी वार्ता करने के लिए तैयार हैं। हमें अपने दिमाग में संसदीय सर्वोच्चता और विधायिका के मामले में संवैधानिक बाध्यता को रखना होगा।" उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा कि जन लोकपाल बिल को औपचारिक ढंग से सर्वप्रथम स्थायी समिति में पूरी तरह से विवेचना के लिए भेज दिया जाए। इसके बाद उन्होंने अन्ना से अनशन समाप्त करने का अनुरोध किया। टीम अन्ना को प्रधानमंत्री का पत्र बहुत उत्साहवर्धक नहीं लगा, पर इसने वार्ता की एक ज़मीन तो ज़रूर तैयार कर दी थी। गतिरोध समाप्त हो चुका था। दोनों ही टीमों ने बातचीत शुरू कर दी थी। उस दिन की सफलता की यही कहानी थी। यह एक शुभ संकेत था। (आशुतोष, 2012, पृ. 153-154)

5.18 24 अगस्त: उपवास का नवां दिन

राजनीतिक मामलों पर कैबिनेट कमेटी की मीटिंग के लिए मंत्री प्रधानमन्त्री निवास पर पहुँच रहे थे, जहाँ बड़े फैसले लिए जाते हैं। इसके पश्चात कांग्रेस कोर कमेटी की मीटिंग शुरू हुई। इसमें सोनिया गाँधी के राजनीतिक सलाहकार तथा चार अन्य लोग शामिल हुए।

अन्ना ने अपने समर्थकों से हिंसा न करने और जन-संपत्ति का नुकसान न करने के लिए सचेत किया। यदि वे मुझे ले जाते हैं, तब हमारा नारा होगा- दिल्ली चलो! सरकार लोकपाल बिल को मानने से इनकार करती है तो हमें संसद का घेराव करना है।

वार्ता टूट चुकी थी। राजनीति फिर से शुरू हो गयी थी। स्थिति बनने के बजाय बिगड़ गयी थी। टीम अन्ना के साथ जो कुछ भी तय हुआ वह सब कुछ सी.सी.पी.ए. की मीटिंग से खारिज हो गया। कहा गया है कि संवैधानिक प्रक्रियाओं के साथ कोई समझौता नहीं होगा। सी.सी.पी.ए. की मीटिंग में वित्त मंत्री प्रणव

मुखर्जी द्वारा टीम अन्ना को रियायत देने की योजना निरस्त हो गयी थी। कुछ घंटों पहले प्रधानमन्त्री संसद में अन्ना से उपवास ख़त्म करने का अनुरोध कर रहे थे, और अब मंत्री कुछ और ही कह रहे थे।

टीम अन्ना रामलीला मैदान लौट आई। अरविन्द आन्दोलन को तेज़ करना चाहते थे।उनकी राय में 'दिल्ली चलो' का आह्वान करना चाहिए। उन्होंने कहा कि नागरिक अवज्ञा आन्दोलन शुरू कर देना चाहिए। प्रशान्त इसके पक्ष में नहीं थे। अरविन्द सामाजिक आन्दोलन की उत्पत्ति थे। दूसरी तरफ प्रशान्त पेशे से वकील हैं। उन्होंने अरविन्द की तरह सड़क पर लड़ाई नहीं लड़ी है। उनकी रणभूमि न्यायालय है। वे इस व्यवस्था के भीतर से ही चुनौती देते रहे हैं। अन्ना इन दोनों के बीच एक पुल की तरह थे। वे दोनों को शांत करने वाले, मिलाने वाले, सुधारवादी, संन्यासी और आन्दोलन के नैतिक सेना प्रमुख थे।

अन्ततः इन लोगों ने जनता के बीच जाने का फैसला कर लिया। पारदर्शिता अरविन्द की सबसे बड़ी ताकत रही है। उनका तरीका बहुत सरल था। जब कभी दुविधा में रहो तब जनता के बीच चलो। 74 साल के बुजुर्ग ने लड़ाई छेड़ दी और दिल्ली चलो का नारा दिया।

5.19 25 अगस्त: उपवास का दसवां दिन

25 अगस्त की सुबह एक तनाव लेकर आई, गतिरोध के बाद सफलता और अब फिर गतिरोध। अन्ना जब जंतर-मंतर पर बैठे थे तब एन.सी.पी. के नेता शरद पंवार ने प्रधानमन्त्री से कहा था, "मेरे सम्बन्ध अन्ना से ठीक नहीं हैं, अकेले विलास राव ही वह व्यक्ति हैं जो उन्हें सही ढंग से संभाल सकते हैं।" विलास राव संभवत: ऐसे कैबिनेट मंत्री हैं जिन्होंने जन प्रतिनिधियों के करीब-करीब सभी पदों पर कार्य किया है। विलास राव देशमुख ने दो तरह की रणनीति का उपयोग किया-

1. जनता के सामने अन्ना से मुलाक़ात नहीं करना

2. अन्ना से सीधे बात करना, किसी मध्यस्थ का उपयोग नहीं करना

विलास राव ने कहा, "अन्ना देश की राजधानी ने आपको बहुत अधिक सम्मान दिया है। प्रधानमंत्री तथा संसद ने आपसे अनशन समाप्त करने के लिए अनुरोध किया है। अब और आप क्या चाहते हैं?"

अन्ना ने अपनी तीन उंगलिया उठाते हुए कहा, "सरकार से कहो कि वह तीन मांगें मान ले तो मैं उठ जाऊँगा।"

1. निचली नौकरशाही का भ्रष्टाचार लोकपाल के अधीन होना चाहिए
2. जनता की शिकायत एवं काम के लिए हर सरकारी विभाग में नागरिक चार्टर लगा होना चाहिए
3. राज्यों में नियुक्त लोकायुक्त लोकपाल के अधीन होना चाहिए

अब तक यह मांग करते आ रहे थे कि सरकारी लोकपाल बिल वापस हो और जन लोकपाल बिल को संसद में पेश करने के बाद इस पर चर्चा हो। (आशुतोष, 2012, 170-171)

एक सफल आन्दोलन के लिए ऊंचा सुर, बड़ी मांग और एक बड़ा उद्देश्य होना अत्यावश्यक है। इस आन्दोलन का उद्देश्य भ्रष्टाचार को ख़त्म करना था जिसे अन्ना ने आज़ादी की दूसरी लड़ाई का नाम दिया। आम नागरिक को लगने लगा था कि वे कोई बड़ा काम कर रहे हैं जिससे देश का भला होगा। वे पुराने स्वतंत्रता सेनानियों की तरह स्वयं को भी राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया में सहभागी समझने लगे।

शुरू में अन्ना ने बिल को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि इस पर किसी तरह का समझौता संभव नहीं है, लेकिन जैसे ही मोलभाव की संभावना बढ़ी, वे बिल के साथ समझौता करते हुए अपनी तीन मूल मांगों पर आ गए। ये तीन मांगें ही बिल की आत्मा हैं और समझौते के लिए पूरी तरह ठीक हैं। बीजद के सांसद जय पांडा ने कहा, "अन्ना और उनकी टीम हमेशा जनोत्तेजक रूप में चित्रित होती रही है और जिसका अड़ियल दृष्टिकोण तार्किक वार्ता का विरोध करता रहा.....।" वास्तविकता यह है कि जिस तरह से दर्शाया गया था, टीम अन्ना उस तरह से अड़ियल नहीं रही। उन्होंने हमेशा लेन-देन के संकेत दिए थे। उसे सरकार के झुकने का इंतज़ार था (इंडियन एक्सप्रेस, 5 सितम्बर, 2011)। इसलिए मेरे अनुसार कांग्रेस के प्रवक्ता शकील अहमद गलत थे जब उन्होंने अन्ना के जन लोकपाल की जगह तीन मांगों पर तैयार होने को उनकी हार बताया। (हिन्दुस्तान, 7 सितम्बर, 2011)

अन्ना हमेशा निचले दर्जे की नौकरशाही के भ्रष्टाचार की वजह से परेशान आम आदमी की तकलीफों पर ध्यान आकर्षित करते थे। वे सरकार की तरफ से एक आश्वासन चाहते थे कि इन तीनों मांगों को लोकपाल बिल में शामिल किया जाए। अन्ना ने अपने पत्र में प्रधानमन्त्री को भी लिखा था कि "मैं यह सहन नहीं कर सकता हूँ कि भ्रष्टाचार के कारण कोई प्रताड़ित हो। आम आदमी को भ्रष्टाचार का शिकार बनने से रोकने के लिए जन लोकपाल बिल में तीन प्रावधान हैं।"

विलासराव ने प्रधानमन्त्री को अन्ना से हुई बातचीत के बारे में विस्तार से बताया। प्रधानमन्त्री इस पर पूरी तरह यकीन चाहते थे इसलिए उन्होंने विलास राव से इस बात की पुष्टि के लिए टीम अन्ना की ओर से चिट्ठी मांगी। इस बीच अन्ना ने घोषणा कर दी कि सरकार जन लोकपाल बिल पर संसद में चर्चा करने के लिए तैयार है और सभी पार्टियाँ भी इसके लिए राज़ी हैं तो वे अपना अनशन तोड़ सकते हैं।

प्रधानमंत्री ने वरिष्ठ मंत्रियों की एक उच्च स्तरीय मीटिंग बुलाई, जिसमें अन्ना द्वारा मांगी गयी तीन मांगे मान ली गयी और इस मुद्दे पर संसद में बहस की बात हो गयी। अब सरकार और अन्ना एक ही धरातल पर थे। संकट का अंत नज़दीक था।

अन्ना के अनशन के दसवें दिन प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने लोक सभा में भ्रष्टाचार पर बोलते हुए कहा, "भ्रष्टाचार एक सामूहिक राष्ट्रीय ज़िम्मेदारी है और इसके लिए एक विश्वसनीय समाधान की आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि संसदीय स्थायी समिति जन लोकपाल बिल पर पूरी तरह से विचार करे।"

प्रधानमन्त्री ने एक ऐतिहासिक बयान भी दिया, "मैं अन्ना की प्रशंसा करता हूँ, उन्हें सलाम करता हूँ और उनसे अनशन ख़त्म करने का अनुरोध करता हूँ। मैं आप सभी से अन्ना से अनुरोध करने की गुज़ारिश करता हूँ कि उनकी मांगों पर हम भी ध्यान देंगे।" अन्ना ने अपने पत्र में प्रधानमन्त्री को लिखा, "मेरे हृदय में संसद का बहुत अधिक सम्मान है। हमारी संसद हमारे लोकतंत्र का एक पवित्र मंदिर है।" (आशुतोष, 2012, पृ. 175)

देश के एक वरिष्ठ सम्पादक एच.के.दुआ ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में लिखा कि "संसद सदस्यों के द्वारा 30 अगस्त तक जन लोकपाल बिल को संसद में पारित कर देने की मांग से यह पता चलता है कि संसद के अधिकार और संविधान खतरे में थे.....। ये वे लोग नहीं हैं जो संसद में सुधार की मांग कर रहे थे, बल्कि संसद पर अतिरिक्त संवैधानिक प्राधिकार प्राप्त करने का क़ानून थोप रहे थे जिसे कोई भी समझदार नागरिक स्वीकार नहीं करेगा- यह मामला अतिवाद से भरा हुआ है।" (हिंदुस्तान टाइम्स, 31 अगस्त, 2011) मगर एस.एल.राव जैसे लोग भी थे जिन्होंने अन्ना के आन्दोलन का समर्थन किया। उन्होंने 'द टेलीग्राफ' में लिखा, "यदि बहुत से लोग किसी मुद्दे पर दृढ़ता से यकीन करते हैं, जिनका नेतृत्व संकल्प और समान उद्देश्य के लिए हो तथा विरोध अहिंसक हो, तब भविष्य में उनकी मांगों पर ध्यान देने से इनकार करना मुश्किल होगा।" (द टेलीग्राफ, 4 सितंबर, 2011)

प्रधानमन्त्री की अपील के बाद सरकार के लिए अपने आश्वासन से वापस लौटना कठिन था और यदि ऐसा होता तब सरकार, टीम अन्ना को गलत सिद्ध करने का अपना नैतिक अधिकार खो देती और अन्ना का फिर से आमरण अनशन पर बैठने का विकल्प खुला रहता।

5.20 26 अगस्त: उपवास का ग्यारवाँ दिन

जब राहुल गाँधी 26 अगस्त को संसद में लोकपाल बिल पर बोल रहे थे तब ऐसा लगा कि वे कुछ ऐसा कहेंगे कि बाकी लोग देखते रह जाएं। राहुल गाँधी ने कहा, "पिछले कुछ दिनों की घटनाओं को देखने के बाद ऐसा लगता है कि एक अकेले बिल के चालू होने से भ्रष्टाचार मुक्त समाज की शुरुआत हो जाएगी?" उनका यह वाक्य अनावश्यक रूप से आक्रामक भी था। यह उनका आन्दोलनकारियों के साथ विरोध का एक खुला बयान था। यह बयान उस समय आया जब समझौते की बात चल रही थी। अन्ना जन लोकपाल बिल से हटकर तीन मांगों पर राज़ी हो गए थे। सरकार भी इस मुद्दे पर संसद में चर्चा कराने के लिए तैयार थी। राहुल ने आगे कहा, "भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए वैधानिक ढांचे में लोकपाल क़ानून केवल एक हिस्सा मात्र है। लोकपाल संस्थान एक सामूहिक भ्रष्टाचार विरोधी व्यवस्था का विकल्प नहीं हो सकता। इसके लिए एक वैधानिक व्यवस्था की ज़रुरत है।" उनके लहज़े में व्यंग्य था। उन्होंने सलाह देते हुए कहा "मैडम स्पीकर, क्यों न इस चर्चा को और भी महत्त्वपूर्ण बना दें और भारत के चुनाव आयोग की तरह लोकपाल को भी एक संवैधानिक दर्जा दे दें, जो संसद के प्रति जवाबदेह हो।" इसके बाद उन्होंने अन्ना और उनके पूरे विरोध वृत्तांत को बेकार बताते हुए कहा, "कोई भी व्यक्ति चाहे कितनी भी अच्छी नीयत के

साथ उपदेश दे, उसे लोकतांत्रिक प्रक्रिया को कमज़ोर नहीं करना चाहिए। एक चुनी गयी सरकारी व्यवस्था से अलग हटकर कोई भी समझदारी भरा कदम, जो कि संसदीय सर्वोच्चता की सुरक्षा के लिए बने रोकथाम और नियंत्रण को स्वीकार नहीं करता है, वह लोकतंत्र के लिए हानिकारक है।" उन्होंने अन्ना को गलत रास्ते पर चलने के लिए स्पष्ट रूप से दोषी ठहराया। राजनीतिवेत्ता योगेन्द्र यादव ने उनके भाषण की यह कहकर आलोचना की थी कि उन्होंने एक अच्छा भाषण गलत समय पर दिया था। (आशुतोष, 2012, पृ. 185)

किसी ने भी राहुल गाँधी को भ्रष्टाचार का विरोध करने के लिए राष्ट्रीय झंडे के साथ नहीं देखा था। वे सिर्फ जन लोकपाल बिल का और अन्ना हजारे की अलोकतांत्रिक रूचि का विरोध ही करने के लिए दिखे।

भारतीय परंपरा में सद्भावना को हमेशा ही महत्त्व दिया गया है। राहुल को अन्ना के साथ बैठकर यह बताना चाहिए था कि भ्रष्टाचार के इस महाभारत में वे उनके साथ है और तब वे देखते कि अन्ना उन्हें एक पिता के रूप में आशीर्वाद दे रहे होते। उन्हें सभी लोगों के सामने अन्ना से उनके अनशन को समाप्त करने के अनुरोध की पहल करनी चाहिए थी। 4 सितम्बर 2011 की रिपोर्ट के अनुसार राहुल गाँधी के सलाहकारों ने अन्ना आन्दोलन को आर.एस.एस समर्थित आन्दोलन के रूप में दिखाया।

रिपोर्ट कहती है- " कांग्रेस के महासचिव राहुल गाँधी ने कहा कि पार्टी को अन्ना हजारे के भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन से नुकसान होगा और यही आर.एस.एस- भाजपा की बड़ी योजना है कि कांग्रेस को सत्ता से बाहर किया जाए।" इसका निष्कर्ष यह निकला कि राहुल के समर्थकों को पूरा यकीन हो गया कि अन्ना हजारे का आन्दोलन वास्तव में भ्रष्टाचार के विरोध में नहीं था और यह कांग्रेस के खिलाफ भी नहीं था। इसका उद्देश्य राहुल की बढ़ती युवा शक्ति की जड़ें खोदना था।

28 अगस्त, 2011 को 'न्यूयार्क टाइम्स' ने लिखा, "इस मौजूदा संकट में यह उम्मीद की जा सकती थी कि मि. गाँधी कांग्रेस के एक नए नेता के रूप में उभरकर आएँगे.....परन्तु मि. हजारे ने राजनीतिक उथल-पुथल मचा दी और मि. गाँधी संसद में अपने भाषण से पहले कुछ हद तक खो गए थे।" यही वह चीज़ है जिससे अन्ना आन्दोलन में उनके दृष्टिकोण का पता चलता है।

राहुल गाँधी ने अन्ना को आवश्यकता से अधिक विश्लेषित किया और ऊँच-नीच, हार-जीत के चिंतन में अपना मूल्यवान समय नष्ट किया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ डेविड ओवेन ने सही कहा है कि बीच लड़ाई में कोई भी जनरल यह चर्चा नहीं करता कि यदि वह हार गया तो वह क्या करेगा। उन्हें अपनी दादी श्रीमती इंदिरा गाँधी से यह सीखना चाहिए कि यदि व्यक्ति साहसी नहीं है तो वह विजेता भी नहीं हो सकता। राहुल गाँधी साहस नहीं दिखा सके, इसलिए वे इस आन्दोलन में चूक गए। (आशुतोष,2012,पृ. 189)

अनशन के ग्यारहवे दिन यह आशा की गयी थी कि अन्ना की तीन मांगों पर विलास राव देशमुख द्वारा चर्चा की जाएगी और अन्ना अपना आन्दोलन समाप्त करने की घोषणा करेंगे। लेकिन ऐसा कुछ नहीं

हुआ। संसद के नियम 193 के अंतर्गत लोकसभा में चर्चा शुरू हुई, पर हंगामे के कारण संसद की कार्यवाही स्थगित कर दी गयी। फिर भी संसद ने इस मामले की गंभीरता को देखते हुए काम करने का निश्चय किया।

5.21 27 अगस्त: उपवास का बारहवां दिन

संसद में अन्ना की तीन मांगों पर चर्चा होने वाली थी और सरकार ने उन्हें लोकपाल बिल में शामिल होने का वायदा भी किया था। सरकार के वायदे के बाद भी टीम पूरी तरह से आश्वस्त नहीं थी, इसलिए एक वैकल्पिक योजना को पहले से ही बनाकर रखना बहुत आवश्यक था।

अन्ना सभी लोगों से लगातार कह रहे थे कि वे देश के लिए लड़ रहे हैं, उन्हें कुछ नहीं होगा। टीम अन्ना भी सरकार की तरह ही समाधान के लिए रास्ते खोज रही थी। सरकार तो केवल पांच वर्षों के लिए चुनी जाती है और फिर वापस आ सकती है; मगर अन्ना और उनकी टीम के पास उनकी विश्वसनीयता के अलावा कुछ नहीं था और छोटी सी गलती उन्हें इतिहास के कूड़ेदान में फेंक देगी। टीम को यह बिलकुल स्पष्ट था कि सरकार के द्वारा मना कर दिए जाने के बाद अनशन को जारी रखना बेवकूफी ही होगी। यदि ऐसा होता है तब वे इस मामले को जनता की अदालत में, जनता के बीच ले जाकर यह स्वीकार कर लेंगे कि वे यह लड़ाई हार गए हैं, पर जंग अभी भी ज़ारी है और इस जंग को जीतने के लिए इस लड़ाई को और तेज़ करना ही होगा तथा उस हमले के लिए हमें अन्ना की अगुवाई की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिए लोगों की सहमति से टीम के सदस्य अन्ना से अनशन समाप्त करने का अनुरोध करेंगे और फिर अन्ना जनता को संबोधित करेंगे। वे कहेंगे कि कुछ शक्तिशाली लोग जीत गए और जनता हार गयी; यह व्यवस्था जीत गयी और आम आदमी हार गया। वे अपनी हार को गरिमामय तरीके से स्वीकार कर लेंगे और आगे की लड़ाई के लिए लोगों को मजबूत बनाएंगे। यह एक नई जंग की शुरुआत होगी।

अन्ना की तीन मांगों और प्रस्ताव पारित करने के लिए संसद का विशेष सत्र बुलाया गया था। वित्तमंत्री प्रणब मुखर्जी ने लोकसभा में चर्चा की शुरुआत की। उन्होंने कहा, "अन्ना के उपवास के बारह दिन हो जाने पर अब स्थिति नियंत्रण से बाहर हो रही है। अन्ना की तीन मांगों को वैधानिक ढाँचे में रखते हुए और संसद की संप्रभुता को बनाए रखते हुए सांसदों को इन पर ध्यान देना होगा।" उन्होंने आगे कहा, "संसद के सामने एक प्रश्न है कि क्या लोकपाल के अधिकार क्षेत्र में सभी केन्द्रीय कर्मचारी आएँगे? संसद के सामने दूसरा मुद्दा है कि क्या सभी राज्यों में लोकायुक्त नियुक्त होंगे और प्रस्तावित शिकायत क्षतिपूर्ति व्यवस्था का उलंघन करने वालों को दण्डित करने का अधिकार क्या लोकपाल के पास होगा? यदि संसद की इन विषयों पर आम सहमति है, तब स्थायी समिति इन मुद्दों की व्यावहारिकता, लागू करने के तरीके पर और वैज्ञानिकता पर ध्यान देगी।" (आशुतोष, 2012, पृ. 193)

विपक्ष की नेता सुषमा स्वराज ने कहा, "अपनी पार्टी की तरफ से मैं अन्ना हजारे द्वारा उठाई गयी तीन मांगों से सहमत हूँ और इस क़ानून को पिछले आठ लोकपाल बिलों के दुर्भाग्य में जाकर नहीं मिल जाना चाहिए।" राज्य सभा में विपक्ष के नेता अरुण जेटली ने कहा, "सभी कर्मचारियों एवं लोकसेवकों को

जवाबदेह होना चाहिए और जवाबदेह तंत्र लोकपाल का हिस्सा होगा। हमें एक सिटीजन चार्टर की ज़रुरत है, मगर मैं अन्ना हजारे की इस मांग से असहमत हूँ कि संसद के भीतर सांसदों का व्यवहार और न्यायपालिका लोकपाल के अंतर्गत आनी चाहिए।" (आशुतोष, 2012, पृ. 194)

यह एक राजनीतिक मुद्दा था, पर अब यह एक कानूनी और तकनीकी लड़ाई में बदल गया था। कुछ बुद्धिजीवियों को इस अर्द्धशिक्षित गाँव के आदमी से भी समस्या थी। रामचंद्र गुहा जैसे लोग खुद को व्यक्त करने के लिए सी.पी सुरेन्द्रन का उदाहरण देकर कहते हैं, "सेना के एक सेनानिवृत्त ड्राईवर, जिसकी ताकत केवल उसकी न बदलने वाली ईमानदारी और भूखे रहने की कला है, यह किस तरह से शक्तिशाली सरकार को चुनौती दे सकती है।" यह विवेचना अंग्रेजी पढ़े लिखे बुद्धिजीवियों ने की थी। उन लोगों ने न केवल ग्रामीण भारत का, बल्कि उन लाखों लोगों का अपमान किया, जो इस भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए बाहर निकल पड़े थे।

अरुणा रॉय की भी सहानुभूति आंदोलनकर्ताओं के साथ थी। अन्ना के अनशन के दौरान वे अन्ना से मुलाक़ात करने रामलीला मैदान गईं थीं। एन.सी.पी.आर.आई. अरुणा रॉय का ही संगठन था जिसने सितम्बर 2010 में लोकपाल बिल के मसौदे की प्रक्रिया की पहल की थी। इस बिल को ड्राफ्ट करने वाली कमेटी के अध्यक्ष अरविन्द केजरीवाल थे। मतभेदों के चलते अरविन्द उनसे अलग हो गए और उन्होंने अपनी अलग यात्रा की शुरुआत की, जिसकी परिणति अन्ना आन्दोलन के रूप में हुई थी। एन.सी.पी.आर.आई के साथ मिलकर अरविन्द ने जिस बिल को ड्राफ्ट किया था, उसी का नाम बाद में जन लोकपाल बिल रखा गया था। इस बिल को भ्रष्टाचार के खिलाफ एक कारगर औजार बनाया गया। जन लोकपाल बिल एक संस्थागत ढाँचे की स्थापना प्रस्तावित करता है, जो मौजूदा भ्रष्टाचारी विरोधी व्यवस्था की कमियों को उजागर करेगा और इसके पास न केवल भ्रष्टाचार के मामलों पर मुकदमा चलाने और जांच चलाने का अधिकार होगा बल्कि यह सरकार के नियंत्रण से भी मुक्त होगा।

इंडिया अगेंस्ट करप्शन की वेबसाइट पर बिल की रूपरेखा के आधार पर पता चलता है- 'कोई भी आम नागरिक भ्रष्टाचार की किसी भी शिकायत को लेकर लोकपाल या लोकायुक्त के पास जा सकता है। लोकपाल या लोकायुक्त को अपनी जांच या छानबीन एक साल के भीतर ही पूरी करनी होगी। जांच के उपरान्त यदि किसी राजनेता या अधिकारी के खिलाफ भ्रष्टाचार के सबूत मिलते हैं, तब लोकपाल या लोकायुक्त ट्रायल कोर्ट में मुकदमा दायर कर सकता है। ट्रायल कोर्ट को एक साल के भीतर ही अपनी कार्यवाही पूरी करके सजा सुनानी होगी। दोषी अधिकारी को सेवामुक्त या निलंबित करने का अधिकार होगा(इंडिया अगेंस्ट करप्शन वेबसाइट)।'

जन लोकपाल के बिल के अनुसार, "लोकपाल की फुल बेंच उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश के खिलाफ मुकदमा दायर करने की अनुमति प्रदान कर सकती है। इसमें उसे भारत के मुख्य न्यायाधीश की अनुमति की आवश्यकता नहीं होगी। इसकी परिधि में सभी वर्गों के सरकारी अधिकारी, मंत्री और प्रधानमन्त्री भी आएँगे। जांच के दौरान आरोप सिद्ध होने पर प्रधानमंत्री के

अतिरिक्त लोकपाल, मंत्रियों को पदमुक्त करने की सिफारिश कर सकता है। यहाँ तक कि सांसदों का व्यवहार भी लोकपाल की जांच के अंतर्गत होगा।" इस बिल को और भी अधिकार प्रदान किये गए हैं। ड्राफ्ट के अनुसार, "प्रत्येक विभाग को एक सिटीजन चार्टर तैयार करना होगा जिसमें विभाग से सम्बंधित सभी काम और उनकी समय सीमा भी अंकित होगी। यदि इनका पालन नहीं किया जाता है तब सम्बंधित अधिकारी दण्डित किया जाएगा। छानबीन के लिए सभी मौजूदा भ्रष्टाचार विरोधी एजेंसियां जैसे सी.बी.आई., सी.वी.सी. और सभी विभागों की विजिलेंस शाखाएं लोकपाल में शामिल कर दी जाएंगी, व्हिसल ब्लोअर यानि भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ करने वाले को सुरक्षा प्रदान की जाएगी।'

नेशनल एडवाइजरी कौंसिल की सदस्य अरुणा रॉय को जन लोकपाल बिल से दो कारणों से परेशानी थी-

1. उनके अनुसार, "हमारे जीवन में सभी तरह के भ्रष्ट व्यवहार के समाधान के लिए लोकपाल को एक मुहीम के तहत अति सरलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है।" अरुणा राय के साथ समस्या यह थी कि उन्होंने अन्ना और उनके आन्दोलन को ठीक से नहीं समझा और न ही सिलसिलेवार आन्दोलन का अध्ययन किया, जबकि अन्ना और उनकी टीम के सदस्यों ने प्रेस वार्ताओं में कई बार अपने मंच से कहा है कि लोकपाल शत प्रतिशन भ्रष्टाचार को दूर नहीं करेगा। बाकी के लिए अन्य सुधार उपायों को अपनाना पड़ेगा। इस दिशा में 'राईट टू रिजेक्ट' भी एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।
2. उन्होंने लोकपाल का विरोध निम्न आधार पर किया, "एक ही संस्था को सम्पूर्ण सरकारी तंत्र के लिए अधिकार संपन्न बना देने से यह संस्था अतिशक्तिशाली हो जाएगी जबकि कार्य की अधिक मात्रा से उसे अपना कार्य करने में कठिनाई होगी।" अरुणा रॉय को एक संस्था को अधिक शक्तिशाली बनाने के विचार से चिढ़ थी और लोकतंत्र के लिए यह ठीक भी नहीं है। उन्होंने भ्रष्टाचार को ख़त्म करने के लिए कई एजेंसियों का प्रस्ताव रखा। भ्रष्टाचार को ख़त्म करने के लिए कई स्तरों पर कम से कम पांच संस्थाएं होनी चाहिए।
    1. राष्ट्रीय भ्रष्टाचार विरोधी लोकपाल, चुने गए प्रतिनिधियों जिसमें प्रधानमन्त्री, मंत्री, संसद सदस्य और ग्रुप ए के सभी अधिकारी शामिल हैं, के भ्रष्टाचार की जांच के लिए एक संस्था होनी चाहिए।
    2. सेंट्रल विजिलेंस कमीशन (सी.वी.सी.) क़ानून में बदलाव करके मध्यस्तर के नौकरशाहों की जांच एवं उचित कार्यवाही के लिए अधिकार संपन्न करना।
    3. ज्युडिशियल स्टैण्डर्ड एवं एकाउंटेबिलिटी लोकपाल – न्यायपालिका की स्वतंत्रता को प्रभावित किये बिना ही इसे जवाबदेह और प्रभावशाली ढंग से काम करने के लिए सुनिश्चित करना।
    4. जन शिकायत लोकपाल- आम नागरिकों के लिए सरकार को उसके कार्य, जिम्मेदारियों और दायित्वों की जवाबदेही के लिए शिकायत क्षतिपूर्ति व्यवस्था का विकेंद्रीकरण करते हुए प्रभावशाली नियमबद्ध व्यवस्था करना।
    5. व्हिसिल ब्लोअर सुरक्षा लोकपाल- व्हिसिल ब्लोअर की सुरक्षा सुनिश्चित करना । (आशुतोष, 2012, पृ. 196-197)

अरुणा रॉय ने यह भी सुझाव दिया कि ये संस्थान उन राज्यों में स्थापित किये जाने चाहिए जहाँ इनकी जरूरत हो। इसमें कोई शक नहीं है कि अरुणा रॉय ने कई एजेंसियों वाले एक खूबसूरत लोकपाल की रचना की और उनकी यह सोच भी सही है कि किसी भी एक संस्था को संविधान में स्थापित शक्ति संतुलन को समाप्त करने की ताकत नहीं दी जानी चाहिए। लेकिन अरुणा की यह समस्या थी कि वे इस आन्दोलन की प्रकृति और विरोध प्रदर्शन का व्याकरण न समझ सकीं। आन्दोलन अपनी प्रकृति के अनुसार शुरू में ऐसी मांगे रखता है, जो दिखने में बहुत कठिन होती हैं और जिनको मानना संभव नहीं होता। लेकिन मोलभाव की मेज पर अपने मुख्य मुद्दों पर वापस आ जाता है। अन्ना आन्दोलन के साथ भी यही हुआ। यह जन लोकपाल बिल से शुरू हुआ और उन तीन मांगों पर समाप्त हुआ, जो भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए की गयी थीं और इन्हीं से आम आदमी सबसे अधिक प्रभावित भी होता है। एक आम आदमी बड़े आदमी के घोटालों से अधिक प्रभावित नहीं होता है, उस पर सरकारी विभागों में एक बाबू या पटवारी द्वारा मांगे गए रोजाना के रिश्वत के कुछ रूपये का असर अधिक होता है।

अन्ना और उनकी टीम की धारणा थी कि सरकारी लोकपाल बहुत ही कमज़ोर है। कानून और न्याय मंत्री सलमान खुर्शीद ने बाद में कहा कि सरकार एक मजबूत लोकपाल के लिए प्रतिबद्ध है। उन्होंने लिखा कि स्थायी समिति के सामने एक ऐसे लोकपाल बिल का मसौदा तैयार करना एक बड़ी चुनौती है जिसे संसद और भारत के लोगों का समान समर्थन प्राप्त हो। उन्होंने यह भी संकेत दिया कि राहुल गाँधी के सुझाव के द्वारा लोकपाल को एक संवैधानिक संस्था के स्तर पर उठाया जाएगा। (टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 13 सितम्बर, 2011)

भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश जे.एस.वर्मा ने कहा, "अन्ना हजारे ने चारों तरफ फैले भ्रष्टाचार से लड़ने के एक बेहतर तरीके की खोज का अवसर प्रदान किया है। उत्तम समाधान ढूँढने की प्रक्रिया पर विचार शुरू हो चुका ह।" (इंडियन एक्सप्रेस, 28 अगस्त, 2011) वाकई इस पर सोच-विचार संसद में भी ज़ारी था और हर व्यक्ति टी.वी. से चिपका हुआ अंतिम परिणाम जानने को उत्सुक था। संसद के बाहर संशय गहराता जा रहा था। अन्ततोगत्वा एक मसौदे पर समझौता हो गया, प्रस्ताव लोकसभा में सर्वसम्मति से पारित हो गया। प्रस्ताव स्थायी समिति के पास भेज दिया गया। अन्ना ने छोटा पर स्पष्ट बयान देते हुए घोषणा कर दी कि वे अपना उपवास अगले दिन समाप्त करेंगे। लोकतंत्र की विजय हो चुकी थी। संसद की संप्रभुता और आन्दोलन की गरिमा कायम थी।

5.22 28 अगस्त: उपवास का तेरहवां दिन

अन्ना ने दो छोटी लड़कियों जिनमे एक मुसलमान थी तथा दूसरी दलित, के हाथों शहद और नारियल पानी पिया। जो इस आंदोलन को दलित और मुसलमान विरोधी बता रहे थे, यह उनको जवाब था। अन्ना को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि यह एक सामाजिक आन्दोलन था। इस आन्दोलन का सम्बन्ध दलित या मुसलामानों से नहीं था। कोई भी आन्दोलन मुद्दों और कार्यक्रमों से परिभाषित होता

है, न कि कुछ लोगों की विषय परक समझ के कारण। भ्रष्टाचार लिंग भेद, मूल्य बोध, धर्म और जाति से परे होता है। अन्ना ने घोषणा कर दी थी कि उन्होंने उपवास को ख़त्म किया है न कि अनशन को। यह तो अभी स्थगित हुआ है। यदि सरकार अपने वादे को पूरा नहीं करती है, तब यह आन्दोलन और भी तेज़ होगा। अन्ना टोपी पहनने वाले व्यक्ति को पांच बातों का ध्यान रखना होगा-

1. विचारों की शुद्धता
2. निष्कलंक जीवन
3. त्रुटिहीन व्यवहार
4. अपमान सहने का साहस
5. त्याग

रालेगण सिद्धि में अपने भाषण में उन्होंने इन्ही बातों को दोहराया था। उन्होंने कहा, "सिर्फ यह कहना कि मैं अन्ना हूँ और तुम भी अन्ना हो, सभी लोगों को अन्ना नहीं बना देगा। व्यक्ति को अपने व्यवहार को सुधारना होगा और एक अलग तरह का जीवन जीना होगा। हजारों सालों से त्याग भारतीय सभ्यता का मुख्य अंग रहा है। युवाओं को त्याग करना होगा क्योंकि वे ही इस समाज के पथ प्रदर्शक हैं।" अन्ना रोजाना अपने मंच से यही बातें कहते आ रहे थे और यह उनके शिक्षा एवं प्रशिक्षण का एक भाग भी था। वे चाहते थे उनके समर्थक उनके निर्देशों का पालन करें।

5.23 आंदोलन का विश्लेष्णात्मक अध्ययन

28 अगस्त को उपवास के साथ ही अभी तक जो अनुशासन बना हुआ था वह भी टूट गया। लोग अन्ना की बातें भूल कर अधिक से अधिक उनके पास पहुँचना चाहते थे। यदि इस समय विनोबाजी जीवित होते तो वे इसे अनुशासन पर्व कहते, उन्होंने यह शब्द जे.पी.आंदोलन की आलोचना के लिए काम में लिया था। विनोबा का जे.पी. आंदोलन की प्रकृति और उद्देश्य को लेकर गहरा मतभेद था, वे आंदोलन में हिंसा के प्रयोग से दुखी थे। विनोबा भावे आंदोलन के अहिंसक तरीके जैसे बलपूर्वक धरना और घेराव के कट्टर आलोचक थे। उनके अनुसार यह आंदोलन अकसर हिंसा की तरफ बढ़ जाते हैं। (चन्द्रा, 2003, पृ. 52) जे.पी.आंदोलन के कारण हिंसा और अराजकता को रोकने का बहाना बनाकर श्रीमती इंदिरा गाँधी ने 25 जून 1975 को देश में आपातकाल की घोषणा कर दी थी। इमरजेंसी समाप्त होने के दो दिन के अंदर ही जे.पी. के प्रयासों से वामपंथियों को छोड़कर सारे विपक्षी दलों ने नई पार्टी बनाकर श्रीमती गाँधी की सरकार को बुरी तरह हराया। पहली बार केंद्र में गैर- काँग्रेसी सरकार बनी।

जे.पी. के आंदोलन की शुरुआत अन्ना की तरह भ्रष्टाचार विरोध के रूप में नहीं हुई थी। यह आंदोलन गुजरात के छात्रों द्वारा मेस का बिल बढ़ाने के विरोध में शुरू हुआ। बाद में नेताओं और राजनीतिक पार्टियों ने इस आंदोलन पर अपने हितों के लिए कब्जा कर लिया। 20 दिसम्बर, 1973 को कॉलेज कैंटीन में आग लगा दी गई। यह मात्र इसी घटना से शांत नहीं हुआ, 10 जनवरी,1974 को अहमदाबाद बंद की घोषणा कर दी। विपक्षी पार्टियों ने इसे हवा देने का कार्य किया, अब यह गुजरात के

अन्य शहरों में भी हिंसा का कारण बना। जो आंदोलन मेस फीस बढ़ाने के विरोध से शुरू हुआ, वह मुख्यमंत्री के इस्तीफे और विधानसभा भंग की मांग करने लगा। इसी दौरान जे.पी. अहमदाबाद पहुँचे। बिपन चंद्रा के अनुसार, "छात्रों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा, 'उन्हें इस आंदोलन से प्रेरणा मिली है और यह देश के अन्य भागों के युवाओं के लिए उदहारण बनना चाहिए'।" बिपन चंद्रा जे पी. का हवाला देते हैं, "मैं कई वर्षों से रास्ता ढूढ़ रहा था...तभी मैंने देखा कि गुजरात में छात्रों ने एक बड़ा राजनीतिक परिवर्तन कर दिया है....और अब मैं जान गया हूँ कि यही वह तरीका था।" (चंद्रा, 2003, पृ. 36) जे.पी. ने इसे युवा क्रांति कहा। वह धरती जहाँ गाँधी हुए, वहाँ इस आंदोलन के द्वारा फैली हिंसा की आलोचना जे.पी. ने नहीं की थी। हालाँकि जे.पी. उस समय आंदोलन का हिस्सा नहीं थे पर एक गाँधीवादी होने के नाते हिंसा की निंदा कर सकते थे मगर जे.पी. ने ऐसा नहीं किया। वास्तविक रूप में वे इससे प्रेरित हो रहे थे। जे.पी.ने सन 1953 से ही औपचारिक रूप से सक्रिय राजनीति से अपने आप को अलग कर लिया था। अहिंसा और दल-विहीन लोकतंत्र की पैरवी कर रहे थे। सरकार की संसदीय प्रणाली को हिकारत की दृष्टि से देखते थे। अगर उन्होंने गाँधीवादी तरीकों को अपनाया होता तो हिंसा उन्हें आकर्षित नहीं करती, लेकिन ऐसा हुआ।

जे.पी. जब बिहार के छात्रों द्वारा आंदोलन के नेतृत्व के लिए आमंत्रित किये गए तो उन्होंने कहा, "मैं केवल नाम का ही नेता नहीं बनूँगा। मैं सभी से परामर्श लूँगा....मगर निर्णय मेरा होगा और आप सबको उसे स्वीकार करना होगा।" (चंद्रा, 2003, पृ. 44) छात्र-संघर्ष समिति ने नेतृत्व के लिए कहा तब उन्होंने दो शर्तें रखीं- यह आंदोलन पूर्ण रूप से अहिंसक होगा और इसका विस्तार बिहार तक सीमित नहीं रहेगा। (गुहा, 2007, पृ. 479) जे.पी. द्वारा आंदोलन की लगाम हाथ में लेते ही गया(बिहार) में 8 लोग पुलिस की गोली से मारे गए। जे.पी. ने छात्रों को पहले ही बताया था कि आंदोलन अहिंसक होगा लेकिन जे.पी.हिंसा और अहिंसा दोनों पर समान भाव रखते थे। उनके समर्थकों ने बहुत ज्यादा मात्रा में हिंसा का प्रयोग किया। जबकि गांधीजी ने चौरीचौरा में समर्थकों द्वारा हिंसा अपनाये जाने पर आंदोलन बीच में ही छोड़ दिया था। बिपन चंद्रा जे.पी. के व्यक्तित्व में अवसरवादिता देखते हैं- "जे.पी.के गैर- जिम्मेदार आलंकारिक और उत्तेजित करने वाले बयानों के कई उदहारण हैं, जबकि वे अपने आंदोलन में अहिंसा और शांति की बात जोर देकर कहते थे।" चंद्रा एक न्यूज पेपर की सूचना का हवाला देते हैं- "जे.पी.ने कहा, हालाँकि वे अहिंसा में विश्वास रखते हैं, परंतु यदि कोई विपक्षी दल सरकार गिराने में सक्षम हो तो वे हिंसा का रास्ता अपना सकते हैं।"

जे.पी.के आंदोलन के विपरीत अन्ना आंदोलन प्रकृति में अहिंसक था। इस आंदोलन में न तो ट्रेनों के यातायात, न सड़क यातायात, न ही स्कूल, कॉलेज, यूनिवर्सिटी बंद हुई और न सार्वजनिक या निजी सम्पत्ति को लूटने या नुकसान पहुँचाने का प्रयास किया गया। इसलिए पुलिस द्वारा गोलीबारी नहीं हुई। यहाँ तक कि पुलिस वालों को बिना हथियार जाने के निर्देश दिए गए थे। अन्ना अहिंसा को लेकर बहुत सचेत थे, उनका कहना था, "यदि हम हिंसा करेंगे तो सरकार आंदोलन को कुचल देगी, क्योंकि सरकार बहुत ताकतवर है, हम उसे नहीं रोक पाएँगे।" (आशुतोष, 2012, पृ. 208) जबकि जे.पी.आंदोलन में ऐसा नहीं

था। अन्ना आंदोलन में यदि हिंसा का इस्तेमाल होता तो औरतें और छोटे- छोटे बच्चे इतनी बड़ी तादाद में नहीं आते।

इस बात से नकारा नहीं जा सकता कि जे.पी. आंदोलन का भवन जिस नींव पर खड़ा था, उसमें एक पत्थर भ्रष्टाचार विरोध का भी था। रामचन्द्र गुहा के अनुसार जे.पी. ने यह कहा है कि "इस बात के लिए मैंने स्वतंत्रता की लड़ाई नहीं लड़ी थी।" उन्होंने अब जमाखोरी, कालाबाजारी, कुशासन और भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ना निश्चित किया था। बिपन चंद्रा के अनुसार "जे.पी. आंदोलन की प्रमुख न्यायोचितता थी कि यह भारतीय जीवन और राजनीति में भ्रष्टाचार के खात्मे के लिए उठ खड़ा हुआ था।" (चंद्रा, 2000, पृ. 250) कैथरीन फ्रैंक विश्वास के साथ कहती हैं, "भ्रष्टाचार खूब फला-फूला, लेकिन यह नया नहीं था। नेहरु और शास्त्री दोनों की ही सरकारों पर इसके धब्बे थे। मगर इंदिरा गाँधी की सरकार में तो यह हर स्तर पर फैल गया था।" (फ्रैंक, 2007, पृ. 349) डेविड सेल्बोर्न ने अपनी पुस्तक 'एन आई टू इण्डिया' में गाँधी सरकार के स्वास्थ्य मंत्री सी.सुब्रह्मण्यम का उदाहरण दिया, "राजनीतिक व्यवस्था अब बहुत ही भ्रष्ट, अनुशासनहीन, चरित्रहीन और नैतिकता-विहीन होती जा रही है।" (सेलबोर्न, 1977, पृ. 560) वर्ष 2009 के बाद के लोकसभा चुनाव ने लोगों को अतीत की याद ताजा कर दी। एक के बाद एक होने वाले घोटालों ने मनमोहन सरकार की छवि को धूमिल कर दिया। जे.पी. और अन्ना आंदोलन के ठोस उद्देश्य थे। दोनों आंदोलनों में अंतर उनके उद्देश्य और दृष्टिकोण को लेकर था। जे.पी. आंदोलन शीघ्र ही राजनीतिक रंग में रंग गया। गुजरात में मुख्यमंत्री के त्यागपत्र, विधानसभा भंग और विधानसभा चुनाव के रूप में परिवर्तित हो गया। बिहार में भी आंदोलन ने अपनी क्षमता का उपयोग मुख्यमंत्री के इस्तीफे और विधानसभा की बर्खास्तगी के रूप में प्रस्तुत किया।

जे.पी. नेतृत्वकर्ता थे इसलिए उन्होंने आंदोलन का रुख इंदिरा हटाओ की ओर मोड़ दिया। इलाहाबाद हाई कोर्ट ने इंदिरा गाँधी के चुनाव को गैर-चुनावी प्रक्रिया अपनाने के कारण अयोग्य करार दे दिया। जून 1975 की रैली में जे.पी. ने कहा, "श्रीमती गाँधी के पास शासन में बने रहने का कोई क़ानूनी, नैतिक और संवैधानिक अधिकार नहीं है। इसलिए उन्हें चार दिनों में त्यागपत्र दे देना चाहिए।" इसके उलट अन्ना का आंदोलन मुख्य रूप से भ्रष्टाचार पर ही केंद्रित था और भ्रष्टाचार के विरुद्ध व्यवस्था परिवर्तन की बात कर रहा था। अन्ना चुनाव सुधार के साथ लोकपाल की मांग भ्रष्टाचार के उपाय के रूप में कर रहे थे। अभी तक राजनीति में जाने की कोई मंशा नजर नहीं आ रही थी। उन्होंने किसी भी सरकार से त्यागपत्र मांगने की बात नहीं की, यहाँ तक कि अक्खड़ और जिद्दी व्यवहार के बावजूद भी मनमोहन सरकार को किसी और सरकार या गठबंधन से बदलने की मांग नहीं की। रामलीला मैदान में उनको यह कहते हुए सुना गया, "यदि एक पार्टी भ्रष्टाचार में एम.ए.है तो दूसरी पीएच.डी. इसलिए सत्ता परिवर्तन नहीं व्यवस्था परिवर्तन ही अंतिम समाधान है।" (आशुतोष, 2012, पृ. 211) जैसा अन्ना कह रहे हैं उसी तरह जे.पी. भी कहा करते थे कि " वे सरकार बदलने में विश्वास नहीं करते और अपने समर्थकों को सलाह दिया करते थे कि सरकार गिराने में शामिल मत रहो..... मगर अंत में आंदोलन का मुख्य उद्देश्य इंदिरा को हटाना ही बन गया था।" (चंद्रा, 2003, पृ.106) इसलिए इस समय यह कहना मुश्किल होगा कि अन्ना आंदोलन

भविष्य में क्या रूप प्राप्त करेगा। अरविन्द के अनुसार, "यह आंदोलन हमेशा राजनीतिक पार्टियों और चुनावी राजनीति से बाहर रहेगा।" जब उनसे पूछा गया कि क्या आप एक राजनीतिक पार्टी बनायेंगे, तब उन्होंने कहा, "नहीं कभी नहीं।"(दा हिन्दू, 31 अगस्त, 2011) अन्ना ने 13 सितम्बर, 2011 को सी.एन.एन.आई.बी.एन.के लिए राजदीप सरदेसाई को दिए साक्षात्कार में कहा, "राजनीति में लोग मेरे द्वारा फायदा उठाना चाहेंगे, पर मैं किसी राजनीतिक दल में शामिल नहीं होने जा रहा।" संसद लोकपाल बिल का विरोध करती है तो वे उनके विरुद्ध अभियान चलाएंगे और देखेंगे कि वे दोबारा चुनकर नहीं आयें। (सी.एन.एन.आई.बी.एन., 13 सितम्बर, 2011)

यह बात भी सही है कि काँग्रेस और कुछ बुद्धिजीवियों ने अन्ना आंदोलन को आर.एस.एस.व जन संघ समर्थित बताया। अन्ना ने इसका जोरदार खंडन किया। मगर जे.पी. को आर.एस.एस.व जन संघ के खुले समर्थन से कोई समस्या नहीं थी। बिपन चंद्रा के अनुसार, "जे.पी. ने आंदोलन में आर.एस.एस., जन संघ के दखल और प्रभाव का विरोध नहीं किया। यहाँ तक कि उनकी सक्रिय भागीदारी को भी स्वीकार किया था। यह बात अलग है कि वे जीवन भर साम्प्रदायिकता के कट्टर विरोधी और आर.एस.एस.व जनसंघ के कटु आलोचक रहे।" बिपन चंद्रा का तर्क है कि जे.पी. आर.एस.एस. के सांप्रदायिक चरित्र से परिचित थे। वे जे.पी.का उदाहरण देते हैं, "वे लोग जो भारत को हिन्दू और भारतीय इतिहास को हिन्दू इतिहास के साथ मिलाने का प्रयास करते हैं, वे वाकई हिंदुत्व और हिन्दुओं के दुश्मन हैं।" वर्ष 1962 में राष्ट्रीय एकता परिषद की मीटिंग में जे.पी. ने आर.एस.एस.पर रोक लगाने की मांग की थी। आंदोलन के समय जब जन संघ को फासिस्ट संगठन कहा गया तो जे.पी. ने प्रतिक्रिया स्वरूप कहा था, "तो मैं भी फासिस्ट हूँ।" जे.पी.को इंदिरा गाँधी को उखाड़ फेंकने के लिए आर.एस.एस.का सहयोग चाहिए था। लेकिन अन्ना का ऐसा कोई विचार नहीं था, उन्हें आर.एस.एस. की आवश्यकता नहीं थी। मोहन भागवत द्वारा जब आंदोलन में आर.एस.एस. के भाग लेने की बात कही गई तो अरविन्द केजरीवाल ने उन पर आक्रामक प्रहार करते हुए कहा कि भ्रष्टाचार विरोधी अभियान का श्रेय लेना बंद कर दें। 'दा हिन्दू' को दिए गए साक्षात्कार में अरविन्द ने कहा, "हम इस मामले में बहुत ही स्पष्ट है कि न तो भाजपा का कोई नेता और न ही किसी सांप्रदायिक संगठन का नेता हमारे साथ मंच पर बैठेगा। यह हमारी कोर कमेटी का निर्णय है।"

एक पल के लिए देखा जाये तो अन्ना के आंदोलन की सोच राजनीतिक है, क्योंकि उसका उद्देश्य राजनीतिक व्यवस्था को सुधारना है किन्तु जे.पी. की तरह वे किसी राजनीतिक पार्टी का सहयोग नहीं चाहते। अन्ना ने आंदोलन के समय किसी राजनीतिक दल को अपने भ्रष्टाचार विरोधी मंच का प्रयोग नहीं करने दिया। जबकि जे.पी. ने भरतीय लोकदल, काँग्रेस(ओ), जन संघ, सोशलिस्ट पार्टी, अकाली दल के संगठनात्मक ढाँचे और उनके नेतृत्व का ही उपयोग नहीं किया बल्कि काँग्रेस को हराने के लिए उनको एक छत के नीचे लाकर जनता पार्टी के बैनर तले चुनाव लड़ने के लिए तैयार किया। 1977 के चुनाव में उनको सफलता मिली। इस मायने में अन्ना आंदोलन, जे.पी. आंदोलन की तुलना में बड़ा है, क्योंकि इसने किसी राजनीतिक पार्टी का सहयोग अपने संदेश के प्रसार और आंदोलन चलाने में नहीं किया। इस आंदोलन को किसी संगठनात्मक ढांचे की जरूरत नहीं थी। यह आंदोलन पूरी तरह से आधुनिक संचार साधनों जैसे-

टी.वी., सोशल मीडिया, मोबाइल नेटवर्क और एन.जी.ओ.नेटवर्क पर आधारित था। बिना किसी ढांचे के 13 दिन तक लोगों को अपने साथ जोड़े रखना अपने आप में एक चमत्कार था। राजनीतिक पार्टियों के पास तो एक कैडर होता है और गलत तरीकों का इस्तेमाल करके भी भीड़ इकट्ठा कर लेती हैं। रामलीला मैदान और दूसरे शहरों में भ्रष्टाचार के खिलाफ लोगों को जुटाने के लिए गलत तरीकों का इस्तेमाल नहीं किया गया। योगेन्द्र यादव के अनुसार, "लोग स्वयं संगठित थे और अपने आप ही आये थे, क्योंकि अन्ना की नैतिकता के कारण उनमें उनका विश्वास था।" जे.पी.आंदोलन में लोगों को जे.पी. में विश्वास था परन्तु आंदोलन में हिस्सा ले रहे दूसरे नेताओं पर विश्वास नहीं था। जे.पी. आंदोलन का विस्तार भी सीमित था, दक्षिण भारत और महाराष्ट्र आंदोलन से अछूते थे। अन्ना आंदोलन चेन्नई, बंगलुरु और हैदराबाद में भी दस्तक दे रहा था। दिल्ली के बाद मुंबई इस आंदोलन का बड़ा केंद्र था। दिल्ली और मुंबई के बाद इस आंदोलन का प्रभाव अहमदाबाद, भुवनेश्वर, जयपुर, चंडीगढ़, लखनऊ, भोपाल, कोलकाता और गुवाहाटी में देखने लायक था। कुल मिलाकर अपनी पहुँच और स्वत:गतिशीलता के कारण अन्ना का आंदोलन जे.पी. के आंदोलन से बड़ा था। यह राजनीतिक व्यवस्था की स्थिति के विरुद्ध एक विद्रोह था। 'न्यूयार्क टाइम्स' में निकोलस कुलिश के अनुसार, "सभी आयु वर्ग के नागरिकों, जिसमें मुख्य रूप से युवाओं ने पारम्परिक ढाँचों जैसे-राजनीतिक पार्टियों व ट्रेड यूनियनों को कम श्रेणीबद्ध और अधिक भागीदारी वाली व्यवस्था के पक्ष में नामंजूर कर दिया है।"

यह भी एक विचारणीय मुद्दा है कि दुनिया में राजनीतिक और सामाजिक ढांचे को नकारनेवाला सामाजिक आधार उस शक्तिशाली मध्य वर्ग का ही क्यों होता है। यह मध्य वर्ग ही जे.पी.आंदोलन की ताकत था। बिपन चंद्रा के अनुसार, "मध्य वर्ग की नाराजगी ही काँग्रेस और श्रीमती गाँधी पर एक गहरी राजनीतिक चोट कर रही थी...शहरी निम्न मध्य वर्ग और मध्य वर्ग जिसका जीवन स्तर बढ़ती महंगाई, जमाखोरी, कुछ समय तक मुद्रा स्फीति के कारण जुलाई 1974 में वेतन में रुकावट के कारण गिरता जा रहा था, साथ ही साथ पढ़े-लिखे युवाओं की बढ़ती बेरोजगारी के कारण लोग शासन करने वाली राजनीतिक पार्टी से दूर हो गए थे।" (चंद्रा, 2003, पृ. 26) बिपन चंद्रा लिखते हैं-"जे.पी.आंदोलन के कार्यकर्ताओं या इससे प्रभावित वर्ग में खासतौर से छात्र और युवा पारम्परिक मध्य वर्ग और नव धनाढ्य तथा मध्यम दर्जे के किसान शामिल थे (चंद्रा, 2003, पृ. 274)। इसलिए जब रामलीला मैदान में भूखी और नाराज भीड़ देखी गई तो किसी को आश्चर्य नहीं हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि इसी मध्य वर्ग ने मनमोहन सिंह की उदारीकरण वाली अर्थव्यवस्था में सम्पन्नता प्राप्त की है, परंतु बढ़ती महंगाई और अविश्वसनीय भ्रष्टाचार की वजह से यह वर्ग मनमोहन सिंह के विरुद्ध हो गया। यह तेजी से बढ़ने वाला मजबूत वर्ग देश की आबादी में 25 करोड़ से अधिक और 60 प्रतिशत से अधिक 25 वर्ष से कम आयु का है। यह दुनिया में युवाओं की सबसे बड़ी आबादी है। समृद्धि और अवसर ने इसके अंदर आत्मविश्वास लाने का कार्य किया है और अब वह अपनी पहचान बनाने के लिए बेचैन है। आप उसे चाहकर भी अनदेखा नहीं कर सकते, क्योंकि वह सभी जगह मौजूद है। यह अपनी जोरदार हँसी और मौज के साथ समाज की मुख्यधारा में भी है।

वे नए भारतीय हैं। कुछ लोग उन्हें 'उदारीकरण की औलाद' या 'बटरफ्लाई जनरेशन' या 'मिडनाइट ग्रैंड चिल्ड्रेन' भी कहते हैं।" (आउटलुक, 31 अक्टूबर, 2011)

मध्य वर्ग के युवाओं की भीड़ किसी से भयभीत नहीं है और ये कुछ अच्छा करना चाहते हैं। अपने माँ-बाप की तरह उनमें न तो स्वाभिमान की कमी है और न कोई औपनिवेशिक कुंठा है। वे प्रश्न करते हैं और चीजों को पहले से ही मानकर नहीं चलते, वे आत्मविश्वासी हैं। हमारी पीढ़ी को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं था। हमारे अंदर कुंठाए, कई तरह के बंधन थे और हमारा जीवन बड़ों के द्वारा निर्देशित तथा नियंत्रित होता था। हमारे ऊपर क्या करना है की बजाय क्या नहीं करना है के प्रतिबंध अधिक थे। परंतु हमारी पीढ़ी भाग्यशाली थी, क्योंकि हमने बुनियादी रूप से देश को बदलते देखा है। यह बदलाव पीढ़ीगत नहीं था बल्कि सभ्यताजनित बदलाव था। देश पिछले दो दशकों में अपनी पहचान से परे जाकर बदला है, तब क्यों राजनेता यह सोचते हैं कि नैतिक मूल्य नहीं बदलेंगे। फिर नई पीढ़ी क्यों चुप और राजनीतिक रूप से निष्क्रिय रहेगी।

जे.पी. आंदोलन की बजाय आज का युवा मध्य- वर्ग अधिक तर्कसंगत और समृद्ध है। वे सरलता से मध्य-पूर्व एशिया के आन्दोलनकारियों से जुड़ सकते हैं। इन आन्दोलनकारियों ने एक प्रकार की ट्रांस नेशनल पहचान बनाई है, जिसमें जातीय, सांप्रदायिक और राष्ट्रीय किसी भी तरह की सीमाएँ नहीं हैं। यह एक ऐसी पहचान है जो युवाओं को उनके अयोग्य और भ्रष्ट आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं के चंगुल से मुक्त होने की महत्त्वाकांक्षाओं में शामिल करने के लिए प्रोत्साहित करती है और इस प्रकार यह अपने समाज और संस्कृति को उस भव्यता की तरफ वापस ले चलती है, जो कभी इब्नबतूता के जमाने में थी । ('टाइम', 1-8 अगस्त, 2011) वे अपनी पुरानी परम्पराओं से बाहर निकलकर फिर से स्वयं को खोजने में लगे हैं। भारत का यह नया युवा वर्ग पिछले आठ दशकों के पूंजीवाद की सबसे बड़ी बाधा को समझने का प्रयास कर रहा था। मास्को के लोग और इजराइल के आंदोलनकारी जब अपने देश के इतिहास के विशाल प्रदर्शन के लिए सड़कों पर उतर गए तो इसने उन लोगों के साथ सहानुभूति दिखाई। वे इस वास्तविकता से भी परिचित हैं कि अपने अभूतपूर्व विकास के बावजूद चीन में अपनी आवाज उठाना खतरे से खाली नहीं है। इसलिए उन्होंने उन अनजाने चीनियों की हिम्मत की प्रशंसा की, जिनके बारे में उन्हें जानकारी मिली कि 2004 में अपना विरोध जताने के लिए 74000 याचिकाएँ दायर कीं, वहीं 2010 में याचिकाओं की संख्या 1,80,000 हो गई। यह नया युवा वर्ग अपनी स्थानीय जड़ों के साथ एक वैश्विक नागरिक है। इसलिए जब वह स्पेन की 27 वर्षीय मार्ता सोलानस को सुनता है कि "सबसे बड़ा संकट न्याय का संकट है; हमें ऐसा नहीं लगता है कि वे हमारे लिए कुछ कर रहे हैं।" जब वह इजराइल की 26 साल की योनतान लेवी को कहते सुनता है, "राजनीतिक व्यवस्था ने अपने नागरिकों को छोड़ दिया है।"(मिंट, 29 सितम्बर, 2011) इसलिए वह केवल अपनी आत्मा की आवाज सुनता है।

राजधानी दिल्ली के रामलीला मैदान में पहुँचने वाले हर किसी को मालूम था कि भारत का युवा वर्ग यह महसूस कर रहा था कि राजनीतिक वर्ग ने उन्हें अनाथ कर दिया है। फिर भी वे वहाँ गए क्योंकि

ठीक इसी प्रकार ली चेंगपेंग ने चीन में यह जानते हुए भी कि वह नहीं जीतेगा, उसने स्थानीय काँग्रेस से चुनाव लड़ा। भारत का युवा वर्ग भी दुनिया को बताना चाहता था, "हम हर किसी को बताना चाहते हैं कि हमारे अपने देश पर मेरी भी कुछ हिस्सेदारी है।" ('टाइम', 31 अक्टूबर, 2011)

5.24 अनशन समाप्ति के पश्चात

पिछले दिनों अन्ना की टीम ने भ्रष्टाचार के मुद्दे पर सरकार को झुकाने की भरपूर कोशिश की और लोकपाल बिल पास करने के लिए दबाव बनाया गया। लेकिन अब सत्ता भी मुकाबला करने के लिए तैयार थी। अन्ना पर शुरुआत से ही आक्रमण किया जा रहा था और दुनिया को यह दिखाने की कोशिश की जा रही थी कि वे भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ने के काबिल नहीं हैं। क्योंकि वे स्वयं ईमानदार नहीं हैं। अन्ना टीम की सदस्य किरण बेदी पर धन के दुरूपयोग के आरोप लगाये गए। बताया गया कि उन्होंने पुलिस संगठनों में अपने एन.जी.ओ.के माध्यम से मुफ्त कम्प्यूटर ट्रेनिंग के नाम पर धोखाधड़ी की है। पुलिस संगठनों के बच्चों को मुफ्त ट्रेनिंग देने के लिए 'मेरी पुलिस' योजना के नाम पर माइक्रोसॉफ्ट कंपनी से 50 लाख रूपये चंदे के नाम पर प्राप्त किये परन्तु ट्रेनिंग देने की बजाय बेदी ने किसी अन्य से मिलकर वेदांता फाउन्डेशन के साथ धोखाधड़ी की और पुलिस संगठनों के साथ धोखा देने की योजना बनाई।(मेल टुडे, 27 नवम्बर, 2011) इस घटना से पहले बेदी पर आरोप लगाया कि किसी संगठन ने उन्हें बुलाया लेकिन बेदी ने इकोनॉमिक क्लास में यात्रा करके गलत बिल देकर बिजनेस क्लास का किराया प्राप्त किया। बेदी ने अख़बार को बताया कि यह उन्होंने निजी लाभ के लिए नहीं बल्कि एन.जी.ओ. के लिए किया।(लाइवमिंट, 20 अक्टूबर, 2011) अन्ना आंदोलन में उन्होंने नेताओं का मजाक उड़ाया, सांसद नाराज थे और चाहते थे कि बेदी अपने व्यवहार के लिए माफी मांगें। लेकिन बेदी अगर भ्रष्ट होतीं तो आई.पी.एस.अधिकारी होने के नाते बहुत पैसा कमा लिया होता। जहाँ तक मेरी समझ है यह सब भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन को बदनाम करने के लिए किया गया था।

किरण बेदी के खिलाफ एफ.आई. आर.दर्ज होने के बाद इधर अन्ना टीम ने आक्रामक रूप अपनाया। उन्होंने घोषणा कर दी कि अन्ना अपना आंदोलन 27 दिसम्बर, 2011 से शुरू करेंगे। यह सरकार को एक संदेश था कि अगर बिना वजह टीम अन्ना को निशाना बनाया तो वे भी चुप नहीं रहेंगे। किरण के साथ हुई शरारत के अलावा जब अन्ना अनशन पर बैठे थे, तब दूसरी ओर शासन की तरफ से यह विश्वास दिलाया जा रहा था कि अन्ना के तथाकथित समर्थक अन्ना का इस्तेमाल अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के लिए कर रहे हैं। आरम्भ में अन्ना ने इन सब बातों की अनदेखी की, लेकिन जब विलास राव देशमुख का आगमन हुआ तो इस आंदोलन ने अलग आकार ले लिया। उन्होंने अन्ना आंदोलन में अपनी पहचान बनाने और महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री बनने का अवसर देखा। देशमुख ने ही अन्ना के साथ वार्ता में मध्यस्थ की भूमिका अदा की थी और रामलीला मैदान के अनशन को समाप्ति की तरफ ले गए थे। महाराष्ट्र के एक वरिष्ठ नेता द्वारा कहा गया कि अन्ना वही करेंगे जो उनके राजनीतिक नेता कहेंगे। यह सब नाटक अन्ना को दिल्ली की टीम से दूर करने और चालाकी से अपनी ओर मोड़ने व नियंत्रित करने

के लिए किया जा रहा था। दूसरा, इसमें मराठी और गैर मराठी विवाद भी था। महाराष्ट्र के कुछ बुद्धिजीवी ऐसा सोच रहे थे कि जब अन्ना राष्ट्रीय व्यक्तित्व बन जाएँगे तो मराठियों की भूमिका कम हो जाएगी और उत्तर भारत के लोग अन्ना पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेंगे। अन्ना जब रालेगण सिद्धि पहुंचे तो अरविन्द, प्रशांत, किरण और मनीष के खिलाफ अन्ना के कान भरने का प्रयास किया गया। स्थानीय अख़बारों में खबरे चलाई गईं कि ये चारों लोग अति महत्त्वाकांक्षी हैं और अपने निजी स्वार्थ के लिए अन्ना का इस्तेमाल करना चाहते हैं। (आशुतोष, 2012, पृ. 223)

साजिशों ने धीरे-धीरे अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर दिया। एक तरफ अन्ना टीम दिल्ली में अपने ऊपर हो रहे निजी हमलों का सामना कर रही थी, दूसरी तरफ अन्ना ने इसी समय 17 अक्टूबर, 2011 को मौनव्रत धारण कर लिया था। ब्लॉगर ही अन्ना को निर्देशित कर रहा था। टीम अन्ना बहुत ही निराश और असमंजस की स्थिति से गुजर रही थी। उसी दौरान अन्ना टीम की कोर कमेटी के दो सदस्य पी.वी.राजगोपाल और जल पुरुष राजेंद्र सिंह ने इस्तीफा दे दिया। राजेंद्र

सिंह ने उन लोगों पर कड़वी भाषा का प्रयोग किया, "टीम अन्ना में सभ्य लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। वहाँ किसी किस्म का लोकतंत्र नहीं है। मैंने वह समूह छोड़ दिया है, क्योंकि मैं किसी किस्म की सत्ता की दलाली नहीं कर सकता, जैसा कि हिसार के उप-चुनाव में की गयी थी।" उनके तीखे बोल मुख्य रूप से अरविन्द के लिए ही थे। उन्होंने कहा, "केजरीवाल ने आंदोलन का बहुत अधिक नुकसान किया है।"('दा हिन्दू' 27 अक्टूबर, 2011)

टीम अन्ना द्वारा हिसार में काँग्रेस उम्मीदवार के खिलाफ अभियान चलाना मीडिया के एक वर्ग और कुछ अन्ना समर्थकों को भी पसंद नहीं आया। यह अपने आप में खतरनाक स्थिति थी, क्योंकि आंदोलन की सफलता का कारण ही यही था कि इसने सभी राजनीतिक पार्टियों की आलोचना समान रूप से की थी। इसने किसी भी पार्टी को नहीं छोड़ा था। वे राजनेताओं में कुछ भी अच्छा नहीं देखते। इसलिए टीम अन्ना अकेले काँग्रेस पार्टी को ही किस तरह से न्यायोचित ठहरा सकती थी कि वह लोकपाल लाने में सक्षम थी? जब आंदोलन आरम्भ हुआ था तब केजरीवाल के पास सपने थे, मगर अनशन के दो महीने बाद ही सपने दु:स्वप्न में बदल गए। उनके पुराने विचार, आदर्श और ऊर्जा गायब थी। उनकी सबसे बड़ी समस्या यह थी कि इस संकट की घड़ी में उनका नेता अर्थात अन्ना उनके साथ है अथवा नहीं और अन्ना को उन लोगों पर विश्वास भी है कि नहीं। उन लोगों को अपना नेता चाहिए था लेकिन नेता उनके पास नहीं था। मनीष और प्रशांत को अन्ना के पास बातचीत के लिए भेजा तो अन्ना द्वारा उन्हें सर्वे की एक प्रतिलिपि पकड़ा दी गयी। 'साइबर वर्ल्ड' में किये गए सर्वे में 54 लाख लोगों की प्रतिक्रियाएं व्यक्त की गई थी। इस सर्वे में अन्ना और उनकी टीम के सदस्यों के बारे में लोगों की राय व्यक्त की गई थी। इसमें अन्ना के संबंध में सकारात्मक और अरविन्द, प्रशांत, किरण और मनीष के बारे में नकारात्मक बातें थी। उन दोनों को पूरा विश्वास हो गया था कि यह सब साजिश के तहत आंदोलन का अपहरण करने की योजना थी। टीम अन्ना अपने ऊपर लगे आरोपों से दुखी थी। टीम इस निष्कर्ष पर पहुंची कि इस नुकसान से बचने के लिए कोर

कमेटी को भंग कर दिया जाए और अन्ना को पत्र लिखकर कहा जाए कि आप हमारे नेता हैं और हम आपके सिपाही हैं, आप जो काम देंगे, हम उसे करने के लिए तैयार हैं। यही वह समय था, जब प्रशांत ने कश्मीर मुद्दे को लेकर बयान दिया कि जनमत संग्रह होना चाहिए और यदि लोग चाहते हैं तो कश्मीर को आजादी दे देनी चाहिए।(टाइम्स ऑफ इडिया, वेबसाइट, 12 अक्टूबर, 2011) उस समय टीम अन्ना उत्तर प्रदेश दौरे पर लोगों से बातचीत कर रही थी, हर जगह नाराज भीड़ ने प्रशांत के बयान पर उनका रुख जानना चाहा।

कश्मीर पर प्रशांत के बयान ने निजी स्वतंत्रता के विरुद्ध राष्ट्रवाद को खड़ा कर दिया था। प्रशांत अपने सिद्धांतों से पीछे हटने की बजाय आंदोलन से हटने के लिए तैयार थे, मगर आंदोलन को प्रशांत व राष्ट्रवाद दोनों की आवश्यकता थी। टीम के कुछ लोगों की राय थी कि प्रशांत का बयान आंदोलन को नुकसान पहुँचा रहा था और आंदोलन की विचारधारा पर सीधी चोट थी। आंदोलन के सामाजिक जनाधार के बिखरने का डर था। इस सम्बंध में 28 अक्टूबर को कोर कमेटी को भंग करने के लिए अन्ना को खुला पत्र लिखा गया। 29 अक्टूबर की रात को रालेगण सिद्धि से पत्र आया, जिसमें बताया गया कि अन्ना के मन में उन लोगों के प्रति शंका भर दी गई थी और नई बनाई जाने वाली कोर कमेटी में उन लोगों को हाशिए पर डाल दिए जाने की संभावना थी। अगर इस कमेटी को भंग किया जाता है तो निर्णय का अधिकार उन लोगों के हाथ में आ जायेगा जिनका इस आंदोलन से कोई मतलब नहीं है और सरकार भी यही चाहती है। आखिरी समय में कमेटी को भंग करने का निर्णय टाल दिया गया। इस गंभीर संकट के समय कमेटी ने एक मजबूत संकेत दिया कि वे सभी संगठित हैं और एक साथ मिलकर लड़ना चाहते हैं। प्रशांत,किरण और अरविन्द ने अन्ना से मिलकर बताया गया कि उनके आंदोलन को बदनाम करने के लिए साजिशें रची जा रही हैं। 14 अक्टूबर को सुबह 6.20 बजे 'इंडिया टुडे' की वेबसाइट पर अन्ना ने कहा, "प्रशांत का बयान सही नहीं है और यह आंदोलन की नहीं, बल्कि उनकी व्यक्तिगत राय है। मेरे दृष्टिकोण से, कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है और मैं इसके लिए अपना जीवन बलिदान करने के लिए तैयार हूँ; क्योंकि यह भारत का हिस्सा है और हमेशा भारत के साथ रहेगा।" (इंडिया टुडे वेबसाइट, 14 अक्टूबर, 2011) उन लोगों ने अन्ना को दो पत्र लिखे। एक पत्र अरविन्द, किरण, प्रशांत और शांति भूषण द्वारा यह कहते हुए लिखा कि अन्ना को उन लोगों पर अब और अधिक विश्वास नहीं रह गया है, इसलिए वे इससे हट जाना चाहते हैं। दूसरा भावनात्मक पत्र अरविन्द ने यह कहते हुए लिखा कि उनके दिल में अन्ना के लिए बहुत ही प्यार और आदर है तथा अन्ना को वे अपने पिता के समान समझते हैं; परंतु हाल ही में उन्होंने महसूस किया कि अन्ना को उनके प्रति अविश्वास पैदा हो गया है। अपने पत्र में उन्होंने अपने ऊपर लगे आर्थिक दुरूपयोग के मामले को स्पष्ट करते हुए कहा वे एक आयकर विभाग में कमिश्नर रह चुके हैं और हमेशा अपनी ईमानदारी पर कायम रहे हैं। अगर अन्ना को लगता है कि वे अपनी ईमानदारी को साबित करके दिखाए , तब वे अन्ना को जो अच्छा लगे करने के लिए तैयार हैं।

इन पत्रों को अन्ना के पास ले जाने की जिम्मेदारी मनीष को दी गयी। मनीष ने रालेगण सिद्धि जाकर दोनों पत्र अन्ना को सौंपे। 3 नवम्बर, 2011 को अन्ना को लोकपाल बिल पर कानून और न्याय पर

स्थाई कमेटी की मीटिंग में भाग लेने के लिए दिल्ली आना था। दिल्ली आने पर सभी सदस्यों ने अन्ना से मुलाकात की। अन्ना ने सभी मुद्दों पर बातचीत करते हुए शक, आशंका और भय को दूर कर एक बार फिर साथ-साथ काम करने में विश्वास व्यक्त किया। अन्ना ने प्रेस के सामने यह स्पष्ट किया कि अरविन्द और किरण के ऊपर भ्रष्टाचार के आरोप सुने, तब उन्हें कुछ शंका हो गयी थी लेकिन उनसे बातें करने पर संदेह दूर हो गया और अब हताशा व भ्रम की स्थिति से निजात मिल गयी। सत्ता फिर से निराश हो गयी और आंदोलन में तख्ता पलटने की साजिश व्यर्थ हो गयी।

लोकपाल बिल 27 दिसम्बर, 2011 को कुछ परिवर्तनों के साथ लोकसभा में पहले ही पारित हो चुका था। 29 दिसम्बर को इसे राज्यसभा में कानून बनाने के लिए वोटिंग के लिए रखा गया था। बिल पर चर्चा लगभग ग्यारह घंटे से अधिक समय से चल रही थी। प्रधानमंत्री कार्यालय के राज्यमंत्री सरकार की तरफ से जवाब देने के लिए जब अपना पेपर पढ़ रहे थे, तभी उनसे लोकपाल की प्रति छीनकर फाड़ दी गयी और सदन के वेल में फेंक दिया गया। विपक्ष को इसमें साजिश नजर आ रही थी, वह मतदान चाहता था। यदि यह लोकपाल बिल राज्यसभा में पारित हो जाता है तो राष्ट्रपति की सहमति से 44 वर्षों बाद कानून बन जाएगा। सरकार के पास पर्याप्त संख्या बल का अभाव था। संसदीय मामलों के मंत्री ने जवाब देते हुए कहा, "सरकार खिचड़ी कानून नहीं पारित करना चाहती है और इसमें परिवर्तन के लिए समय चाहती है।"(दा टाइम्स ऑफ इंडिया, 30 दिसम्बर, 2011) अध्यक्ष हामिद अंसारी ने संबोधित किया, "एक विचित्र सी स्थिति उत्पन्न हो गयी है। हर व्यक्ति एक-दूसरे पर चीखता मालूम पड़ रहा है, इस समय कुछ भी कर पाना मुश्किल है। इतने शोर में प्रक्रिया जारी नहीं रखी जा सकती है। इसलिए कोई विकल्प नहीं है.... और बहुत ही अनिच्छा से संसद अनिश्चित काल के लिए स्थगित की जाती है।" (टाइम्स ऑफ इंडिया, 30 दिसम्बर, 2011)

राज्यसभा में मतदान नहीं हो सका। सरकार ने बाद में यह घोषणा कर दी कि लोकपाल बिल बजट सत्र में लाया जाएगा और समुचित संशोधनों के बाद इसे पारित करने का प्रयास करेगी। विपक्ष ने कहा कि यह सारा खेल सरकार की तरफ से पूर्व नियोजित था, क्योंकि सरकार अल्पमत में थी और बिल पारित करने के लिए संख्या बल का अभाव था। तृणमूल काँग्रेस को इस बिल में लोकायुक्त को लेकर आपत्ति थी, हालाँकि उसने लोकपाल बिल का लोकसभा में समर्थन किया था। तृणमूल काँग्रेस के साथ-साथ समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी और राष्ट्रीय जनता दल को भी इस बिल को लेकर आपत्ति थी। इन चारों दलों के असहयोगपूर्ण रवैये के कारण सरकार को इस बिल के भाग्य के बारे में पहले से ही जानकारी थी। शाम तक स्पष्ट हो गया था कि लोकपाल बिल पर समर्थन मिलना संभव नहीं है। टीम अन्ना को भी विश्वास हो गया था कि सरकार बिल नहीं लाना चाहती, यह सब लोगों के दबाव के कारण हो रहा है। इस संशय के दोहरे अर्थ के बारे में कानून और न्याय मंत्री सलमान खुर्शीद ने 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में लिखा, "जिस तथ्य पर कुछ लोगों ने इस बिल की आलोचना की है, वह सरकार का मूल संशय है...। चुने गए प्रतिनिधियों पर बढ़ता संशय लोकतंत्र और स्वतंत्रता के अंत की शुरुआत है।" (टाइम्स ऑफ इंडिया, 27 दिसंबर, 2011) जंतर-मंतर पर हुए आंदोलन के बाद देश में लोकपाल की आवश्यकता और इसकी

प्रकृति पर बहस तेज हो गयी थी। टीम अन्ना की धारणा बन चुकी थी कि बिना लोकपाल लाए भ्रष्टाचार समाप्त नहीं किया जा सकता; सरकार का यह मानना था कि लोकपाल होना तो चाहिए पर इसे इतना शक्तिशाली नहीं होना चाहिए कि यह लोकतंत्र की अनुकूलता को ही बिगाड़ दे। लोकपाल बिल के अभी तक तीन मसौदे आ चुके थे। पहला, संयुक्त मसौदा समिति की नौ बैठकों का परिणाम था, जिसे टीम अन्ना ने तुरंत प्रभाव से अस्वीकार कर दिया था। प्रशांत भूषण के अनुसार, "भ्रष्टाचार-विरोधी स्वतंत्र और व्यापक जाँच के लिए सरकार ने जिस बिल को प्रस्तुत किया है वह इसे पूरा करने में असमर्थ है।"(दा हिन्दू, 2 जनवरी, 2012) इस बिल के विरोध में अन्ना ने रामलीला मैदान पर अनिश्चितकालीन आमरण अनशन किया था, जो तेरह दिन तक चला और अपनी तीन मांगों-सभी सरकारी नौकर और सिटिजन चार्टर लोकपाल के अंतर्गत आएंगे, लोकपाल के अंतर्गत राज्यों में लोकायुक्त नियुक्त किये जाएंगे, के लिए बाध्य किया। सर्वसम्मति से सरकारी बिल संसद की स्थायी समिति के पास भेज दिया गया, जिसे 17 दिसम्बर को अपनी रिपोर्ट देनी थी। टीम अन्ना इस ड्राफ्ट रिपोर्ट से सख्त नाराज थी। प्रशांत भूषण के अनुसार स्थायी समिति का बिल पहले वाले बिल से भी कमजोर था, क्योंकि पहले वाले बिल में लोकपाल के लिए अपनी स्वयं की भ्रष्टाचार-विरोधी जाँच की संस्था का प्रावधान प्रस्तुत किया था, उसे स्थायी समिति ने हटा दिया था।

स्थायी समिति की रिपोर्ट के आधार पर संसद के शीतकालीन सत्र के बाद सदन में नया लोकपाल बिल पेश किया गया। यह बिल तीन निर्देशित सिद्धांतों पर तैयार किया गया। सलमान खुर्शीद के अनुसार, "कोई भी अकेली संस्था भ्रष्टाचार पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती है। इसमें जाँच पड़ताल, अभियोजन और न्याय- निर्णय की मौजूदगी के लिए अधिकारों के बँटवारे की जरूरत है तथा लोकपाल एक पुलिस नहीं हो सकती है। इसे एक न्यायिक संस्था की तरह होना चाहिए।" (दा टाइम्स ऑफ इंडिया, 27 दिसम्बर, 2011) इस बिल के अंदर प्रधानमंत्री को कुछ शर्तों के साथ लोकपाल में रखा गया था। न्यायपालिका को बाहर रखा गया था तथा ए.,बी.और सी.वर्गों के कर्मचारियों को इसमें रखा गया था। राज्यों में लोकायुक्त की स्थापना होगी तथा सी.वर्ग के सरकारी नौकर सी.वी.सी. के द्वारा लोकपाल के प्रति जवाबदेह होंगे। सिटिजन चार्टर के लिए अलग बिल लाया जाएगा, यह लोकपाल का हिस्सा नहीं होगा। टीम अन्ना को इस बिल से गंभीर आपत्ति थी। इसमें भ्रष्ट मंत्रियों व अधिकारियों को पकड़ने की शक्ति नहीं थी, इसके पास जाँच का अधिकार नहीं था और यह सरकार द्वारा नियुक्त संस्था थी। अन्ना के अनुसार यह बिना दांतों वाला ढाँचा था। प्रशांत भूषण ने 'दा हिन्दू' को लिखा, "लोकपाल को मजबूत बनाने के लिए इसका चयन और बर्खास्तगी, सरकार से स्वतंत्र होनी चाहिए- सी.बी.आई. को लोकपाल के प्रशासकीय नियंत्रण में होना चाहिए और लोकपाल की अपनी स्वयं की जाँच संस्था होनी चाहिए तथा जाँच की प्रक्रिया सामान्य अपराध जाँच पद्धति की तर्ज पर हो।" (द हिन्दू, 2 जनवरी, 2012) लोकपाल की नियुक्ति में अल्पसंख्यकों के आरक्षण के प्रावधान से भाजपा को घोर आपत्ति थी, जबकि काँग्रेस ने इसे आरक्षण की बजाय प्रतिनिधित्व कहा था। भाजपा के मुख्य प्रवक्ता रविशंकर प्रसाद के अनुसार, "राज्यों के लिए उसी लोकपाल के अंतर्गत लोकायुक्त की नियुक्ति संघीय सिद्धांतों पर एक प्रहार है।" (दा टाइम्स ऑफ इंडिया,

27 दिसम्बर, 2011) संसद में बहस के दौरान राज्यसभा और लोकसभा में प्रतिपक्ष के नेता अरुण जेटली और सुषमा स्वराज ने कहा यह बिल संवैधानिक रूप से कमजोर और बिना स्वतंत्र जाँच एजेंसी के यह बिल प्रभावशाली नहीं होगा। विपक्षी दलों की हठधर्मिता और टीम अन्ना के निराशावाद के बावजूद सलमान खुर्शीद ने कहा, "यह एक ऐसा विचार है, जिसका समय आ चुका है और हमें सिर्फ इसलिए पहला कदम उठाने में नहीं हिचकिचाना चाहिए कि यह एक बड़ी छलांग नहीं है।"(दा टाइम्स ऑफ इंडिया, 27 दिसम्बर, 2011) लेकिन 29 दिसंबर की राज्यसभा की घटना से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि सलमान खुर्शीद के शब्द केवल बहरे लोगों के लिए थे।

इधर टीम अन्ना 27 दिसंबर से 29 दिसंबर तक सरकार के लोकपाल बिल के विरोध में धरने पर बैठने वाले थे। इन लोगों ने इस बिल को भ्रष्टाचार से लड़ने में कमजोर और अप्रभावशाली बताया था। 30 दिसंबर,2011 से 1 जनवरी, 2012 तक गिरफ्तारी देने का कार्यक्रम था। लेकिन जो भीड़ आंदोलन की ताकत हुआ करती थी, वह इस मुंबई के एम.एम.आर.डी.ए. मैदान से गायब थी। अन्ना के खराब स्वास्थ्य के कारण उनको अनशन से उठने के लिए मजबूर कर दिया गया। 28 दिसंबर रात में अन्ना ने इस आंदोलन और जेल भरो आंदोलन को भी समाप्त करने की घोषणा कर दी। अन्ना का मुंबई में यह पहला आंदोलन था। इस आंदोलन से पहले टीम अन्ना जंतर-मंतर पर दो, राजघाट पर एक और रामलीला मैदान पर एक अनशन कर चुकी थी और विशेष रूप से रामलीला मैदान पर तो ऐतिहासिक भीड़ आई थी। टाइम पत्रिका ने जिसको वैश्विक 'आन्दोलनकर्ता' का खिताब दिया था और इतिहास बनाने वाला बताया था, वह मुंबई में कहीं गुमनाम हो गया। (टाइम, 26 दिसंबर, 2011) टीम अन्ना के लिए यह विचारणीय विषय था। यहाँ तीन बातें गलत होती नजर आती हैं। पहली, यह समय आंदोलन के लिए सही नहीं था। अन्ना 5 अप्रेल, 2011 से सरकार से लोकपाल बिल की मांग कर रहे थे, जब बिल संसद में पहुँच गया तो सरकार की ईमानदारी की परख के लिए थोड़ा इंतजार करना चाहिए था। यह पहला अवसर था, जब लोगों की नजर अन्ना की बजाय सरकार पर टिकी हुई थी। इसलिए अन्ना और उनकी टीम को प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया।

दूसरी, अन्ना अभियान ने दिसंबर के महीने में गति पकड़ ली थी और यह राजनीतिक हो गया। लोगों को ऐसा महसूस हुआ कि वे लोग संसद पर अनावश्यक दबाव डाल रहे हैं। 30 नवम्बर, 2011 को अन्ना ने रालेगण सिद्धि में एक प्रेस कॉन्फ्रेंस कर घोषणा कर दी कि 23 दिसंबर तक लोकपाल बिल नहीं आता है तो 27 दिसंबर से आंदोलन शुरू कर देंगे। संसद की स्थायी समिति ने आकस्मिक बैठक कर सी. व डी. कर्मचारियों को लोकपाल के अंतर्गत रखने के अपने एक दिन पहले के निर्णय को बदल दिया और उन्हें सेन्ट्रल विजिलेंस कमिश्नर के अंतर्गत रखने का निर्णय लिया। अन्ना के अनुसार, "यह कार्य राहुल गाँधी की वजह से किया गया।"(आई.बी.एन.7, बुलेटिन, 2 दिसंबर, 2011) उत्तर प्रदेश चुनाव को देखते हुए सरकार ने जल्दबाजी में घोषणा कर दी कि लोकपाल बिल संसद के शीतकाल सत्र में आ जाएगा। टीम अन्ना बनाम सरकार की लड़ाई में राहुल गाँधी की कोई भूमिका नहीं थी। स्थायी समिति के निर्णय को राहुल से जोड़ना लोगों को स्वीकार्य नहीं था। 11 दिसंबर को टीम अन्ना ने विपक्षी नेताओं को मंच प्रदान

कर आंदोलन की मूल विचारधारा का उल्लघंन किया क्योंकि यह एक राजनीतिक मंच नहीं था। जंतर-मंतर पर दूसरे आंदोलन के समय जिन लोगों को नकार दिया था, उनसे आंदोलन की साख प्राप्त करने की कोशिश की।

तीसरी, अन्ना आंदोलन में अब वह नवीनता नहीं थी, जिस समय वे जंतर-मंतर पर धरने पर बैठे थे। लोगों ने उनके अंदर गाँधी और जे.पी.की छवि को एक साथ महसूस किया था। वे एक ऐसे व्यक्ति थे, जो व्यवहार में अहिंसक और दृष्टिकोण से आक्रामक थे। जो हिंसक दुनिया में अहिंसा की बात कर रहा था और उनकी सरलता लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रही थी। जेल से बाहर आने में जब उन्होंने मना किया तो लोगों को लगा यही वह नेता है जो डरता नहीं है। लेकिन एक ही तरह के भाषण और टी. वी. पर सदा बने रहने से उनका कौतूहल और नवीनता समाप्त हो गयी थी। क्योंकि नव उपभोक्तावादी समाज हर पल कुछ नया खोजता रहता है। उन्हें अपने अंदर कुछ नयापन लाने तथा आंदोलन और स्वयं को स्थायी बनाने के लिए कुछ नया करने की आवश्यकता थी। यह आन्दोलन ऐसे चौराहे पर आ खड़ा हुआ जहाँ से भविष्य की नई यात्रा के लिए नई ऊर्जा और नए दृष्टिकोण की आवश्यकता है। यही अन्ना टीम को चुनौती है। अन्ना के देशव्यापी जन आन्दोलन में सक्रिय भूमिका अदा करने वाले अरविन्द केजरीवाल को ऐसा अनुभव होने लगा कि सत्ता में आये बिना जनलोकपाल एवं भ्रष्टाचार मुक्त भारत का उनका सपना अधूरा रहेगा। अत: भ्रष्टाचार और जनलोकपाल बिल की लड़ाई लड़ते-लड़ते अरविन्द केजरीवाल ने 2 अक्टूबर, 2012 को राजनीतिक पार्टी बनाने की घोषणा कर दी और 24 नवम्बर, 2012 को आम आदमी पार्टी का गठन कर लिया।

29 दिसंबर, 2011 को जो बिल राज्यसभा में बहस के लिए रखा गया था, वह रात को समय की कमी के कारण वोटिंग न होने के कारण पास नहीं हो पाया। (दा हिन्दू, 30 दिसंबर, 2011) 21 मई, 2012 को यह बिल राज्यसभा की चयन समिति के पास विचार-विमर्श के लिए भेज दिया गया। (हिंदुस्तान टाइम्स, 21 मई, 2012) बिल में संशोधन के बाद 17 दिसंबर, 2013 को राज्य सभा से पारित हो गया और अगले दिन 18 दिसंबर, 2013 को लोकसभा से पास हो गया। (इकोनोमिक टाइम्स, 18 दिसंबर, 2013) 1 जनवरी, 2014 को राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी की स्वीकृति के लिए भेजा गया। अंतत: यह बिल 16 जनवरी, 2014 से कार्यरूप में आ गया। (डी.ओ.पी., रिट्रीव्ड, 7 मार्च, 2014)

5.25 निष्कर्ष

अन्ना हजारे के नेतृत्व में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन देश के आजाद होने के बाद हुए आंदोलनों में से एक है। आज़ादी के बाद तीन बड़े आन्दोलन हुए। पहला आन्दोलन 1974 का जे.पी. के नेतृत्व में छात्र आन्दोलन और दूसरा 1990 में मंडल विरोधी आन्दोलन। जे.पी.आन्दोलन के बाद निश्चय ही अन्ना आन्दोलन वास्तव में किसी एक वर्ग, जाति, क्षेत्र या धर्म के लिए नहीं, समूचे देश के लिए था। भ्रष्टाचार के खिलाफ़ शुरू हुआ यह आन्दोलन वास्तव में देश के आम जन की पीड़ा को बयां करता है। भ्रष्टाचार हमारी

पूरी व्यवस्था को खोखला किये दे रहा है। हर स्तर का व्यक्ति उससे प्रभावित होता ही है। अन्ना आन्दोलन के यकायक लोकप्रियता हासिल करने के पीछे यही सबसे बड़ा कारण है।

लोकतंत्र असहमतियों के बीच संवाद की संस्कृति कायम करने का महामंत्र है। आज फिर से असहमतियों को दबाने के लिए सैकड़ों साल पुरानी जर्जर व्यवस्थाएं जागृत हो गयीं हैं। इसमें खांप पंचायतों, मौलाना लोगों के फतवे और साम्प्रदायिकता के नए गठबन्धनों की बढ़ती प्रासंगिकता देश के लोकतंत्र के लिए खतरा है। आदर्श और सिद्धांत से उत्तेजित व उत्साहित लोगों की जमात राजनीति की लगाम अपने हाथ में लें। इस रास्ते की तरफ देश में एक नया समीकरण बन रहा है। अन्ना हजारे के नेतृत्व में देश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के नवनिर्माण के लिए भ्रष्टाचार विहीन राष्ट्र और समाज के आदर्श की कल्पना को लेकर जबरदस्त उत्साह दिखाई पड़ा। इस आन्दोलन ने एक ऐसा राजनीति विरोधी माहौल बनाया है जो भ्रष्ट-सत्तापरस्त, अपराध-राजनीति और बदलाव की राजनीति करने वालों को एक साथ खड़ा कर देता है। इस आन्दोलन की तमाम सीमाओं के बावजूद इससे कौन इनकार कर सकता है कि इसने नव उदारवादी आर्थिक नीतियों के सबसे मुखर प्रवक्ता बन गए मध्य वर्ग को भ्रष्टाचार जैसे महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर सड़कों पर उतरने के लिए मजबूर किया है। इस आन्दोलन ने भ्रष्टाचार के मुद्दे को राष्ट्रीय एजेंडे में शामिल कर दिया। इसने लोगों की राजनैतिक चेतना को आगे बढ़ाने का काम किया है। 1974 का जयप्रकाश आन्दोलन भी गुजरात के भ्रष्टाचार और छात्रावास में मैस फीस में बढ़ोतरी जैसे मुद्दों पर शुरू हुआ और धीरे-धीरे व्यापक लोकतान्त्रिक अधिकारों की लड़ाई में बदल गया। भ्रष्टाचार विरोधी मौजूदा आन्दोलन में भी ऐसी संभावनाए हैं। अन्ना हजारे और उनके साथियों द्वारा किया गया आन्दोलन आधुनिक भारत के राजनीतिक और सामाजिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण पड़ाव का दर्ज़ा हासिल करने का हक़दार है। लोकपाल बिल पर पिछले बयालीस सालों से बैठे रहने के बाद आख़िरकार राजनीतिक दलों को इस बिल पर दो कदम आगे बढ़ना पड़ा तो इसका श्रेय अन्ना हजारे के आन्दोलन को ही जाता है। अन्ना ने एक ऐसा मुद्दा उठाया जिसका वास्ता देश को खोखला करने वाले घुन रूपी भ्रष्टाचार से था। भ्रष्टाचार के खिलाफ काम करने के लिए एक मज़बूत संस्थान का गठन किया जाये जिसे अन्ना की टीम ने जनलोकपाल का नाम दिया था।

इस आन्दोलन ने लोकतंत्र में जनशक्ति के महत्त्व को स्थापित करने का काम किया। अन्ना का आन्दोलन लोकतंत्र के असली मालिक यानि आम आदमी को मजबूत बनाने के लिए है, अच्छा सेवक बनाने के लिए नहीं। मालिक सख्त होगा तो सेवक अपने आप ठीक हो जाएगा। इस आन्दोलन से यह तय हो गया कि जनता, संसद और सरकार दोनों के ऊपर है और होनी चाहिए। इस देश में लोकतंत्र जिन्दा है तो श्रेय सिर्फ और सिर्फ इस देश की गरीब जनता को है, लोकतंत्र में जनता से बड़ा कोई नहीं है। न संविधान, न संसद, न कानून और न खुद भगवान। संविधान की प्रस्तावना "हम भारत के लोग" वाक्यांश से होती है। यह आन्दोलन भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक मजबूत लोकपाल कानून लाने के लिए आरम्भ हुआ। सिर्फ लोकपाल कानून लाने से भ्रष्टाचार दूर नहीं होगा। लेकिन इससे भ्रष्टाचार पर अंकुश लगेगा। आज हमारे देश में भ्रष्टाचारियों को सजा देने, जेल भेजने और उनसे भ्रष्टाचार की कमाई वापस वसूलने का कोई कानून ही

नहीं है। मजबूत लोकपाल कानून बनेगा तो अधिकारियों और नेताओं के मन में भ्रष्टाचार करते हुए डर पैदा होगा और इस तरह भ्रष्टाचार करने से डरेंगे। अन्ना का जनांदोलन संचार माध्यमों, सरकारी महकमों और आम जनता के बीच चर्चा का केंद्र बन गया। यह आन्दोलन विरोध करने के सामूहिक अधिकार का सशक्त प्रदर्शन है। इस आन्दोलन ने सरकार तथा विपक्ष दोनों में यह डर पैदा कर दिया कि अब भ्रष्टाचार के खिलाफ टाल-मटोल वाला रवैया राजनीतिक रूप से हानिकारक है और उन्हें इस गंभीर विषय पर अपना रुख स्पष्ट करना होगा। इसने सामाजिक सेवाओं से जुड़ी सरकारी कार्यक्रमों की कमियां तथा आवंटन एवं कार्यक्रम क्रियान्वयन में कर्तव्यहीनता की चर्चा को बुद्धिजीवी वर्ग के एकाधिकार से निकाल कर चौक-चौराहों पर चर्चा का विषय बना दिया। यह आन्दोलन यह विश्वास भी दिलाता है कि अगर सरकार जन भावनाओं के अनुरूप शासन नहीं करती है तो उसे सही रास्ते पर लाने के लिए लोग सड़क पर आने के लिए परहेज नहीं करेंगे। प्रशासनिक महकमों में इस आन्दोलन का यह संदेश गया है कि उन्हें अब ईमानदारी एवं कुशलता के साथ अपना कर्तव्य पालन न करने की दशा में भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है। कुल मिलाकर यह जनांदोलन भ्रष्टाचार के मुद्दे एवं आम जनता के हितों के प्रति सरकारी उत्तरदायित्व के मसले को चर्चा के केंद्र में ले आया और कुछ हद तक जन मानस का प्रतिनिधित्व भी करता है।

भारत में पिछले दिनों यह सोच बन गई थी कि आर्थिक सुधारों में एक ऐसा मूल्य विहीन, अराजनीतिक, सुविधाभोगी वर्ग पैदा कर दिया है, जिसका देश, समाज और राजनीति से कोई लेना देना नहीं है जो सिर्फ अपने लिए जीता है। अन्ना के अनशन ने इस मिथ को तोड़ने का कार्य किया है कि समृद्धि और पैसे ने लोगों की आँखों पर पट्टी बांध दी है और वह लोकतान्त्रिक और राजनीतिक व्यवस्था में अपनी भूमिका भूल गए हैं। दरअसल आम व्यक्ति हताश था,बरबस था,निराश था। उसे लगने लगा था कि वाकई इस देश में कुछ नहीं हो सकता। राजनेता ऐसे ही रहेंगें। इस निराशा को अन्ना ने उम्मीदों में बदल दिया। भ्रष्टाचार ही जीवन है- यह भारत की सोच बन गई थी। घूस लेकर महल खड़ा करने वाले को घृणा की दृष्टि से नहीं बल्कि तारीफ़ की नज़र से देखते थे। सरकारी दफ्तर में जाने का मतलब था - दुत्कार सुनना। जन्म प्रमाणपत्र से लेकर मृत्यु प्रमाणपत्र तक, हर काम के लिए घूस देना अनिवार्य था। अन्ना के आन्दोलन ने आम आदमी को समझाया कि वह गरीब सही, पर दुत्कार सुनने के लिए पैदा नहीं हुआ है और जो सरकारी अफसर दुत्कार रहे हैं, उन्हें हकीकत में जेल में होना चाहिए। अन्ना ने इस दुत्कार खाने वाले को आत्मसम्मान दिया और अचानक रातों रात भ्रष्टाचार देश के पटल पर सबसे बड़ा मुद्दा बन गया।

अन्ना के आन्दोलन ने लोगों को समझाया कि देश की संसद सर्वोच्च है पर वह अब देश की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने में नाकाम साबित हो रही है। लोग समझने लगे कि संसद ईंट गारे की दीवारों का नाम नहीं है, वह लोगों से बनती है। जहाँ कभी लोहिया जैसे लोग बैठते थे, वहां आज अपराधी किस्म के लोग बैठने लगे हैं। बहस चर्चा की जगह एक दूसरे पर कीचड़ उछाला जाने लगा, संसद की आत्मा रोज़ शर्मसार होने लगी इसलिए इन दीवारों के बीच जनता के लिए कानून बनने बंद हो गए। अन्ना ने कहा कि कानून बनने में अगर जनता के प्रतिनिधि असहाय हैं तो आम आदमी की भागीदारी होनी चाहिए। अन्ना के आन्दोलन ने आम आदमी को वह ताकत दी, इसलिए लोग जुटने लगे।

अन्ना के आन्दोलन ने यह सिद्ध कर दिया कि देश का लोकतंत्र और संसदीय प्रणाली अब भी पूरे तरह खोखली नहीं हुई है। वह देर से ही सही, लेकिन जनता की आवाज को लम्बे समय तक अनसुनी नहीं कर सकती। पिछले 20 सालों में राष्ट्रीय स्तर पर कोई बड़ा आन्दोलन नहीं हुआ था। ऐसा लग रहा था, आंदोलनों की जमीन सूख गई थी, पर अन्ना ने लोगों को साहस दिया कि अब भी ऐसे लोग समाप्त नहीं हुए हैं जो लोहिया की तरह सोचते हैं कि जिन्दा कौमें पांच साल इन्तजार नहीं करती। फिर यह भी साबित हुआ कि आन्दोलन अहिंसक तरीके से भी हो सकते हैं, बस नैतिक सत्ता का बल चाहिए। अन्ना आन्दोलन के जनाधार ने यह भी साबित कर दिया कि धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र और प्रान्त से ऊपर उठकर लोगों को संगठित किया जा सकता है। देश की राजनीति के लिए न बाहुबल की जरूरत है और न काले धन की। राजव्यवस्था लोक लाज के आगे नतमस्तक हुई है, लोकतंत्र में लोक और तंत्र को जोड़ने वाला पुल बना है। सरकार को मंत्री, संतरी और अफसरों के सामने खड़े होने का आत्मबल पैदा हुआ है। यह भारतीय लोकतंत्र को अन्ना हजारे के अनशन की एक सौगात है। अन्ना के आन्दोलन ने देश की सियासत को जनसमर्थन और जनादेश का अंतर कायदे से समझा दिया है। भारत के राजनीतिक दल उम्मीदों की राजनीति में बुरी तरह असफल साबित हुए हैं। अन्ना ने जता दिया कि वह जनता की नब्ज खूब समझते हैं। इस आंदोलन ने सत्ता पक्ष को हिलाकर रख दिया था और यह परिवर्तन समाज में दिखाई भी दे रहा था। सबसे बड़ा परिवर्तन यह था कि भ्रष्टाचार देश का विमर्श बन गया और हर जगह यह चर्चा का केंद्र बन गया। अभी तक भ्रष्टाचार को सार्वजनिक और निजी जीवन का अभिन्न भाग मान लिया गया था और लोग इसे बुरी नजर से भी नहीं देखते थे। अन्ना आंदोलन ने लोगों को जगा दिया। भ्रष्टाचार में अपराध और बुराई नजर आने लगी। भ्रष्टाचार एक दिन में तो समाप्त नहीं होगा पर इस तरफ एक शुरुआत हो गयी है। सरकार के स्तर पर भ्रष्ट अधिकारी निर्णय लेने में डरने लगे हैं। इसे शासकीय लकवेपन की संज्ञा दी जा सकती है। भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन की मांग पर कुछ राज्य सरकारें जाग गई हैं। उत्तराखंड सरकार ने लोकपाल बिल की तर्ज पर भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए मजबूत लोकायुक्त कानून पास किया है। बिहार सरकार ने इस कानून पर तेजी से कार्य कर लोकायुक्त बिल पारित कर दिया है। बहुत से और राज्य जिनमें दिल्ली भी है, ने सिटिजन चार्टर कानून पारित कर दिया है और इसके काम पर ध्यान दिया जा रहा है। आंदोलन के उन तेरह दिनों ने भारत को बेहतरी की दिशा में बदल दिया है। चाहे कोई माने या न माने हालात सुधर रहे हैं और एक नए भारत के दर्शन हो रहे हैं।

अब आन्दोलन एक ऐसे चौराहे पर आ खड़ा हुआ था,जहाँ से भविष्य की यात्रा के लिए नई ऊर्जा तथा नए दृष्टिकोण की जरुरत थी। यह अन्ना के लिए नई चुनौती है। यह जन आन्दोलन का ही प्रभाव है कि केजरीवाल ने अपनी पार्टी का नाम 'आम आदमी पार्टी'रखा है क्योकि उनका दावा है कि उनकी पार्टी आम आदमी का प्रतिनिधित्व करती है। समाज में बड़े स्तर पर बदलाव के लिए राजनीति अच्छा जरिया है और यह राजनीति में आम आदमी की भागीदारी से ही यह संभव है। गाँधी टोपी पहनकर वीआईपी संस्कृति के खिलाफ अपनी विचारधारा का प्रचार किया है। चुनाव चिन्ह झाड़ू चुनने के पीछे उनकी मंशा

राजनीति से गंदगी को दूर करना है। आम आदमी पार्टी ने यह संदेश दिया है कि जो जनता की सुनेगा और विकास करेगा वही राज करेगा।

अन्ना आन्दोलन ने भ्रष्टाचार के सवाल को राष्ट्रीय एजेंडे पर स्थापित करने का काम किया है। इस आन्दोलन ने विरोध करने के जनतांत्रिक अधिकार को हासिल किया है और सबसे बढ़ कर, लोगों की राजनैतिक चेतना को आगे बढ़ाया है। अन्ना हजारे द्वारा किया गया आन्दोलन आधुनिक भारत के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण पड़ाव का दर्जा पाने का हक़दार है। जन लोकपाल की माँग और उसे लेकर हुए आन्दोलन की बदौलत सरकार कमजोर ही सही लोकपाल नाम की संस्था को जन्म देने के लिए मजबूर हुई है। अन्ना के आन्दोलन ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान गांधीजी द्वारा चलाये गए सत्याग्रहों और आंदोलनों की उन लोगों को याद दिला दी, जिन्होंने तस्वीरों या फिल्मों के माध्यम से उस आन्दोलन को देखा था। अन्ना का आन्दोलन अपनी मूल आत्मा में गाँधीवादी है। अन्ना ने साबित कर दिया कि देश की आत्मा में आज भी गाँधी बसते है क्योंकि गांधीजी ने देश की आत्मा से जुड़कर राजनीति की थी। वे आजादी की लड़ाई को भी देश - समाज से जोड़कर देखते थे। उनको पता था कि सिर्फ अंग्रेजों को हराने से देश नहीं बदलेगा। देश तभी बदलेगा और आजादी तभी सार्थक होगी जब समाज भी बदलेगा और मानस भी बदलेगा। अगर आज अन्ना यह कहते है कि अंग्रेज चले गए लेकिन काले अंग्रेज अभी देश में शासन कर रहे हैं तो गलत नहीं हैं। अन्ना आन्दोलन के जनाधार ने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र, प्रान्त से ऊपर उठकर लोगों को संगठित किया जा सकता है और देश की राजनीति के लिए न काले धन की जरूरत है और न बाहुबल की। अन्ना आन्दोलन ने देश की सियासत को जनादेश और जनसमर्थन का अंतर कायदे से समझा दिया है। भारत के राजनीतिक दल उम्मीदों की राजनीति में बुरी तरह असफल सिद्ध हुए हैं।

अन्ना के आन्दोलन ने लोगों के विश्वास को पुनर्जीवित और पुनर्स्थापित करने का कार्य किया है कि एकजुट संघर्ष से बड़ी से बड़ी सत्ता से टकराया जा सकता है और उसे झुकाया जा सकता है। जीवन की बेहतरी के लिए संघर्ष में विश्वास वास्तव में जीवन में विश्वास का पर्याय है। जो इस आन्दोलन के सम्पर्क में आया, उसमे एक आशा की किरण जगी है। यह इस आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। लोकतंत्र के आदर्श को सत्यता में बदलने का अचूक मंत्र अन्ना के आन्दोलन ने सिखाया है। अन्ना के अनशन ने साबित कर दिया है कि कानून बनाना संसद का विशेषाधिकार है परन्तु जनता से रजामंदी लेना भी संवैधानिक काम है, राजद्रोही आचरण नहीं।

निश्चय ही 2011 का अन्ना आन्दोलन भी राजनीति में सकारात्मक बदलाव की सूचना लेकर आ रहा है। आज देश लोकतंत्र के ऐसे मुकाम पर खड़ा है,जहाँ पुराने पैमाने अपनी सार्थकता खो चुके हैं। नये मानदंड और नये पैमाने ही नये समाज का ढाँचा खड़ा करेंगे। आज जरूरत नये सिरे से सोचने की है। नये मूल्यों का गठन करना है। नया आदर्श बनाना है और इस नयेपन में पुराने गाँधी को नये सिरे से खोजना है। क्योंकि गाँधी कभी पुराने नहीं होते, गाँधी शाश्वत है, सनातन है, समय और देश से परे है, आत्मा और परमात्मा के द्वन्द्व के पार, किसी भी इंतजार के मोहताज़ नहीं। यह अन्ना के आन्दोलन ने साबित कर दिया है।

❑❑❑❑❑

षष्ठम अध्याय
मूल्यांकन

नागरिक समाज की अवधारणा ग्लोबलाइजेशन के बाद पनपी। विभिन्न प्रवृतियों को एक सैद्धांतिक जामा पहनाने की कोशिश मात्र नहीं है बल्कि इस अवधारणा के ज़रिए भारतीय लोकतंत्र में जन-प्रतिभागिता के दायरे को समझाने का प्रयास भी निहित है। इस अवधारणा के अंग्रेजी नाम का ही इस्तेमाल किया जाता है क्योंकि यह अवधारणा मूलत: अंग्रेजी के समाज विज्ञान विमर्श से निकली है। गत वर्षों में मीडिया से लेकर सरकार तक ने नागरिक समाज को एक वैधानिक और स्वीकृत स्वरूप दे दिया है, इसलिए मीडिया के तात्कालिक इस्तेमाल से परे जाकर नागरिक समाज शब्द को एक अवधारणा के रूप में समझा जाए। दूसरा कारण थोड़ा ऐतिहासिक है। पश्चिमी विश्व और विशेषकर यूरोप में जन्मे आधुनिक राजनीतिक चिंतन में नागरिक समाज की अवधारणा के ज़रिए इस दायरे को समझा जाता रहा है जो राज्य, बाज़ार और परिवार जैसी स्थापित संस्थाओं के बाहर है और जहाँ सामाजिक सरोकार निर्मित होते हैं। नागरिक समाज की पश्चिमी समझ में ग्लोबलाइज़ेशन के बाद परिवर्तन आया है। अब इसके कई पर्यायवाची शब्द उपलब्ध हैं जैसे थर्ड सेक्टर, एन. जी. ओ.। नागरिक समाज की जो परिभाषा बाद के भारत में प्रचलित हुई है, उसके अनुसार नागरिक समाज वह क्षेत्र है, जहाँ लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विलुप्त होने के बाद राज्य द्वारा किये जाने वाले उन सार्वजनिक कर्तव्यों का निर्वाह होता है जो विकास और जनहित से जुड़ते हैं। दूसरे शब्दों में नागरिक समाज उन निजी संस्थाओं का समूह माना गया है जो सरकारी और निजी क्षेत्र से आर्थिक संसाधन जुटाकर शिक्षा, स्वास्थ्य और सार्वजनिक हित के अन्य विषयों पर काम करता है। अब सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन और जन संघर्ष नागरिक समाज के अभिन्न अंग माने जाने लगे हैं। इन सबकी शुरुआत पर्यावरण आन्दोलन से हुई और जल्दी ही महिला सशक्तिकरण, दलित अस्मिता और साम्प्रदायिकता विरोधी आन्दोलन इसकी परिधि में आते चले गए। अन्ना का आन्दोलन इस श्रंखला की सबसे नयी कड़ी है।

भारत के राष्ट्रीय पटल पर 2011-2012 में अन्ना हजारे के नेतृत्व में दिल्ली में भ्रष्टाचार के खिलाफ एक व्यापक आन्दोलन हुआ जिसे अन्ना हजारे का आन्दोलन कहा जाता है। 16 अगस्त 2011 को सामाजिक कार्यकर्त्ता अन्ना हजारे के नेतृत्व में पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार दिल्ली के रामलीला मैदान में जन लोकपाल बिल के बारे में सरकार के ढुलमुल रवैये, अनिर्णय की स्थिति के खिलाफ 'नागरिक समाज' के द्वारा आन्दोलन व अनशन किया गया। 16 अगस्त से 28 अगस्त तक चले इस आन्दोलन ने न केवल सरकार को सरकारी लोकपाल बिल में परिवर्तन करने पर मजबूर किया वरन् सम्पूर्ण भारत के लोगों को भ्रष्टाचार के मुद्दे पर 'नागरिक समाज' के रूप में परिणत कर दिया। इस आन्दोलन में श्री अरविन्द केजरीवाल, मनीष सिसोदिया, किरण बेदी, संतोष हेगड़े, प्रशांत भूषण, कुमार विश्वास, वी.के.सिंह आदि अनेक सामाजिक कार्यकर्ताओं ने हिस्सा लिया। अन्ना का यह आन्दोलन इतना प्रचंड था कि देश के

कोने-कोने से लोग इस आन्दोलन में भाग लेने आने लगे थे। यह आन्दोलन नागरिक समाज के लोगों ने किया था। इस आन्दोलन के कारण ही भारत में हुए विगत आन्दोलनों का स्मरण हो उठता है, जैसे लोहिया आन्दोलन, अरुणा रॉय आन्दोलन आदि।

अन्ना हजारे के इस आन्दोलन से प्रेरित होकर ही मैंने अपना यह शोध आरम्भ किया है। इस शोध विषय को आरम्भ करते समय मेरी कुछ धारणाएं थीं। मेरे शोध कार्य की शुरुआत से अब तक मैंने अपनी प्राकल्पना में परिवर्तन भी पाया है और अनेक प्राकल्पनाएं सही भी साबित हुईं।

जैसा कि प्रथम प्राकल्पना में समाज और नागरिक समाज में अंतर का विचार आया था। इस सन्दर्भ में यदि आधुनिक समाज की बात करें तो नागरिक समाज न केवल शिक्षित वरन् समाज में या राज्य में फैली बुराइयों को हटाने की मांग करता है जबकि समाज का उपेक्षित वर्ग, जो हाशिये पर है और अपनी बात कहने में सक्षम नहीं है, वह नागरिक समाज का हिस्सा तो हो सकता है परन्तु सक्रिय नहीं है। सर्वप्रथम नागरिक समाज शब्द का प्रयोग राज्य के रूप में करते हुए कहा कि राज्य में रहते हुए नागरिक समाज के लोग क़ानून का पालन करने पर सभ्य, सुसंस्कृत और शालीन जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु इसमें बर्बर जातियों के लोग नागरिक समाज की श्रेणी में नहीं आते थे अर्थात् बर्बर जातियां नागरिक समाज की उत्पत्ति का कारण तो हो सकती है किन्तु स्वयं नागरिक समाज नहीं हो सकती। इस प्रकार मेरी यह प्राकल्पना लगभग सही सिद्ध हुई।

प्रस्तुत शोध में एक अन्य प्राकल्पना नागरिक समाज और राजनीतिक समाज के अंतर से सम्बंधित है। प्राचीन काल या मध्य काल में भी अनेक सामाजिक आन्दोलन हुए। ये आन्दोलन जन आन्दोलन का स्वरूप तो ग्रहण नहीं कर पाए किन्तु ये समाज सुधार की दिशा में महत्त्वपूर्ण थे। जैसे स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद सरस्वती, राजा राम मोहन रॉय अनेक सामाजिक संगठन एवं संस्थाएं। दूसरी ओर, लेखकों और कवियों ने अपने काव्य और विचारों के माध्यम से सामाजिक चेतना का प्रचार प्रसार किया। जैसे कबीरदास, रैदास, मीरा, जायसी, रसखान आदि। लेखकों में टैगोर, बंकिमचंद्र चटर्जी, मुंशी प्रेमचंद आदि के विचारों से भी समाज सुधार के कार्यों में प्रगति हुई।

इन समाज सुधारकों के प्रयास विशुद्ध रूप से सामाजिक नहीं रहे क्योंकि इनके काल में अलोकतांत्रिक या तानाशाही सरकार हुआ करती थी। किन्तु वर्तमान में नागरिक आन्दोलनों की परिणति सामाजिक आंदोलनों से होती हुई राजनीतिक आन्दोलनों में परिणत होती जा रही है। जैसा कि जे.पी. आन्दोलन, लोहिया आन्दोलन की परिणति एक राजनीतिक परिघटना के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। इसी प्रकार अन्ना हजारे के आन्दोलन के अनेक मुख्य पात्र अरविन्द केजरीवाल, मनीष सिसोदिया आदि दिल्ली में सरकार बनाकर नागरिक समाज के सपनों को साकार कर रहे हैं। इसी प्रकार किरण बेदी जो कि भाजपा में सम्मिलित हो गयी थीं, आज पुंडूचेरी की राज्यपाल हो गयी हैं। श्री वी.के. सिंह भी भाजपा सरकार 2014-2019 में मंत्री बन गए। अत: ऐसा जान पड़ता है कि लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं में नागरिक समाज

द्वारा चलाये गए सामाजिक आन्दोलन, जिन्हें जनता का प्रचंड समर्थन मिला हो, वह राजनीतिक आन्दोलन में परिणत हो जाता है। अत: मेरी यह प्राकल्पना भी सही साबित होती है।

मेरी एक अन्य प्राकल्पना अन्ना हजारे का आन्दोलन और लोहिया आन्दोलन, जे.पी. आन्दोलन में भी अंतर है। सर्वप्रथम इन सभी आन्दोलनों की पृष्ठभूमि और परिस्थितियां भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि देखा जाए तो अन्ना हजारे, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया और अरुणा रॉय इन सभी ने अपने-अपने आन्दोलन भ्रष्टाचार और समता मूलक समाज की स्थापनार्थ किये थे। ये चारों ही राजनीति से या सत्ता की दौड़ में पीछे रहे किन्तु इन्होने सत्ता के माध्यम से समाज और राज्य में फैले भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए जन आन्दोलनों की अगुवाई की। अन्ना हजारे ने भ्रष्टाचार निवारण हेतु एक सशक्त लोकपाल बिल पारित करने की मांग की थी, जिसे बाद में संसद में पारित भी किया गया किन्तु वह लोकपाल अन्ना के अनुरूप नहीं था।

इसी प्रकार जे.पी आन्दोलन जो भ्रष्टाचारी मुहीम से शुरू हुआ और समाज व राजनीति में समग्र क्रांति या आमूल चूल परिवर्तन के रूप में परिणत हो गया। किन्तु उनके आन्दोलन की मूलभूत बातें भी आत्मसात नहीं हो पाई। राममनोहर लोहिया अपने आन्दोलन में सप्त क्रांति के सात स्रोतों को समाज के लिए आवश्यक मानते थे। इस हेतु उन्होंने राज्य को समाजवादी विचारों के आधार पर चलने और समतामूलक समाज की स्थापना पर बल दिया था।

अरुणा रॉय जो कि सिविल सेवाओं या सरकारी महकमों में भ्रष्टाचार के विरुद्ध सूचना के अधिकार की पुरजोर मांग कर रही थीं, आखिर उनकी इस पहल पर आज देश में सूचना का अधिकार राज्य व केंद्र में बना और यह भ्रष्टाचार पर लगाम लगाने में भी काफी हद तक कारगर भी साबित हुआ।

इन चारों समाज सुधारकों द्वारा ये सभी बातें राजनीतिक स्तर पर उठाई गयी तथा राजनीतिक दल और सत्ता द्वारा इन सामाजिक सुधारों को अमल में लाना था।

इन आन्दोलनों में कुछ समानता व कुछ भिन्नता नज़र आती है। जहाँ तक समानता का प्रश्न है, ये आन्दोलन भ्रष्टाचार के खिलाफ शुरू हुए। महंगाई के खिलाफ जनजागरण से जे.पी. ने संघर्ष शुरू किया, मामला भ्रष्टाचार तक गया। भ्रष्टाचार के खिलाफ शुरू हुए ये आन्दोलन वास्तव में देश के आमजन के दर्द को बयान करते हैं। अन्ना आन्दोलन से एक बात स्पष्ट हो गयी थी कि इस देश में भ्रष्टाचार भी मुद्दा बन सकता है वरना राजनीतिक दल यह मान बैठे थे कि भ्रष्टाचार कभी ख़त्म नहीं हो सकता। जिस तरह से 1974 के आन्दोलन ने 1977 में सत्ता परिवर्तन की भूमिका रची, निश्चय ही 2011 का आन्दोलन भी राजनीति में सकारात्मक बदलाव की सूचना लेकर आ रहा है। लोकपाल क्रांति की अग्निपरीक्षा से गुज़र कर भारतीय लोकतंत्र और मजबूत हो गया। इसने राममनोहर लोहिया की याद को ताज़ा कर दिया कि जिंदा कौमें पांच साल इंतज़ार नहीं करतीं और गांधी की उस विस्मृत सीख को भी कि अन्याय को सहना अन्याय करने जैसा ही है।

साथ ही इन आन्दोलनों का उद्देश्य समतामूलक समाज की स्थापना कर गरीब-अमीर के फासले को कम करना था। हालांकि अन्ना आन्दोलन भ्रष्टाचार के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य भी देश की व्यवस्था को संविधान के अनुरूप बनाकर अमीर-गरीब के फासले को कम करना है। जिस प्रकार से समाजवादी नेता जय प्रकाश नारायण का आन्दोलन केन्द्रीय सरकार के सर्वाधिकारवाद के विरुद्ध था, उसी तरह अन्ना आन्दोलन में भी यह बात दिखाई देती है। अन्ना आन्दोलन ने इस मिथ को तोड़ दिया कि पैसे और समृद्धि ने लोगों की आँखों पर पट्टी बाँध दी है और वह राजनीतिक और लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपनी भूमिका भूल गया है। अन्ना ने लोगों की निराशा को आशा में बदल दिया है। इस अनशन ने आम आदमी को समझाया कि वह गरीब सही लेकिन दुत्कार सुनने के लिए पैदा नहीं हुआ है। अन्ना ने इस दुत्कार खाने वालों को 'डिगनिटी' दी और अचानक रातोंरात भ्रष्टाचार देश के पटल पर सबसे बड़ा मुद्दा बन गया। अन्ना ने कहा कि क़ानून बनाने में अगर जनता के प्रतिनिधि नाकाम हैं तो आम आदमी की भागीदारी होनी चाहिए। अन्ना आन्दोलन ने इस मिथ को तोड़ दिया कि संसद सबसे ऊपर है और बाकी सब नीचे। अनशन ने साफ़ संकेत दे दिया कि जनता सर्वोपरि है और संसद को उसकी सुननी पड़ेगी। इस देश में लोग जन आन्दोलन करना भूल गए थे। पिछले बीस सालों में राष्ट्रीय स्तर पर कोई बड़ा आन्दोलन नहीं हुआ। अन्ना ने ऐसे लोगों को ताकत दी कि अब भी ऐसे लोग ख़त्म नहीं हुए हैं, जो राम मनोहर लोहिया की तरह सोचते हैं कि जिंदा कौमें पांच साल इंतज़ार नहीं करतीं। फिर यह भी साबित हुआ कि आन्दोलन अहिंसक तरीके से भी हो सकते हैं, बस नैतिक सत्ता का बल चाहिए। इस आन्दोलन ने यह सिद्ध कर दिया कि देश की जनता को देश की वर्तमान स्थिति स्वीकार्य नहीं है और वह इसका कड़ा विरोध करती है। यह आन्दोलन पहली बार इस मान्यता को तोड़ता है कि राजनीति, धर्म, जाति, सम्प्रदाय के आधार पर ही नहीं बल्कि मुद्दा प्रधान है।

जे.पी. आन्दोलन के विपरीत अन्ना आन्दोलन विशुद्ध रूप से राजनीतिक सत्ता परिवर्तन का आन्दोलन नहीं है। अन्ना आन्दोलन ने नए प्रतिमान स्थापित किए हैं या पुराने प्रतिमानों को पुनर्जीवित किया है। राजनीति को नैतिकता, देश प्रेम, अहिंसा और आध्यात्मिकता से जोड़ा है जो काम गाँधी ने किया था। अन्ना आन्दोलन के जनाधार ने भी यह प्रमाणित कर दिया कि धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र, प्रांत से उठकर लोगों को संगठित किया जा सकता है है और देश की राजनीति के लिए न काले धन और न बाहुबल की ज़रुरत है। ज़रुरत है उन सब आन्दोलनकारियों के सामने सर झुकाने की, जिन्होंने इस आन्दोलन से पहले भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई लड़ी थी। आज ज़रुरत है अरुणा रॉय के नेतृत्व में मजदूर किसान शक्ति संगठन द्वारा सूचना के अधिकार के संघर्ष से प्रेरणा लेने की। जय प्रकाश और अन्ना ने इतिहास और लोकतंत्र की जड़ में आम आदमी की गहरी आस्था को पक्की करने का काम किया है।

अन्ना हजारे का अंदाज़ और आन्दोलन देखकर जय प्रकाश नारायण और लोहिया की याद ताज़ा हो जाती है। उन्होंने अनशन से अपना आन्दोलन शुरू किया इससे उनके भीतर कहीं गाँधी और जे.पी के रास्ते पर चलने का जज्बा है। रामलीला मैदान से लेकर टी.वी. चैनल पर दिख रहे नारे – 'भ्रष्टाचार भारत छोड़ो' से लेकर 'तीसरी आज़ादी' से जुड़े लोग बता रहे हैं कि पुराने नेताओं और आन्दोलनों की याद कहीं

न कहीं इस मुहीम के दिल में है। महात्मा गाँधी के लिए अनशन अपनी बात मनवाने का नहीं बल्कि आत्मशुद्धि का यज्ञ था। अन्ना ने अपने शुद्धतावादी कार्यक्रमों और इस आन्दोलन में बिल्कुल अहिंसक होकर अपने प्रेरणा पुरुष के पास जाने की कोशिश की है। इस आन्दोलन ने लोकतंत्र में जन शक्ति के महत्त्व को स्थापित करने का काम किया है। यह आन्दोलन भ्रष्टाचार को लेकर सत्तर के दशक में जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन की याद ताज़ा कर देता है। उस समय राजनीतिक सत्ता के खिलाफ अविश्वास इस कदर बढ़ गया था कि लोगों को जे.पी. के नेतृत्व में सड़कों पर आना पड़ा। वही स्थिति आज पैदा हो गयी है जिसे लेकर अन्ना को आन्दोलन करना पड़ा। जे.पी. का आन्दोलन पूरी तरह राजनीतिक आन्दोलन था, अपने समय की सत्ता के खिलाफ। हालांकि उस राजनीतिक आन्दोलन के अपने सामाजिक आयाम थे, जिन्हें जे.पी., विचार के स्तर पर सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा से जोड़ते थे और संगठन के स्तर पर संघर्ष वाहिनी और कई दूसरी संस्थाओं से, जो उन्होंने सामाजिक बदलाव के लिए बनाई थी।

देश में चले अन्ना के आन्दोलन में हम लोहिया के गांधीवादी समाजवाद के मॉडल का प्रयोग होता देख सकते हैं और उसकी सीमाओं की पहचान कर सकते हैं। विद्रोह और हिंसा की अराजकता से बचने के लिए लोहिया, गांधी के सविनय अवज्ञा और सिविल नाफ़रमानी के हथियार के प्रयोग को सही विकल्प बताते हैं। हिंसा को लेकर लोहिया के मन में गहरी वितृष्णा है, इसलिए सत्याग्रह के हथियार पर ज़्यादा बल देते हैं। गांधीवादी समाज में सत्याग्रह के बाद गाँव को लेकर गांधी की दो संकल्पनायें थीं- आत्मनिर्भर गाँव और ग्राम स्वराज, जिन्हें आज़ाद भारत में अनदेखा किया गया। गाँव के व्यक्ति को यह अधिकार मिल जाए कि अपने भाग्य का फैसला वह खुद कर सके तो माना जाए कि ग्राम स्वराज लागू है। यहाँ विकेंद्रीकरण पर विचार करते हुए लोहिया देश की अखंडता को नहीं भूलते और वे चाहते हैं कि गाँव स्वायत्त हों न कि आत्मनिर्भर। वे आत्मनिर्भरता की कल्पना को छोड़ना बेहतर समझते हैं क्योंकि गाँव का अन्य गाँवों और बाकी दुनिया से सम्बन्ध बना रहे। यही लोहिया का गांधीवादी मॉडल है जिस पर अन्ना का आन्दोलन आधारित है।

जयप्रकाश की नीति और लोहिया की नीति में एक बुनियादी फर्क था। जे.पी. दलहीन लोकतंत्र, दलविहीन राजनीति इत्यादि अवास्तविक कल्पनाओं के शिकार थे, लोहिया का लोकतंत्र और दलीय प्रणाली पर पूरा विश्वास था। वे लोकतंत्र को हर प्रकार से समृद्ध बनाना चाहते थे। लोहिया के दर्शन का सार यदि किसी में है तो वह उनकी सप्त क्रांति की कल्पना में है। लोहिया की सप्त क्रांति और जे.पी की सम्पूर्ण क्रान्ति में अंतिम उद्देश्य को लेकर कोई फर्क नहीं था। परन्तु जे.पी. के विचारों में सफाई नहीं थी। लोहिया की सप्त क्रान्ति से ही जे.पी. ने अपनी सम्पूर्ण क्रांति को जोड़ा था। वह थी-

(1) नर-नारी समानता
(2) रंगभेद पर आधारित विषमता की समाप्ति
(3) जन तथा जाति पर आधारित असमानता का अंत
(4) विदेशी ज़ुल्म का खात्मा तथा विश्व सरकार का निर्माण
(5) निजी संपत्ति से जुड़ी आर्थिक असमानता का नाश और संभव बराबरी की प्राप्ति

(6) हथियारों के इस्तेमाल पर रोक और सिविल नाफ़रमानी के सिद्धांत की प्रतिष्ठापना
(7) निजी स्वतंत्रताओं पर होने वाले अतिक्रमण का मुकाबला

समाजवादी क्रांति का लक्ष्य आर्थिक असमानता को मिटाना था। लोहिया के सामने ऐसे सात पहलू थे जिनमें से हर एक के लिए स्वतन्त्र क्रांति आवश्यक थी।

जे.पी. आन्दोलन वस्तुत: एक सांस्कृतिक क्रांति था। सत्ता परिवर्तन तो एक तात्कालिक किन्तु अनिवार्य प्रयोजन था। दीर्घकाल से एकछत्र शासन से भ्रष्टाचार इतना अधिक हो गया था कि उस प्रकार की निरंकुश एवं भ्रष्ट राजसत्ता को सफलतापूर्वक चुनौती देना मूल्य की सार्थक राजनीति थी। इस प्रकार की निरंकुश सत्ता को ऐसा मुंह तोड़ उत्तर नहीं मिलता तो संभवत: भारत में लोकतंत्र का भविष्य धूमिल हो जाता। इस दृष्टि से जे.पी आन्दोलन केवल वर्तमान ही नहीं, भविष्य के लिए भी प्रासंगिक बना। डॉक्टर राम मनोहर लोहिया ने कांग्रेस के सर्वाधिकार को समाप्त करने के लिए गैर कांग्रेसवाद का प्रयोग किया लेकिन सभी धड़ों और घटकों को अलग-अलग रहने दिया। जे.पी ने सभी दलों को समान संघर्ष में दीक्षित कर समाज परिवर्तन का उन्हें मुख्य उपकरण बना दिया। यह एक असाधारण राजनीतिक घटना है। अन्ना ने बिना किसी दल का सहारा लेकर अहिंसा और सत्याग्रह की ताकत से सत्ता को जन लोकपाल क़ानून पास करने के लिए बाध्य कर दिया। अन्ना का आन्दोलन बिना सत्ता बदले व्यवस्था बदलने पर आधारित है, यही नागरिक समाज की सियासत है। जे.पी आन्दोलन की सर्वाधिक सफलता जनता की चेतना को जगाना था। सतत जागरूकता ही लोकतंत्र का मूल्य है। यही जे.पी ने भारतीय जनमानस को सिखाया। सबसे बड़ी बात कि जे.पी. ने आन्दोलन को सत्य और अहिंसा पर चलने की जो सफल कोशिश की, उससे राजनीति को एक नैतिक आयाम मिला। आज इसी पर आघात होने के कारण हिंसा और आतंकवाद की राजनीति देश के लिए खतरा साबित हो रही है।

शोध के दौरान मैंने यह पाया कि अक्सर सामाजिक आन्दोलनों की परिणति सत्ताप्रेरित हो जाती है। शुरुआत में कोई भी सामाजिक आन्दोलन समाज सुधार के लिए किया जाता है, लेकिन जब जनता का प्रचंड समर्थन मिलता है तो उसकी परिणति राजनीतिक दल के रूप में हो जाती है। डॉ राममनोहर लोहिया ने अपना समाजवादी आन्दोलन समाज में समता का भाव पैदा करने के लिए चलाया था। इसके लिए उन्होंने सप्त क्रान्ति का सूत्र दिया। उस समय की कांग्रेस सत्ता ने लोहिया नीति के अनुसार कार्य नहीं किया तो उन्होंने "कांग्रेस हटाओ, देश बचाओ" का नारा दिया। कालान्तर में लोहिया के आन्दोलन की परिणति प्रजा समाजवादी पक्ष में हुई। हालांकि लोहिया सत्ता अभिलाषी नहीं थे। लोहिया की मान्यता थी कि समाजवादी पार्टी चुनाव को न केवल सत्ता प्राप्ति का परन्तु विचार परिवर्तन और जनता की सार्वभौम इच्छा की अभिव्यक्ति का साधन भी मानती है।

जे.पी. आन्दोलन की सर्वाधिक सफलता जनता की चेतना को जगाना था। यह आन्दोलन एक सांस्कृतिक क्रांति था। नेहरु के समय से ही जे.पी. राजनीति से अलग हो गए और अपना सम्पूर्ण समय

सर्वोदय संस्था हित भूदान आन्दोलन में लगाए हुए थे। देश में अजीब स्थिति पैदा हो गयी थी। कांग्रेस सत्ताधारी पार्टी ने तानाशाह रूप ग्रहण कर लिया था। पुलिस और खुफिया विभाग को आन्दोलन को दबाने में झोंक दिया था। न्यायपालिका की स्वतंत्रता को छीन लिया था। जय प्रकाश की सलाह पर सभी विपक्षी दलों ने एकजुट होकर चुनावों में भाग लेने का फैसला किया। इसके लिए सभी दलों ने मिलकर जनता पार्टी राजनीतिक दल का गठन किया।

इसी प्रकार अन्ना आन्दोलन के दौरान भी इस प्रकार का परिवर्तन देखने को मिला। अन्ना आन्दोलन एक कानूनी आन्दोलन था। इस आन्दोलन को जनता का प्रचण्ड समर्थन मिला। यह आन्दोलन भ्रष्टाचार के खिलाफ एक मजबूत लोकपाल क़ानून लाने के लिए चलाया गया था। लेकिन सत्ता पर कानून को लाने का कोई असर नहीं होने के कारण मजबूरन अरविन्द केजरीवाल ने आम आदमी पार्टी का गठन किया। सत्ता प्राप्त करके इस क़ानून को लाने की बात कही।

हालांकि सभी सामाजिक आन्दोलन राजनीतिक सत्ता में परिणत नहीं होते। इस सन्दर्भ में एम.के.एस.एस. यानि मजदूर किसान संघर्ष समिति के उदाहरण पर विचार किया जा सकता है। इसका गठन अरुणा रॉय और उनके सहयोगियों ने किया। इसने राजस्थान में राजनीतिक दलों द्वारा उपेक्षित पड़े लोगों के साथ जुड़ कर काम किया और सरकारी अधिकारियों को मजबूर कर दिया कि वे भ्रष्टाचार मुक्त तरीके से विकास कार्यों का संचालन करें। बाद में इसी ने सरकारी भ्रष्टाचार से लड़ने के साधन के रूप में सूचना के अधिकार की मांग रखी। जल्द ही यह एक व्यापक अभियान बन गया। इस बार भी एम.के.एस.एस. को सफलता मिली। दरअसल लोकायन की गैर दलीय राजनीतिक समूह की अवधारणा में इसी तरह की प्रक्रियाओं और आन्दोलनों की कल्पना की गयी है। निष्कर्षत: उन्हीं सामाजिक आन्दोलनों की राजनीतिक सत्ता में परिणति हो पायी जिनके पीछे आम जन का प्रचंड समर्थन था।

जहाँ तक भिन्नता का सवाल है अन्ना से पहले किसी भी राजनेता ने,यहाँ तक कि जे.पी.ने भी गांधीवादी मूल्यों के आधार पर राजनीति नहीं की, अनशन नहीं किया, सत्याग्रह नहीं किया। अन्ना ने न केवल अहिंसा की बात की बल्कि उसे अपने आन्दोलन का मूलमंत्र भी माना। जे.पी.का आन्दोलन अपने स्वभाव में अहिंसक नहीं था। वह हिंसक था। बिहार आन्दोलन के नेता जे.पी.के पास गए और उनसे कहा कि वह आन्दोलन का नेतृत्व करें तब जे.पी.ने कहा था कि वे ऐसा तब करेगें जब आन्दोलन अहिंसा के रास्ते पर चलेगा। लेकिन जे.पी.के आन्दोलन में हिंसा बड़े पैमाने पर हुई। खुद जे.पी. ने पुलिस, सेना और प्रशासन के अधिकारियों से कहा था कि वे सरकार के गलत आदेश का पालन न करें। उन्होंने कहा था कि अभी तो उनका आन्दोलन गांधीवादी रास्ते पर चल रहा है लेकिन वह वक्त भी आ सकता है जब वे लोगों को बगावत करने की अपील भी कर सकते हैं। जे.पी. का आन्दोलन पूरी तरह राजनीतिक आन्दोलन था, अपने समय की सत्ता के खिलाफ। हालांकि उस राजनीतिक आन्दोलन के अपने सामाजिक आयाम थे, जिन्हें जे.पी. विचार के स्तर पर सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा से जोड़ते थे और संगठन के स्तर पर संघर्ष वाहिनी और कई दूसरी संस्थाओं से, जो उन्होंने सामाजिक बदलाव के लिए बनाई थी। अन्ना आन्दोलन

इस लिहाज से अभी तक इकहरा है। उनका आन्दोलन मूलत: कानूनी सुधारों को समर्पित है। अन्ना की चुनौती जे.पी.से कहीं ज्यादा बड़ी है। जे.पी.आन्दोलन के समय अस्मितावादी आन्दोलन में अपना हिस्सा नहीं मांग रहे थे जबकि अन्ना आन्दोलन में अस्मितावादी राजनीति इसमें दलितों और आदिवासियों का हिस्सा तलाश कर रही थी। अन्ना आन्दोलन के साथ 24 घंटे चलने वाला मीडिया था, जे.पी. के आन्दोलन को यह सुविधा नहीं थी। आन्दोलन के दौरान जे.पी.को अत्याचार सहने पड़े। इस तरह जे.पी.का आन्दोलन नौजवानों की सहनशीलता का नायाब उदाहरण था। अन्ना के आन्दोलन को इस प्रकार की परीक्षा से नहीं गुजरना पड़ा। अन्ना आन्दोलन को जब कांग्रेस और कुछ बुद्धिजीवियों ने आर.एस.एस. द्वारा प्रस्तावित बताया तो उन्होंने इसका खंडन किया जबकि जे.पी. को आर.एस.एस.और उनके राजनीतिक सहयोगी जन संघ के खुले समर्थन से कोई आपत्ति नहीं थी। हालाँकि जे.पी. जीवन भर सांप्रदायिकता के कट्टर विरोधी और आर.एस.एस.व जन संघ के कटु आलोचक रहे। इस अर्थ में अन्ना का आन्दोलन जे.पी.आन्दोलन से बड़ा और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसने किसी भी राजनीतिक दल का उपयोग अपने संदेश को फ़ैलाने और आन्दोलन को चलाने में नहीं किया । इसको अपने शक्ति प्रदर्शन के लिए किसी संगठनात्मक दल की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह पूरी तरह से एन.जी.ओ.,नेटवर्क और आधुनिक संचार साधनों, जैसे-टी.वी., सोशल मीडिया और मोबाइल नेटवर्क पर ही आधारित था।

अन्ना के आन्दोलन में कहीं अनुशासन नहीं बिगड़ा। अन्ना टोपी पहनने वालों ने किसी से बदतमीजी नहीं की। जो एक घटना रामलीला मैदान के बाहर हुई थी, उसके लिए अन्ना ने मंच से बाकायदा सार्वजनिक तौर पर माफी मांगी। जे.पी.ने ऐसा कभी भी नहीं किया। आन्दोलन की कमान संभालने से पहले जब वह गुजरात गए थे,तब उन्होंने कहा था कि गुजरात के छात्रों ने उनको राह दिखाई है। छात्रों का यह आन्दोलन हिंसक था, जे.पी.को हिंसा से उम्मीद दिखी थी। जो लोग यह कहते हैं कि अन्ना का आन्दोलन लोकतंत्र विरोधी है, संविधान विरोधी है, संसद विरोधी है, उन्हें या तो इतिहास की समझ नहीं है या फिर वे सरकार के इशारे पर आरोप लगा रहे है। जे.पी.का आन्दोलन महंगाई और भ्रष्टाचार से शुरू होकर इंदिरा गाँधी हटाओ पर जाकर टिक गया और इंदिरा को हटाने के लिए जे.पी.ने सेना तक को भड़काने से गुरेज नहीं किया। अन्ना तो संसद से ये अपील कर रहे थे कि भाई देश में भ्रष्टाचार से निपटने के लिए एक कानून बना दो और उस कानून बनाने में आम आदमी को हिस्सा लेने का मौका दे दो । अन्ना के आन्दोलन में लोग स्वयं संगठित थे और अपने आप आये थे क्योंकि उन्हें अन्ना की नैतिकता में विश्वास था। जे.पी. के आन्दोलन में लोगों को जे.पी.पर विश्वास था, लेकिन उन्हें उनके आन्दोलन में हिस्सा लेने वाले दूसरे नेताओं पर यकीन नहीं था। जे.पी.के आन्दोलन की भौगोलिक सीमा भी सीमित थी। अपनी पहुँच और स्वत: स्फूर्तता के अर्थ में अन्ना का आन्दोलन जे.पी.के आन्दोलन से बड़ा था। यह आन्दोलन राजनीतिक व्यवस्था की स्थिति के खिलाफ एक विद्रोह था। सत्ता बदलने वालों को छोटी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं, व्यवस्था बदलने वालों को लम्बी और कठिन लड़ाई लड़नी पड़ती है। गांधीजी और जे.पी.को यही करना पड़ा था। अन्ना ने इसी सम्भावना को आगे बढ़ाने का काम किया है। अन्ना का आन्दोलन अपनी मूल आत्मा में गाँधीवादी है। अन्ना ने साबित कर दिया कि देश की आत्मा में आज भी गाँधी बसते है क्योंकि

गांधीजी ने देश की आत्मा से जुड़कर राजनीति की थी। वे आजादी की लड़ाई को भी देश - समाज से जोड़कर देखते थे। उनको पता था कि सिर्फ अंग्रेजों को हराने से देश नहीं बदलेगा। देश तभी बदलेगा और आजादी तभी सार्थक होगी जब समाज भी बदलेगा और मानस भी बदलेगा। अगर आज अन्ना यह कहते हैं कि अंग्रेज चले गए लेकिन काले अंग्रेज अभी देश में शासन कर रहे हैं तो गलत नहीं है।

गाँधी सत्ता के साथ पूरी व्यवस्था को बदलने के पक्षधर थे। जे.पी.ने भी आन्दोलन की शुरूआत में सम्पूर्ण क्रांति की वकालत की,यह सन्देश दिया कि वे सिर्फ सत्ता बदलने की नहीं, व्यवस्था को बदलने की बात कर रहे हैं। लेकिन जैसे-जैसे उनका आन्दोलन परवान चढ़ता गया, जे पी उन्हीं राजनीतिज्ञों के चंगुल में फंस गए जो देश के अन्दर की बुराइयों के लिए जिम्मेदार थे। राजनीति में जे पी को धोखा दिया गया था इसलिए जे पी यह कहते पाए गए थे कि मेरी दुनिया क्यों खंड- खंड हो गई, मुझसे कहीं गलती हो गई। उनकी गलती यह थी कि वह राजनीति के स्वरुप को उसकी सम्पूर्णता में नहीं देख पाए। अगर जे पी का आन्दोलन समाज परिवर्तन को लेकर चलता तो शायद हमें आज अन्ना का आन्दोलन देखना नसीब नहीं होता। अन्ना का आन्दोलन सत्ता के खिलाफ विद्रोह है, उस सत्ता के खिलाफ जो स्वार्थ पर टिकी है। वे भी सत्ता में बुनियादी बदलाव की बात कर रहे हैं लेकिन जे पी की तरह राजनीति में 'इनसाइडर' की भूमिका में नहीं हैं। अन्ना राजनीति के 'आउटसाइडर' हैं। वे दूर से सत्ता के चरित्र को देख रहें हैं। उसे बदलने की बात कर रहे हैं। यह नए तरह का प्रयोग है। अभी कुछ लोगों को इस पर पूरी तरह से यकीन नहीं होगा। लेकिन मुझे भरोसा है कि व्यवस्था में ऐसे बदलाव आयेंगे जो राजनीति को नए सिरे से परिभाषित करेंगें और राजनीति का स्वरुप बदलेगा। यह सही है कि अन्ना ने किसी क्रांति का उदघोष नहीं किया है, न ही समाज में आमूल चूल परिवर्तन का नारा बुलंद किया है, उनका आर्थिक-सामजिक-राजनीतिक दर्शन अभी अधूरा है। सूचना के अधिकार की मुहीम न्याय और समानता के संघर्ष की पैदाइश थी जिसमें भ्रष्टाचार सत्ता के मनमाने इस्तेमाल का पर्यायवाची था। आर.टी.आई.आन्दोलन का सबसे ज्यादा जोर पारदर्शिता और एक लोकतान्त्रिक प्रणाली को आम आदमी के प्रति जवाबदेह बनाने पर था। आर.टी.आई.ने गोपनीयता की संस्कृति में पारदर्शिता का समावेश करा कर एक बड़ा बदलाव लाने का काम किया है। जवाबदेही के लिए संघर्ष अपने आप में उस तन्त्र में न्याय के लिए संघर्ष है। आर.टी.आई.ने सूचना और तथ्यों के सहारे आम आदमी का सशक्तिकरण किया है।

आज देश लोकतंत्र के ऐसे मुकाम पर खड़ा है,जहाँ पुराने पैमाने अपनी सार्थकता खो चुके हैं। नए मानदंड और नए पैमाने ही नए समाज का ढांचा खड़ा करेंगे। आज जरूरत नए सिरे से सोचने की है। नए मूल्यों का गठन करना है। नया आदर्श बनाना है और इस नयेपन में पुराने गांधी को नए सिरे से खोजना है। क्योकि गांधी कभी पुराने नहीं होते। यह अन्ना के आन्दोलन ने साबित कर दिया है, क्योंकि गान्धी शाश्वत हैं, सनातन हैं, समय और देश से परे हैं। आत्मा और परमात्मा के द्वंद्व के पार, किसी भी इन्तजार के मोहताज़ नहीं।

मेरी एक अन्य प्राकल्पना के द्वारा मैंने यह भी पाया कि स्वतंत्रता के पूर्व के आन्दोलन और स्वतंत्रता के बाद के भारत के सामाजिक आन्दोलनों में फर्क था। क्योंकि पूर्व के आन्दोलन अलोकतांत्रिक पृष्ठभूमि (राजाओं, नवाबों, रियासतों या ब्रिटिश हुकूमत के अधीन) में हुए और उनका स्वरूप विशुद्ध रूप से सामाजिक ही रहा। जबकि स्वतंत्रता के पश्चात हुए आन्दोलनों की परिणति सामाजिक से होते हुए राजनीतिक स्वरूप में परिवर्तित हो गयी। मेरे शोध कार्य की शुरुआत से अब तक मैंने अपनी प्राकल्पना में परिवर्तन भी पाया और अनेक प्राकल्पनाएं सही भी साबित हुई।

मैंने शोध के द्वारा यह भी पाया कि अन्ना आन्दोलन और सिविल सोसायटी द्वारा चलाए गए आन्दोलन में नागरिक समाज के प्राचीन काल से लेकर 21 वीं शताब्दी तक हुए परिवर्तन की भी अनुभूति की जा सकती है। सिसरो का नागरिक समाज के बारे में यह कथन वर्तमान समय में उपयुक्त जान पड़ता है कि राज्य में क़ानून का पालन करके ही व्यक्ति सुसंस्कृत और अच्छा जीवन व्यतीत कर सकता है और बर्बर या अपराधियों को नागरिक समाज से कोई सरोकार नहीं रहता। जॉन लॉक और रूसो, राज्य को शान्ति और अधिकारों के लिए परम आवश्यक मानते हैं क्योंकि राज्य की उत्पत्ति में लोगों की या स्वयं राज्य, नागरिक समाज की महती भूमिका है, ऐसे में नागरिक समाज स्वयं राज्य का मुख्य भाग बना रहता है। हीगल ने इनसे अपनी पृथक राय रखते हुए 'नागरिक समाज' को राज्य के मुख्य भाग की बजाय उसे बाह्य राज्य माना है।

किन्तु रूसो की सामान्य इच्छा और लॉक के मानव का विवेक व्यक्ति को सतत जागरूक रखता है जिससे नागरिक समाज राज्य में प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता को बनाए रखता है और राज्य को अनुत्तरदायी नहीं होने देता। ऐसी स्थिति में जब राज्य में कानून व्यवस्था चरमरा जाए, राज्य में असमानता बढ़ने लगे और भ्रष्टाचार का बोलबाला हो जाए या राज्य अपने समाजवादी स्वरूप को बनाए रखने में विफल हो जाए तो ऐसे में राज्य के प्रबुद्ध नागरिक जिन्हें नागरिक समाज के नाम से जाना जाता है, के पास लॉक की सीमित सरकार से, रूसो की सामान्य इच्छा से और अन्ना की सिविल सोसायटी सरकार से टकराने के सिवाय कोई रास्ता नहीं रह जाता। भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में यह एक अहिंसक आन्दोलन के माध्यम से संभव हो सकता है किन्तु तानाशाह या निरंकुश तंत्र या अभिजन तंत्र की प्रकृति वाले देशों में यह आन्दोलन हिंसक भी हो सकता है। जैसे 2011 में लीबिया व मिस्र में हिंसा द्वारा क्रमश: कर्नल गद्दाफी और होस्नी मुबारक को सत्ता से हटाया गया। हिंसक और अहिंसक आन्दोलन का होना इस बात पर निर्भर करता है कि उस देश में कितना लोकतंत्र और कितना निरंकुश तंत्र है।

नागरिक समाज को ज़्यादातर विद्वानों ने स्वहित, आत्मकेंद्रित व लोभ और लाभ से प्रेरित बताया है। क्योंकि इनका मूल मंतव्य स्वयं की रक्षा के लिए कानूनों का निर्माण करने के साथ-साथ राज्य में बाज़ार तंत्र की स्थापना कर, समस्त व्यक्तियों द्वारा परस्पर व्यापार विनिमय में हिस्सा लेना और लाभ कमाना है। हीगल ने नागरिक समाज को इसलिए विश्वजनीन स्वार्थवाद कहा है तथा यह तर्क दिया है कि नागरिक समाज राज्य से पूर्व की अवस्था है जो कि अपूर्ण है, जबकि राज्य पूर्ण है। नागरिक समाज महज आर्थिक

गतिविधियों के क्षेत्र मात्र है। राज्य के निर्माण के बाद राज्य संप्रभु है, दैवीय है; यहाँ नागरिक समाज की कोई भूमिका नहीं है। हीगल के इस राष्ट्र राज्य के सिद्धांत को वर्तमान में प्रासंगिक नहीं माना जा सकता। क्योंकि आज कोई भी राज्य दैवीय नहीं है, न ही कोई ऐसा राज्य है जहाँ की सरकार कोई गलती नहीं करती हो, न ही कोई ऐसा राष्ट्र राज्य है, जहाँ शत-प्रतिशत समानता हो। अत: आधुनिक राष्ट्र राज्यों, जहाँ लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था है, वहां अन्ना हजारे और सिविल सोसायटी की महती भूमिका है और रहेगी।

मार्क्स नागरिक समाज और राज्य दोनों को ही शोषण का उपकरण मानते हैं। क्योंकि राज्य में अंतत: उत्पादन के साधनों पर बुर्जुआ वर्ग का नियंत्रण हो जाता है। लेकिन मार्क्स यह भूल जाते हैं कि उनका सर्वहारा वर्ग जो एक स्तर पर राज्य उन्मूलन हेतु क्रांति करेगा, वह भी एक नागरिक समाज का ही रूप है। मार्क्स का सर्वहारा वर्ग लक्ष्य प्राप्ति की अंतिम अवस्था सत्ता प्राप्त करने और अंतत: वर्गहीन, राज्यविहीन समाज की स्थापना करने में नागरिक समाज से भिन्न अर्थ रखने वाला बन जाता है क्योंकि नागरिक समाज का लक्ष्य सुशासन प्राप्त करना होता है न कि सत्ता प्राप्त करना। अन्ना व उनके आन्दोलन ने भारत में यह नारा दिया कि वे सत्ता परिवर्तन नहीं, व्यवस्था परिवर्तन चाहते हैं और उनके इस आन्दोलन को समस्त भारत में व्यापक जन समर्थन मिला। इस आन्दोलन से 1980 के जन उफान का स्मरण हो आता है।

ए.डी. ताकविल ने नागरिक समाज की अधुनातन व्यवस्था प्रस्तुत की है। उनके द्वारा दी गयी व्यवस्था आधुनिक भारतीय परिवेश या वैश्विक परिवेश से मिलती जुलती है। सर्वप्रथम उनका यह कहना है कि प्रत्येक राज्य में मध्यवर्ती स्वैच्छिक साहचर्य या संघ होते हैं, जो व्यक्ति और राज्य के बीच रक्षा के लिए वाँछनीय हैं। ताकविल यह भी स्वीकारते हैं कि किसी देश में चाहे कोई भी शासन प्रणाली हो, उस देश में जन साधारण अपनी संख्या बल के कारण शक्तिशाली और सरकार पर प्रभाव बनाए रखने में सक्षम होते हैं। लीबिया में जन साधारण का सशस्त्र विद्रोह और भारत में अन्ना हजारे का अहिंसा आन्दोलन इस बात के प्रमाण हैं। ताकविल ने प्रेस की स्वतंत्रता को जन साधारण हेतु आवश्यक माना है। भारत में भी अन्ना हजारे के आन्दोलन को गली-मुहल्लों तक पहुंचाने में प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रोनिक मीडिया की महती भूमिका रही है।

ए.डी. ताकविल नागरिक समाज में राजनीतिक दल, हित समूह आदि को भी सम्मिलित करते हैं। यद्यपि ये दोनों जनसाधारण या जनमत बनाने में प्रभावी भूमिका निभाते हैं किन्तु स्वार्थ केन्द्रित होने के कारण इनके स्थान पर उपयुक्त विकल्प स्वैच्छिक संघ है, जिनका लक्ष्य जनहित में आन्दोलन करना होता है, सत्ता प्राप्ति या निजी लाभ नहीं। भारत में भी अन्ना हजारे का आन्दोलन केजरीवाल, किरण बेदी, मेघा पाटेकर, अरुणा रॉय, प्रशांत भूषण आदि के एन.जी.ओ. के हाथों में रहा जिसका लक्ष्य निजी लाभ न होकर परोपकार करना या समाज से भ्रष्टाचार हटाना या मिटाना है। अन्ना हजारे और उनके सहयोगियों का जीवन परिचय भी उनके निजी व सार्वजनिक मंतव्यों को स्पष्ट करता है। भले ही वर्तमान में एशियाई देशों के राजनीतिक दलों में अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा और सत्ता प्राप्ति के लिए अपनाए गए साम,दाम, दंड, भेद आदि की नीति के कारण उनकी छवि धूमिल है, किन्तु अमेरिका और यूरोप के अनेक देशों में राजनीतिक दलों द्वारा

ही नागरिक समाज की भूमिका निभाई गयी थी। वे नागरिक समाज की तरह स्वस्थ व निस्वार्थी थे। अन्य देशों में समाज सेवी संस्थाएँ या गैर सरकारी संगठन जो नागरिक समाज का अभिन्न हिस्सा हैं, भारत व अन्य देशों में भिन्न- भिन्न नामों से जाने जाते हैं। अफ्रीका में इन्हें समुदाय आधारित संगठन कहते हैं। तंजानिया और केन्या में इन्हें उपनिवेश विरोधी संघ और राष्ट्र निर्माण के नाम से जाना जाता है। थाईलैंड और फिलिपिंस जैसे देशों में इन्हें गैर सरकारी संगठन के नाम से तानाशाही का विरोध करते हुए दिखाई देते हैं। चीन, लाओस, वियतनाम में ये स्वायत्त नागरिक संगठन के नाम से सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं। इस प्रकार देखा जाए तो प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक नागरिक समाज की अवधारणा बदली है। अब यह केवल बाजारोन्मुख अर्थ तंत्र का हिस्सा मात्र नहीं है, वरन नागरिक समाज राज्य में ही निहित है और वक्त आने पर सामाजिक परिवर्तन या न्याय की स्थापनार्थ स्वयं अस्तित्व में आते हैं और लोगों को जागरूक करके उन्हें भी नागरिक समाज का अंग बना देते हैं। सामाजिक परिवर्तन होने पर या व्यवस्था सुधर जाने पर ये 'नागरिक समाज' सत्ता में भागीदार न रहकर पुन: पृष्ठभूमि में चले जाते हैं।

मैंने अपने शोध के द्वारा यह भी पाया कि अन्ना हजारे के नेतृत्व में शुरू हुए भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के द्वारा भारत में नागरिक समाज की बढ़ोतरी हुई है। नागरिक समाज वैसे तो राजनीतिक दर्शन की स्थापित अवधारणा है पर अन्ना हजारे के नेतृत्व में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन की शुरुआत होने के साथ ही यकायक उभर कर सामने आई है। अभी तक लोग अपने आप को नागरिक समाज के भाग के रूप में नहीं देखते थे। इसके बजाय एन.जी.ओ., स्वैच्छिक संगठन, ग्रासरूट संगठन, सामाजिक आन्दोलन आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। लेकिन आज इन्हें नागरिक समाज के रूप में पहचाना जा रहा है। इन्टरनेट और मीडिया में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन का वर्णन करने के लिए इस शब्द का खासतौर से प्रयोग किया गया है। औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारत में नागरिक समाज तीन चरणों में विकसित हुआ है। पहला, आज़ादी के आन्दोलन के दौरान, दूसरा जे.पी आन्दोलन के दौरान और तीसरा उत्तर वैश्वीकरण दौर में। जे.पी. आन्दोलन के बाद देश के विभिन्न भागों में तरह-तरह के गैर सरकारी संगठन सामने आये। इसके बाद नागरिक समाज के विचार को भलाई करने वाले संगठनों तक सीमित रखना बहुत ही मुश्किल हो गया था। आज नागरिक समाज शब्द का उपयोग अपने उस शुरूआती स्तर से आगे जा चुका है जो इस शब्द की पश्चिमी अवधारणा के नज़दीक था। अपने नए अर्थ में नागरिक समाज में वे सारी परिघटनाएं शामिल हैं। यह अवाधारणा भारत में लोकतांत्रिक व्यवहार के विविध रूपों की जटिलता सामने लाने के लिए आवश्यक है। राजनीति शब्द के बुनियादी अर्थ के आधार पर इसे राजनीतिक ही कहा जा सकता है।

भारत ने नब्बे के दशक में भूमंडलीकरण की दुनिया में प्रवेश कर नई आर्थिक नीतियां अपनाई। विदेशी फंडिंग एजेंसियों ने इसे चलाया। उन्होंने आर्थिक मदद लेने वाले गैर सरकारी संगठनों को नागरिक समाज संगठन कहना शुरू किया। एन.जी. ओ. को नागरिक समाज का अंग बताकर ये विदेशी एजेंसियां भारतीय एन.जी.ओ. के साथ अपने लेनदेन का औचित्य एक हद तक प्रमाणित कर पाई। भारत के गैर सरकारी संगठनों ने भी ख़ुशी-ख़ुशी खुद को नागरिक समाज का हिस्सा कहलाना स्वीकार किया। इस

सन्दर्भ में रोचक बात यह देखी गयी कि राजनीतिक माहौल में बदलाव और एक नए राजनीतिक विमर्श के उभार के साथ पुरानी स्थापित अवधारणा को नए अर्थ मिल सकते हैं और उसका स्थापित अर्थ धुंधला हो सकता है। ऐसा लगता है कि नागरिक समाज के विचार के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ है। नागरिक समाज की अवधारणा को शीतयुद्ध की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण भी बल मिला है। शीत युद्ध की समाप्ति के समय सोवियत बुद्धिजीवियों और राजनीतिक विरोधियों ने नागरिक समाज शब्द का विचार अपनाया। सोवियत शासन का विरोध कर रहे लोगों ने ज़ोरदार तरीके से अपना तर्क रखा। यह तर्क इस प्रकार था: साम्यवादी राज्य में सिर्फ नागरिक समाज का पुन: उभार ही राज्य को राज्य के लोगों तक वापस ला सकता है। दूसरी तरफ मार्क्सवादी विश्लेषण में नागरिक समाज को निष्क्रिय, क्रांति विरोधी और प्रतिभागी परिघटना के तौर पर देखा जाता है। इसके तहत यह माना जाता है कि यह बुर्जुआ लोकतंत्र से जुड़ा हुआ है।

सोवियत शासन के लोगों को बहुदलीय व्यवस्था और राजनीतिक आजादियों से वंचित रखा था। सोवियत शासन के विरोधियों का विश्वास था कि एक बहुदलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के उभार और राजनीतिक आज़ादी हासिल करने के लिए राज्य को नागरिक समाज के अंतर्गत लाना ज़रूरी है। इस तरह सोवियत राज्य विरोधी विमर्श में नागरिक समाज शब्द ने एक ख़ास अर्थ हासिल किया है। अब इसे राज्य के खिलाफ राजनीतिक कार्यवाही के रूप में देखा जाने लगा। जल्द ही यह भारत के सामाजिक कार्यकर्ताओं और अकादमीशियनों की पसंदीदा अवधारणा बन गया। इनमें से बहुतों ने बिना गहराई से विचार किये नियमित रूप से 'समाज' की जगह नागरिक समाज शब्द का प्रयोग करना शुरू कर दिया। कई अवसरों पर इस तरह का प्रयोग पूरी तरह से गलत था। जब अन्ना हजारे के आन्दोलन ने सरकार के भ्रष्टाचार के खिलाफ लोगों को अच्छी खासी संख्या में गोलबंद किया तो फ़टाफ़ट इस शब्द को इसके साथ जोड़ दिया गया। अन्ना आन्दोलन के साथ इसके उस अर्थ को भी जोड़ा गया जिसमें इसे राज्य के खिलाफ राजनीतिक कार्यवाही के रूप में देखा जाता है।

नागरिक समाज जब एक अभिव्यक्ति के तौर पर भारतीय राजनीति परिदृश्य पर आया, उस समय राज्य की प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं (चुनावों और राजनीतिक दलों) के बाहर चलने वाली लोकतांत्रिक राजनीति के बारे में गहरा वादविवाद चल रहा था। यह बहस लोकायन आन्दोलन से जुड़े एक्टिविस्टों और पब्लिक इंटेलेक्चुअल द्वारा शुरू की गयी। उन्होंने इसे गैर दलीय राजनीति नाम दिया और इसे लोकप्रिय बनाया। राजनीति के इस क्षेत्र का वर्णन गैर दलीय राजनीतिक समूह और आन्दोलन के रूप में किया गया। यह गैर दलीय राजनीति का विचार जय प्रकाश नारायण द्वारा 1960 के दशक में शुरूआती वर्षों में विकसित किये गए दल विहीन लोकतंत्र की तरह नहीं था।

लोकायन द्वारा शुरू की बहस का निचोड़ यह था कि संसदीय राजनीति के उस आयाम पर प्रकाश डाला जाए, जो लोकतांत्रिक राजनीति की असाधारण दुनिया का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन संस्थाबद्ध राजनीति करने वाले लोगों ने इस विचार को संदेह की नज़र से देखा। राजनीतिक सिद्धांतकारों के एक तबके को ऐसा लगा मानो वह लोकतंत्र के पुरातन विचार का प्रतिनिधित्व करता है। शायद उन्होंने इसे

उदारतावादी लोकतंत्र के लिए खतरा भी माना। गैर दलीय राजनीतिक समूहों में ऐसे व्यक्तिगत कर्ता, सामाजिक कार्यकर्ता और समूह शामिल हैं, जिनका उद्देश्य और कार्यक्रम बुनियादी रूप से राजनीतिक है, लेकिन जो दलों और चुनावों की राजनीति से परहेज़ करते हैं।

गैर दलीय राजनीति ने जनहित के ख़ास मुद्दों को बुलंद करके राजनीतिक व्यवस्था तक पहुंचाया। लोगों को गोलबंद कर उसने राजनीतिक व्यवस्था को इन मुद्दों पर कार्यवाही करने पर मजबूर किया। ज़मीनी आन्दोलनों के राज्य स्तरीय समर्थक संगठनों की मुख्य गतिविधि यह थी कि वे राज्य के साथ विरोध और सहयोग का एक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध कायम करते थे। ये लोगों के साथ और लोगों की ओर से काम करते थे। राजनीतिक दल इन लोगों की ज़रूरतों और अधिकारों की ओर ध्यान नहीं देते थे। कभी कभार ध्यान चला भी जाता तो भी इसे चुनावी राजनीति के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता। स्थानीय और ग्रामीण समुदायों के लिए भ्रष्टाचार इतना बढ़ चुका था कि उसने उनके लिए जिंदगी और मौत से जुड़े मुद्दे की शक्ल इख्तियार कर ली थी। इस सन्दर्भ में एम.के.एस.एस. का उद्देश्य हमारे सामने है। इसका गठन अरुणा रॉय और उनके सहयोगियों ने किया। इसने राजस्थान में राजनीतिक दलों से उपेक्षित पड़े लोगों के साथ जुड़ कर काम किया और सरकारी अधिकारियों को मजबूर कर दिया कि वे भ्रष्टाचार मुक्त तरीके से विकास कार्यों का संचालन करें। बाद में इसी ने सरकारी भ्रष्टाचार से लड़ने के संघर्ष के रूप में सूचना के अधिकार की मांग रखी। जल्द ही यह एक बहुत ही व्यापक अभियान बन गया। इस बार भी एम.के.एस.एस. को सफलता मिली। सूचना के अधिकार की मुहीम न्याय और समानता के संघर्ष की पैदाइश थी जिसमें भ्रष्टाचार सत्ता के मनमाने इस्तेमाल का पर्यायवाची था। आर.टी.आई.आन्दोलन का सबसे ज्यादा जोर पारदर्शिता और एक लोकतान्त्रिक प्रणाली को आम आदमी के प्रति जवाबदेह बनाने पर था। आर.टी.आई.ने गोपनीयता की संस्कृति में पारदर्शिता का समावेश करा कर एक बड़ा बदलाव लाने का काम किया है। जवाबदेही के लिए संघर्ष अपने आप में उस तन्त्र में न्याय के लिए संघर्ष है। आर.टी.आई.ने सूचना और तथ्यों के सहारे आम आदमी का सशक्तिकरण किया है।

नागरिक समाज की अभिव्यक्ति के चलन के कारण गैर दलीय राजनीतिक संगठनों से जुड़ा वाद-विवाद फीका पड़ गया है। लेकिन मुख्य बात यह है कि एक्टिविस्टों की एक अच्छी खासी जमात में ज़मीनी स्तर पर 'ग्रासरूट आन्दोलन' का विचार 'जन आन्दोलन' के नाम से कायम रहा। हम सब जानते हैं कि भारत के अकादमीशियनों की यह प्रवृत्ति रही है कि पश्चिम से कुछ नए प्रचलित शब्दों के आने के साथ ही अपने शब्दों और अवधारणाओं को छोड़ देते हैं। मेरा यह मानना है कि कहीं से भी आने वाले शब्द को मानने में कोई हर्ज नहीं है लेकिन इसे हमारे अनुभव से जुड़ा होना चाहिए।

6.1 आन्दोलन के निहितार्थ

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य नागरिक समाज के माध्यम द्वारा राजनीति की दिशा के निर्धारण से सम्बंधित आन्दोलनों की समीक्षा करना था। हालांकि प्राप्त परिणामों को अंतिम नहीं माना जा सकता तथापि अध्ययन से प्राप्त परिणामों का महत्वपूर्ण सामाजिक निहितार्थ है। उपर्युक्त अध्ययन से ज्ञात होता है

कि समाज में भ्रष्टाचार आवश्यक बुराई के रूप में स्थापित हो चुका है। हालांकि धीरे-धीरे सुधार हो रहा है लेकिन उस गति से नहीं हो रहा जिसकी आवश्यकता है।

देश में भ्रष्टाचार की समस्या के कई रूप, आयाम और चेहरे है। देश के आम नागरिक रोज जिस भ्रष्टाचार और कुशासन से जूझते हैं, उसका गहरा विस्तार उस जन विरोधी केंद्रीकृत प्रशासनिक ढांचे और ढर्रे से है,जो हमें अंग्रेजी राज्य से विरासत में मिला है और जिसे आजादी मिलने के 72 सालों बाद भी बुनियादी रूप से बदलने का काम नहीं हुआ। आजादी के बाद अर्थव्यवस्था के जिस पूंजीवादी मॉडल को स्वीकार किया था, भ्रष्टाचार की जड़े उसी के साथ पड़नी शुरू हो गयी थी। इस मॉडल से जुड़ी सारी योजनाओं और सब्सिडी आदि का लाभ पहले से आर्थिक रूप से ताकतवर घरानों ने अधिक उठाया । आजादी के बाद जिस तरह देश में भ्रष्टाचार बढ़ता गया है, उसने आम जनता के दिलोदिमाग में नफरत के बीज बोने का काम किया है। 1965 समाप्त होते-होते भ्रष्टाचार के कई मामले सामने आने लगे। परिणामत: 1967 के चुनाव में भ्रष्टाचार देश की जनता के सामने बड़ा मुद्दा था। इसके कारण कांग्रेस की कई राज्यों में हार हुई । 1977 के चुनाव में भी भ्रष्टाचार बड़ा मुद्दा था,जिसके चलते ताकतवर और राजनीतिक सूझ-बूझ रखने वाली इंदिरा गांधी को हार का सामना करना पड़ा। 1972 से 1990 तक आते-आते देश के सभी राजनीतिक दलों ने भ्रष्टाचार को अंगीकार कर लिया। भ्रष्टाचार और महाघोटालों की जो बाढ़ कुछ वर्षों से देश में आई है, उसका सीधा संबंध उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण, बाजारीकरण, कम्पनीकरण की नीतियों से भी है। उदारीकरण ने भ्रष्टाचार को 'समृधि का माध्यम' और भद्र जनों की 'सुविधा' के रूप में स्थापित कर दिया है।1990 के दशक की शुरुआत में उदारीकरण में कॉर्पोरेट घराने शामिल होने से भ्रष्टाचार के मामले अधिक संख्या में उजागर हुए हैं। उदारीकरण में कॉरपोरेट जगत, ब्यूरोक्रेसी और राजनीतिक नेताओं के गठजोड़ ने भ्रष्टाचार के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किये है। वैश्वीकरण के नाम पर देश में पूंजी का अंधाधुंध आवागमन हुआ है, उससे भ्रष्टाचार के साथ गरीबी, बेरोजगारी, किसान आत्महत्याओं जैसी अदृश्य और अमूर्त समस्याएं भी जन्म ले रही हैं। यह बाजारवाद का दौर था। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने अपने वर्चस्व का दौर यही से शुरू किया था। इस वर्चस्व के लिए साम, दाम, दंड, भेद सब कुछ जायज था, सब कुछ माफ़ था। आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की ही देन है कि अब भ्रष्टाचार सांस्थानिक है। राजनेताओं ने उसे रोकने के बजाय या तो बढ़ावा दिया है या नजरअंदाज किया है। पहले केवल सरकारी विभाग के अफसर ही रिश्वत लिया करते थे। अब गांव के किसान, प्रधान, सरपंच आदि भी भ्रष्टाचार के दलदल में धंसते जा रहे हैं, क्योंकि सरकार की योजनायें ऐसी हैं कि उन्हें लागू करने के लिए जिस मशीनरी से होकर गुजरना पड़ता है, वह पूरी तरह भ्रष्ट है। नैतिक मूल्यों का पतन, प्रभावशाली कानूनों का अभाव, आजादी के पहले से अब तक चली आ रही लालफीताशाही, पुराने और बेअसर हो चुके कानून, राजनीतिज्ञों के स्वार्थ, लोगों के बीच घटती बलिदान की भावना और राजनीति को समाज सेवा के बजाय निजी व्यापार मानने की प्रवृति ही भ्रष्टाचार का मूल कारण है।

अत: उपर्युक्त अध्ययन के परिणाम इस बात की ओर संकेत करते हैं कि समाज में भ्रष्टाचार एक आवश्यक बुराई है। इसे दूर करने के लिए समाज सुधारकों को यह समझना होगा कि तंत्र के भ्रष्टाचार को स्वीकृति तभी मिलती है, जब सामाजिक जीवन तथा सोच में यह अपनी जगह बना चुका हो। भ्रष्टाचार समाज की नैतिक गिरावट का सूचक है। जब यह तंत्र से निकलकर सामाजिक जीवन में अपनी जगह बनाता है तो इससे लड़ना बड़ा मुश्किल होता है। अपने ही समाज के लोगों से लड़ना कठिन काम है, बजाय प्रशासन तंत्र और सरकार से लड़ाई के। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार से लड़े बिना शासन तंत्र के भ्रष्टाचार को

दूर करना असंभव कार्य है। तंत्र के भ्रष्टाचार को खत्म करने के लिए सख्त कानून और उनकी अनुपालना के साथ समाज का उच्च नैतिक चरित्र भी होना भी आवश्यक है। भ्रष्टाचार को प्रशासनिक समस्या के साथ सामाजिक समस्या के रूप में पहचानते हुए इसके विरुद्ध समग्र आन्दोलन की आवश्यकता महसूस की जा रही है। अकेले लोकपाल और जन लोकपाल में भी भ्रष्टाचार की समस्या का समाधान नहीं है। केवल कानून से ही भ्रष्टाचार मुक्त समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई की शुरूआत निचले स्तर से होनी चाहिए। स्कूलों में बच्चों को शुरू से ही ईमानदारी का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। संसद में शिक्षा सुधार की दिशा में संस्कार निर्माण की प्रक्रिया शुरू की जानी चाहिए। गांधीजी ने विद्यालय स्तर पर संस्कार निर्माण की प्रयोगशाला शुरू की थी। भ्रष्टाचार के खिलाफ जंग की शुरूआत रालेगण सिद्धि मॉडल से की जानी चाहिए। रालेगण सिद्धि गांधी के सपनों की सच्ची पाठशाला है। ऐसी पाठशालाएं हर जिले और यहाँ तक कि खंड स्तर पर शुरू करने की योजना टीम अन्ना के स्तर पर होनी चाहिए। भ्रष्टाचार को पूरी तरह दूर करने के लिए एक-एक करके कई अन्य कदम भी उठाने होंगे। अन्ना के राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक अनुभव का लाभ उठाने के लिए अन्ना के सपनों को समझना होगा। राइट टू रिजेक्ट, राइट टू रिकॉल और ग्राम स्वराज को समझना होगा। सूचना के अधिकार से आम आदमी को मजबूती मिली है। लोकपाल से यह और मजबूत होगी। इसके बाद राइट टू रिजेक्ट, राइट टू रिकॉल,ग्राम स्वराज जैसे कानूनों से और मजबूती मिलेगी।

लोकपाल के पास मुख्यत: भ्रष्टाचार के बड़े मामलों से निपटने की जिम्मेदारी होनी चाहिए। । निचली नौकरशाही में व्याप्त भ्रष्टाचार से निपटने के लिए एक प्रभावशाली प्रणाली होनी चाहिए। जनता के सामने एक साफ-सुथरा राजनैतिक विकल्प खड़ा करना होगा। भ्रष्टाचार की समस्या से लड़ने के लिए लोकपाल एक महत्वपूर्ण हथियार है परन्तु सिर्फ एक विधेयक भ्रष्टाचार की समस्या को नहीं मिटा सकता है। समाज में मानवीय मूल्यों के प्रसार और मजबूत इच्छा शक्ति के द्वारा भ्रष्टाचार को निश्चित रूप से मिटाया जा सकता है।

6.2 आगामी शोध अध्ययन हेतु सुझाव

प्रस्तुत अध्ययन समयाभाव एवं सीमित संसाधनों के कारण परिसीमित कर दिया गया है। परन्तु कोई भी अध्ययन जितने प्रश्नों का समाधान करता है उससे कहीं अधिक प्रश्नों को जन्म देता है। अत: शोधकर्ता के अनुभवों के आधार पर आगामी अध्ययन हेतु निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

1. प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधकर्ता ने न्यादर्श के रूप में केवल तीन आंदोलनों को ही लिया है। इसी अध्ययन को बड़ा न्यादर्श लेकर पुनः अध्ययन किया जा सकता है।
2. समय की सीमितता के कारण नागरिक समाज आन्दोलन के अंतर्गत अन्ना हजारे के आन्दोलन का अध्ययन किया गया है। अन्य आन्दोलनों का भी अध्ययन किया जा सकता है।
3. प्रस्तुत शोध अध्ययन के अंतर्गत राजनीति में भ्रष्टाचार को लेकर अध्ययन किया गया है । इससे भ्रष्टाचार- जनित अन्य समस्याओं पर भी अध्ययन किया जा सकता है।
4. प्रस्तुत अध्ययन में भ्रष्टाचार के निवारण के लिए जनलोकपाल पर अध्ययन किया गया है। इस समस्या के निराकरण के लिए अन्य उपायों को लेकर भी अध्ययन किया जा सकता है।
5. प्रस्तुत अध्ययन में नागरिक समाज आन्दोलन द्वारा देश की अन्य समस्याओं जैसे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि का भी अध्ययन किया जा सकता है।

उपसंहार

शोध अध्ययन के उपरान्त निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भ्रष्टाचार भारतीय सार्वजनिक जीवन में व्याप्त है। भ्रष्टाचार के पीछे आज सबसे बड़ा कारण उदारीकरण है, जिसके चलते सरकारों की भूमिका गौण हो गयी है। अकेले लोकपाल और जन लोकपाल बना देने से समस्या का समाधान नहीं है। सिर्फ कानून से ही भ्रष्टाचार मुक्त समाज की कल्पना करना बेमानी है क्योंकि सख्त कानून बना देने भर से परिवर्तन आ जाने की अपेक्षा करना ठीक नहीं होगा। भ्रष्टाचार की जड़ में व्यवस्था सर्वोपरि है और व्यवस्था को बदले बिना हम भ्रष्टाचार से लड़ाई नहीं लड़ सकता। जन आंदोलन मात्र सत्ता परिवर्तन का जरिया बनते जा रहे हैं, बल्कि उनका काम व्यवस्था परिवर्तन होना चाहिए। यह काम जमीनी स्तर पर होना चाहिए जबकि आंदोलनकारी उसके लिए उच्च नेतृत्व पर दबाव डालते हैं इस व्यवस्था में बदलाव के लिए तात्कालिक तौर पर सबसे पहला कदम दोषपूर्ण राजनीतिक दल व्यवस्था और निर्वाचन प्रक्रिया में सुधार लाने का है ताकि भ्रष्ट लोग चुनकर ही न आ सकें। इसके अलावा हमें संसदीय, प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्था में भी बदलाव करने होंगे। भ्रष्टाचार के सवाल का नैतिकता से सीधा संबंध है। भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाई की शुरूआत निचले स्तर से होनी चाहिए। भ्रष्टाचार एक सामाजिक बुराई है तथा उसका कानूनी हल कठिन है गैर सरकारी संगठनों को भ्रष्टाचार के विकल्प स्वरूप स्वयं को प्रस्तुत करना, जागरूकता जैसे कार्यों में अपनी उर्जा खर्च करनी चाहिए। दुनिया में कोई भी आंदोलन महिलाओं के सहयोग के बिना सफल नहीं हुआ, इस बात को गांधीजी ने समझा था। वे जानते थे कि महिलाओं के बिना आजादी अपूर्ण है इसलिए महिलाओं की भागेदारी के बिना आंदोलन अपूर्ण है। हमें उन्हें साझीदार बनाना है, बराबरी का दर्जा देना है तथा उन पर भरोसा करना है स्कूलों में रोजाना नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। विद्यालय स्तर पर संस्कार निर्माण की प्रयोगशालाएं शुरू की जानी चाहिए। ऐसी पाठशालाएं हर जिले और यहाँ तक कि ब्लाक स्तर पर शुरू की जानी चाहिए। बापू ने भी कहा था कि स्वदेशी उद्देश्य की प्राप्ति स्वदेशी संसाधनो से होती है। आंदोलन में लोगों की भागेदारी से लगा देश में एक राजनीतिक विचारधारा का अभाव चल रहा है।

आजादी के दौरान सात बड़ी विचारधारात्मक व्यवस्थाएं देश का भविष्य निर्माण को लेकर आपस में प्रतिस्पर्धा में थी। पहली सबसे बड़ी पार्टी काँग्रेस मिश्रित अर्थव्यवस्था के साथ थी। दूसरी, समाजवादी पार्टी ने राज्य के अधीन उद्योग धंधों वाले मॉडल पर ध्यान दिया। तीसरी, दक्षिणपंथी पार्टी जनसंघ अपने हिंदुत्व वाले एजेंडे के साथ थे। राजगोपालाचारी वाला चौथा समूह मुक्त अर्थव्यवस्था का समर्थन कर रहा था। पाँचवा, कम्युनिस्ट, मार्क्सवादी मॉडल के आधार पर राज्य की रुपरेखा पर बल दे रहे थे। छठा, बाबा साहेब अम्बेडकर के विचारों पर चलकर समतामूलक समाज पर जोर दे रहे थे। सातवाँ, गाँधी के विचारों पर आधारित आत्मनिर्भरता और नैतिकता का समर्थन कर रहे थे। आज देश इन राजनीतिक व्यवस्थाओं में विश्वास रखने वालों और उन्हें नकारने वालों में विभाजित है। इस आंदोलन में वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था की कमियों से रहित कोई मजबूत विचारधारा का अभाव दिखाई दे रहा है।

❑❑❑❑❑

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- कटारिया, एस. (2003). *मानवाधिकार सभ्य समाज एवं पुलिस*. जयपुर : आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स.
- मुखर्जी, एस. एंड रामास्वामी, एस. (2011*). ए हिस्ट्री ऑफ़ पोलिटिकल थोट : प्लेटो टू मार्क्स*. नई दिल्ली : पी. एच. आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटिड.
- ताकविल, ए. डी. (1835). *डेमोक्रेसी इन अमेरिका*. लंदन : सॉन्डर्स एंड ओटले.
- गुप्ता, वी. एस. (2004). *एस्से ऑन सोशल डेवलपमेंट एंड सिविल सोसायटी*. नई दिल्ली : कांसेप्ट पब्लिशिंग कंपनी.
- गाबा, ओ.पी. (2012). *राजनीति विज्ञान विश्वकोष*. नॉएडा : मयूर पेपरबैक्स.
- चंधोक, एन. (1995). *स्टेट एंड सिविल सोसाइटी : एक्सप्लोरेशन इन पोलिटिकल थ्योरी*. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन.
- प्रकाश, ए. (2012*). अन्ना आन्दोलन : संभावनाए और सवाल.*नई दिल्ली : हार्पर कालिंस.
- अरोरा, वी. के. (1984). *राममनोहर लोहिया एंड सोशलिज्म इन इंडिया*. नई दिल्ली : दीप एंड दीप पब्लिकेशन्स.
- सिंह, वी. एन. एंड सिंह, जे. (2016). *भारत में सामाजिक आन्दोलन*. जयपुर:रावत पब्लिकेशन्स.
- सेठ, डी. (2013). *गैर दलीय राजनीति*. प्रतिमान समय समाज संस्कृति (खंड 1, अंक 1).
- मील, एस. (2013). *अन्ना से अरविन्द तक : भ्रष्टाचार मुक्त भारत का सपना* (1.संस्करण.ईडी.). दिल्ली : अनन्य प्रकाश.
- क्लाफाम, सी. (1985). *थर्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स: एन इंट्रोडक्शन*. लन्दन : क्रूम हेल्म.
- भार्गव, आर. एंड आचार्य, ए. (2016). *राजनीति सिद्धांत एक परिचय* (ईडी.). पब्लिशर : पियरसन एजुकेशन इंडिया.
- हाईक, एफ. ए. (1979). *लॉ, लेजिसलेशन एंड लिबर्टी*. लंदन : रोटलेजे. वोल्यू. III.
- कीने, जे. (1998). *सिविल सोसायटी: ओल्ड इमेजेज, न्यूविजन*. कैलीफोर्निया : स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- दाधीच, एन. (2015). *समसामयिक राजनीतिक सिद्धांत*. जयपुर : रावत पब्लिकेशन.
- हैबरमास, जे. (1989). *दा स्ट्रकचरल ट्रांसफारमेशन ऑफ़ दा पब्लिक स्पेयर, पोलिटी*. कम्ब्रिज.
- हीगल, जी. डब्ल्यू. एफ. (1821). *दा फिलोसोफी ऑफ राईट*. कैम्ब्रिज : पब्लिशिंग कंपनी.
- पीयर्सन, के. (2011). *दा मॉडर्न स्टेट*. रोटलेज टेलर एवं फ्रांसिस ग्रुप.
- फर्गुसन, ए. (1767). *एन एस्से ऑन दा हिस्ट्री ऑफ़ सिविल सोसायटी*. एडिनबर्ग : यूनिवर्सिटी

ऑफ़ एडिनबर्ग प्रेस.

- टाकविल, ए. डी. (1835). *डेमोक्रेसी इन अमेरिका*. सैंडर्स एंड ओटले (लंडन).
- ग्राम्शी, ए. (1937). *दा प्रिजन नोट बुक्स*. कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस.
- हेल्ड, डे. (1987). *मॉडल्स ऑफ़ डेमोक्रेसी*. यूके : पोलिटी प्रेस.
- कोहेन, जे. एवं अरेटो, ए. (1992). *सिविल सोसायटी एंड पोलिटिकल थ्योरी*. कैम्ब्रिज : एम आई टी प्रेस.
- हर्स्ट, पी. (1994). *एसोसियटिव डेमोक्रेसी न्यू फॉर्म ऑफ इकोनोमिक एंड सोशियल गवर्नेंस*. यूके : ब्लेकवेल पब्लिशर्स.
- कॉन्फ्रेंस प्रोसीडिंग्स. (2011). दसवां राष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस ऑफ़ नेपासी.
- ड्राइजेक, जे. एस., होनिंग एंड फिलिप्स. (2011). *एन पॉलिटिकल थ्योरी*. ऑक्सफोर्ड : विश्वविद्यालय प्रेस.
- चंधोक, एन. (2003). *दा कन्सीट ऑफ़ सिविल सोसायटी*. नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- महावर, के. (2014). *सिविल सोसाइटी और जन लोकपाल*. जयपुर : आस्था प्रकाशन.
- कविराज, एस. एंड खिलनानी, एस. (2002). *सिविल सोसायटी*. नई दिल्ली : फाउन्डेशन बुक्स.
- सक्थिवेल, पी. एंड मुनावर्जन, एच. (2012). *सिविल सोसायटी रोल इन कोम्बेटिंग करप्शन : ए स्मोल बट रेडिकल आइडिया*. आई. जे. एस. आर. वोल्युम 1. इश्यु 3.
- ग्राम्शी, ए. (2012). *सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार*. (संपादित). नई दिल्ली : ग्रन्थ शिल्पी.
- ग्राम्शी, ए. (2010). *मार्क्सवाद की समस्याएँ*. (संपादित). नई दिल्ली : ग्रन्थ शिल्पी
- जेन्किन्स, एम. (2014). *अन्ना हजारे, लिब्रेलाइज़ेशन एंड दा कैरिअर्स ऑफ़ करप्शन इन मॉडर्न इंडिया : 1974-2011*. ई. पी. डब्ल्यु. वोल्युम XLIX न. 33.
- सिंह, एम. के. (2012). *सिविल सोसायटी करप्शन एंड दा एन.जी.ओ*. नई दिल्ली : सुमित एन्टरप्राइजेज.
- शोर, एल. (2011). *अवर सिविल सोसायटी एज एन इंस्ट्रूमेंट ऑफ़ सोशल चेंज*. ओरिशा रिव्यू.
- केन, जे. (2009). *सिविल सोसायटी, डेफिनेशन एंड अप्रोचेज*. लन्दन, यूके : दा यूनिवर्सिटी ऑफ़ वेस्टमिनिस्टर.
- सिंह, डी. (2011). *रोल ऑफ़ सिविल सोसायटी इन इंडियन डेमोक्रेसी*. www.international seminar.org

- मिश्र, ए. डी. (2012). *गाँधी एक अध्ययन*. डार्लिंग किंडरस्लै (इंडिया) प्रा. लि.
- सिंह, आर. (1995). *गाँधीविचार: दर्शन, धर्म, राजनीति और अर्थनीति*. दिल्ली : मानक पब्लिकेशन्स प्रा. लि.
- दीपक, ओ. एवं मोहन, ए. (2006). *लोहिया एक जीवनी*. बीकानेर : वाग्देवी प्रकाशन.
- केलकर, आई. (1996). *राममनोहर लोहिया*. नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत.
- त्रिपाठी, ए. के. (2015). *समाजवाद, लोहिया और धर्मनिरपेक्षता*. नई दिल्ली : अनामिका पब्लीशर्स एंड डिस्ट्री. प्रा. लिमिटेड.
- मुकुल, के. (2013). *डॉ राममनोहर लोहिया*. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
- मिश्रा, जी. एवं पाण्डेय, वी. (2009). *डॉ राममनोहर लोहिया व्यक्ति और विचार*. नई दिल्ली : जुगनू प्रकाशन.
- जोहरी, जे. सी. (2006). *न्यू काम्परेटिव गवर्नमेंट*. नई दिल्ली : लोटस प्रेस.
- शास्त्री, पी. (1989). *भारत में समाजवादी आन्दोलन नेतृत्व एवं चिंतन के प्रतिमान (डॉ राममनोहर लोहिया के विशेष सन्दर्भ में)*. राज्य शास्त्र समीक्षा. अंक 1-2.
- सिंह, के. के. (2010). *वर्तमान सन्दर्भ में डॉ राममनोहर लोहिया के विचारों की प्रासंगिकता : एक समीक्षा*. शोध समीक्षा और मूल्यांकन. वोल्यूम 2, इश्यु-19.
- केलकर, आई. (2010). *डॉ राममनोहर लोहिया जीवन और दर्शन*. नई दिल्ली : अनामिका पब्लिशर्स.
- श्रीवास्तव, एस. (2002). *लोकनायक जयप्रकाश नारायण*. नई दिल्ली : सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार.
- रघुवंश, (1975). *जयप्रकाश नारायण के विचार*. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.
- राधाकृष्ण, (1994). महात्मा *गाँधी एवं जयप्रकाश नारायण के चिंतन में समाजवाद*. राज्य शास्त्र समीक्षा, अंक 1-2.
- शाह, के. (2010). *जयप्रकाश की जीवन यात्रा*. वाराणसी : सर्वसेवा संघ प्रकाशन.
- राजगढ़िया, वी. एवं केजरीवाल, ए. (2007). *सूचना का अधिकार*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
- रॉय, ए. (2018). *आर.टी.आई. कैसे आई !* नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन प्रा.ली.
- मेहता, सी.एस. (2011). *सूचना का अधिकार*. जयपुर : यूनीक ट्रेडर्स.
- कलाम, ए. पी. जे. अब्दुल (2006). *सूचना के अधिकार में राष्ट्रीय ई-शासन ग्रिड*. नई दिल्ली : सूचना के राष्ट्रीय सम्मलेन के उद्घाटन भाषण.

- सिंह, एम. (2006). *सूचना का अधिकार: सही स्वराज्य का बापू का सपना साकार*. नई दिल्ली : सूचना के अधिकार के राष्ट्रीय सम्मलेन का समापन भाषण.
- रॉय, ए., सिंह, एस. एवं डे, एन. (2006). *सूचना के अधिकार की लड़ाई*. योजना, जनवरी, 2006.
- ठाकुर, पी. एवं राणा, पी. (2012). *जननायक अन्ना हजारे*. नई दिल्ली : प्रभात पेपरबैक्स.
- भाटिया, एस. (2012). *क्रांतिदूत अन्ना हजारे*. नई दिल्ली : डायमंड पाकेट बुक्स.
- भारद्वाज, आर. (2012). *गाँधी और अन्ना के बीच का फासला (सं.)*. नई दिल्ली : अनामिका पब्लिशर्स.
- त्रिपाठी,वी. (2012). *आधुनिक गाँधी अन्ना हजारे*.दिल्ली : आर्या पब्लिकेशंस.
- द्विवेदी, ए. एम. (2015). *अद्भुत व्यक्तित्व अरविन्द केजरीवाल*. नई दिल्ली : डायमंड पाकेट बुक्स प्रा.लि.
- शर्मा, एम. (2012). *जानिए जनलोकपाल बिल को*. नई दिल्ली : विद्या विहार.
- आशुतोष (2012). *अन्ना क्रांति*. नई दिल्ली : प्रभात पेपर बैक्स
- केजरीवाल, ए. (2012). *स्वराज*. नोयडा : हार्पर कालिंस पब्लिशर्स इंडिया.
- मित्रा, अमित, *'सिविल सोसायटी, ग्लोबलाइजेशन एन्ड सस्टेनेबल डेवेलपमेंट'*, http://www.indiaseminar.com-2001/507, 27 नवम्बर, 2001.
- ड्युमो, एल. (1986). *ऐसेज ऑन इंडिविजुअलिज्म : मॉडर्न आइडियोलॉजी इन एंथ्रोपोलोजिकल पर्सपेक्टिव*. शिकागो : यूनिवेर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस.
- भार्गव, आर. एंड हेलमुट, आर. (सं.) (2005). *सिविल सोसायटी, पब्लिक स्फीयर एंड सिटिजनशिप*. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स.
- गुप्ता, वी. एस. (2004). *कम्यूनिकेशन, डेवलपमेंट एंड सिविल सोसायटी, ऐसेज ऑन सोशल डेवलपमेंट एंड सिविल सोसायटी*. न्यू देहली: कान्सैप्ट पब्लिशिंग कंपनी.
- टेलर, चार्ल्स, *'मोड्स ऑफ सिविल सोसायटी' संकलित, केरोलिन एम. इलियट (सं.) (2003)*. सिविल सोसायटी एंड डेमोक्रेसी: आ रीडर. नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- वॉन गीर्क, ओटो. (1987). *पॉलिटिकल थियरिज ऑफ़ द मिडिल ऐज*. कैम्ब्रिज एंड न्यूयार्क : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
- लॉक, जे. (2002). *द सेकेंड ट्रीटिस ऑफ़ गवर्मेंट*. न्यूयार्क : डूवर पब्लिकेशन.
- कोसलेक, आर. (1988). *क्रिटिक एंड क्राइसिस : एनलाइटेनमेंट एंड द पैथोजेनेसिस ऑफ मॉडर्न सोसायटी*. ऑक्सफ़ोर्ड एंड न्यूयार्क : बर्ग.

- फेमिया, जोसेफ, *'सिविल सोसायटी एंड द मार्क्सिस्ट ट्रेडिशन'*, संकलित, सुदीप्त कविराज और सुनील खिलनानी (सं.) (2001). सिविल सोसायटी: हिस्ट्री एंड पासिबिलिटीज. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
- कविराज, सुदीप्त, *'इन सर्च ऑफ सिविल सोसायटी', संकलित*, सुदीप्त कविराज और सुनील खिलनानी (सं.) (2001). सिविल सोसायटी: हिस्ट्री एंड पासिबिलिटीज. कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटीज प्रेस.
- खिलनानी, एस. (2001). *'द डवलपमेंट ऑफ सिविल सोसायटी', संकलित, सुदीप्त कविराज एंड सुनील खिलनानी (सं.) (2001)*. सिविल सोसायटी : हिस्ट्री एंड पॉसिबिलिटीज. कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
- रुडोल्फ एंड रुडोल्फ. (1967). *मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडिशन : पोलिटिकल डेवलपमेंट इन इंडिया*. शिकागो : द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस.
- चंधोक, एन. 'द "सिविल" एंड "पोलिटिकल" इन सिविल सोसायटी', केरोलिन एम. इलियट (सं). (2003). *सिविल सोसायटी एंड डेमोक्रेसी : अ रीडर*. नई दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सेलिगमैन, एडम बी. (1992). द *आइडिया ऑफ़ सिविल सोसायटी*. प्रिंसटन : प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सेंटर फॉर सिविल सोसायटी :लन्दन स्कूल ऑफ़ इकोनॉमिक्स.
- एडवर्ड्स, एम. (सं.) (2011). द *ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ सिविल सोसायटी*. यूएसए : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- एहरेन्बेर्ग, जे. (1999). *सिविल सोसायटी : द क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन आइडिया*. न्यू यॉर्क : न्यू यॉर्क यूनिवर्सिटी प्रेस.
- व्हतेस, ए. (1998). *एनजीओ, सिविल सोसायटी एंड दा स्टेट: आवोयडिंग थ्योर्टिकल एक्सट्रीमस इन रियल वर्ल्ड इश्यू. ड्व्लपमेंट इन प्रक्टिस. वोल्यू.* 8(3) 3 अगस्त. पब्लिशर्स : टेलर्स एंड फ्रांसिस.
- अलमंड, जी. ए. एवं वर्बा, एस. (1989). द *सिविक कल्चर : पोलिटिकल एटिट्यूड एंड डेमोक्रेसी इन फाइव नेशंस*. पब्लिशर : सेज पब्लिकेशन.
- पुतनाम, आर. (2000). *बोलिंग अलोन; द कोलैप्स एंड रिवाइवल ऑफ अमेरिकन कम्यूनिटी*. न्यू यॉर्क : साइमन एंड स्चूस्टर.
- डन, जे. (1979). *वेस्टर्न पोलिटिकल थ्योरी इन दा फेस ऑफ दा फ्यूचर*. संकलित गुडी, जे. हाथोर्न. पब्लिशर : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
- अवस्थी एवं माहेश्वरी. (2012). *दा पब्लिक एड्मिनिसट्रेशन*. आगरा : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पब्लिकेशन.
- '*भारत में सिविल सोसायटी*'. सिविल सर्विसेज क्रोनिकल, अक्टूबर, 2011.

- पेरलास, एन. (2019). *शेपिंग ग्लोबलाइजेशन - सिविल सोसायटी, कलचरल पावर एंड थ्री फोल्डिंग.* फिलीपींस : टैम्पल लॉज.
- कीन, जॉन (सं.) (1988). *डेमोक्रेसी एंड सिविल सोसायटी.* लंदन : वर्सो.
- कुमार, के. (1993). *सिविल सोसायटी : एन इंक्वायरी इन टू द यूजफुलनेस ऑफ एन हिस्टोरिकल टर्म.* ब्रिटिश जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी.
- डी ताकविल, एलेक्सिस, (1956). *डेमोक्रेसी इन अमेरिका* (खंड 1 और 2,संपादक रिचर्ड डी. हेफनर). न्यूयार्क : मेनटर बुक्स, न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी.
- लॉक, जे. (1689). *एन एस्से कनसर्निंग ह्यूमाना अंडरस्टैंडिंग.* फिलाडेल्फिया : हेज एन्ड जेल पब्लिशर्स.
- लॉक, जे. (1988). *टू ट्रिटाइजेज ऑफ़ गवर्नमेंट.* कैंब्रिज : कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस
- पैन, थामस (1791). *दा राइट ऑफ मैन.* लन्दन : प्रिंटेड फॉर जे. एस. जॉर्डन.
- गेल्नर, ए. (1994). *कंडिशन ऑफ़ लिबर्टी : सिविल सोसायटी एंड इट्स राइवल्स.* पेंग्विन प्रेस.
- हॉल, जे. ए. (1995). *सिविल सोसायटी थ्योरी, हिस्ट्री.* कम्पेरिजन. ऑक्सफ़ोर्ड यूके : ब्लेक व्हेल पब्लिशर्स.
- शिल्ज, ई. (सं.) (1991). *दा वर्च्यू ऑफ़ सिविल सोसायटी.* गवर्नमेंट एंड अपोजिशन, वोल्यू. 26, इस्यु 1.
- 'अराजकता से बचना होगा'. राजस्थान पत्रिका, अगस्त, 2011.
- 'सिविल सोसायटी'. सिविल सर्विसेज क्रोनिकल, सितम्बर, 2011.
- 'आर या पार का संघर्ष'. राजस्थान पत्रिका, अक्टूम्बर, 2011.
- 'कुछ अच्छा, कुछ बुरा भी'. राजस्थान पत्रिका, अगस्त, 2011.
- चंधोक, एन. (2009). *सिविल सोसायटी इन कंफ्लिक्ट सिटीज.* इकोनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, अक्टूबर 31.
- गुप्ता, डी. (1997). *सिविल सोसायटी इन दा इंडियन कोनटेक्स्ट : लेटिंग दा स्टेट ऑफ़ दा हुक.* कनटेम्परेरी सोशलोजी वोल्यू. 26/3 (मई).
- महाजन, जी. (1999). *सिविल सोसायटी एन्ड इट्स अवतार्स : व्हाट हेपंड एंड डेमोक्रेसी?* ई. पी. डब्लू., मई, 15.
- बेहेर, ए., एंड ए. प्रकाश (2004). "इंडिया : एक्स्पन्डिंग एंड कोनट्रकटिंग डेमोक्रेटिक स्पेस," इन एम. अलगप्पा (ईडी.) *सिविल सोसायटी एन्ड पोलिटिकल चेंज इन एशिया:एक्स्पन्डिंग एन्ड कोनट्रकटिंग डेमोक्रेटिक स्पेस.* स्टेनफोर्ड, केलिफोर्निया : स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

- जायल, एन. (2007). "दा रोल ऑफ़ सिविल सोसायटी," इन एस.गांगुली,एल.डायमंड,एन्ड एम.प्लेटनर (ईडी.) *दा स्टेट ऑफ़ इंडियाज डेमोक्रेसी*. बाल्टीमोर : जॉन हॉपकिंस प्रेस.
- शेठ, डी. एल. (1983). "*ग्रास रूट स्टेयरिंग्स एंड दा फ्यूचर ऑफ़ पॉलिटिक्स*." अल्टरनेटिव्स, वोल्यू. 9 (1).
- कोठारी, आर. (1988). *स्टेट अगेंस्ट डेमोक्रेसी* : इन सर्च ऑफ़ ह्यूमेन गवर्नेंस. देहली : अजंता पब्लिकेशंस.
- प्रतिमान समय समाज संस्कृति. प्रवेशांक : जनवरी - जून, 2013 (वर्ष 1, खण्ड 1, अंक 1)
- शेठ, डी. एल. (2004). *ग्लोबलाइजेशन एंड न्यू पॉलिटिक्स ऑफ़ माइक्रो - मूवमेंट्स*. ई पी डब्लू. जनवरी 1.
- पी. आर. आई. ए. (पार्टिसिपेटरी रिसर्च इन एशिया). (2003). *इनविजिबल येट वाइडस्प्रेड : दा नॉन-प्रॉफिट सेक्टर इन इंडिया*. न्यू डेल्ही : पी.आर.आई.ए.
- विजय श्री (2011), *'भारत में सिविल सोसायटी की अवधारणा एवं भूमिका'* राज – यष्टि, वोल्यू. 4, अंक 1 (जनवरी - मार्च).
- ताकविल, ए. (2000). *डेमोक्रेसी इन अमेरिका*. ट्रांसलेट एंड इडी. एच. मैनफील्ड एंड डी. विन्थ्रोप. शिकागो : यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस.
- चंधोक, एन. (2007). "डेमोक्रेसी एंड वेल - बीइंग इन इंडिया," इन वाई. बंगूरा (इडी.) *डेमोक्रेसी एंड सोशियल पॉलिसी*. बासींगस्टॉक : पलग्रेव मैकमिलन.
- WIEGO (वुमेन इन इनफॉर्मल एम्प्लोयमेंट ग्लोब्लायजिंग एंड और्गाईजिंग)
- बेटली, ए. (1999). "*सिटिजनशिप स्टेट एंड सिविल सोसायटी*." इकोनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली. सितम्बर 4 – 10.
- रुडोल्फ, एस. (2000). *"सिविल सोसायटी एंड दा रैल्म ऑफ फ्रीडम."* अकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, मई 13.
- ओमेन, टी. के. (2004). *नेशन, सिविल सोसायटी एंड सोशियल मूवमेंटस*. न्यू डेल्ही : सेज 1.
- वार्ष्णेय, ए. (2002). *एथनिक कोंफ्लिकट एंड सिविक लाइफ : हिन्दूज एंड मुस्लिम्स इन इंडिया*. न्यू हेवन, कोनन. : येले यूनिवर्सिटी प्रेस.
- ओमेन, टी. के. (2008). *रिकोंसिलियसन इन पोस्ट - गोदरा गुजरात*. न्यू डेल्ही : पियर्सन लोंगमन.
- अलगप्पा, मुतियाह (इडी.) (2004). *सिविल सोसायटी एंड पोलिटिकल चेंज इन एशिया*. स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

- चटर्जी, पी. (2001). "ऑन सिविल एंड पोलिटिकल सोसायटी इन पोस्ट - कोलोनियल डेमोक्रेसीज," इन एस. कविराज एंड एस. खिलनानी *(ईडीएस.) सिविल सोसायटी : हिस्ट्री एंड पोसीबिलिटीज.* कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
- बर्धन, पी. (2009). "नोट्स ऑन दा पोलिटिकल इकोनमी ऑफ इंडिया'ज टोर्टुअस ट्रांजिसन." *अकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली* 5 दिसंबर.
- कोल्हो, के., एंड टी. वेंकट. (2009). "द पॉलिटिक्स ऑफ सिविल सोसायटी : निबाहुड असोसियनिजम इन चेन्नई." *अकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, जून 27.
- पोन्ना, वी. (सम्पादक) (1993). *न्यू सोशल मूवमेंट इन द साउथ : एमपावरिंग द पीपल.* नई दिल्ली : विस्तार पब्लिकेशन्स.
- फूच, मौटीन एंड अन्तजे, लिंकेंवेच (2003). *'सोशल मूवमेंट्स' विना दास (इडी.)* न्यू देहली: ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- मकसूद, सी. (1969). "*लोहिया,*" मैनकाइंड, वोल्यूम X111.
- कारंथ, के.एस. (1968). *मेमोइर्स ऑफ डॉ लोहिया*. मैनकाइंड, वोल्यु. X11: 2.
- *मैनकाइंड*, वोल्यू. X: 8 (जन. - फरवरी, 1967).
- अरोड़ा, वी. के. (1984). *राममनोहर लोहिया एंड सोशलिज्म इन इंडिया.* नई दिल्ली : दीप एंड दीप पब्लिकेशन.
- शरद, ओ. (1967). "*लोहिया*", अलाहाबाद : राजरंजना प्रकाशन.
- लोहिया, आर. एम. (1965). " *लोहिया, एन एपिसोड इन योगा", आर्टिकल इन इंटरवल डूरिंग पोलिटिक्स*. हैदराबाद : नवहिन्द.
- लोहिया, आर. एम. (1969). *समाजवादी आन्दोलन का इतिहास.* हैदराबाद : आर एम एल एस वी एन.
- लोहिया, आर.एम. (1963). *"इंडिया, चायना एंड नॉर्दन फ्रंटियर"*. हैदराबाद : नवहिन्द.
- लोहिया, आर. एम. (1970). *"भारत विभाजन के अपराधी"*. हैदराबाद : आर एम एल एस वी एन. पृ. 6-7
- *मैनकाइंड*. (जून, 1967). वोल्यु XI : 4 (जून, 1967).
- *मैनकाइंड*. वोल्यू. XII : 2 (मार्च- अप्रैल, 1968).
- पुरी, आर. *"विदाउट लोहिया"*. वीकण्ड रिव्यू, अक्टूबर 21, 1967.
- सेन, एस. (1968). *लोहिया, "माई फ्रेंड"*. मैनकाइन्ड, वोल्यु. XII : 2, (मार्च - अप्रैल).
- लोहिया. (1963). *"मार्क्स, गाँधी एंड सोशलिज्म"*. हैदराबाद : नवहिन्द.

- तेंदुलकर, डी. जी. (1954). *"महात्मा : लाइफ ऑफ़ मोहनदास कर्मचन्द गाँधी"*. वोल्यु. 8.
- दीपक, ओ. पी. *"डेवलपमेंट ऑफ लोहियाज़ थोट्स"*. मैनकाइंड, वोल्यू. XIX : 2 (मार्च - अप्रैल, 1968).
- लोहिया, आर. एम. (1956). *"दा विल टू पावर"*. हैदराबाद : नवहिन्द.
- लोहिया (1951). *"फ्रेगमेंट ऑफ अ वल्ड माइन्ड"*. कलकत्ता : मैत्रायनी.
- रिपोर्ट ऑफ द स्पेशल कोन्वेंशन ऑफ द पी एस पी. नागपुर, नवम्बर 26 - 29, 1954.
- लोहिया (1961). *"लोहिया एंड अमेरिका मीट"*, मद्रास .
- लोहिया इंटरव्यू बाई होफ़मेन ऑन अक्तूबर 27, 1961, एट एथेंस. *मैनकाइंड*, वोल्यू. XII: 2, मार्च - अप्रैल, 1968.
- शरद ओंकार (संपादक). (1969). *"लोहिया के विचार"*. इलाहाबाद : लोकभारती.
- "हिंदुस्तान समाचार वार्षिकी (हिन्दी)", न्यू देहली, 1972.
- "स्टेट्समेन ईयर बुक ; 1971 - 72". लंदन : मैकमिलन.
- सम्पूर्णानन्द (1962). *"मेमोइर्स एंड रिफलेकसंस"*.
- लोहिया. (1959). हैदराबाद : रिपोर्टेड बाई प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया.
- लोहिया. (1964). *"दा कास्ट सिस्टम"*. हैदराबाद : नवहिन्द.
- लोहिया. (1965). *"इंटरवल डूररिंग पोलिटिक्स"*. हैदराबाद : नवहिन्द.
- लोहिया. (1955). *"व्हील आफ हिस्ट्री"*. हैदराबाद : नवहिन्द.
- *मैनकाइंड* (नवम्बर, 1966), वोल्यु. X : 6.
- नेहरू, जे. एल. (1961). *"इंडियाज फ़ॉरेन पॉलिसी"*. न्यू देहली : पब्लिकेशन डिवीजन.
- केलकर, आई. (1963). *लोहिया, सिद्धांत और कर्म*. हैदराबाद : नवहिन्द.
- लखनपाल, पी. एल. (1946). *"हिस्ट्री ऑफ दा काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी"*. लाहौर : नेशनल पब्लिशर्स एंड स्टेसनर्श.
- पर्क, आर. एल. एंड तिंकर, आइ. (इडी.) (1959). *लीडरशिप एंड पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन इन इंडिया*. प्रिंसटन : एन. जे.
- मसानी, एम. आर. (1954). *दा कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया*. लंदन : डेरेक वर्स्चाइल.
- रोज, एस. (1959). *सोशलिज्म इन साउथर्न एशिया*. रॉयल इंस्टीट्यूट ऑफ इंटरनेशनल अफेयर्श. लंदन : ऑक्सफोर्ड.

- "*जनता*", वोल्यू. XXIII : 37- 38 (अक्टूबर 13- 20, 1968).
- लोहिया. (1969). *समाजवादी आंदोलन का इतिहास*. हैदराबाद : आर एम एल एस वी एन.
- "सोशलिस्ट पार्टी न्यू ओरिएंटेशन", *जनता*, II (मार्च 9, 1947).
- "रिपोर्ट ऑफ दा थर्ड नेशनल कॉन्फ्रेंस ऑफ दा पीएसपी, बैंगलोर, 1956."
- राजकुमार, एन. वी. (1949). डवलपमेंट ऑफ दा काँग्रेस कान्सट्यूशन. न्यू देहली : एआइसीसी.
- आचार्य, एन. देव. (1949). *राष्ट्रियता और समाजवाद*. वाराणसी : वाराणसी ज्ञान मंडल.
- दस्तूर, ए. जे. "ट्वेंटी फाइव इयर्स ऑफ इंडियन सोशलिजम", *इंडिया क्वाटरली*, अप्रैल – जून 1960.
- दीपक, ओ. पी. "प्रजा सोशलिस्ट पार्टी: दुविधा का इतिहास", साप्ताहिक दिनमान (हिन्दी), सितंबर 13, 1970.
- "स्टेटमेंट ऑफ प्रिंसिपल्स एंड प्रोग्राम्स", सोशलिस्ट पार्टी. हैदराबाद , 1956.
- श्रीवास्तव, एस. (2002). *लोकनायक जयप्रकाश नारायण*. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग.
- एलन एंड स्कार्फ, डब्लू. (1975). *जे.पी.हिज बायोग्राफी*. न्यू देहली : ओरियन्ट लॉन्गमेन पब्लिकेशन.
- युसुफ मेहरअली (1942). *लीडर्स ऑफ इंडिया* वोल्यू. II. बॉम्बे : पदमा पब्लिकेशन लिमिटेड.
- किशोर, पी. (2011). *लोकनायक जयप्रकाश नारायण*. दिल्ली : सतसाहित्य प्रकाशन.
- सिंह, पी. (2016). *सम्पूर्ण क्रांति के सूत्रधार लोकनायक जयप्रकाश नारायण*. नई दिल्ली : ओमेगा पब्लिकेशन्स.
- नारायण, जे. पी. (1954). *हमारी भूमि समस्या का हल*. वर्धा : अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन.
- नारायण, जे.पी. (2012). *सम्पूर्ण क्रांति की खोज में मेरी विचार यात्रा वोल्यु.1*. राजघाट वाराणसी : सर्व सेवा संघ-प्रकाशन.
- नारायण, जे.पी. (2015). *सम्पूर्ण क्रांति*. राजघाट वाराणसी : सर्व सेवा संघ प्रकाशन.
- सिंह, वी. एन. एंड सिंह, जे. (2016). *भारत में सामाजिक आन्दोलन*. जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स.
- दासगुप्ता, एन. (1997). *दा सोशियल एंड पोलिटिकल थियोरी ऑफ़ जयप्रकाश नारायण*. न्यू डेल्ही : साऊथ एशिया पब्लिशर्स.
- गांगुली, बी. एन. (1973). *गांधीज सोशियल फिलोसफी*. न्यू डेल्ही : विकास.
- टंडन, वी. (1981). *सेल्क्शन फ्रोम विनोबा*. वाराणसी : सर्व सेवा संघ प्रकाशन.
- ओस्टेगार्ड, जी. (1985). *नॉन वायलेंट रिवोल्यूशन इन इंडिया*. न्यू डेल्ही : गाँधी पीस फाउंडेशन.

- नारायण, जे. (1977). *प्रिजन डायरी*. बॉम्बे : पापुलर प्रकाशन.
- दास, एस. (इडी.) (2005). *रबिन्द्रनाथ भट्टाचार्य, "सोशिअल केपिटल थ्रू पार्टिसिपेट्री डेमोक्रेसी"*. न्यू डेल्ही : मित्तल पब्लिकेशंस.
- ब्रह्म्हानंद (इडी.) (1978). *नारायण, जयप्रकाश, टोटल रिवोल्यूशन : सम किरेलिफिकेशन्स*. बॉम्बे: पोपुलर प्रकाशन.
- प्रसाद, बी. (इडी.) (1980). *अरिवोलुशनरीज क्वेस्ट : सेलेक्टेड राइटिंगस ऑफ़ जयप्रकाश नारायण*. न्यू डेल्ही : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- दास, एस. (इडी.) (2005). *जयप्रकाश नारायण-असेंटेनरी वॉल्यूम.जयप्रकाश नारायण, "क्लास आर्गेनाइजेशन, क्लास स्ट्रगल एंड सोशल चेंज"*. न्यू डेल्ही : मित्तल पब्लिकेशन्स.
- सिंह, वी. एन.(1991). *भारतीय सामाजिक चिंतन. इंडियन अकेडमी ऑफ सोशियल साइंस.*
- अली, वाई. एम.(एडी.) (1963). *जय प्रकाश नारायण एंड हिज लाइफ एंड थोट.*
- महादेवन, टी.के. (1975). *जे.पी. एंड दा फ्यूचर ऑफ डेमोक्रेसी*. ई. डब्ल्यू.पी.
- मसानी, एम. (1975). *इज जे.पी.दा आंसर*. न्यू देहली : मैकमिलन कोम.
- प्रकाश, जे. (1975). *रिबेल एक्स्ट्रा आर्डिनरी*. न्यू देहली : बुक कम्पनी.
- हेंएमन्न, ए. (1977). *जे.पी 'ज जेल लाइफ*. न्यू देहली : ए.एच. पब्लिशर्स.
- सूर्यानारायण, एच. जी. (1977). *जय प्रकाश नारायण*. बैंगलोर : आर.यू.बी.एच.प्रकाशन.
- नार्गोलकर, वी. (1977). *जे. पी. विंडीकेटेड*. न्यू डेल्ही : एस.चाँद एंड कम्पनी.
- घुर्ये, जी. एस. (1978). *इडिया रिक्रेट्स डेमोक्रेसी*. बॉम्बे : पोपुलर प्रकाशन.
- गुप्ता, आर. (1981). *जे. पी. फ्रॉम मार्कशिज्म टू टोटल रिवोल्यूशन*. न्यू देहली : स्टर्लिंग पब्लिशिंग प्राइवेट लिमिटेड.
- प्रसाद, वी. (1985). *गाँधी, नेहरु एंड जे.पी. : स्टडीज इन लीडरशिप*. न्यू डेल्ही : चाणक्या पब्लिकेशन.
- सब्रतो, एल. राज. (1986). *टोटल रिवोल्यूशन*. मद्रास : सत्य निलयम पब्लिकेशन.
- बजवा, डी. के. (1987). *जयप्रकाश नारायण एंड इडियन पोलिटिक्स*. दीप एंड दीप पब्लिकेशन.
- द्विवेदी, आर. एन. (1989). *ग्लिम्प्सेस ऑफ दा जे.पी.मूवमेंट*. वाराणसी : विजय प्रकाशन मंदिर.
- सिन्हा, बी. एन. (1993). *जे.पी. 'ज मूवमेंट*. पटना : जय श्री प्रकाशन.
- ग्रोवर, वी. (एडी.) (1998). *जय प्रकाश नारायण-ए बायोग्राफी ऑफ हिज विजन एंड आइडियाज*. न्यू डेल्ही : दीप एंड दीप पब्लिकेशन.

- *जय प्रकाश नारायण- हिज सोसियोलिस्टिक आइडियोलोजी*, एस. आर. बक्शी.
- कृष्ण, वी. आर. (1990). अययन *फ्रीडम ऑफ़ इनफार्मेशन*. लखनऊ : इस्टर्न बुक कंपनी.
- ओझा, ए. के. एंड मंगलानी, आर. (2008). *सूचना का अधिकार सिद्धांत एवं व्यवहार*. सेंटर फॉर गुड गवर्नेंस. जयपुर : ओटीएस.
- जैन, आर एंड गुर्जर, एन. एल. (2006). *सूचना का अधिकार अपेक्षाए एवं चुनौतियां*. जयपुर : सब लाईम पब्लिकेशन्स.
- पाण्डेय, ए. (2000). *हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
- भट्टाचार्जी, ए. एनसीपीआरआई के संस्थापक सदस्य.
- रॉय, ए. (2018). *आर टी आइ कैसे आई*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
- एमकेएसएस डायरी.
- *डिलीवरी सिस्टम ऑफ़ पावर्टी अलिवियसन प्रोग्राम फॉर रूरल पुअर*-1991.
- संचित रॉय बनाम राजस्थान सरकार 1983 AIR 328;1983 SCR(2)271,1983 SCC(1) 525 1983 scale(1)38 फैसले का दिन 20/1/1983
- *जानने के अधिकार, जीने के अधिकार, सूचना के अधिकार पर अभियान* निर्माण में एमकेएसएस की डायरी और न्यू टैक्टिक्स इन ह्यूमन राइट्स में सौम्या किदम्बी...
- नीलाभ मिश्र (2003) : द *राइट टू इन्फोर्मेशन डिसकोर्स इन इंडिया*. नई दिल्ली : यूएनडीपी
- द प्रॉब्लम सेमिनार, जुलाई, 2004.
- बी. वी. नारायण रेड्डी मेमोरियल लेक्चर, 1 फरवरी, 2000.
- एशियन कॉलेज ऑफ़ जर्नलिज्म, अरुणा रॉय, 1995.
- द *राइट टू नो, द राइट टू लिव*.
- ब्यावर में निखिल चक्रवर्ती का भाषण, 1996.
- मेधा पाटकर, *नर्मदा बचाओ आन्दोलन*, दैनिक नवज्योति, 22 अप्रैल, 1996.
- ओझा, ए. के. एवं मंगलानी, आर. (2008). *सूचना का अधिकार सिद्धांत एवं व्यवहार*. सेंटर फॉर गुड गवर्नेंस जयपुर : आर आई पी ए.
- राजस्थान सुजस, सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, अक्टूबर – नवंबर, 2000 जयपुर.
- उजाला छड़ी, 10 मई, 2000.
- राजस्थान सूचना का अधिकार अधिनियम, 2000.

- *चेजिंग ए राइट*, फ्रंटलाइन : अरुणा रॉय एंड निखिल डे, अप्रैल, 2002.
- http:/www.annahazare.org
- http:/indiaagainstcorruption.org
- आशुतोष (2012). *अन्ना क्रांति*. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
- रिजवी, ए. (2012). *राष्ट्र नायक अन्ना हजारे*. मेरठ : तुलसी साहित्य पब्लिकेशन्स.
- रघुवंशी, सी. एस. (1995). *सिचाई प्रणाली का प्रबंध और संगठन*. नई दिल्ली : एटलांटिक.
- ठाकुर, पी. एवं राणा, पी. (2012). *जननायक अन्ना हजारे*. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
- त्रिपाठी, वी. (2012). *आधुनिक गाँधी अन्ना हजारे*. नई दिल्ली : आर्या पब्लीकेशंस.
- राजगोपालाचारी, सी. (2014). *हाऊ टू सेव इंडियन डेमोक्रेसी फ्रॉम मनी पॉवर*. नई दिल्ली : ओरिएंट ब्लेकस्वान प्रा.लि.
- विट्टल, एन. (2003). *करप्शन इन इंडिया*. नई दिल्ली : एकेडेमिक फाउंडेशन.
- गुप्ते, पी. (1992). *मदर इंडिया : पोलिटिकल बायोग्राफी ऑफ़ इंदिरा*. पेंग्विन बुक्स.
- चंद्रा, बि. (2000). *इंडिया आफ्टर इंडिपेंडेन्स : 1947-2000*. पेग्विन बुक्स.
- "*अन्ना अनाउंसेज फास्ट*", द हिन्दुस्तान टाइम्स, 5 अप्रेल, 2011.
- वैबसाइट बिज़नस न्यूज पेपर, द मिंट, 7 अप्रेल, 2011.
- "टीम अन्ना'ज कोर कमेटी मीट", टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 10 सितम्बर, 2011.
- फिशर, एल. (2010). *द लाइफ ऑफ़ महात्मा गाँधी*. न्यू यॉर्क : न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी.
- आई. बी. एन. 7 न्यूज़ चैनल.
- " अन्ना हजारे'ज फास्ट कुंट्यूनिज फॉर दा सिक्स्थ डे", द हिन्दू, 21 अगस्त, 2011.
- "राहुल स्ट्राइक्स विद वन स्पीच एंड थ्री स्टोन्स", द टेलीग्राफ, 27 अगस्त, 2011.
- "टीम अन्ना मीट्स सिंघवी सीक्स क्लरिटी ऑन टाइम लाइन", द हिन्दू, 31 अगस्त, 2011.
- "अ न्यू नॉर्मल?", इंडियन एक्सप्रेस, 5 सितम्बर, 2011.
- बी.जी.वर्गीज (वरिष्ट पत्रकार), नई दुनिया, 31 अगस्त, 2011.
- फ्रैंक, के. (2007). *इंदिरा : द लाइफ ऑफ़ इंदिरा नेहरु गाँधी*. हार्पर पेरेनियल.
- सेलबोर्न, डे. (1977). *एन आइ टु इंडिया : दा अनमासकिंग ऑफ ए टायरनी*. पब्लिशर : पैंगविन.
- "दा लॉन्ग शडो ऑफ दा रामलीला स्टेज", इंडियन एक्सप्रेस, 7 सितम्बर, 2011

- "हाउ दा टाइम्स ऑफ इंडिया पंपड अप टीम अन्ना", हिंदुस्तान टाइम्स, 31 अगस्त, 2011.
- "अरुणा रॉय प्रिंसिपल्स, कंबाइंड विद अन्ना डिजायर, गवर्नमेंट डिजायर केन गिव अस वंडरफुल बिल", इंडियन एक्सप्रेस, 2 सितम्बर, 2011.
- सुनील खिलनानी(प्रख्यात शिक्षाविद), टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 27 अगस्त, 2011.
- "मुस्लिम्स शुड स्टे अवे : बुखारी", टाइम्स ऑफ इंडिया, 22 अगस्त, 2011.
- "अ डिफ्रेंशियल कैल्कुलस", हिंदुस्तान टाइम्स, 23 अगस्त, 2011.
- "अन्ना हजारे एंड इमाम बुखारी ऑफ जामा मस्जिद एनालिसिस", यूरेशिया रिव्यू, 23 सितम्बर, 2011.
- www.milligazette.com,27अगस्त,2011.
- शकील अहमद(कांग्रेस प्रवक्ता), हिंदुस्तान टाइम्स, 7 सितम्बर, 2011.
- "फ्रूट्स ऑफ पब्लिक ऐंगर", द टेलीग्राफ, 4 सितम्बर, 2011.
- न्यूयार्क टाइम्स, 28 अगस्त, 2011.
- "हजारे क्राइसिस: एरर ऑफ जजमेंट हैव बीन मेड", टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 13 सितम्बर, 2011.
- " दा बेविल्डेरिंग सागा ऑफ अन्ना हजारे", इंडियन एक्सप्रेस, 28 अगस्त, 2011.
- चंद्रा, बी. (2003). *इन द नेम ऑफ डेमोक्रेसी : जे.पी.मूवमेंट एंड द इमरजेंसी*.इंडिया : पेंगुइन रैंडम हाउस.
- गुहा,आर.(2007). *इंडिया आफ्टर गाँधी: द हिस्टरी ऑफ द वर्ल्डस लार्जेस्ट डेमोक्रेसी*. मैकमिलन.
- सी. एन. एन. - आई. बी. एन., 13 सितम्बर, 2011.
- "विंग इट विद दा बटरफ्लाइज़", आउटलुक, 31 अक्टूबर, 2011.
- www.timeanddate.com, टाइम, 1-8 अगस्त, 2011.
- मिंट, 29 सितम्बर, 2011.
- टाइम, 31 अक्टूबर, 2011.
- मेरी पुलिस, मेल टुडे, 27 नवम्बर, 2011.
- "नो पर्सनल गेन फ्रोम इन्फ़्लटेड एयर ट्रैवल बिल : किरण बेदी", लाइवमिंट, 20 अक्टूबर, 2011.
- "टीम अन्ना हैज डेवियटेड फ्रोम गोल ऑफ फाइटिंग करप्शन : राजेंद्र सिंह", द हिन्दू, 27 अक्टूबर, 2011.

- "लोकपाल टु हैव कोन्सट्यूशनल स्टेटस, सेज खुर्शीद", टाइम्स ऑफ इंडिया, वेबसाइट, 12 अक्टूबर, 2011.
- इंडिया टुडे वेबसाइट, 14 अक्टूबर, 2011.
- "गवर्नमेंट कॉन्फिडेंट इट हेज नंबर्स टु पास बिल", टाइम्स ऑफ इंडिया, 27 दिसंबर, 2011.
- "राज्य सभा एड्जौर्ण्ड साइन डाइ, लोकपाल बिल नोट पास", द टाइम्स ऑफ इंडिया, 30 दिसंबर, 2011.
- द हिन्दू, 2 जनवरी, 2012.
- "अपोजीसन शार्पन्स नाइव्ज एज़ हाऊस सेट फॉर लोकपाल डिबेट : जेटली एवं सुषमा", टाइम्स ऑफ इंडिया, 27 दिसम्बर, 2011.
- "प्रिजेंट लोकपाल एन असाल्ट ऑन फेडेरलिज़्म", टाइम्स ऑफ इंडिया, 27 दिसम्बर, 2011.
- आई.बी.एन. 7, बुलेटिन रात्रि 9 बजे, 2 दिसंबर, 2011.
- "नो वोट ऑन लोकपाल, राज्य सभा अएड्जोर्न्स अबरपट्ली", दा हिन्दू, 30 दिसम्बर, 2011.
- "काँग्रेस एम पी टु हैड आर एस कमेटी फॉर चेकिंग लोकपाल बिल", हिंदुस्तान टाइम्स, 21 मार्च, 2012.
- "अन्ना हजारे सपोर्टर्स सेलिब्रेट", इकोनोमिक टाइम, 18 दिसम्बर, 2013.
- डी ओ पी रिट्रीव्स, 7 मार्च, 2014.
- देशमुख, वी. (2011). '*अन्ना हजारे, हमारी एक बड़ी आशा और क्यों वही यह कर सकते हैं?*'. मनीलाइफ.
- शर्मा, आर. (20 जनवरी, 2001) '*अन्ना हजारे : एक निर्भीक धर्मयोयोद्धा*'. द ट्रिब्यून.
- शर्मा, के. (8 अप्रेल, 2011). *अन्ना हजारे : 'भारत का अग्रेसर सामाजिक कार्यकर्त्ता'*. मुंबई : बी. बी. सी.
- भारद्वाज, आर. (सं.) (2012). *गाँधी और अन्ना के बीच का फासला*. नई दिल्ली : अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि.
- देशमुख, वी. (12सितम्बर, 2004). द *विलेज रोड शो*. द इंडियन एक्सप्रेस.
- द *राइज एंड राइज ऑफ अन्ना हजारे*. इंडिया टुडे, 6 अप्रेल, 2011.
- देशपांडे, वी. (29 मार्च, 2011). *अन्ना हजारे ने लोकपाल बिल में निकाले दोष : द हिन्दू*.

❑❑❑❑❑

गांधी – वीथिका : समसामयिक संदर्भ

सम्पादक :
डॉ. शीला राय

सह-सम्पादक :
डॉ. खेमचन्द महावर

प्रकाशक :
कीर्ति पब्लिकेशन
बी ब्लॉक, पेंट हाऊस-1
अमृत कलश अपार्टमेन्ट
नियर कमल एण्ड कम्पनी
टोंक रोड, जयपुर (राज.)
मो. 09783055596
E-mail : satish.political@gmail.com

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

ISBN : 978-81-933555-0-3

प्रथम संस्करण : 2017

मूल्य : ₹ 725.00

टाइपसैटिंग एवं मुद्रक :
श्री पदम कम्प्यूटर सेन्टर
किशनपोल बाजार, जयपुर

अनुक्रमणिका

पृष्ठ सं.

वैश्विक चुनौतियाँ : गांधीवादी उपाय

राधा कुमारी	भारतीय एवं पाश्चात्य सन्दर्भ में शांति : गांधीवादी प्रतिमान का सन्दर्भ	1
सुधांशु शेखर	भूमंडलीकरण और हिंद-स्वराज	22
मुरारी लाल दायमा	वैश्विक आतंकवाद के सन्दर्भ में गांधी की अहिंसा	34
डॉली जैन	स्वराज्य विजय व महात्मा गाँधी	41

रचनात्मक कार्यक्रम

खेमचन्द महावर	गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम की विवेचना	50
विलास महादेवराव वाणी	मानव श्रम की महत्ता और गाँधी	67
विनय सिंह यादव	गांधी का शिक्षा सिद्धान्त: एक विवेचन	71
मनोज कुमार	आरोग्य की कुंजी और गांधी	78

भारतीय समाज की राजनीतिक समस्याएँ : गाँधीवादी समाधान

मनोरंजन कुमार भारती	वर्तमान सामाजिक विघटन एवं गांधीवाद की प्रासंगिकता	85
राजबली पासवान	दलितों की वर्तमान स्थिति और महात्मा गाँधी	95
इन्द्रजीत यादव	गांधी दर्शन में जनतंत्र व अहिंसा	102
मुकेश कुमार वर्मा	भारतीय लोकतंत्र : गाँधीवादी दृष्टिकोण	111

सम्पत राम रैगर	गांधी दर्शन में अस्पृश्यता निवारण का महत्त्व व प्रभाव	117
सुखजीत कौर	गांधी का राष्ट्रीय दर्शन और चुनौतियां	123
पदमा मीणा	गांधी का सामाजिक दर्शन	131

महिला सशक्तिकरण : गाँधीय दृष्टि

विनय कुमार	भारतीय स्त्रियों का पुनरूत्थान एवं गांधी दर्शन	142
सविता किशोर	गाँधी चिंतन के विविध प्रतिमान एवं नारी दर्शन	150
पदमचन्द मौर्य	गांधी दृष्टि में स्त्री	158
बालेश्वर	गांधी के दृष्टिकोण में महिला सशक्तिकरण	165
संगीता रौतेला	महिला सशक्तिकरण : गांधीय दृष्टि	172

विकास की अवधारणा

सुनील महावर	विकास का गांधीय प्रतिमान : एक विकल्प	180
प्रीति शर्मा शीला राय	सतत विकास की अवधारणा : महात्मा गांधी की प्रासंगिकता	190
शीतल मीना	समावेशी विकास : ग्राम पलायन से ग्राम स्वराज्य तक	202
दिनेश कुमार	अहिंसा : विकासशील प्रक्रिया	212
सतीश चन्द अग्रवाल	गांधीय सर्वोदय दर्शन : एक विवेचन	218
सीताराम चौधरी	महात्मा गांधी का पर्यावरणीय दृष्टिकोण	224

अहिंसा : विकासशील प्रक्रिया

दिनेश कुमार

अहिंसा भारतीय परंपरा में एक विकासशील आध्यात्मिक प्रयोग है और विभिन्न प्रयोगों द्वारा ही वह एक उच्चतम मानसिक गुण तथा नीति-धर्म के रूप में विकसित हुई है। अहिंसा का स्वरूप प्रयोगात्मक इस रूप में रहा है कि वह अन्य अनेक आध्यात्मिक तत्त्वों की तरह पूर्व से विश्वास प्राप्त धर्म नहीं, प्रत्युत उसके पीछे व्यावहारिक परिणितियाँ और साधकों के अनुभवों के साक्ष्य दीख पड़ते हैं। इस प्रकार व्यवहारिक अनुभव और मानसिक साधना द्वारा यह एक उपार्जित तथ्य के रूप में प्रस्तुत है, जो सदा विकासमान स्थिति में रहा है। इस विकास क्रम में अहिंसा जब तक अधिक व्यक्तिगत रही है, तब तक उसका व्यवहार क्षेत्र में सामान्य परीक्षण नहीं हो सकता था, किन्तु प्राचीन काल में जैसे-जैसे व्यक्तिगत अनुभवों की व्यवहारिक सिद्धी के रूप में सम्भावना की जाने लगी, वैसे-वैसे उसके वैज्ञानिक तथ्य के रूप में विकसित होने की धारण पुष्ट होती गई।

बीसवीं शताब्दी में महात्मा गाँधी ने इस आध्यात्मिक तत्त्व को व्यावहारिक तथ्य के रूप में ला खड़ा कर दिया। उन्होंने इस क्षेत्र में युगांतकारी साहस का परिचय दिया और इसके लिए उन्होंने राजनीति का क्षेत्र चुना, जो व्यवहारिक दृष्टि से बहुत ही विषम और जटिल होता है। इसके लिए धर्म और इतिहास में कूटनीति या अनीति को भी ग्राह्य, न्याय्य और क्षम्य माना है। गाँधी जी के महान प्रयोगों ने इस दिशा की अग्रिम संभावनाओं को बहुत ही मुखरित कर दिया। अब हम इस स्थिति में है कि अहिंसा के इतिहास का तर्कसम्मत वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें और इसकी नयी व्यावहारिक संभावनाओं पर अपना विचार व्यक्त कर सकें।

महात्मा गाँधी को अहिंसा के एकांगी-पन का भान था, अत: उन्होंने भारतवर्ष में जीवन के अनेक क्षेत्रों में तथा राजनीति में सामुदायिक आधार पर उसका प्रयोग किया। इन प्रयोगों से अहिंसा की सामूहिकता के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ा और उसके प्रयोग-कौशल का प्रशिक्षण भी मिला। गाँधी जी भी अहिंसा को विकास के क्रम में देखते हैं और

उससे आगे उसमें विकास का अनंत आकाश मानते हैं। वे इन सबके पीछे व्यक्ति का महत्व स्वीकार करते हैं। उन्हें एकात्मवाद के आधार पर जीवन की अखण्डता पर विश्वास है। उनका अखण्डता का यह सिद्धान्त जगत के मिथ्यात्व, सिद्धान्त पर निर्भर नहीं है, अपितु जीव जगत् सबको सत्य मानते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त प्राणियों को भी महत्व देते हैं, किन्तु एक सीमा तक ही। जीवन की अखण्डता जगत के मिथ्यात्व पर आधारित न होने के कारण गाँधी जी की अखण्डता जगत से अतीत और अनिर्वचनीय नहीं, प्रत्युत यथार्थ ही है। इस प्रकार की अखण्डता के अनुबंध में व्यक्ति को अनिवार्य रूप से वह खड़ा मानते हैं। इसलिए उनके मत में व्यक्तित्व का स्वरूप और उसका अधिकार एवं कर्त्तव्य पुराने धार्मिक, राजनीतिक एवं दार्शनिक व्यक्तिवादियों से बहुत कुछ भिन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का जगत् के साथ स्वाभाविक तथा आदर्श संबंध वह अहिंसा में ही मानते हैं। इनकी अहिंसा कोई रूढ़ धर्म नहीं, प्रत्युत उनके अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में उसके नये-नये रूपों की संभावना बनी रहती है।

गाँधी जी की अहिंसा के तीन प्रकट पक्ष या शर्त हैं :-

1. स्वाभाविकता 2. सक्रियता और 3. विवेक

अहिंसा की स्वाभाविकता से उनका अभिप्राय है - जीवन में प्रवाहमान व्यापक सत्य को प्रकट करने की क्षमता, जिससे जीवन की अखण्डता का साक्षात्कार हो सके। इस प्रकार अहिंसा की स्वाभाविकता इसमें है कि उससे प्राणियों की मूलभूत एकता प्रकट होती है। इसलिए गाँधी जी के शब्दों में 'सांसारिक बातों में, अहिंसा का आचरण करना उसका सच्चा मूल जानना है'। इसी आधार पर गाँधी जी अहिंसा का सत्य तथा धर्म के साथ अनिवार्य संबंध मानते हैं। वे कहते हैं, 'अहिंसा और सत्य को एक दूसरे से अलग करना असम्भव है', 'जो धर्म व्यवहार की बातों की परवाह नहीं करता और उन्हें हल करने में सहायक नहीं होता, वह धर्म ही नहीं है।'

गाँधी जी अहिंसा की अपरिमित शक्तियों के विकास के लिए श्रद्धा को एक मूलभूत तत्व मानते हैं। उनके अनुसार जिस श्रद्धा और प्रयास से वैज्ञानिक लोग प्रकृति की शक्तियों की खोज करते हैं, वैसी ही श्रद्धा से अहिंसा की शक्ति की खोज करने और उसके नियमों को काम में लाने की आवश्यकता है। गाँधी जी बुद्धि को सर्वज्ञ नहीं मानते, इसलिए वे जो बुद्धि से परे हो, उसे ही श्रद्धा के अन्तर्गत मानते हैं। उनकी दृष्टि में श्रद्धा आत्मविश्वास है, जो सभी विरोधी हिंसक परिस्थितियों में अहिंसक व्यक्ति को अटूट विश्वास प्रदान करता है। अनुकूल एवं प्रतिकूल फल होने पर श्रद्धा हर्ष और विषाद में उसे धैर्य प्रदान करती है। जिस श्रद्धा को धर्मों ने अज्ञात तत्वों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक

माना,उसे गाँधीजी ने अहिंसा के साथ जोड़कर श्रद्धा को एक वैज्ञानिक खोज का सशक्त उपकरण बताया। इस प्रकार गाँधी जी ने एक ओर श्रद्धा को अंध श्रद्धा होने से बचाया, दूसरी ओर अहिंसा के साथ उसे जोड़कर अहिंसा को अधिक सक्रिय बनाया।

गाँधी जी के समक्ष दो बातें स्पष्ट थी (1) अहिंसा एक विकासशील प्रक्रिया है, और (2) उसका प्रयोग व्यक्तिगत ही नही, सामूहिक भी हो सकता है। वे कहते हैं कि यह मानना गहरी भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही अच्छी है और जनसमूह के लिए नहीं।[1] अहिंसा के विकास के संबंध में वे कहते हैं –'मानवजाति ने अहिंसा की दिशा में बराबर प्रगति की है, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि उसे उस तरफ और भी ज्यादा बढ़ना है। संसार में स्थिर कुछ भी नहीं है, सब कुछ गतिशील है।[2] अन्यत्र वे कहते है – 'मेरी राय में अहिंसा केवल व्यक्तिगत सद्गुण नहीं है, वह एक सामाजिक सद्गुण भी है, जिसका विकास अन्य सद्गुणों की भाँति किया जाना चाहिए।[3] उक्त दो मान्यताओं से संबंधित दो बातें और भी हैं जिन पर गाँधी जी जोर देते हैं – (1) व्यक्ति का महत्व और (2) जीवन की अखण्डता का सिद्धान्त। व्यक्ति की दृष्टि से वह संख्या का महत्व नहीं मानते। गुण का महत्व मानते हैं, वे कहते हैं, 'हर एक बड़े ध्येय के लिए जूझने वालों की संख्या का महत्व नहीं होता, जिन गुणों से वे बने होते हैं, वे ही गुण निर्णायक होते हैं। संसार के महान् से महान् पुरूष हमेशा अपने ध्येय पर अकेले डटे रहते हैं।'[4] गाँधी जी जब भक्ति पर इतना जोर देते हैं और साथ में यह भी कहते हैं कि अहिंसा सामुदायिक गुण है तो विरोधाभास मालूम होता है। इसे दूर करने के लिए वे जीवन की अखण्डता का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार परमाणुओं के बीच जैसे संयोजन शक्ति मौजूद है, वैसे ही चेतन प्राणियों में है। वे कहते हैं – 'जिस प्रकार जड़ प्रकृति में संयोजक–शक्ति है, उसी प्रकार चेतन प्राणियों में होनी चाहिए। हमें समस्त प्राणियों के बीच उस शक्ति का उपयोग सीखना चाहिए।[5]

गाँधी जी ने अपने को अद्धैतवादी कहा है किन्तु उनके मत में जीवन की अखण्डता जगत् के मिथ्यात्व पर आधारित न होने के कारण गाँधी जी की अखण्डता जगत् से अतीत और अनिर्वाचनीय नहीं, प्रत्युत यथार्थ है। इस प्रकार की अखण्डता के अनुबंध में व्यक्ति को वह खड़ा करना चाहते है। इसलिए उनके मत में व्यक्तित्व का स्वरूप उसका अधिकार एवं कर्त्तव्य पुराने धार्मिक तथा राजनीतिक, दार्शनिक व्यक्तिवादियों से बहुत कुछ भिन्न हो जाता है। वे कहते हैं – 'हमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा।'[6] ऐसे व्यक्ति का जगत् के साथ स्वाभाविक तथा आदर्श संबंध गाँधी जी अहिंसा को ही मानते है और कहते हैं – 'अवश्य ही समाज का

नियमन ज्यादातर आपस के व्यवहार में अहिंसा के प्रकट होने से होता है, मेरा अनुरोध इतना ही है कि उसका राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर अधिक विस्तार किया जाए'।[7] इसलिए गाँधी जी की दृष्टि में अहिंसा कोई रूढ़ धर्म नहीं, प्रत्युत विभिन्न परिस्थितियों में उसके नये-नये रूपों की सम्भावना बनी रहती है।

अहिंसा की सक्रियता से गाँधी जी का अभिप्राय उसकी गतिशीलता और तेजस्विता से है। उन्होंने कहा है - 'मेरा अहिंसा धर्म अत्यंत सक्रिय एवं तेजस्वी है,[8] धर्म अपूर्ण है, इसलिए वह सदा विकसित होता रहेगा और बार-बार उसके नये-नये अर्थ किये जाते रहेंगे। केवल ऐसे विकास के कारण ही सत्य और ईश्वर की प्रतिदिन प्रगति करना हमारे लिए सम्भव है।[9] यहाँ ध्यान देने की बात है जिस गतिशीलता और व्यावहारिक अहिंसात्मक साधन से सत्य का साक्षात्कार गाँधी जी मानते हैं, वह सत्य भी परिवर्तनशील और व्यावहारिक होगा। साधन रूप अहिंसा से साध्यरूप सत्य के अभिन्न होने का अभिप्राय है कि गाँधी जी का सत्य परंपरागत अर्थ में अपरिवर्तनीय एवं नित्य नहीं है। यहाँ तक कि गाँधी जी सत्यशोध के बीच आयी हुई भूलों को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं - 'सत्य ईश्वर का सही नाम है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का पालन करें तो उसमें कुछ बुराई नहीं है। बेशक वैसा करना उसका कर्त्तव्य है। फिर उस प्रकार सत्य-पालन में किसी से भूल हो जाती है, तो वह अपने आप ही ठीक हो जाएगी। अहिंसा की तीसरी शर्त विवेक है। गाँधी जी के मत में विवेक शास्त्रवाद और बुद्धिवाद दोनों से भिन्न और व्यापक है। गाँधी जी कहते है - 'सत्य किसी धर्म ग्रंथ की संपत्ति नहीं है।'[10] अन्यत्र कहते हैं - 'शास्त्रों की रचना करना मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं है, मेरा क्षेत्र तो कार्य है, जिसे मैं अपनी बुद्धि से अपना कर्त्तव्य मानता हूँ,उसे मैं करता हूँ।'[11] बुद्धि के संबंध में गाँधी जी कहते हैं - 'कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनमें बुद्धि हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती।'[12] गाँधी जी विवेक बुद्धि को ईश्वर की मान्यता देते हैं और कहते हैं -'ईश्वर विवेक-बुद्धि है, वह नास्तिक की नास्तिकता भी है। इसलिए गाँधी जी शास्त्र सम्मत ईश्वर को नहीं मानते। वे कहते हैं -'संसार में अनेक असत्यों का प्रतिपादन करने वाले साधनों में एक प्रमुख साधन वह शास्त्र भी है, जो ईश्वर के स्वरूप का विवेचन करता है।'[13]

गाँधी जी के विभिन्न कालीन उद्धरणों के आधार पर उनकी दृष्टि से अहिंसा का जो स्वरूप प्रकट होता है, उससे निम्नलिखित बातें प्रतिफलित होती है - (1) प्राचीन भारत वर्ष में अहिंसा का जैसा स्वतंत्र और स्वगत विकास हुआ, उस विकासमान स्वरूपता को गाँधी जी भी स्वीकार करते हैं। (2) अहिंसा की उस धारा में गाँधी जी ने सामूहिक प्रयोग का नवीन कौशल प्रस्तुत किया है। (3) गाँधी जी ने अहिंसा के गतिशील संदर्भ में ही

शाश्वतवादी परम्पराओं से प्राप्त सत्य, धर्म ईश्वर, आत्मा आदि से संबंधित सभी विश्वासों को जोड़कर उन्हें भी गतिशील बनाने की चेष्टा की है। संक्षेप में, गाँधीजी का नयापन यह है कि अहिंसा का प्राचीन उपदेश, जिसकी दिशा मानसिक और व्यक्तिगत उन्नति थी, उसे गाँधी जी ने सांसारिक बनाया। इससे यह फलित होता है कि अहिंसा की विकासशील समानता को स्वीकार करके गाँधी जी ने उसकी परिवर्तनकारी शक्ति पर लोगों की आस्था पहले से अधिक जगाई है।

अहिंसा का सामूहिक प्रयोग मानवीय इतिहास को गाँधी जी का नवीन देन है। किन्तु उनकी अहिंसा के साथ एक विरोधाभास भी लगा है, जिससे अहिंसा कुण्ठित होती है। वह विरोध है अहिंसा के साथ परम्परागत कुछ विश्वासों को जोड़ने का आग्रह करना, जिनमें ईश्वरवाद एवं आत्मवाद प्रमुख है। ईश्वर एवं आत्मा की नित्यता के साथ अहिंसा की तीव्र गतिशीलता को जोड़ने का प्रयास उसकी गतिशीलता को बहुत सीमित कर देता है।

गाँधी जी विशुद्ध प्रयोगमार्गी थे। स्पष्ट है कि वे बुद्ध आदि की तरह तत्त्व चिंतक नहीं थे और न ही उसके विचारों में तत्त्व मीमांसा बनने की क्षमता है। उनके विचारों के आधार पर योगदर्शन की तरह प्रयोग दर्शन बनने की संभावना की जा सकती है जो समाज-धर्मदर्शन होगा।

इस प्रयोगदर्शन के पीछे यदि किसी प्रकार का तत्त्व मीमांसा संबंधी विचार आवश्यक होगा तो उसमें आत्मा, ईश्वर, धर्म और नीति आदि से संबंधित शाश्वतवादी एवं अपरिवर्तनवादी मान्यताएँ सहायक नहीं होती। फलत: इसके लिए दर्शन की परिवर्तनवादी धारा स्वीकार करनी होगी अथवा आत्मा, ईश्वर आदि को अत्यंत गतिशील अनित्य तत्त्वों के रूप में प्रतिपादित करना होगा, जो प्रांय असंभव है।

इस प्रकार प्रयोग-मार्ग की दिशा में गाँधी दर्शन बनना अभी बाकी है। इसके दर्शन बनने के लिए गाँधी जी की अनुभूतियों तथा प्रयोग विधियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। गाँधी जी को अपने जीवन के 50 वर्षो में समय-समय पर जैसा अनुभव हुआ तदनुसार आचरण किया और तत्काल सबके समक्ष उसे अभिव्यक्त कर दिया। फलत: आगे से पीछे तक उनके बहुत से अनुभवों में और विचारों में विसंगतियाँ मिलती है। इन विसंगतियों से बचने के लिए उन्होंने अपने अगले अनुभवों के आधार पर पीछे की बातों को सुसंगत कर लेने का अनेकों बार सुझाव दिया है। वास्तव में उनका यह सुझाव भी उन पर पूरी तरह लागू नहीं होता। अत: आज के विचारकों पर ही यह भार है कि गाँधी जी के सम्पूर्ण उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उनमें अनुस्यूत विचारों

के बीच संवाद-सूत्र निकालें और उनकी क्रांतिकारी दृष्टि के सार तत्त्व की रक्षा करते हुए बौद्धिक ओर व्यावहारिक आधार पर उसे समन्वित करें, उसे शास्त्रीयता प्रदान करें। यह भी स्पष्ट है कि शास्त्रीयता लाना गाँधी जी को कभी स्वीकार नहीं था, किन्तु विचारों को जीवित रखने का और उनमें स्थायित्व लाने का दूसरा कोई व्यावहारिक मार्ग नहीं है। गाँधी जी से संबंधित दिशा में यदि कुछ किसी को करना है तो उसे यह ध्यान रखना होगा कि उन्हीं के अन्य वचनों से विरोध सम्भावित है। इसलिए यथा संभव की स्थिति में रहकर ही बौद्धिक ईमानदारी बरती जा सकती है। इसलिए गाँधी जी के अध्येताओं का यह कर्त्तव्य है कि तर्क और परीक्षण के बीच ही गाँधी जी की अहिंसा का स्वतंत्र विवेचन करें और इस प्रकार गाँधी विचारों को नयी-नयी समस्याओं के बीच उज्जीवित रखे और विकसित करें।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हरिजन-05.09.1936
2. हरिजन-11.08.1940
3. यंग इंडिया-07.01.1938
4. यंग इंडिया-10.11.1929
5. यंग इंडिया-5.05.1920
6. हरिजन-27.05.1939
7. हरिजन-07.01.1939
8. यंग इंडिया-17.06.1927
9. यरवदा मंदिर-पृ. 38
10. यंग इंडिया-पृ. 35
11. हरिजन-पृ. 46
12. हरिजन-3
13. हरिजन-पृ. 23

ISSN 0974-8687

Volume-X No. 1 January - June 2017

Raj-Yashti राज-यष्टि

Journal of Social Sciences

Half Yearly Journal of
Rajasthan Political Science Association

ISSN 0974-8687

Raj-Yashti राज-यष्टि

EDITOR
Dr. Sheila Rai

CO-EDITOR
Dr. Ram Singh Arha

EDITORIAL BOARD

Dr. Govind Kumar Sharma
Dr. Girdhari Singh Kumpawat
Dr. Pooran Singh Choudhary
Dr. Adarsh Mathur
Dr. Pushpa Choudhary
Dr. Sanjay Jain

EDITORIAL ADVISORY BOARD

Prof. Ramashray Roy	:	Ex-Director, CSDS, National Fellow ICSSR, New Delhi
Prof. M.L. Chhipa	:	Vice Chancellor, Atal Bihari Vajpayee Hindi University, Bhopal
Prof. K.L. Kamal	:	Ex-Vice Chancellor, University of Rajasthan, Jaipur
Prof. C.P. Barthwal	:	Ex-Vice Chancellor, Kumaun University, Nainital
Prof. Bhawani Singh	:	Professor (Retd.), Deptt. of Political Science, University of Rajasthan, Jaipur
Prof. Pratap Singh	:	Professor (Retd.), Political Science, Rohtak
Prof. G.S. Chauhan	:	Professor (Retd.), Deptt. of Public Administration, J.N.V. University, Jodhpur
Prof. Mujtaba Khan	:	Deptt. of Political Science, Jamia Milia University, New Delhi
Prof. S.K. Chaturvedi	:	Professor (Retd.), Department of Political Science, C.C.S. University, Meerut
Prof. R.R. Jha	:	Department of Political Science, Banaras Hindu University, Varanasi
Dr. Sanjeev K. Sharma	:	General Secretary, Indian Political Science Association
Prof. Madhurendra Kumar	:	Deptt. of Political Science, Kumaun University, Nainital

We gratefully acknowledge the financial assistance received from the Indian Council of Social Science Research, New Delhi for the publication of this journal.

ISSN 0974-8687

Raj-Yashti राज-यष्टि

Journal of Social Sciences

Vol. X No. 1 January - June, 2017

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ सं.
सम्पादकीय		V
भारतीय विदेश नीति : सामयिक गतिशीलता एवं चुनौतियाँ	श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी	1
वर्ण व्यवस्था : एक विमर्श	खेमचन्द महावर	11
कौटिलीय अर्थशास्त्र में न्याय व्यवस्था का स्वरूप	सतीश चन्द अग्रवाल	18
रघुवंशम् में सामुद्रिकशास्त्र	पूर्णिमा जोशी	26
दक्षिण एशिया में परमाणु हथियारों की होड़ : एक विश्लेषण	विजय श्री	36
उत्तम अभिशासन की अवधारणा एवं महात्मा गांधी का रामराज्य	सीमा हटीला	46
मेव एवं मेवात का इतिहास	प्रेमपाल यादव	64
विकास बनाम पारिस्थितिकी संकट	मधु जैन	73
गांधी चिन्तन में धर्म की अवधारणा	दिनेश कुमार	87
गरासिया महिला : एक सामाजिक अध्ययन	प्रथा कलासुआ रूचि सोंलकी	95
पंचायतीराज तथा ग्रामीण विकास : संवैधानिक-राजनीतिक आधार	राजेश कुमार शर्मा	100
आतंकवाद का वैश्विक परिदृश्य : एक विवेचन	वंदना यादव सपना गहलोत	109
डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा भारत में समान नागरिक कानून स्थापित करने हेतु किए गए प्रयासों की सार्थकता, वर्तमान दिशा एवं स्वरूप	नीता शर्मा	118

भूटान की राजशाही में लोकतंत्र की बयार और दार्शनिक सुखवाद में लोक कल्याण का तत्व	अरविन्द कुमार महावर	124
आधुनिक हिन्दी साहित्य में गांधी दर्शन	प्रियंका यादव	133
संस्कृत वाङ्मय एवं गांधी चिन्तन	संजू गर्ग	138
सरदार वल्लभ भाई पटेल के चिन्तन में राष्ट्रवाद	गोविन्द सुथार	145
गोखले के चिन्तन में व्यक्ति और राज्य सम्बन्धी विचार	उर्मिला चौहान	154
चित्रा मुद्गल के कथा साहित्य में सामाजिक चेतना	राकेश कुमार शर्मा	161

Copyright @ rpsa

All rights reserved. No Part of this publication may be reproduced, in any Form or by any means, electronic, photocopying or otherwise, without permission in writing from Editor, *Raj-Yashti*.

Views expressed in the papers are the personal opinions of the contributors and are in no se no sense official. Neither the Rajasthan Political Science Association nor the Editor is responsible for them.

NOTE FOR CONTRIBUTORS

Submission of Papers:

Two copies of the manuscript each fully numbered and typed in double spacing throughout, on one side only of white A4 Size paper, plus a an Electronic version of the paper should be sent to the Editor. (Contributors may send the manuscript typed in, Baskerville Old Face 11points) Papers may be submitted by e-mail also but should necessarily by followed by one hard copy. The title of the paper and the author's name and address should be typed on separate page of the beginning of the paper. The second page should contain an abstract of 100-150 word and the title of the paper but not the author's name. Manuscripts over 25 pages are not encouraged. Manuscripts should normally not exceed 6000 word .the name(s) of the author(s), designation, official address, telephone number and email etc should be mentioned only on the cover paper along with the title of the paper. In the main text of the paper the name of the author should not be mentioned as the papers are subjected to anonymous peer-review by referees before being accepted for publication.

Reviews:

Author/Publisher desirous of their book(s) to be reviewed in the journal should send two copies of the book to the Editor.

Raj-Yashti राज-यष्टि
Vol. X No. 1, January - June, 2017

गांधी चिन्तन में धर्म की अवधारणा

दिनेश कुमार

अपने धर्म के अलावा गांधी ने दो धर्मों को बहुत करीब से देखा और समझा। एक वह धर्म जिसके अनुयायियों के देश में वे छात्र बनकर पहुँचे थे- ईसाई धर्म! बाईबिल उन्होंने खासतौर पर पढ़ी थी क्योंकि वे बाईबिल के देश में ही अपनी चेतना की आँखे खोल रहे थे। न्यू टेस्टामेंट और ईसा के 'गिरी प्रवचन' का हिस्सा उनका खास प्रिय हुआ। वे प्रारम्भ से ही इतने सच्चे थे कि उनके सम्पर्क में आने वाला हर कोई उन्हें अपने साथ करना चाहता था और इसलिए उनके ईसाई मित्रों ने यह कोशिश की थी कि गांधी ईसाई धर्म स्वीकार कर लें। इस्लाम के साथ भी उनका सफर लम्बा चला और उनके मुसलमान सहयोगियों ने भी इसकी काफी कोशिश की थी कि गांधी इस्लाम कबूल कर लें। ईसाई और इस्लाम के इन अनुयायियों की इन कोशिशों का गांधीजी को पता नहीं चला, ऐसा नहीं था। वे धर्म परिवर्तन को राजी नहीं हुए, इसमें कोई खास बात नहीं थी।

खास बात तो इसमें थी कि वे इस नतीजे पर पहुँचे कि संसार के सारे ही धर्म अपूर्ण है क्योंकि सभी अपूर्ण इंसानों द्वारा रचे गए हैं। वे मानते हैं कि संसार का कोई भी धर्म कालातीत नहीं है और इसलिए उनकी मूल मान्यताओं की समीक्षा करने का आदमी को अधिकार है। वे बार-बार जोर देकर कहते है कि धर्म की कमियों-बुराईयों से आप धर्म बदलकर नहीं लड़ सकते, क्योंकि आप अपने जन्म-धर्म से निकलकर जिस धर्म में जायेंगे, वहाँ भी स्थितियां ऐसी ही मिलेगी। वे बार-बार कहते है कि हमें अपने-अपने जन्म धर्म को परिपूर्ण करने की ही कोशिश करते रहनी चाहिए, क्योंकि यह दूसरे धर्मावलंबियों को भी ऐसा प्रयास करने की प्रेरणा देता है। वे निजी विश्वासों के आधार पर धर्म परिवर्तन के अधिकार को स्वीकार करते है लेकिन उनकी आधारभूत मान्यता यह थी कि हमारी सावधान कोशिश यह होनी चाहिए कि सभी अपने धर्म के सच्चे अनुयायी बने, हम इसमें मदद करें।

मूल शब्द : धर्म, सनातन, भारतीय, वाङ्मय, महावीर, जरथ्रुस्ट, बाइबिल, अवेस्ता, धर्म अक्षुण्य।

गांधी का धर्म और दर्शन :

'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्'- धर्म का तत्व गूढ़ है, यह भावना बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। वस्तुत: धर्म शब्द का व्यवहार इतने व्यापक सिद्धांतों एवं तत्व-प्रदर्शक दृष्टियों के लिए होता रहा है कि आज उसे एक निश्चित मर्यादा में बांधना कठिन हो गया है।

वर्तमान समय में महात्मा गांधी ने धर्म को सरल रूप में सर्वसाधारण के सामने रखने की चेष्टा की है। उन्होंने उसमें से इतना सार ले लिया जिसका व्यावहारिक प्रयोग करके मनुष्य स्वयं ऊँचे तात्त्विक जीवन के आनन्द का अनुभव कर सकता है। गांधी की यह विशेषता है कि उन्होंने स्वयं विचार किया वही उनका ही दर्शन हुआ।

'मैं इस धर्म का चेहरा बदल देना चाहता हूँ।' धर्म का चेहरा बदल देने का संकल्प लेने वाला यह आदमी कितना धार्मिक था? धार्मिकता के बारे में जैसा दावा गांधी का था वैसा दावा शायद ही किसी दूसरे ने किया हो! यह बात गौर करने जैसी है कि गांधी के जीवन में मंदिर, मूर्ति, मंत्र, पूजा, अनुष्ठान, ध्यान, समाधि जैसा कोई वितान था ही नहीं। वे अपने धार्मिक होने का कोई प्रतीक चिन्ह भी धारण नहीं करते थे। गांधी धर्म का चेहरा बदलने की बात करते हैं! जहाँ हर दिन धर्म के नाम पर लोग अपने चेहरे बदल लेते हैं, वहाँ यह आदमी जो कह रहा है, उसका मतलब क्या है! कैसा होना चाहिए धर्म का चेहरा? देव का नहीं तो दानव का भी नहीं, कम से कम मनुष्य का तो हो! मनुष्य जिस सूरत से भय खाये और जिस सूरत की रक्षा में आपको हमेशा तलवार उठाये रखनी पड़े वह क्या किसी ऐसे धर्म की सूरत हो सकती है, जो मनुष्यों को जोड़ता हो, उनके चित्त को उदात्त बनाता हो, जो उनके कल और आज के और कल के कर्त्तव्यों और विचार भूमि को सींचता व पाटता हो? इसलिए तो सारे संसार में जितना रक्तपात धर्म की रक्षा के नाम से हुआ है, उतना साम्राज्यवादी या राजनीतिक कारणों से भी नहीं हुआ है। धर्म उस दिन से अधर्म में बदलने लगा जिस दिन से हमने उसे गिनने, तोलने, नापने, बेचने, बदलने की वस्तु बना दिया। समुद्र मंथन में से जैसे अमृत नि:सृत हुआ था वैसे ही मानवीय चेतना के मंथन में से धर्म नि:सृत हो, तो वह धर्म है।

हमारी गहन आस्था और चेतना की उदात्तता में से जो पैदा हो, वह धर्म बाकी सारे कर्म कलाप अधर्म या धर्म पर पर्दा डालने वाले उपक्रम है। धर्म हमारे विश्वास का निजी तत्व नहीं, एक ऐसा सार्वजनिक हथियार बना दिया गया, जिससे हर वह गर्दन काटी जाने लगी जो सर को थामने का काम करती है।

धर्म की मीमांसा :

धर्म भारतीय वांङमय का एक चमत्कारिक शब्द है। संसार की किसी भी भाषा में उसका वस्तुत: कोई पर्याय नहीं है। धर्म केवल दर्शन अथवा ईश्वरीय साधना का विषय मात्र ही नहीं रहकर व्यक्ति के जीवन के समग्र पहलुओं में आच्छादित रहा है। समयान्तर व परिस्थिति विशेष में 'धर्म' का निर्वचन भिन्न है। धर्म जीवन के नैतिक आचरण की समग्रता है, तो साथ ही आध्यात्मिक सत्ता से साक्षात्कार भी।

धर्म का सीधा मतलब होता है- वह जो धारण करता है, वह जो संभालता है, वह जो दशा समझता है और दिशा देता है। निजी स्तर पर धर्म वह है जो हमारा स्वभाव है-आग का धर्म है कि वह जलाती है, पानी का धर्म है कि वह गीला करता है, हवा का धर्म है कि वह बहती है, रोशनी का धर्म है कि वह अंधेरा काटती है। करूणा मनुष्य का धर्म है क्योंकि वह सहज स्वभाव से ही करूणा प्रेरित होता है। निजी स्तर पर यदि यह धर्म है तो धर्म का सामाजिक मतलब उस संकल्पना से प्रेषित होता है, जिसे समाज धारण करता है ताकि वह उसे धारण कर ले! यह कुछ वैसा है जैसे हम भारतीय संविधान के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि हम भारत के लोग अपना संविधान बनाकर, इसे अपने ऊपर लागू करते हैं। हर दौर का समाज अपने नियमन, संचालन व व्यवहार के लिए एक ऐसा सांचा या ढ़ांचा बनाता है जिसके भीतर वह समझता है कि उसका बसर हो सकता है कि जिसके भीतर उसके गुणों के विकास की पूर्ण संभावना है। वह उसके सारे यम-नियम तय करता है, जिसके बंधन में रहना उसे श्रेयस्कर लगता है। वह पुरस्कार व निषेध के वे सारे मानक बनता है, जिससे बंधकर जीना उसे गुलामी की तरफ नहीं, उत्तरोत्तर विकसित होती स्वतंत्रता की तरफ ले जाता है।

धर्म का अस्तित्व प्रवर्तकों पर निर्भर :

यह समझना जरा भी कठिन नहीं होना चाहिए कि सारे समाज को बांधने वाली, सारे समाज को स्वीकार हो ऐसी संकल्पना का अवगाहन कोई विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है। इसलिए यह अकारण नहीं है कि हर धार्मिक संकल्पना का कोई न कोई विशिष्ट प्रज्ञावान जनक होता है- कहीं ईसा तो कहीं गौतम, कहीं मुहम्मद तो कहीं महावीर, कहीं जरथुष्ट्र! मतलब यह कि संसार के सारे धर्म अपने-अपने समय के समाज को संभालने के लिए मनुष्य ने खुद ही बनाए हैं! भगवान बेचारे की इसमें कोई भूमिका नहीं रही है लेकिन सारे धर्म टिके इसी मान्यता पर है कि इनका कोई-न-कोई दैवी आधार है! ऐसा इसलिए कि सामान्यतः मनुष्य मनुष्य की बनाई व्यवस्था में बंधकर हमेशा-हमेशा रहेगा, उसे इतना विवेकवान बनने की मशक्कत हम करना नहीं चाहते हैं और वह इतना विवेकवान हो सकता है, इस पर हमारा विश्वास नहीं होता है। इसलिए मनुष्य के या कहें अपने बनाए हर धर्म को हम आधार ईश्वर को ही देते हैं- ईश्वर यानि मनुष्य द्वारा रची एक ऐसी संकल्पना जो मनुष्य से भी बड़ी सामर्थ्यवान हो गई है।

धर्म परिवर्तनीय है :

इसलिए हर जन्मकथा किसी दैवी घटना या अवतार या किताब या चमत्कार से जुड़ी होती है। यह समझना ज्यादा टेढ़ी खीर नहीं कि यदि धर्मों के रचने में सर्वशक्तिमान भगवना का हाथ होता तो वह इसके इतने-इतने संस्करण तो नहीं बनाता! उसने सारी दुनिया में इंसान तो एक ही तरह के बनाए-बाहर से भी और भीतर से भी! फिर उसे इतनी फुर्सत भला कैसे मिली और जरूरत कैसे आन पड़ी कि उसने धर्मों के इतने संस्करण बनाए और वे भी ऐसे की एक-दूसरे को काटते हों; और ऐसे काटते हो कि उसी आधार पर, उसके अनुयायी एक-दूसरे की गर्दन काटते हों? संसार के सारे धर्म इंसानों ने अपने-अपने वक्त के समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए बनाए हैं और इसलिए इंसानों को पूरा

हक है कि वे जब भी और जहाँ भी जरूरत समझे, धर्मों में फेर-बदल करे या कि एक सर्वथा ही नया धर्म सामने ला सके!

महात्मा गांधी मूलत: धर्मप्राण व्यक्ति थे और उनके सभी विचारों एवं कार्यक्रमों का प्रेरणा स्त्रोत उनके धार्मिक विश्वासों में खोजा जा सकता है। गांधी के राजनीतिक संघर्ष के अंतिम निवारक यंत्र के धर्म अथवा अध्यात्म को स्वस्थ साधन चयनित किया, चूंकि गांधी धर्म को व्यापक दृष्टि से दायित्वपूर्ण अर्थात् धर्म के नैतिक पक्ष पर बल देते थे। इस कारण गांधी का धर्म से तात्पर्य कर्मकाण्ड एवं परिपाटी का पालन अथवा शास्त्र सम्मत शास्त्राधारित अथवा प्रमाणित मान्यताओं से न होकर मानव जीवन को मर्यादित, निर्देशित एवं गुणात्मक वृद्धि से युक्त सद्वृत्ति से था। अर्थात् धर्म से अपेक्षा यह है कि धर्म के माध्यम से व्यक्ति व समाज के जीवन में वृद्धि हो।

गांधी ने धर्म के विश्व में प्रचलित संकीर्ण अर्थ को स्वीकार नहीं किया। उनका धर्म शाश्वत एवं सार्वभौम नैतिक नियमों का संग्रह है। उनके अनुसार 'धर्म का अर्थ है-नैतिकता। मैं ऐसे किसी धर्म को नहीं मानता जो नैतिकता का विरोध करता हो या नैतिकता के परे कोई उपदेश देता हो। धर्म तो वास्तव में नैतिकता को व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त करता है।'[1]

महात्मा गांधी व्यक्ति के जीवन में धर्म की अपूर्व शक्ति को तो स्वीकार करते हैं लेकिन उनके लिए धर्म दैविय, अलौकिक रहस्यात्मक पक्ष में कोई रूचि नहीं थी। गांधी का संबंध प्रथमत: एवं मुख्यत: धर्म के सरल एवं नीतिपरक पक्ष से था। गांधी का धर्मवाद ईश्वर में विश्वास से ओत-प्रोत है, जो और कुछ नहीं वरन् मानव 'आत्मा' एवं कर्म का सुविस्तारीकरण ही है। गांधी का सम्पूर्ण चिंतन सत्य एवं अहिंसा के नैतिक आदर्शों पर आधारित है, इसी कारण गांधी ने धर्म को नैतिक प्रत्ययवाद कहा एवं इसकी प्राप्ति हेतु नैतिक प्रयासों की अनवरत उपस्थिति को अनिवार्य माना। गांधी ने सदैव नीतिपरक धर्म की अवधारणा को संपुष्ट किया। गांधी ने स्वयं लिखा है कि मेरे लिए नैतिकता नीति एवं धर्म समानार्थी शब्दावली है।[2]

धर्म के अभाव में नैतिक जीवन की कल्पना आधारहीन मकान की भांति है एवं नैतिकता विहीन धर्म मृत प्राय: स्थिति में है जो अव्यवस्था का निमित्त ही बन सकता है। नैतिक आधार के अभाव में कोई व्यक्ति धर्म प्रेरित धार्मिक नहीं हो सकता।[3] गांधी के लिए धर्म व्यक्ति का नितांत व्यक्तिगत कृत्य है, सरकार अथवा राज्य का 'धर्म' किसी भी प्रकार आधार नहीं है। नैतिक एवं नीति परकता की उपस्थिति शासन के प्रकार्य में सम्भव है, धर्म की नहीं! धर्म व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु है अत: जितने व्यक्ति हैं उतने धर्म सम्भव है।

महात्मा गांधी ने धर्म के रूढ़िवादी या प्रचलित कर्मकाण्डी स्वरूप को शुद्ध धर्म नहीं माना यद्यपि रूढि धर्म समयानुसार परिवर्तनीय है। गांधी ने कहा-'मनुस्मृति में जो कुछ कह दिया है उन वचनों के अनुसार आचरण करने पर अनीति ही फलित होगी। इन वचनों का हमें त्याग करना है।'[4]

महात्मा गांधी अपने विकास क्रम में संगठित धर्मों से कई स्तरों पर रू-ब-रू हुए और बार-बार उन्हें धर्मों के दुह-खण्डहर पार करने पड़े, जमींदोज करने पड़े और फिर मानवीय चेतना के नए आयाम

खोजने व प्रतिष्ठित करने पड़े। वे जिस धर्म में पैदा हुए और जिसमें गहरी धंसी उनकी जड़े उन्हें रससिक्त भी करती रही, उसकी अपूर्णताओं को जिस तरह उन्होंने पहचाना और जिस तरह उन्हें परिपूर्ण करने की अविरत कोशिश उन्होंने की, उसका आकलन आज तक किसी धर्मविद् पर उधार है। अपने धर्म से ऐसी और इस तरह की लड़ाई दूसरे किसी ने लड़ी हो तो मालूम नहीं! अपने धर्मों में सुधार की लड़ाई लड़ने वाले और भी हैं और उनकी लड़ाई के फलस्वरूप धर्मों की सर्वथा नई शाखाएं भी फूटी हैं लेकिन उनमें से कोई भी धर्म की भूमिका को लेकर हमारे सामने वैसे गहरे सवाल खड़े नहीं कर सका जैसे सवाल गांधी ने खड़े किए।

धर्म सभी सम्प्रदायों से श्रेष्ठ है :

गांधी ने धर्मों का गहरा अध्ययन किया था, ऐसा कहना शास्त्रीय लोगों को नागवार गुजरेगा, क्योंकि विद्वत समाज ने कभी गांधी को अपने साथ बैठने की इजाजत नहीं। वे शास्त्रीय किस्म के बौद्धिक थे भी नहीं। धर्म ग्रन्थों से बाहर निकलकर गांधी ने धर्मों का गहरा अध्ययन किया। वे कहते हैं-''वेदों के संदर्भ में मैंने जानबूझकर अपौरूषेय या ईश्वरी विशेषण का प्रयोग नहीं किया। कारण, मैं ऐसा नहीं मानता कि सिर्फ वेद ही अपैरूषेय है-ईश्वरीय है, बाइबिल, कुरान तथा जेंद अवेस्ता के पीछे भी मैं उतनी ही ईश्वरीय प्रेरणा पाता हूँ। इसके अलावा हिन्दू धर्मग्रंथों में मेरा विश्वास मुझे यह नहीं कहता है कि उनके एक-एक शब्द, एक-एक पंक्ति को ईश्वर प्रेरित मानूं। न मैं ऐसा ही कोई दावा करता हूँ कि मैंने इन अद्‌भुत ग्रन्थों का मूलस्वरूप में स्वयं अध्ययन किया है। लेकिन मेरा यह दावा जरूर है कि तत्वत: वे जो कुछ सिखाते हैं, उस सत्य को मैं जानता हूँ और उसका अनुभव करता हूँ। उनकी चाहे जितनी पांडित्यपूर्ण व्याख्या की जाए, अगर वह मेरे विवेक और नैतिक बुद्धि को नहीं रूचती है तो मैं ऐसी किसी भी व्याख्या का बंधन स्वीकार करने को तैयार नहीं हूँ।''

गांधीजी ने अपना मंतव्य स्पष्ट किया कि धर्म से मेरा मतलब हिन्दू से नहीं जिसकी मैं बेशक और अन्य सभी धर्मों से ज्यादा कीमत आंकता हूँ। मेरा मतलब उस मूल धर्म से है, जो हिन्दू धर्म से कही उच्चतर है, जो मनुष्य के स्वभाव का परिवर्तन कर देता है, जो हमें अन्तस के सत्य से अटूट रूप से बांध देता है और निरन्तर अधिक शुद्ध और पवित्र बना रहता है।[5] गांधीजी का धर्म व्यापकता लिए हुए है जिसमें सभी धर्मों की अच्छाइयाँ समाहित है। वे धर्म के आवरण में दूषित वातावरण या साम्प्रदायिकता के स्थान पर धर्म को ब्रह्माण्ड की नैतिक एवं नियमित सत्ता मानते हैं।

अपने धर्म के अलावा गांधी ने दो धर्मों को बहुत करीब से देखा और समझा। एक वह धर्म जिसके अनुयायियों के देश में वे छात्र बनकर पहुँचे थे- ईसाई धर्म! बाईबिल उन्होंने खासतौर पर पढ़ी थी क्योंकि वे बाईबिल के देश में ही अपनी चेतना की आँखे खोल रहे थे। न्यू टेस्टामेंट और ईसा के 'गिरी प्रवचन' का हिस्सा उनका खास प्रिय हुआ। वे प्रारम्भ से ही इतने सच्चे थे कि उनके सम्पर्क में आने वाला हर कोई उन्हें अपने साथ करना चाहता था और इसलिए उनके ईसाई मित्रों ने यह कोशिश की थी कि गांधी ईसाई धर्म स्वीकार कर लें। इस्लाम के साथ भी उनका सफर लम्बा चला और उनके मुसलमान सहयोगियों ने भी इसकी काफी कोशिश की थी कि गांधी इस्लाम कबूल कर लें। ईसाई

और इस्लाम के इन अनुयायियों की इन कोशिशों का गांधीजी को पता नहीं चला, ऐसा नहीं था। वे धर्म परिवर्तन को राजी नहीं हुए, इसमें कोई खास बात नहीं थी।

खास बात तो इसमें थी कि वे इस नतीजे पर पहुँचे कि संसार के सारे ही धर्म अपूर्ण है क्योंकि सभी अपूर्ण इंसानों द्वारा रचे गए हैं। वे मानते हैं कि संसार का कोई भी धर्म कालातीत नहीं है और इसलिए उनकी मूल मान्यताओं की समीक्षा करने का आदमी को अधिकार है। वे बार-बार जोर देकर कहते है कि धर्म की कमियों-बुराईयों से आप धर्म बदलकर नहीं लड़ सकते, क्योंकि आप अपने जन्म धर्म से निकलकर जिस धर्म में जायेंगे, वहाँ भी स्थितियां ऐसी ही मिलेगी। वे बार-बार कहते हैं कि हमें अपने-अपने जन्म धर्म को परिपूर्ण करने की ही कोशिश करते रहनी चाहिए, क्योंकि यह दूसरे धर्मावलंबियों को भी ऐसा प्रयास करने की प्रेरणा देता है। वे निजी विश्वासों के आधार पर धर्म परिवर्तन के अधिकार को स्वीकार करते है लेकिन उनकी आधारभूत मान्यता यह थी कि हमारी सावधान कोशिश यह होनी चाहिए कि सभी अपने धर्म के सच्चे अनुयायी बने, हम इसमें मदद करें।

धर्म कर्म प्रेरित होता है :

अपनी धर्म यात्रा में गांधी एक ऐसे मुकाम पर पहुँचे जहाँ उन्होंने कहा- ईश्वर ही सत्य है। लेकिन उसी यात्रा क्रम में वे आगे इस नतीजे पर पहुँचे कि ऐसी मान्यता से तो सभी संगठित धर्मों को यह मौका मिल जाता है कि वे अपने-अपने ईश्वरों को, दूसरे के ईश्वरों से आमने-सामने कर दे और फिर वही पुराना मुकाबला जारी रहे। और फिर उनका सफर बढ़ता हुआ इस मुकाम पर पहुँचा कि वे कह उठे- सत्य ही ईश्वर है। गांधीजी ने यह नई भूमिका हमारे सामने रखी। धर्म पीछे छूट गए, धार्मिकता अपनी पूरी प्रखरता के साथ उभर आई। इसलिए धर्मों को पीछे छोड़ते हुए वे हमें एक नए दायित्व से जोड़ गए- सबमें धार्मिकता को प्रतिष्ठित करो; वही ऐसे धर्म की प्रस्थापना करेगी जो सार्वभौम होगा।

महात्मा गांधी ने मानवतावादी दृष्टिकोण के आधार पर धर्म को कर्म से जोड़ा है, जिसमें सभी मूल्यों यथा प्रेम, अहिंसा, सेवा, सहिष्णुता इत्यादि तत्व शामिल है। गांधी के अनुसार धर्म केवल निजी शुद्धिकरण का साधन नहीं है, अपितु वह एक अत्यधिक शक्तिशाली सामाजिक बंधन है। भविष्य का अहिंसक समाज, जिसे गांधी ने रामराज्य का नाम दिया वह भी धर्म आधारित होगा। यहाँ धर्म का तात्पर्य किसी समप्रदाय विशेष नहीं बल्कि ईश्वर में विश्वास की पुनः स्थापना करना ही है। इसका अभिप्राय है कि सभी व्यक्ति ईश्वर के नियमों का सहयोग व सहिष्णुता की भावना के साथ पालन करे। जब समाज की नैतिक व्यवस्था का इस प्रकार मानसिक परिवर्तन हो जाएगा। वे धर्म परिवर्तन के विचार को गलत मानते थे, उनके अनुसार हृदय-परिवर्तन के बिना धर्म परिर्वतन फिजूल है। धार्मिक सहिष्णुता एवं मैत्री भाव का यही लक्ष्य होना चाहिए कि प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने धर्म का सबसे अच्छा अनुयायी कैसे हो। गांधी के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म पथप्रदर्शक रहा है इसलिए राजनीति में उन्होंने नीति को प्राथमिकता दी। मानव जीवन का कोई भी पहलू धर्म की परिधि से परे नहीं हो सकता और न ही धर्म से ऊँचा। मानवता की सेवा ही सच्चा धर्म है। गांधी ने सभी धर्म के प्रति समान

आदर प्रकट किया है और धार्मिक सहिष्णुता को महत्व दिया। धार्मिक सहिष्णुता से तात्पर्य है कि अन्य धर्म को अपने धर्म के समान ही समझना। सभी धर्म ईश्वर की देन हैं परन्तु उनमें मानव की अपूर्णता का पुट है क्योंकि वे मनुष्य की बुद्धि और भाषा के माध्यम से गुजरते हैं। सभी धर्मों में मानवता के कल्याण की भावना निहित है। सर्वधर्म सम्भाव से आध्यात्मिक अन्तर दृष्टि प्राप्त होती है और वह झगड़े की मूल जड़ धार्मिक कट्टरता से बहुत दूर है। सभी धर्म सच्चे हैं तथा सभी धर्मों में कुछ न कुछ दोष अवश्य है। इसलिए सभी धर्मों की अच्छाईयों को ग्रहण करना चाहिए। जिस धर्म में अपने साथी मनुष्य के प्रति घृणा सिखाता है तो उस धर्म की संज्ञा नहीं की जा सकती है।[6]

महात्मा गांधी द्वारा राजनीति का आध्यात्मीकरण करने का प्रयत्न किसी नई धार्मिक भावना या कट्टरता का घोतक नहीं है, बल्कि सामूहिक कार्यों में नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना करना है। गांधी ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते है क्योंकि ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, जगत दृष्टा और न्यायपालक मानते है। इसलिए गांधी को ईश्वरवादी वैष्णव कहना युक्तिसंगत होगा। उनका विश्वास है कि भगवान मानव और जगत में सर्वव्यापक सत्ता है। मानव कल्याण की भावना ही ईश्वर भक्ति है। गांधी ने धर्म के मानवीय पक्ष को महत्व दिया।

सर्वधर्म समभाव :

महात्मा गांधी ने सर्वधर्म समभाव का प्रबल समर्थन करते हुए कहा कि दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म की अपूर्णता स्वीकार भी आ जाती है। सत्य की अराधना, अहिंसा की कसौटी यही सिखाती है। सम्पूर्ण सत्य को हमने देख पाया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्या बात थी? तब तो हम परमेश्वर हो गये होते, क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं है, इसलिए उनका आग्रह करते हैं। इसी से पुरूषार्थ की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता की स्वीकृति आ गई है। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतंत्र धर्मसम्पूर्ण है। हमने उसे नहीं देखा है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से भी हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ सकते है। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मों को अपूर्ण मान लेते है तो फिर किसी ऊँच-नीच मानने की बात नहीं रह जाती है। समभाव होने पर भी उनमें दोष देख सकते हैं। हमें अपने में भी दोष देखना चाहिए। उस दोष के कारण उसका त्याग न करे, बल्कि दोष को दूर करें। इस प्रकार समभाव रखने से दूसरे धर्मों के ग्राह्य अंश को अपने धर्म में लेते संकोच न होगा। इतना ही नहीं बल्कि वैसा करना धर्म हो जाएगा।[7] सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते है। धर्मज्ञान होने पर ही धर्मान्धता मिटती है और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव से मानव अपना धर्म पहचानता है। धर्म का मूल एक है जैसे वृक्ष का, पर उनके पत्ते असंख्य है। मनुष्य स्वेच्छा से स्वधर्म को अंगीकार कर ले और उत्साह के साथ उसका पालन करे और यदि मनुष्य कर्मयोगी का निष्काम तथा निर्लिप्त जीवन बिताये तो उसे मोक्ष मिल सकता है।[8]

मानव सभ्यता के वर्तमान भौतिकवादी दौर में महात्मा गांधी के उपदेशों पर आधारित कर्मयोग *का सिद्धान्त एक आधारभूत योगदान है। वे कर्मण्यतापूर्ण* परोपकार के रूप में धर्म को नये ढंग के सामाजिक तथा राजनीतिक कर्म का आधार बनाना चाहते थे। उनका मत था कि समाज से धर्म का उन्मूलन करने का प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता और यदि कभी सफल हो सका तो उससे समाज का विनाश हो जायेगा। धर्म केवल निजी शुद्धिकरण का साधन नहीं है, अपितु वह एक अत्यधिक शक्तिशाली सामाजिक बंधन है। गांधी का भविष्य का रामराज्य धर्म पर आधारित होगा। किन्तु इस धर्म का तात्पर्य किसी विशेष सम्प्रदाय से नहीं बल्कि नैतिक व्यवस्था से है। धर्म गांधी के जीवन में इस प्रकार से प्रवेश कर गया था, जिस प्रकार वातावरण में वायु का प्रवेश होता है। इस कारण उनके प्रत्येक कार्यक्षेत्र में यह दृष्टिगोचर होता है। उनका धर्म अत्यन्त व्यावहारिक धर्म था। उनके लिए पवित्रता और मानव सेवा अभिन्न थे। आचार्य डॉ. राधाकृष्ण के अनुसार वे दुनिया के दुख के प्रति अति संवेदनशील थे और चाहते थे कि हर आँख का आँसू पोंछ सके।[9]

निष्कर्ष रूप में धर्म मानव-जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करने वाली वह व्यापक अभिवृत्ति है जो सर्वाधिक मूल्यवान, पवित्र, सर्वज्ञ तथा शक्तिशाली समझे जाने वाले आदर्श और अलौकिक उपास्य विषय के प्रति अखण्ड आस्था एवं पूर्ण प्रतिबद्धता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और जो मनुष्य के दैनिक आचरण तथा प्रार्थना, पूजा-पाठ, जप-तप आदि बाह्य कर्मकाण्ड में अभिव्यक्त होती है। महात्मा गांधी ने भी धर्म को व्यापक रूप प्रदान करते हुए समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उसके साथ सामंजस्य बैठाने का प्रयास किया। उनका आग्रह विशेषकर नैतिकता आधारित समाज की स्थापना से था और उदार सहिष्णुता और समभाव पर आधारित उनका मानव धर्म आज के दौर में बढ़ते हुए धार्मिक कट्टरवाद, उग्रवाद, हिंसा एवं पदलोलुप व नैतिकताविहीन राजनीति इत्यादि पर लगाम में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। सारतः धार्मिक संकीर्णता एवं देश काल के बंधन से स्वतंत्र उनका मानव धर्म आज और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है।

संदर्भ :

1. नवजीवन- 21 जुलाई 1929
2. हरिजन- 3 अक्टूबर 1936
3. मो.क. गांधी- गांधी टु हिन्दूज एण्ड मुस्लिम, अहमदाबाद, नवजीवन 1950 अध्याय 1-2
4. मो.क. गांधी- सम्पूर्ण गांधी वांङमय खण्ड-15 पृष्ठ 47
5. मो.क. गांधी- सम्पूर्ण गांधी वांङमय खण्ड-15 पृष्ठ 442
6. मो.क. गांधी- सम्पूर्ण गांधी वांङमय खण्ड-20 पृष्ठ 238
7. मो. क. गांधी- मंगल प्रभात, पृष्ठ 34
8. वी.पी. वर्मा- आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 344
9. संपादित गांधी- व्यक्तित्व, विचार और भूमिका से पृष्ठ 2

Research Reinforcement
ISSN 2348-3857
ISSN 2348-3857
Impact Factor : 4.213
Research Reinforcement
(A Peer Reviewed International Refereed Journal)
रिसर्च रिइन्फोर्समेंट
Volume 7
Issue 1
May 2019 - October 2019

ISSN 2348-3857

Research Reinforcement

(A PEER REVIEWED INTERNATIONAL REFEREED JOURNAL)

Contents

S.No.	Particulars	Page No.
1.	स्वतंत्रता प्राप्ति के सात दशक के उपरान्त विकास का सामाजिक व आर्थिक प्रभाव : समावेशी विकास के सन्दर्भ में सोनिका नागर एवं डॉ. प्रविता त्रिपाठी	1
2.	हिन्द महासागर में चीन के बढ़ते कदम और भारत: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन डॉ. विकास शर्मा	7
3.	सविनय अवज्ञा एक राजनीतिक चिन्तन : हेनरी डेविड थोरो डॉ. रुचि मिश्रा	11
4.	आर्य आक्रमण विमर्श और डॉ. भीमराव अम्बेडकर डॉ. मोहम्मद कामरान खान	19
5.	भारत की परमाणु नीति डॉ. अनिल कुमार यादव	26
6.	अध्यापक शिक्षा में महिला संदर्भित अनुसंधानों की प्रवृत्ति का संबंधित साहित्य के सन्दर्भ में अध्ययन डॉ. अजय सुराणा एवं गौरव रानी	32
7.	पं. जवाहरलाल नेहरू और भारतीय लोकतंत्र डॉ. बीना महलावत	38
8.	राष्ट्रीय आन्दोलन में राजस्थान की भूमिका डॉ. संजीव कुमार	43
9.	ग्रामीण समाज में परिवर्तन दिनेश कुमार	49
10.	राम मनोहर लोहिया का समाजवाद विनोद कुमार प्रजापत	54
11.	हॉन्गकॉन्ग प्रो- डेमोक्रेसी मूवमेंट और चीन की एक देश दो प्रणाली की नीति डॉ. बबीता चौधरी	61
12.	आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य के राजनीतिक विचारों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव : एक मूल्यांकन डॉ. राजेश रावत	64

Research Reinforcement | A Peer Reviewed International Refereed Journal | ISSN 2348-3857
UGC App. No. 64785 | Impact Factor (IIJIF): 4.213 | Vol. 7, Issue 1 | May 2019 - Oct. 2019 | pp. 49-53

ग्रामीण समाज में परिवर्तन

दिनेश कुमार

शोधार्थी, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

शोध सारांश

भारतीय समाज प्रारम्भिक रूप से ग्रामीण समाज है। भारतीयों के लिए भूमि, उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन है। हमारी बहुत सी सांस्कृतिक रस्मों के पीछे कृषि की पृष्ठभूमि होती है। ग्रामीण भारत में व्यवसायों की भिन्नता यहाँ की जाति व्यवस्था में प्रतिबिंबित होती है। ग्रामीण नगरीय अर्थव्यवस्था के परस्पर अंत: सम्बन्ध से कई व्यवसाय गाँवों में आ रहे हैं। अछूत अथवा दलित जाति के लोग अधिकांशत: प्रबल जाति के भूस्वामी समूहों के लोगों के यहाँ कृषि मजदूर रहते थे। ब्रिटिश काल के दौरान जमींदारी व्यवस्था पर एक परिणाम यह हुआ कि कृषि उत्पादन कम होने लगा। ब्रिटिश शासन के अधीन भू-प्रबंध रैयतवाड़ी व्यवस्था के द्वारा होता था। भारत के स्वतंत्र होने के बाद नियोजित विकास कार्यक्रमों की तरफ ध्यान केन्द्रित किया। हरित क्रांति के द्वारा पहली बार भारत खाद्यान्न उत्पादन में स्वावलम्बी बनने में सक्षम हुआ। पर्यावरण तथा समाज पर कृषि के आधुनिक तरीकों के नकारात्मक प्रभाव को देखते हुए बहुत से वैज्ञानिक तथा कृषक आंदोलन अब कृषि के पारम्परिक तरीकों की ओर लौटने की सलाह दे रहे हैं। प्रवसन तथा काम की सुरक्षा के अभाव में इन मजदूरों के कार्य तथा जीवन दशाएँ खराब हो जाती हैं। उदारीकरण की नीति का कृषि तथा ग्रमीण समाज पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। जहाँ संविदा खेती किसानों को वित्तीय सुरक्षा प्रदान करती है वहीं यह किसानों के लिए अधिक असुरक्षा भी बन जाती है। कृषि के मुद्दे अब सार्वजनिक मुद्दे नहीं रहे हैं तथा गतिशीलता के अभाव के कारण कृषक शक्तिशाली दबाव समूह बनाने में असमर्थ है जो नीति निर्धारण अपने पक्ष में करवा सके।

संकेताक्षर : *प्रतिबिंबित, प्रबल, नियोजित विकास, प्रवसन, संविदा*

प्रस्तावना

भारतीय समाज प्रारम्भिक रूप से ग्रामीण समाज ही है। हालांकि यहाँ शहरीकरण बढ़ रहा है। भारत के बहुसंख्यक लोग गाँव में ही रहते हैं (68.8 प्रतिशत, 2011 की जनगणना के अनुसार) उनका जीवन कृषि अथवा उससे संबंधित व्यवसायों से चलता है। यहाँ बहुत से भारतीयों के लिए भूमि उत्पादन का एक महत्वपूर्ण साधन है। भूमि उत्पादन, संपत्ति और न केवल कृषि का साधन है बल्कि जीविका का एक प्रकार है। यह जीने का एक तरीका भी है। हमारी बहुत सी सांस्कृतिक रस्मों के पीछे कृषि की पृष्ठभूमि होती है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में नववर्ष के त्योहार जैसे तमिलनाडु में पोंगल, आसाम में बीहू, पंजाब में बैशाखी, कर्नाटक में उगाड़ी ये सब मुख्य रूप से फसल काटने के समय मनाए जाते है और नए कृषि मौसम के आने की घोषणा करते हैं।

कृषि एवं संस्कृति के बीच एक घनिष्ठ संबंध है। ग्रामीण भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना दोनों कृषि और कृषि संबंधी जीवन पद्धति से बहुत निकटता से जुड़ी हुई है। बहुत से ऐसे क्रियाकलाप है जो कृषि और ग्राम्य जीवन की मदद के लिए है और वे ग्रामीण भारत में लोगों के जीविका के स्रोत है। बहुत से कारीगर, दस्तकार जैसे कुम्हार, खाती, जुलाहे, लुहार एवं सुनार भी ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं वे ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एक अंग है औपनिवेशिक काल से ही उनकी संख्या में कमी आ रही है। मशीनों से बने सामानों ने उनके हाथ से बनी हुई वस्तुओं का स्थान ले लिया है। ग्रामीण भारत में व्यवसायों की भिन्नता यहाँ की जाति व्यवस्था में प्रतिबिंबित होती है, जहाँ कि कुछ क्षेत्रों में विशेषज्ञ और अपनी सेवाएं देने वाले धोबी, कुम्हार एवं सुनार इत्यादि सम्मिलित होते हैं। इनमें से कुछ परंपरागत व्यवसाय आज टूट रहे हैं। लेकिन ग्रामीण नगरीय अर्थव्यवस्था के परस्पर अंत: सम्बन्ध से कई व्यवसाय गाँवों में आ रहे हैं। गाँव में रहने वाले लोग सरकारी नौकरी जैसे डाकखाने में, शिक्षा विभाग में, कारखाने में कामगार

या सेना की नौकरी करते हैं, उनकी जीविका अकृषि क्रियाकलापों से चलती है।

भारत के कुछ भागों में अधिकांश लोगों के पास कुछ न कुछ भूमि होती है आमतौर पर जमीन का छोटा टुकड़ा होता है। कुछ दूसरे भागों में 40 से 50 प्रतिशत परिवारों के पास कोई भूमि नहीं होती है। उनकी जीविका या तो कृषि मजदूरी या अन्य प्रकार के कार्यों से चलती है। इसका अर्थ यह हुआ कि बड़ी संख्या में लोग गरीबी की रेखा के ऊपर या नीचे होते हैं।

मध्यम और बड़ी जमीनों के मालिक साधारणत: कृषि से पर्याप्त अर्जन ही नहीं बल्कि अच्छी आमदनी भी कर लेते हैं लेकिन कृषि मजदूरों को अक्सर निम्नतम निर्धारित मूल्य से कम दिया जाता है और वे बहुत कम कमाते हैं। समान रूप से काश्तकार या पट्टेधारी की आमदनी मालिक कृषकों से कम होती है।

हम प्राय: यह सोचते हैं कि ऊँची जातिवाले के पास अधिक भूमि और आमदनी होती है और यह कि जाति और वर्ग में पारस्परिकता है, उनका संस्तरण नीचे की ओर होता है। कुछ क्षेत्रों में यह मोटे तौर पर सही है लेकिन पूर्ण सत्य नहीं है। भारत के अधिकांश क्षेत्रों में भूस्वामित्व वाले समूह के लोग 'शूद्र' या 'क्षत्रिय' वर्ग के है। समाजशास्त्री एम.एन.श्री निवास ने ऐसे लोगों को प्रबल जाति का नाम दिया, प्रत्येक क्षेत्र में, प्रबल जाति समूह काफी शक्तिशाली होता है। आर्थिक और राजनीतिक रूप से वह स्थानीय लोगों पर प्रभुत्व बनाए रखता है। भारत के कई भागों में पहले 'अछूत' अथवा दलित जाति के लोगों को भूमि रखने का अधिकार नहीं था, वे अधिकांशत: प्रबल जाति के भूस्वामी समूहों के लोगों के यहाँ कृषि मजदूर रहते थे। इसमें एक मजदूर सेना बनी जिससे भूस्वामियों ने खेत जुतवाकर कृषि करवाई और ज्यादा लाभ कमाया।

देश के अधिकतर क्षेत्रों में एक स्वत्वाधिकारी जाति के पास सभी महत्वपूर्ण साधन हैं और सभी मजदूरों पर उनका नियंत्रण है ताकि वे उनके लिए काम करें। उत्तरी भारत के कई भागों में अभी भी 'बेगार' और मुफ्त मजदूरी जैसी पद्धति प्रचलन में है। गुजरात में इस व्यवस्था को हलपति के नाम से जाना जाता है। हालांकि कानूनन इस तरह की व्यवस्थाएँ समाप्त हो गई है, लेकिन वे कई क्षेत्रों में अभी भी चल रही हैं। उत्तरी बिहार में एक गाँव में अधिकतर भूस्वामी भूमिहार हैं, यह भी एक प्रबल गति है।

कृषि संबंधी संरचना पूर्व औपनिवेशिक से औपनिवेशिक और स्वतंत्रता के पश्चात् वृहद् रूप में परिवर्तित होती रही। जबकि वहीं प्रबल जाति पूर्व औपनिवेशिक काल में भी कृषक जाति थी, वे प्रत्यक्ष रूप में जमीन के मालिक नहीं थे। इनके स्थान पर, शासन करने वाले समूह जैसे कि स्थानीय राजा या जमींदार भूमि पर नियंत्रण रखते थे। किसान अथवा कृषक जो कि उस भूमि पर कार्य करता था वह फसल का पर्याप्त भाग उन्हें देता था। जब ब्रिटिश औपनिवेशिक भारत में आगे आए, तो उन्होंने कई क्षेत्रों में इन स्थानीय जमीदारों द्वारा ही काम चलवाया। उन्होंने जमीदारों को संपत्ति के अधिकार भी दे दिए। ब्रिटिश लोगों के लिए काम करते हुए उन्हें जमीन पर पहले से ज्यादा नियंत्रण मिला। हालाँकि औपनिवेशिकों ने कृषि भूमि पर बहुत बड़ा टैक्स लगा दिया था, जमीदार कृषक से टैक्स के रूप में जितनी ज्यादा उपज और पैसा ले सकते थे, ले लेते थे। जमींदारी व्यवस्था पर एक परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिशकाल के दौरान कृषि उत्पादन कम होने लगा। जमीदारों ने किसानों का शोषण किया साथ ही बार-बार पड़ने वाले अकाल और युद्ध ने जनता को एक तरह से मार डाला।

औपनिवेशिक भारत में बहुत से जिलों का प्रशासन जमीदारी व्यवस्था द्वारा चलता था। अन्य क्षेत्रों में यह सीधा ब्रिटिश शासन के अधीन था, जिसमें भू प्रबंध रैयतवाड़ी व्यवस्था के द्वारा होता था। इस व्यवस्था में जमीदार के स्थान पर वास्तविक कृषक ही टैक्स चुकाने के लिए जिम्मेदार होते थे। इसमें टैक्स का भार कम होता था और कृषकों को भूमि में निवेश के लिए अधिक प्रोत्साहन मिलता था।

भारत के स्वतंत्र होने के बाद नेहरू और उनके नीति सलाहकारों ने नियोजित विकास के कार्यक्रमों की तरफ ध्यान केन्द्रित किया कृषि सुधारों के साथ ही साथ औद्योगीकरण भी इसमें शामिल था। पहला सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन था जमींदारी व्यवस्था को समाप्त करना इससे उन बिचौलियों की फौज समाप्त हो गयी जो कि कृषक और राज्य के बीच में थी। हालांकि जमीदारी उन्मूलन ने भूसामंतवाद या पट्टेदारी या साझाकृषि व्यवस्था को पूरी तरह साफ नहीं किया गया, यह कई क्षेत्रों में चलता रहा। यह भूमि सामंतवाद केवल सबसे ऊपरवाली परतों में ही समाप्त हुआ।

भू-सुधार के कानूनों के अन्तर्गत अन्य मुख्य कानून था पट्टेदारी का उन्मूलन और नियंत्रण या नियमन अधिनियम। अधिकतर राज्यों में यह कानून कभी भी प्रभावशाली तरीके से लागू नहीं किया गया। भूमि सुधार की तीसरी मुख्य श्रेणी में भूमि की हदबंदी अधिनियम थे। इन कानूनों के तहत एक विशिष्ट परिवार के लिए जमीन रखने की उच्चतम सीमा तय की गई प्रत्येक क्षेत्र में हदबंदी भूमि के प्रकार, उपज और अन्य इसी प्रकार के कारकों पर निर्भर थी। बहुत अधिक उपजाऊ, बिना पानी वाली जमीन की हदबंदी अधिक सीमा तक थी। यह संभवत: राज्यों का कार्य था कि अतिरिक्त

भूमि (हदबंदी सीमा से ज्यादा) को वह अधिगृहीत कर तय की गई श्रेणी के अनुसार अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति में वितरित कर दे परन्तु अधिकांश राज्यों में ये अधिनियम दंतविहीन साबित हुए। इसमें बहुत से बचाव के रास्ते और युक्तियाँ थी जिसमें परिवारों और घरानों ने अपनी जमीन को राज्यों को देने से बचा लिया था। हालाँकि कुछ बड़ी जागीरों को तोड़ दिया गया, लेकिन अधिकतर मामलों में भूस्वामियों ने अपनी भूमि रिश्तेदारों या अन्य लोगों के बीच विभाजित कर दी। मोटे तौर पर कहें तो यह कहा जा सकता है कि हालाँकि इसें औपनिवेशिक काल से अब तक वास्तव में परिवर्तन आया, लेकिन अभी भी बहुत असमानता बची हुई है। इस संरचना ने कृषि संबंधी उपज पर ध्यान खींचा। भूमि सुधार न केवल कृषि उपज को अधिक बढ़ाने के लिए बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों से गरीबी हटाने और सामाजिक न्याय दिलाने के लिए भी आवश्यक है।

हैडिंग भूसुधार का ग्रामीण समाज तथा कृषिक संरचना पर एक सीमित प्रभाव पड़ा। इसके विपरीत 1960-70 के दशकों की हरितक्रांति द्वारा उन क्षेत्रों में जहाँ यह प्रभावशाली रही महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। हरितक्रांति कृषि आधुनिकीकरण का एक सरकारी कार्यक्रम था। यह कार्यक्रम मुख्य रूप से गहूँ तथा चावल उत्पाद करने वाले क्षेत्रों पर ही लक्षित था। इन क्षेत्रों में त्वरित सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों ने समाजशास्त्रियों द्वारा हरित क्रांति के बारे में श्रृंखलाबद्ध अध्ययनों तथा जोरदार वादविवादों की बाढ़ ला दी। दशकों बाद पहली बार भारत खाद्यान्न उत्पादन में स्वावलंबी बनने में सक्षम हुआ। हालाँकि इसके कुछ नकारात्मक सामाजिक तथा पर्यावरण के विपरीत प्रभावों की ओर हरित क्रांति के क्षेत्रों का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियों ने संकेत किया है। हरित क्रांति और इसके बाद होने वाले कृषि व्यापारीकरण का मुख्य लाभ उन किसानों को मिला जो बाजार के लिए अतिरिक्त उत्पादन करने में सक्षम थे।

इस प्रकार हरित क्रांति के प्रथम चरण, 1960 तथा 1970 के दशकों में नई तकनीक के लागू होने से ग्रामीण समाज में सामाजिक असमानताएँ बढ़ने का आभास हुआ। अच्छी आर्थिक स्थिति वाले किसान लाभान्वित हुए तथा पट्टेदार कृषक बेदखल हुए क्योंकि अब सीधे कृषि कार्य करना अधिक लाभदायक था। इससे धनी किसान और अधिक सम्पन्न हो गये तथा भूमिहीन तथा सीमांत भू-धारकों की दशा और बिगड़ गई। कृषि उपकरणों के प्रयोग ने सेवा प्रदान करने वाली जातियों के उन समूहों को भी बेदखल कर दिया जो इन कृषि संबंधी क्रियाकलापों को करते थे। इस बेदखली की प्रक्रिया ने ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों की ओर प्रवसन की गति को और बढ़ा दिया। हरितक्रांति की रणनीति की एक नकारात्मक परिणति क्षेत्रिय असमानताओं में वृद्धि थी। वे क्षेत्र जहाँ यह तकनीकी परिवर्तन हुआ अधिक विकसित हो गये जबकि अन्य क्षेत्र पूर्ववत रहे। जाति तथा वर्ग की तीक्ष्ण असमानताओं तथा शोषणकारी मजदूर संबंधों ने इन क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की हिंसा जिसमें अंतर्जातीय हिंसा सम्मिलित है को हाल के वर्षों में बढ़ावा दिया है।

ऐसी बहुत सी जानकारी जैसे बीजों की बहुत सी पारंपरिक किस्में जिन्हें किसानों ने सदियों से उन्नत किया था, लुप्त होती जा रही है, क्योंकि संकर तथा जैविक सुधार वाले बीजों की किस्मों को अधिक उत्पादकता वाले तथा 'वैज्ञानिक' बीजों के रूप में प्रोत्साहित किया जा रहा है। पर्यावरण तथा समाज पर कृषि के आधुनिक तरीकों के नकारात्मक प्रभाव को देखते हुए, बहुत से वैज्ञानिक तथा कृषक आन्दोलन अब कृषि के पारंपरिक तरीकों तथा अधिक सावयवी बीजों के प्रयोग की ओर लौटने की सलाह दे रहे हैं। हैडिंग स्वातंत्र्योत्तर काल में ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक संबंधों की प्रकृति में अनेक प्रभावशाली रूपांतरण हुए, विशेषत: उन क्षेत्रों में जहाँ हरितक्रांति लागू हुई। ये बदलाव थे :-

- गहन कृषि के कारण कृषि मजदूरों की बढ़ोतरी
- भुगतान में अनाज के स्थान पर नकद भुगतान
- परंपरिक बंधनों में शिथिलता अथवा भूस्वामी एवं किसान या कृषि मजदूरों के मध्य पुश्तैनी संबंधों में कमी होना
- 'मुक्त' दिहाड़ी मजदूरों के वर्ग का उदय

ऐसे परिवर्तन उन तमाम क्षेत्रों में हुए जहाँ कृषि का व्यापारीकरण अधिक हुआ। मजदूर संबंधों का यह बदलाव कुछ विद्धानों द्वारा पूँजीवादी कृषि की ओर एक बदलाव के रूप में देखा गया। समाजशास्त्री जानब्रेमन ने इसे 'संरक्षण से शोषण' की ओर बदलाव के रूप में कहा है। इस प्रक्रिया से मुद्रा का गाँवों की ओर बहाव बढ़ा तथा व्यापार के अवसरों व रोजगार में विस्तार हुआ। प्रबल जातियों के संपन्न किसानों ने कृषि से होने वाले लाभ को अन्य व्यापारों में निवेश करना प्रारम्भ कर दिया। विविधता की इस प्रक्रिया से नए उद्यमी समूहों का उदय हुआ जिन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में इन विकासशील क्षेत्रों के बढ़ते कस्बों की ओर पलायन किया, जिससे नए क्षेत्रीय अभिजात वर्गों का उदय हुआ जो आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से प्रबल हो गये। वर्ग संरचना के इस परिवर्तन द्वारा ग्रामीण अभिजात वर्ग अपने बच्चों को शिक्षित करना संभव हुआ। जिन्होंने स्वयं को एक गतिमान उद्यमी, ग्रामीण नगरीय प्रबल वर्ग के रूप में परिवर्तित कर लिया।

हरित क्रांति के संपन्न क्षेत्रों में कृषि मजदूरों की मांग बढ़ने से मौसमी पलायन का एक प्रतिमान उभरा। जीवन व्यापार की रणनीति के तौर पर पुरूष समय-समय पर काम तथा अच्छी मजदूरी की खोज में पलायन कर जाते हैं। पलायन करने वाले मजदूरों को जान ब्रेमन ने 'घुमक्कड़ मजदूर' (फूटलूज लेबर) कहा है। इसके विपरीत ब्रेमन (1982) का अध्ययन बताता है कि भूमिहीन मजदूरों के पास बहुत से अधिकार नहीं होते, धनी किसान अक्सर फसल काटने तथा इसी प्रकार की अन्य गहन कृषि क्रियाओं के लिए स्थानीय कामकाजी वर्ग के स्थान पर, प्रवसन करने वाले मजदूरों को प्राथमिकता देते हैं, क्योंकि प्रवसन करने वाले मजदूरों का आसानी से शोषण किया जा सकता है। प्रवसन तथा काम की सुरक्षा के अभाव में इन मजदूरों के कार्य तथा जीवन दशाएँ खराब हो जाती हैं।

जहाँ परिवार के पुरूष सदस्य वर्ष का अधिकतर हिस्सा गाँवों के बाहर काम करने में बिताते हैं, कृषि मूलरूप से महिलाओं का कार्य बन गया है। जिससे कृषि मजदूरों का महिलाकरण हो रहा है। अभी हाल तक सरकारी आँकड़ों में कमाने वालों तथा मजदूरों के रूप में महिलाएँ मुश्किल से नजर आती थी जबकि महिलायें भूमि पर भूमिहीन मजदूर तथा कृषक के रूप में श्रम करती है।

उदारीकरण की नीति जिसका अनुसरण भारत 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध से कर रहा है, का कृषि तथा ग्रामीण समाज पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। दशकों तक सरकारी सहयोग और संरक्षित बाजारों के बाद भारतीय किसान अंतर्राष्ट्रीय बाजार से प्रतिर्स्पधा हेतु प्रस्तुत है। किसानों ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों से कुछ निश्चित फसले (जैसे-टमाटर और आलू) उगाने की संविदा दी गई है, जिन्हें ये कंपनियाँ उनसे प्रसंस्करण अथवा निर्यात हेतु खरीद लेती है। ऐसी 'संविदा खेती' पद्धति में कंपनियाँ उगाई जाने वाली फसलों की पहचान करती हैं, बीज तथा अन्य वस्तुएँ निवेशों के रूप में उपलब्ध करवाती है। साथ ही जानकारी तथा अक्सर कार्यकारी पूँजी भी देती है। बदले में किसान बाजार की ओर से आश्वस्त रहता है क्योंकि कम्पनी पूर्व निर्धारित तय मूल्य पर उपज के क्रम का आश्वासन देती है। जहाँ 'संविदा खेती' किसानों को वित्तीय सुरक्षा प्रदान करती है वहीं यह किसानों के लिए अधिक असुरक्षा भी बन जाती है क्योंकि वे अपने जीवन व्यापार के लिए इन कम्पनियों पर निर्भर हो जाते हैं। 'संविदा खेती' का समाजशास्त्रीय महत्व यह है कि यह बहुत से व्यक्तियों को उत्पादन प्रक्रिया से अलग कर देती है तथा उनके अपने देशीय कृषि ज्ञान को निरर्थक बना देती है। 'संविदा खेती' में अक्सर खाद तथा कीटनाशक का उच्च मात्रा में प्रयोग करते हैं, इसलिए यह बहुधा पर्यावरणीय दृष्टि से सुरक्षित नहीं होती।

कृषि के भूमंडलीकरण का एक अन्य पक्ष 'कृषि विस्तार' एजेंटों का स्थान गाँव के बीज, खाद तथा कीटनाशक कम्पनियों के एजेंटों ने ले लिया है। ये एजेन्ट अक्सर किसानों के लिए नये बीजों तथा कृषि कार्य हेतु जानकारी का एक मात्र स्रोत होते हैं और नि:संदेह वे अपने उत्पाद बेचने के इच्छुक होते हैं। इससे किसानों की महंगी खाद और कीटनाशकों पर निर्भरता बढ़ी है, जिससे उनका लाभ कम हुआ है, बहुत से किसान ऋणी हो गये हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों में पर्यावरण संकट भी पैदा हुआ है।

निष्कर्ष

वस्तुत: भारत में किसान सदियों से समय-समय पर सूखे, फसल न होने अथवा ऋण के कारण परेशानी का सामना करते रहे हैं। किसानों द्वारा आत्म हत्या की प्रघटना नयी जान पड़ती है। इस प्रघटना की व्याख्या समाजशास्त्रीयों ने कृषि तथा कृषिक समाज में होने वाले संरचनात्मक तथा सामाजिक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में करने का प्रयास किया है। आत्म हत्या करने वाले बहुत से किसान 'सीमांत किसान' थे। जो मूल रूप से हरितक्रांति के तरीकों का प्रयोग करके अपनी उत्पादकता बढ़ाने का प्रयास कर रहे थे। किसान अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए महँगे मदों में निवेश करने हेतु अत्यधिक उधार लेते हैं। खेती का न होना तथा कुछ मामलों में उचित आधार अथवा बाजार मूल्य के अभाव के कारण किसान कर्ज का बोझ उठाने अथवा अपने परिवारों को चलाने में असमर्थ होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की परिवर्तित होने वाली संस्कृति के लिए अधिक आय की आवश्यकता होती है जिससे ऐसी परेशानियों की तीव्रता बढ़ जाती है।

कृषि के मुद्दे अब मुख्य सार्वजनिक मुद्दे नहीं रहे हैं, तथा गतिशीलता के अभाव के कारण कृषक शक्तिशाली दबाव समूह बनाने में असमर्थ है जो नीति निर्धारण अपने पक्ष में करवा सके अथवा नीति को प्रभावित कर सके।

संन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. अग्रवाल, बीना, अ फिल्ड ऑफ़ वन्स आन : जेंडर एंड लैंड राइट्स इन साऊथ एशिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, 1994
2. ब्रेमन, जॉन, पेट्रोनेज एंड एक्सप्लॉयटेशन : चेजिंग अग्रेरियन रिलेशन्स इन साउथ गुजरात, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफॉर्निया प्रेस, बर्कले, 1974
3. ब्रेमन, जॉन, ऑफ पीजेंट्स, माईग्रेंट्स एंड पॉपर्स : रूरल लेबर सरकुलेशन एंड केपिटलिस्ट प्रोडक्शन इन वेस्ट इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1985

4. ब्रेमन, जॉन, और सुदीप्तो, मुडेल (सं), रूरल ट्रांसफॉरमेशन इन एशिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1991
5. दास, राजू जे., ज्योग्रॉफिकल अनइवननेस ऑफ इंडियाज़ ग्रीन रिवोल्यूशन, जनरल ऑफ कंटेपोरेरी एशिया, 29(2), 1999
6. गुप्ता, अखिल, पोस्टकॉलोनियल डेवलपमेंट्स : एग्रीकल्चर इन द मेकिंग ऑफ मार्डन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1998
7. कुमार, धर्म, कॉलोनियलिज़्म, प्रॉपर्टी एंड द स्टेट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1998
8. रूट्टन, मारियो, फार्म्स एंड फैक्टस : सोशल प्रोफाइल ऑफ लार्ज फारमर्स एंड रूरल इंडस्ट्रियलिस्ट इन वेस्ट इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1995
9. श्रीनिवास, एम.एन. द डोमिनेन्ट कास्ट एंड अदर ऐसेज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1987
10. सुरी, के.सी., पॉलिटिकल इकोनॉमी ऑफ एग्रेरियन डिस्ट्रेस, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली 41 : 1523-29, 2006
11. थॉर्नर, एलिस, सेमी-फ्यूडर और केपिटलिज्म कंटेपोरेरी डिबेट ऑन क्लासेज एंड मोड्स ऑफ प्रोडक्शन इन इंडिया, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली 17:1961-68, 1993-99, 2061-66, 1982
12. थॉर्नर, डेनियल, एग्रीरियन स्ट्रक्चर, दीपशंकर गुप्ता (संघ), सोशल स्ट्राटीफिकेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1991
13. बसवी, ए.आर. हाइबिड टाइम्स, हाइबिड पीपल : कल्चर एंड एग्रीकल्चर इन साउथ इंडिया, मेन, जनरल ऑफ द रॉयल एंथ्रोप्लॉजी सोसाइटी, (29) 21, 1994
14. वासवी, ए.आर., एग्रीरियल डिस्ट्रेस इन बिहार : स्टेट, मार्केट एंड सुसाइड्स, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 34:2263-68, 1999
15. वासवी, ए.आर., हरब्रिंगर्स ऑफ रेन : लेंड एंड लाइफ इन साउथ इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1999

Research Reinforcement
ISSN 2348-3857

Research Reinforcement

(A Peer Reviewed International Refereed Journal)

Impact factor - 4.213
Listed by UGC - 64785

Certificate of Publication

This is to certify that manuscript entitled

ग्रामीण समाज में परिवर्तन

Authored by

दिनेश कुमार

Is published in volume 7 • Issue 1 • May. 2019 - October 2019

Date : 31.12.2019

Paper ID - RRJ122019H09

Dr. Archana Bansal
Editor

International Innovative Journal Impact Factor (IIJIF)

Dr. Pankaj Gupta
Editor in Chief

CENTRE FOR GANDHIAN STUDIES

&

CENTRE FOR JAIN STUDIES

University of Rajasthan, Jaipur - 302004

Certificate

Certified that Mr. / Ms./ Dr. Dinesh Kumar, Research Scholar of the Department Vardhman Mahaveer Open University, Kota participated in the International Seminar on " Tradition of Nonviolence : Changing Context" held at Gandhi Bhawan, University of Rajasthan, Jaipur on 14th & 15th February, 2015. He / ~~She~~ presented a paper on "अहिंसा की परम्परा: समकालीन सन्दर्भ"

Prof. Sanjeev Bhanawat
Organising Secretary & Director
Centre for Jain Studies
University of Rajasthan, Jaipur

Prof. Vidya Jain
Chairperson & Director
Centre for Gandhian Studies
University of Rajasthan, Jaipur

INDIAN SOCIETY OF GANDHIAN STUDIES

38th Annual Conference
on
Debating Gandhi

21st - 23rd November, 2015

CERTIFICATE

This is to Certify that Mr./Ms./Dr./Prof. Dinesh Kumar (Research Scholar)
from VMOU, Kota
has participated as Chair / Co-Chair / Keynote Speaker / presented a paper titled
अहिंसा : विकासशील प्रक्रिया in the Conference
organized by Department of Lifelong Learning-University of Rajasthan, University Rajasthan College & Bagru Mahila PG Mahavidyalaya at Jaipur.

Dr. M.S. Dadage
President, ISGS

Dr. B.L. Devanda
Local Organizing Secretary

Sheila Rai
Dr. Sheila Rai
General Secretary, ISGS

ULP National Seminar
on
"Indian Democracy: Institutions & Processes"

organized by

Department of Political Science

University of Rajasthan, Jaipur

(19th - 20th January, 2016)

This is to certify that Prof./Dr./Mr./Ms./ Dinesh Kumar

Department ..... University/Institute/College VMOU Kota

has participated in the two days ULP National Seminar on ***"Indian Democracy: Institutions & Processes "*** organised by the Department of Political Science, University of Rajasthan, Jaipur 19th- 20th January, 2016. He/She presented a paper titled राज्य, नागरिक समाज और लोकतंत्र

(Prof. Shashi Sahay)	**(Dr. Rajesh Kumar Sharma)**	**(Prof. Naresh Dadhich)**
Convenor	*Co-convenor*	*Head & Director*

INDIAN SOCIETY OF GANDHIAN STUDIES

40th Annual Conference

on

Gandhi and Indian Culture

31st October to 2nd November, 2017

Certificate

This is to Certify that Mr./Ms./Dr./Prof. Dinesh Kumar

from VMOU - KOTA (RAJ)

has participated as Chair / Co-Chair / Keynote Speaker / Paper Author / Co-Author / Delegate and presented a paper on गांधी चिन्तन में धर्म की अवधारणा

in the Conference organized by Gandhi Smriti and Darshan Samiti, Tees January Marg, Rajghat, New Delhi.

Dr. Sheila Rai
President, ISGS

Dipankar Srigyan (Director, GSDS)
Local Organizing Secretary

Dr. Sudhira Chandra Jena
General Secretary, ISGS

यू. एल. पी. राष्ट्रीय संगोष्ठी

समकालीन वैश्विक मुद्दे : गाँधीय विकल्प

राजनीति विज्ञान विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
(26-27 मार्च, 2019)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रो./डॉ./श्री/सुश्री Dinesh Kumar (Reasearch Scholar) VMOUniversity ने राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा आयोजित "**समकालीन वैश्विक मुद्दे : गाँधीय विकल्प**" विषयक दो दिवसीय संगोष्ठी में सत्राध्यक्ष/मुख्यवक्ता/पत्र प्रस्तोता के रूप में भाग लिया और महात्मा गांधी का पर्यावरणीय दृष्टिकोण शीर्षक से शोध-पत्र प्रस्तुत किया ।

डॉ. राकेश कुमार झा
संगोष्ठी समन्वयक

डॉ. राजेश कुमार शर्मा
आयोजन सचिव

प्रो. निधि लेखा शर्मा
विभागाध्यक्ष एवं निदेशक यू.एल.पी.

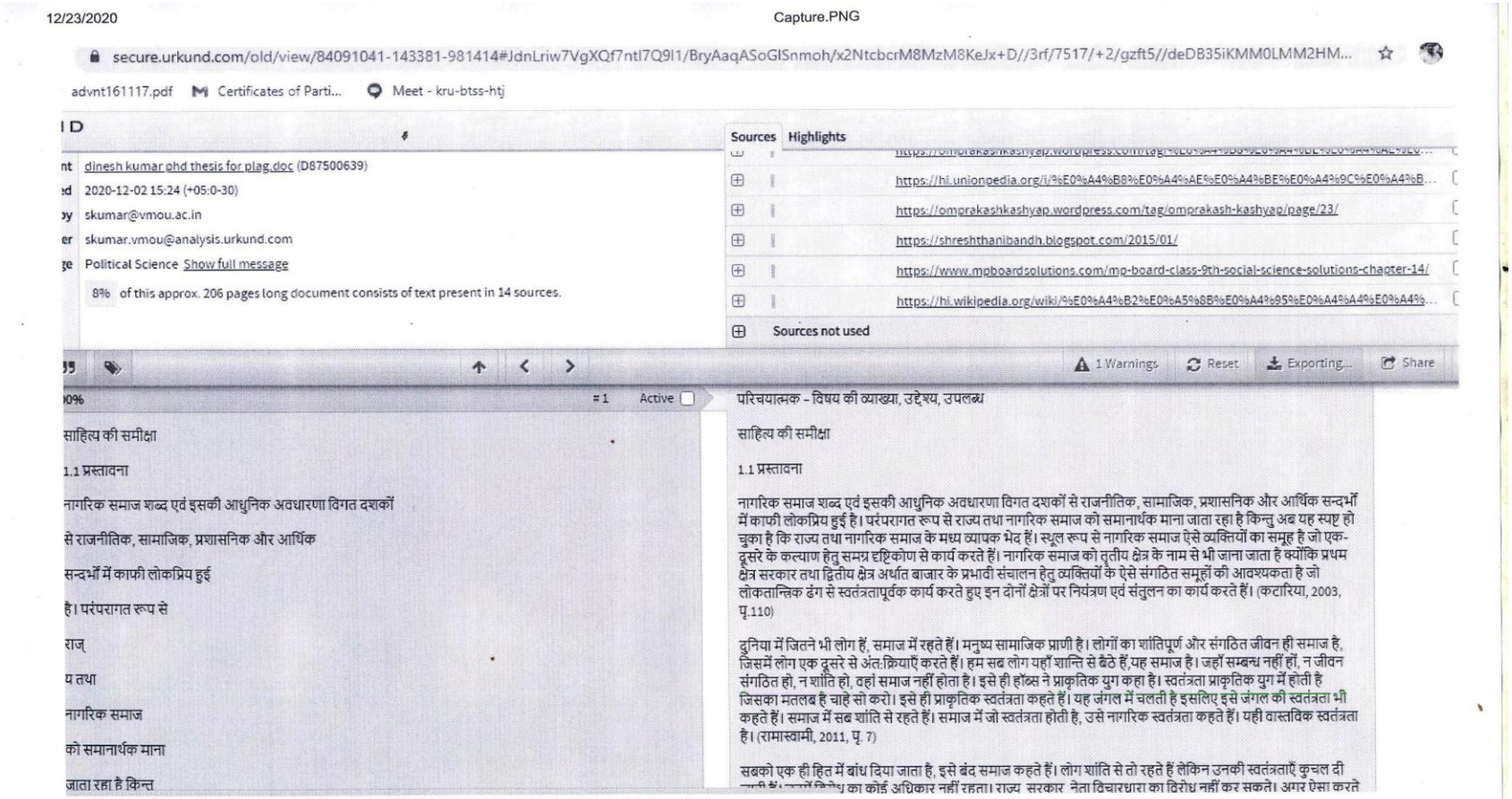
secure.urkund.com/old/view/84091041-143381-981414#JdnLriw7VgXQf7ntl7Q9l1/BryAaqASoGISnmoh/x2NtcbcrM8MzM8KeJx+D//3rf/7517/+2/gzft5//deDB35iKMM0LMM2HM...
advnt161117.pdf
Certificates of Parti...
Meet - kru-btss-htj
ID
dinesh kumar phd thesis for plag.doc (D87500639)
2020-12-02 15:24 (+05:0-30)
skumar@vmou.ac.in
skumar.vmou@analysis.urkund.com
Political Science Show full message
8% of this approx. 206 pages long document consists of text present in 14 sources.
Sources
Highlights
https://hi.unionpedia.org/i/%E0%A4%B8%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%9C%E0%A4%B...
https://omprakashkashyap.wordpress.com/tag/omprakash-kashyap/page/23/
https://shreshthanibandh.blogspot.com/2015/01/
https://www.mpboardsolutions.com/mp-board-class-9th-social-science-solutions-chapter-14/
https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B2%E0%A5%8B%E0%A4%95%E0%A4%A4%E0%A4%...
Sources not used
1 Warnings
Reset
Exporting...
Share
0%
= 1
Active
साहित्य की समीक्षा
1.1 प्रस्तावना
नागरिक समाज शब्द एवं इसकी आधुनिक अवधारणा विगत दशकों
से राजनीतिक, सामाजिक, प्रशासनिक और आर्थिक
सन्दर्भों में काफी लोकप्रिय हुई
है। परंपरागत रूप से
राज्
य तथा
नागरिक समाज
को समानार्थक माना
जाता रहा है किन्त
परिचयात्मक - विषय की व्याख्या, उद्देश्य, उपलब्ध
साहित्य की समीक्षा
1.1 प्रस्तावना
नागरिक समाज शब्द एवं इसकी आधुनिक अवधारणा विगत दशकों से राजनीतिक, सामाजिक, प्रशासनिक और आर्थिक सन्दर्भों में काफी लोकप्रिय हुई है। परंपरागत रूप से राज्य तथा नागरिक समाज को समानार्थक माना जाता रहा है किन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि राज्य तथा नागरिक समाज के मध्य व्यापक भेद हैं। स्थूल रूप से नागरिक समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो एक-दूसरे के कल्याण हेतु समग्र दृष्टिकोण से कार्य करते हैं। नागरिक समाज को तृतीय क्षेत्र के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि प्रथम क्षेत्र सरकार तथा द्वितीय क्षेत्र अर्थात बाजार के प्रभावी संचालन हेतु व्यक्तियों के ऐसे संगठित समूहों की आवश्यकता है जो लोकतान्त्रिक ढंग से स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करते हुए इन दोनों क्षेत्रों पर नियंत्रण एवं संतुलन का कार्य करते हैं। (कटारिया, 2003, पृ.110)
दुनिया में जितने भी लोग हैं, समाज में रहते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। लोगों का शांतिपूर्ण और संगठित जीवन ही समाज है, जिसमें लोग एक दूसरे से अंत:क्रियाएँ करते हैं। हम सब लोग यहाँ शान्ति से बैठे हैं,यह समाज है। जहाँ सम्बन्ध नहीं हों, न जीवन संगठित हो, न शांति हो, वहां समाज नहीं होता है। इसे ही हॉब्स ने प्राकृतिक युग कहा है। स्वतंत्रता प्राकृतिक युग में होती है जिसका मतलब है चाहे सो करो। इसे ही प्राकृतिक स्वतंत्रता कहते हैं। यह जंगल में चलती है इसलिए इसे जंगल की स्वतंत्रता भी कहते हैं। समाज में सब शांति से रहते हैं। समाज में जो स्वतंत्रता होती है, उसे नागरिक स्वतंत्रता कहते हैं। यही वास्तविक स्वतंत्रता है। (रामास्वामी, 2011, पृ. 7)
सबको एक ही हित में बांध दिया जाता है, इसे बंद समाज कहते हैं। लोग शांति से तो रहते हैं लेकिन उनकी स्वतंत्रताएँ कुचल दी